

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

KĀVYAPRAKĀŚĀ

OF

MAMMATĀCĀRYA

WITH ĀDARŚA SANSKRIT

COMMENTARY OF
MAHESWARĀCĀRYA

WITH AN INTRODUCTION
IN HINDI



By

PT T C UPRAITHI

Vol. 1.

1985

PARIMAL PUBLICATIONS

DELHI

INDIA

Published by
Parimal Publications
27/28 Shakti Nagar
DELHI-110007
INDIA

© *Publishers*

Edition 1985

(The text portion with commentary has been taken from the edition, published under Calcutta Sanskrit Series 1936)

Price Rs 250 00 (Two Vols)



Printed at Laxmi Composing Agency Babarpur main Road
Delhi & Kwality offset Printing Press, Indira Market Naraina,
New Delhi-110028.

परिमल सस्कृत ग्रन्थमाला सट्या-१६

श्रीमम्मटाचार्यप्रणीतः

काव्यप्रकाशः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यकृत
'आदर्शाध्यसस्कृतव्याख्यया'
समुद्भासित



सूक्तिलेखक

प० थानेशचन्द्र उप्रती, साहित्याचार्य

प्रथमो भाग

१६८५

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली भारत

प्र . . .

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८ शक्ति नगर

दिल्ली-११०००७

(भारत)

© प्रकाशक

संस्करण १९८५

मूल्य . २५०.०० (२ भाग)

(ग्रन्थ का मूल भाग एव संस्कृत व्याख्या कलकत्ता संस्कृत सीरिज के अन्तर्गत
पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ से साभार गृहीत है)

मुद्रक . भूमिकाभाग—लक्ष्मी कम्पोजिंग एजेन्सी बाबरपुर मेन रोड दिल्ली
तथा मूलग्रन्थ—क्वालिटी आफसेट प्रिंटिंग प्रेस, इन्दिरा मार्केट, नारायणा
नई दिल्ली ११००२८

काव्यपकाशः



यस्या कृपाकटाक्षेण स्पन्दते निष्प्रिय जगत् ।
 ता वन्दे मानद याचा, रमणीयामयंभूषिताम् ॥१॥
 वाग्देवताऽनतारस्य मम्मदस्य कृताविह ।
 भूमिकाकल्पनाऽनल्प जल्पनं च विभाति मे ॥२॥
 प्रयास सहसा योऽयमल्पज्ञस्य ममोऽपि यत् ।
 सेवाऽधिकार एवाय मन्यता षोडशैरिह ॥३॥

सम्भूत वाङ्मय भारत का ही नहीं, अपितु यह विश्व की एक अमूल्य निधि है। इस वाङ्मय के अनन्त रत्नों की आभा से कभी यह निखिल भूमण्डल प्रकाशित था, जिनकी मन्द मन्द कुछ घूमिल किरणें आज भी सुदूर देश देशान्तर को आलोकित कर रही हैं। भारत ही प्राधान्येन इस अमृत कल्प-वाङ्मय की उत्स भूमि रही है, क्योंकि इसी के अरण प्रकाश से प्रकाशित प्राञ्जल प्राङ्गण म अहृषियो ने सर्वप्रथम सामगान किया था। शनं शनं इसके स्वर महाकाश के मध्य गूँजते हुए, यत्र तत्र सर्वत्र ही दिव्य सन्देश देते रहे।

परमपिता परमेश्वर के विश्वासस्वरूप वेद इसी वाङ्मय की दिव्य विभूति हैं, जहाँ म निरन्तर निगमागम की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। वेद ही आर्य जाति के अमर काव्य है। जिनके विषय म कहा है—“पश्य देवस्य काश्य न ममार न जीयंति” संस्कृत वाङ्मय सम्बन्धी आगम निगमादि शास्त्र-प्रस्थान व सिद्धांतों की जितनी भी शाखा प्रशाख्यें हैं, वे सभी इसी वेद कल्पनर के ही विवर्त हैं।

मनुष्य जीवन के समृद्धि-सुख-शान्ति व समुन्नत करने की जितनी भी विद्याएँ हैं, वे सब वेदों म वर्णित हैं। धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष चारों पुरुषार्थों का सम्पादन कराने वाले सुन्दर साधनों का यहाँ मनोरम वर्णन है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जीवनोपयोगी किसी भी विद्या या कला का कोई अंश ऐसा नहीं है, जिसका यहाँ वर्णन न किया हो। पुरुषार्थ चतुष्टय सम्बन्धी जिन उपायों का वेद म वर्णन पाया जाता है, वे शास्त्र सरणि मे

परिष्कृत विभे हुए प्रस्थान अतिगहन मूढमातिमूढम उहापोह मे परिपूर्ण, व तर्क कर्कश होने से अत्यन्त दुरूह हो गये हैं, इस कठिन मार्ग से लौकिक पुत्र्यार्थ त्रिवर्ग—धर्म-धर्म-वाम, तक प्राप्त करना ही जहाँ कठिन है, वहाँ परम पुत्र्यार्थ मोक्ष तत्र की पहुँचने की तो फिर चर्चा ही क्या ?

सुकुमारमति भी अनायास ही चारों पुत्र्यार्थों को जिममे प्राप्त कर सकें, ऐसे वाट्मय के इस ललित अश का नाम साहित्य शास्त्र, या काव्यमार्ग है। पुत्र्यार्थ चतुष्टय के सरलतया गम्पादन मे यही काव्यमार्ग अत्यन्त उपादेय प्रतीत होता है। अन्य शास्त्रीय उपाय इसकी अपेक्षा कठिन, भ्रमसाध्य व दुरूह होने के कारण सुकुमार मतिवालो के अनुष्ठान के योग्य नही है, वन एव काव्य की उपादेयता को ध्यान मे रखते हुए साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ कविराज का यह कथन भी युक्तियुक्त ही है—

चतुर्वर्गफलप्राप्ति सुखादल्पधियामपि ।

काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूप निरूप्यते ॥

“मर्यादा पुत्र्योत्तम श्रीरामचन्द्र की तरह आचरण करना चाहिए, न कि लज्जाधिपति रावण की तरह” इस तरह कृत्य मे प्रवृत्ति तथा अवृत्त्य से निवृत्ति कराने के लिए काव्य के कान्तासम्मित उपदेश सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं। इसी प्रकार चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति के विषय मे भी यही कहा जा सकता है कि परिनिष्ठित प्रौढ बुद्धि वाले भले ही बड़े अध्यवसायपूर्वक वेदादिशास्त्रो से उक्त फल को कथञ्चित् प्राप्त कर लें, पर सरल तथा सुकुमार मति वालो के लिए तो यह कार्य अत्यन्त ही दुष्कर है। फिर जब एक सरल मार्ग का निर्माण उक्त गन्तव्य स्थान की प्राप्ति के लिए हो चुका है, तो कौन ऐसा बुद्धिमान होगा जो दुष्कर-गहन व कठिन मार्ग की शरण लेगा। कडवी औषधि के द्वारा शमनीय रोग यदि मीठी औषधि मे भी शान्त हो जाता है, तो कहना न होगा कि रोगियो की प्रवृत्ति मीठी औषधि के लिए ही होगी।

इसीलिए अग्नि पुराण ने भी ऊँचे स्वर मे काव्य की उपादेयता का उद्घोष किया है—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।

कविरत्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥

सर्वप्रथम इन सप्ताह मे प्रकृतसत्त्वसमनस्युत मानव जीवन ही मिलना मुश्किल है, जन्मजन्मान्तरो के परिणत पवित्र सस्कारो के परिपाकजन्य पुण्यसञ्चय के द्वारा ही प्राणी मानव जीवन को प्राप्त करता है, उसमे भी

मानवता की रूपादिका विद्या (शास्त्रज्ञान) को प्राप्त करना और भी कठिन है। अध्ययन भी एक प्रकार का तप माना जाता है, अनेक प्रकार के समय नियमों का पालन कर कठिन परिश्रम में शास्त्रों का चिन्तन करते हुए विद्यार्थी विद्याधिष्ठात्री देवी सरस्वती की उपासना करता है, तब किसी प्रकार विद्वान् बनता है।

अतः विद्या भी सर्वम धारण सुलभ नहीं है, इसलिये इस दुर्लभ कहा है। किसी प्रकार विद्या प्राप्त भी हो जाय तो कवि बनना तो और भी कठिन है, साधारण वृत्त पाद तक आदि का नियमानुसार पद्यव्ययन कार्य ही जब मुश्किल है, तो फिर कवित्वशक्ति (प्रतिभा) के विषय में तो कहना ही क्या, अर्थात्—कवित्वशक्ति तो पूर्वजन्म में असाधारण परिपक्व सुमस्कारों के परिणामरूप कोई विचित्र ही प्रसाद है, जो जनगाम्नाय के लिए सुलभ नहीं है।

इस पक्ष में ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति संबंधी युक्तियुक्त मालूम पटनी है कि प्रतिभाशक्ति सम्पन्न महाकवि तो अङ्गुलिसूत्रादि दो तीन ज्यादा न ज्यादा पाँच छँ ही होंगे। “धैर्याति विचित्र कविपरम्परावाहिनि ससारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्रा प्रञ्चया वा महाकवयो इति गण्यते।”

कवि अपने लोकोत्तर प्रतिभा के द्वारा नीरस, प्रस्तरप्राय इस जगत् के पदार्थों को सरस तथा सजीव बना देता है किञ्च अपनी अलौकिक कविता द्वारा ही प्रपञ्चाभिमुख मानव के भोगापवर्ग के निमित्त प्रवृत्ति निवृत्तिस्वरूप उभयविध मार्गों को प्रशस्त कर, परमपुरुषार्थ के उस महनीयप्रसाद के प्राङ्गणाभिमुख बना देता है। इसी हित को रक्ष्य करके मनीषियों ने काव्यमार्ग को साहित्य कहा है। इस शब्द की व्युत्पत्ति में भी यही अर्थ प्रतीत होता है—यथा—“हितेन निरतिशय प्रेमास्पदेन रसेन सहित इति : अथवा हित-पिहित आद्युत सन्निहित (सत्य) यस्य तत्सहित तस्य भाव साहित्यम् उक्तञ्चापि हिरण्येन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।” इत्यादि।

यह साहित्य सदुपदेश का विधायक या शासक होने के कारण शास्त्र भी है, अतः यह भी काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र के नाम से पुकारा जाता है। उपमेय—(प्राप्तव्य परमपुरुषार्थ) की प्राप्ति का मनोरम साधन होने के कारण ही संगीत व साहित्य को वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के दो स्तनों की तरह माना है, जिनसे अमृतवाड्मधु निस्पन्दन होता रहता है, जिसका पान कर मनुष्य अमर हो जाता है—

संगीतमथ साहित्य सरस्वत्या स्तनद्वयम् ।

एकमापातमधुरमग्न्यदालोचनामृतम् ॥१॥

सगीत जहाँ आपातन श्रवणमात्र से रमणीय है, वहाँ माहित्य-आलोचना से चञ्चित होकर आस्वादातिरेक समर्पण करता है ।

गद्य भी यही है कि किसी साहित्य की सुन्दर कसौटी आलोचना ही है, बिना आलोचना के काव्य के न तो गुण का परिचय मिल सकता है, और न उसके दोषों का ही ठीक-ठीक पता चलता है । गुण दोषों के बिना जाने काव्य के वास्तविक आनन्द का आस्वादन नहीं हो सकता है । इसलिए काव्य के वैशिष्ट्य को समझने के लिए आलोचना की महती आवश्यकता है । आलोचक ही काव्य के मर्म को समझने में सफल होता है, कभी-कभी तो आलोचक कुछ ऐसे भावों को समझाना है, जो कवि की दृष्टि से भी अज्ञात रहते हैं ।

इस प्रकार "आलोचना" भी संस्कृत साहित्य का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है, आलोचक का पद भी कवि से कथमपि न्यून नहीं है । न संस्कृत साहित्य में इसकी उपेक्षा ही है, आलोचक की अपेक्षा रखते हुए संस्कृत साहित्य के मान्य आचार्य राजशेखर ने तो आलोचनाशास्त्र को वेद का सप्तम अङ्ग माना है ।

"उपकारकत्वाद्दलङ्कार सप्तममङ्गम् इति याथावरीय." अत्रे च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगति । यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिवत्सजाते ॥

तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्ति अन्नदान्नभ्यो अभिचाकशीति ॥१॥

राजशेखर की सम्मति में बिना अलंकार शास्त्र के जाने वेद के अर्थ का ज्ञान अच्छी तरह ही नहीं सकता । इस प्रकार यह शास्त्र वेदाङ्ग के समान ही उपयोगी तथा उसी के समकक्ष माना जाता है ।

उक्त "द्वा सुपर्णा सयुजा" इत्यादि मन्त्र में ईश्वर जीव और प्रकृति इन तीन घनादि अनन्त मौलिक तत्त्वों का वर्णन है । यहाँ इन तीन तत्त्वों का निरूपण अपने नामों से न कहकर "रूपकातिशयोक्ति" द्वारा दो पक्षियों और एक वृक्ष के रूप में प्रदर्शित किया गया है । प्रकृति एक विशाल पिप्पल वृक्ष के रूप में है । ईश्वर और जीव दोनों सुन्दर पक्षी वाले और साथ-साथ रहने वाले मित्र रूप पक्षी हैं । वे दोनों पक्षी समानवृक्ष अर्थात् प्रकृति पर स्थित हैं । उन दोनों में से एक-जीव—उस वृक्ष के फलों को खाता है । अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार ससार में सुखदुःखरूप फलों का भोग करता है, और दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा फलों का भोग न करता हुआ, ससार में चारी ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है । यही इस मन्त्र का भावार्थ है ।

वैदिक ऋषियों की रूपकातिशयोक्ति की यह कल्पना अत्यन्त रमणीय है । इसके साथ "सुपर्णा सयुजा, सखाया, समान, परिवत्सजाते", के सुन्दर अनुप्रास

ने तो सोने में मुग्व का काम किया है। "अनन्यन्य अभिवाक्येति" में नकारका अनुप्रास माधुर्य की अभिव्यञ्जना कर रहा है, "कलका मोग न करते हुए भी अपने तेज (मौन्द्य) को प्रकाशित कर रहा है, यह विभावना अलंकार का सुन्दर उदाहरण है, न केवल अलंकार ही उक्त मन्त्र को अलंकृत कर रहा है, अपितु सयुजा, सजाया ये विशेषण पदद्योत्य ध्वनि के भी अभि व्यञ्जक हैं। इन पदों से जीवात्मा तथा परमात्मा की निरंतरता एव सच्चिदरूपता की भी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार के मन्त्रों में साहित्यशास्त्र के अनेक मौलिक तत्वों का सुन्दर समावेश हुआ है।

इसीलिए वेद से लेकर व्यवहार तक साहित्यशास्त्र या अलंकार शास्त्र भी उतना ही उपयोगी है, जितने अन्य शास्त्र। अतः राजशेखर की यह उक्ति भी अत्युक्ति नहीं है कि—वाक्य सभी विद्याओं का विश्राम धाम है कवि कल्पना प्रसूत होते हुए भी हितोपदेशक होने से वह शास्त्र है।

“सर्वत विद्यास्थानैकायतन पञ्चदश वाक्य विद्यास्थानम्” इति, यायावरोप । गद्यपद्यमत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च, तद्धि शास्त्राण्यनुधावति ।”

अलङ्कार इस नाम का निदान—

आलोचना के लिए सम्बन्धित साहित्य में अनेक नामों का प्रचलन प्राचीन काल से होना आया है। इसका प्राचीनतम नाम 'क्रियाकल्प' प्रतीत होता है, वात्स्यायन ने चौंसठ कदाओं के भीतर क्रियाकल्प को भी एक विशिष्ट कला माना है। क्रिया का अर्थ है वाक्यग्रन्थ और कल्प का अर्थ है विधान।

इस प्रकार वाक्य के विधायकशास्त्र होने में इसका यह नाम सार्थक ही है। पर यह नाम आगे प्रसिद्धि नहीं पा सका।

इसी प्रकार दशम शती के प्रारम्भ में राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में इसका नाम साहित्य विद्या रखा।

“पञ्चमो साहित्य विद्या” इति यायावरोप, सा हि चतसृणामपि विधाना निध्यन्द” इति।

इसकी चारों वेदों का सारभूत माना है। परन्तु 'साहित्यविद्या विद्या' यह नाम भी आगे प्रचलित न हो सका।

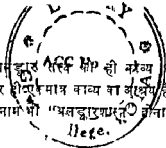
वाक्य के सौन्दर्य का परीक्षण करने वाले इस आलोचनाशास्त्र का संस्कृत साहित्य में सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम 'अलङ्कारशास्त्र' है, और इस आलोचना या काव्य की सौन्दर्य समीक्षा के अभिज्ञ को "आलङ्कारिक" कहा जाता है। यद्यपि यह शास्त्र केवल अलङ्कार पर ही विचार न करके, वाक्य की सभी

विद्याओ, गुण-दोष-रस-रीति व ध्वनि आदि पर प्रकाश डालता है, अलङ्कार तो काव्य के अनेक शोभादायक तत्वों में से अन्यतम है, वह भी स्वरूपादायक न होकर, केवल उत्सर्पादायक ही माना है, 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते' दण्डी के ये वचन भी इस बात की पुष्टि करते हैं। पर यहाँ अलङ्कार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। "अलक्षियते अनेन इति अलङ्कार" इस सवीर्ण अर्थ में नहीं हुआ है। अर्थात् काव्य केवल उत्सर्पादायक तत्वों के लिए न होकर "अलक्षियते इति" या "अलङ्कृतिरङ्कार" इस व्यापक अर्थ में यहाँ अलङ्कार शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात् काव्य के यावत् सौन्दर्यादायक तत्व। अलङ्कार को इस व्यापक अर्थ में लेने का श्रेय आचार्य वामन को है। उनकी दृष्टि में अलङ्कार शब्द तथा अर्थ की बाह्य शोभा का बंधक भूषण मात्र नहीं है, प्रत्युत काव्य का मूल तत्व है। वामन का प्रसिद्ध सूत्र है—“सौन्दर्यमलङ्कार ॥२॥” अर्थात् सौन्दर्य ही अलङ्कार है। काव्य में सौन्दर्य के आधायक जितने भी तत्व हैं, उन सबका सामान्य अभिधान “अलङ्कार” है। फलतः “अलङ्कारशास्त्र” का अर्थ है, काव्य के सौन्दर्यादायक तत्वों का प्रतिपादक शास्त्र, इसी व्यापक रूप में इसका अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अलङ्कार शब्द के सौन्दर्यपरक अर्थ पर टिप्पणी करते हुए काव्यालङ्कार सूत्रों के व्याख्यातार श्री गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल ने भी पूर्वोक्त पक्ष की ही पुष्टि की है। “यद्यपि काव्यं साह्य सौन्दर्यात्, तद्दोषगुणालङ्कारहानो-दानाम्पाम इति विन्यासाऽन्तरे लाघव भवति तथापि योऽयमलङ्कार काव्य ग्रहणहेतुत्वेनोपन्यस्यते तद्द्वेषुत्पादकत्वाच्छास्त्रमस्यलङ्कारनाम्ना व्यपदिश्यते, इति शास्त्रस्थालङ्कारत्वेन प्रतिदि प्रतिष्ठिता स्यादिति सूत्रवित्तु विन्यास कृत—काव्यग्राह्यम् अलङ्कारादिति ॥२॥

अथवा—“प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति” इस न्याय के अनुसार रस-रीति-दोष-गुणों का प्रतिपादक होने पर भी समक उपमादि अलङ्कारों की प्रचुरता के कारण इन्हीं से काव्य का व्यवहार होने लगा, अर्थात् अलङ्कारों की प्रधानता के कारण उस समय अलङ्कार ही काव्य व्यवहार के प्रयोजक हो गये, “काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्” इस ध्वनिवाक्य की उक्ति से भी इस बात की पुष्टि होती है कि अलङ्कारों में ही काव्य व्यवहार की प्रयोजकता है।

साहित्यशास्त्र के प्रारम्भिक युग में अलङ्कार ही काव्य का सर्वत्र माना जाता था, यद्यपि ध्वन्यमान अर्थ, रस, रीति आदि भी काव्य के जीवनादायक तत्व विद्यमान थे, परन्तु आनन्दवर्षनाचार्य के पहले उन तत्वों की स्पष्ट व्याख्या नहीं थी, अतः मट्टोद्भट्ट, रद्रट, दण्डी आदि प्राचीन आलङ्कारिक ध्वन्यमान अर्थ की भी वाच्य का उपस्कारक मानकर, काव्य में अलङ्कारों की

ही प्रधानता मानते थे, और अलङ्कार ही नव्य व्यवहार का प्रयोजक मानते थे। जब अलङ्कार ही प्रथम मात्र काव्य का अर्थ है तो उसके विवेचक या प्रतिपादकशास्त्र का नाम भी "अलङ्कारशास्त्र" हीना स्वाभाविक है।



साहित्यशास्त्र के इतिहास में बरीब नवम शतक के मध्य भाग का काल स्वर्णाश्रय से उल्लेखनीय है। साहित्य की इस शुभ काल में अनेक प्रान्तिवारी परिवर्तन हुए। काव्य की गहरी मोभासा करने पर ध्वनि तत्त्व का आधिपत्य हुआ, इसका श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है। ये ही ध्वनि मार्ग के प्रवर्तक है। इन्होंने ध्वनि तत्त्व की प्रतिष्ठा करने काव्य क्षेत्र में एक नई धारा बहाई, जो ध्वनि सम्प्रदाय के नाम से प्रख्यात है, और इसका तात्त्विक विवेचन इन्होंने अपन युगान्तरकारी ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में किया, इसी ग्रन्थ में इन्होंने बड़े सम्मत्त के साथ प्रतीयमान अर्थ की काव्य में प्रयुक्त सिद्ध की।

आनन्दवर्धन का महत्त्व इसी में है कि उन्होंने अपनी अलौकिक मनीषा के द्वारा काव्य में प्रतीयमान तत्त्व को काव्याङ्गों में पृथक् स्वतन्त्र कर दिया। यही से काव्याङ्गों का उचित मूल्याङ्कन हुआ, विशेषतः इस अलङ्कार व गुणों को उनके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित किया अब काव्य में अलङ्कार व अलङ्कार्य के विषय में भी विशेष विवेचन होने लगा। फलतः अलङ्कार्य को काव्यसाम्राज्य के उच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर अलङ्कारों को उनका उत्तराधिकार अङ्ग माना गया।

आलोचक धीरे-धीरे काव्य के इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व से परिचित होने लगे। ध्वनि की काव्य की आत्मा के रूप में उद्घोषणा हो गई।

तदनन्तर ध्वनि के व्याख्याता आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी प्रौढ़ व्याख्या द्वारा ध्वनि प्रामाद की चहारदीवारी को मजबूत किया, मम्मट ने अपने "काव्यप्रकाश" में सदा के लिए इस सिद्धान्त की पूर्णरूप से स्थापना की, इसी से इनकी ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य की पदवी मिली।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ हैं, जिनकी वृत्ति "रसगङ्गाधर" ध्वनि सम्प्रदाय का निरान्त परिपोषक प्रौढ़ ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ध्वनिकार को आलङ्कारिकों की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया है।

"ध्वनिकृतमालङ्कारिक सरणि व्यवस्थापकत्वात् ।"

इस प्रकार उत्तरोत्तर साहित्य क्षेत्र में गहरी छान बिन होने लगी। रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि अनेक काव्य तत्वों का उदय होने लगा। ध्वनि

चक्रोक्ति आदि के विषय में एक तरफ से विरोध भी चलता रहा, पर रस काव्य की आत्मा है, इसके विषय में किसी की विप्रतिपत्ति नहीं थी। अष्टम उल्लास में मम्मट ने भी 'ये रसस्याङ्गिनो धर्मा' कहकर गुण और अलङ्कारों को साक्षान् और परम्परया रस के उत्कर्षक माना, और रस को काव्य की आत्मा माना। इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि में तो इस शास्त्र का नाम रसशास्त्र या ध्वनिशास्त्र होना चाहिए था, परन्तु पूर्व प्रचार या प्रमिद्धि के कारण अथवा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अलङ्कारों को प्रचुर परिमाण या व्याख्यान को देखते हुए 'प्राधान्येन व्यपदेता भवन्ति' इस न्याय में इस शास्त्र का नाम 'अलङ्कारशास्त्र' पड़ा।

अर्थात् साहित्यशास्त्र के आद्ययुग में अलङ्कारों की ही महिमा व्याप्त थी। इसका "अलङ्कारशास्त्र" इस नामकरण का यही रहस्य है।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट

संस्कृत साहित्यशास्त्र की समाराधना में जिन यशस्वी मनीषियों ने अपना जीवन समर्पण किया है, उनमें आचार्य मम्मट का नाम भी उल्लेखनीय है। भरत से लेकर भोजराज तक लगभग एक हजार वर्ष के बीच में काव्यशास्त्र पर जितना चिन्तन मनन व ऊटापोहपूर्ण समालोचन हुआ था, उन सभी साहित्य विम्बों का मक्षेप में प्रतिविम्ब हमें आचार्य मम्मट की कृति काव्यप्रकाश में स्पष्ट रूप में मिल जाता है। इतने लम्बे अरसे में साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में विभिन्न दृष्टिकोणों से जितना मग्धन हुआ था, उसका साररूप नवनीत काव्यप्रकाश है। मम्मट का कार्य उन मधुमन्त्रियों की तरह है, जो निरन्तर अनेक उद्यानों के पुष्पों से परिश्रमपूर्वक मधुचयन कर, पुनः उस मधु को अपने छत्ते में सजाकर रख देती है। मम्मट ने विभिन्न आचार्यों की काव्यवाटिकाओं के पुष्पों में—शब्द-अर्थ-दोष-गुणालङ्कारों का परिशीलन कर—“तददोषोशब्दाथौ सगुणावनलङ्कृतीपुन षशऽपि” तत्तत् पुष्पों में बिखरे हुए इन मधुबिन्दुओं को कलात्मक ढंग से दस उल्लासों में सभाला है, तथा सुरक्षित रखा।

इधर नवम शताब्दी के मध्य भाग में ध्वनि सिद्धान्त की काव्य क्षेत्र में पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी, काव्यालोचन में अलङ्कार्य तथा अलङ्कार का यथावत् विभाग कर दिया गया, गुण व अलङ्कारों का भी परस्पर विवेकपूर्ण विभाग हो चुका था, गुण काव्यात्मा रस के नित्य घर्म तथा आभ्यन्तर और अलङ्कार रस के अनित्यधर्म व बाह्य शोभादायक तत्त्व माने गये। ये दोनों ही साक्षात् और परम्परया काव्यात्मा के उपस्कारक माने गये।

ध्वनि सिद्धान्त को इस प्रकार व्यापक व्यवस्था होने पर भी, कुछ कश्मीर के मान्य अलङ्कारिकों को यह सिद्धान्त सर्वतोभावेन मान्य नहीं

हुआ, इस आन्दोलन के सर्वप्रथम नेता वक्तोक्तिसम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्धन थे। इन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा व प्रखर भेषा के द्वारा काव्य के मूल सिद्धान्तों का सव्या नवीनरूप में पुनराख्यान किया, और ध्वनिमिद्धान्त के उदभवक आनन्दवदन की मार्वाभौम प्रतिष्ठा को लक्ष्यार—

‘निर्मूलत्वादेव तयोर्भावाभावयोरिव न कश्चिदपि साम्योपपत्तिरित्यल-
मनुचितविषयचर्चागाचातुर्पंचापत्येन ।’

अर्थात्—भाव और अभाव के समान उन दोनों ‘क्षिप्तौ हस्तावलग्न’ इत्यादि पद्य में (नामी तथा शराग्नि के सादृश्य) के निर्मूल होने से उन दोनों के साम्य का किसी प्रकार भी उपादान नहीं हो सकता। इसीलिए अनुचित विषय के समवन में चातुय दिखाने का (ध्वन्यालोककार) का प्रयत्न व्यर्थ है। इसी साहसपूर्ण मौलिक विवेचन व कारण कुन्धन का वक्तोक्ति सिद्धान्त केवल सिद्धान्त न रहकर सम्प्रदाय बन गया। पर ध्वनिवादी आचार्यों ने आगे इस पर विशेष ध्यान न देकर केवल ‘वक्तोक्तेरलङ्काररूपत्वात्’ कह कर ही मन्तोष कर लिया। उनके बाद भारहृषी शर्मा के मध्य में वश्मीर निवासी आचार्य महिमभट्ट ने द्वारा ध्वनि का प्रबल विरोध हुआ। महिमभट्ट मूलतः नैयायिक थे, इन्होंने ‘ध्वनिविवेक’ नामक अपने प्रौढ ग्रन्थ में ध्वनि तथा व्यञ्जनावृत्ति का बड़े जोरदार शब्दों में खण्डन किया। इनका कहना था कि ध्वनि नामक कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपितु अनुमान का ही एक प्रकार है। इसी ही मिट्टि के लिए इन्होंने इस ग्रन्थ में अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। मङ्गलाचरण में ही वे ग्रन्थ निर्माण का उद्देश्य बताने हुए लिखते हैं कि—

अनुमानेऽन्तर्भाव सधर्षध ध्वने प्रकाशयितुम् ।

ध्वक्तिविवेक कुशने प्रणम्य महिमा परा वाचम ॥१॥

सभी प्रकार की ध्वनियों का अनुमान में ही अन्तर्भाव दिखलाने के लिए महिमा नामक आचार्य परा वाणी को प्रणाम कर व्यक्तिविवेक (नामक ग्रन्थ) की रचना करते हैं।

इन्होंने आनन्दवदनाचार्य के ध्वनि लक्षण का प्रतिपद खण्डन कर यह दिखलाने की चेष्टा की है कि यह ध्वनि का लक्षण तो बन ही नहीं सकता है, अपितु विचारपूर्वक देखा जाय तो यह अनुमान में ही सङ्गत होता है—
‘एतच्च विविच्यमानमनुमानस्यैव सङ्गच्छते नाग्यस्य (व्यक्तिविवेक)। इस प्रकार ध्वनि के सभी प्रकारों का प्रौढ तर्कों द्वारा खण्डन कर, तृतीय विमर्श में ‘ध्वन्यालोक’ के ध्वनि सिद्धान्त की कठोर समीक्षा करता हुआ, लगभग चालीस उदाहरणों की परीक्षा कर, उन्हें अनुमान में ही गतार्थ कर दिया।

सचमुच अतनी प्रौढ प्रतिभा में महिममट्ट ने एक बार तो ध्वनि सिद्धान्त को मना के लिए झिटा देना चाहा, और ध्वनि सिद्धान्त के स्थान में अनुमतिवाद को सुप्रतिष्ठित कर देना था।

ध्वनि की प्रतिष्ठा की स्थापना का यह सारा भार मम्मट जैसे महिमाशाली आचार्य पर था, मम्मट ने अनुमतिवादी तथा अन्य ध्वनि-विरोधियों का जब एक बार मुंहतोड़ उत्तर दे दिया, तो फिर ध्वनि के विषय में धागे किसी को विरोध करने का साहस नहीं हुआ। आचार्य मम्मट के बड़े हाथों से ध्वनि सम्प्रदाय की सुप्रतिष्ठा हुई। इसलिए इन्हें ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य की उपाधि से विभूषित किया गया।

मम्मट की कृति -

अलङ्कारशास्त्र के क्षेत्र में "काव्यप्रकाश" मम्मट की सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है, जिसमें मम्मट काव्य तत्त्वों का समावेश किया गया है। शुद्ध शक्ति के विषय में इनका एक अन्य ग्रन्थ भी मिलता है। जिसका नाम "शब्दशक्तिविचार" है। इस ग्रन्थ का विषय प्रायः काव्यप्रकाश के द्वितीय उत्प्लास में गतार्थ हो जाता है।

भामह का "शब्दार्थो सहितो काव्यम्" वाला काव्यलक्षण काव्यप्रकाश में अधिक विशद, परिष्कृत तथा प्राञ्जल मालूम पड़ता है। भामह व दण्डी ने न शब्दशक्तिविचार का विवेचन किया है, और न रम व ध्वनि का ही प्रतिपादन किया, इसलिए वे आज अलङ्कारशास्त्र की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, और विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अपूर्ण हैं, मम्मट ने भामह व दण्डी को इस कमी को ममज्ञा, और अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यप्रकाश में इन सब विषयों का समावेश किया।

यह ग्रन्थ तीन अंशों में विभक्त है कारिका, वृत्ति, तथा उदाहरण, कारिका व वृत्ति के कर्ता एक ही हैं, कारिकायें स्वयं मम्मट विरचित हैं, और वृत्तिमात्र भी जिसमें कारिका या सूत्रों की व्याख्या, विषय के विस्तृत विवेचन के लिए है। उदाहरण स्वयं मम्मट के नहीं हैं, वे ग्रन्थ काव्यग्रन्थों से लिए गये हैं। कहीं-कहीं भरत के सूत्रों का भी समावेश किया गया है, "यथा—विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति इति" पर जहाँ भी भरत के नाट्यशास्त्र से सूत्र लिये गये हैं, वहाँ "उक्तं हि भरतेन" कहकर उनका निर्देश भी किया गया है।

कारिका तथा वृत्तिविषयक विवाद—

काव्यप्रकाश के कारिका तथा वृत्ति के विषय में बहुत से विद्वानों का मत एक नहीं है। कुछ लोग कारिका तथा वृत्ति दोनों के निर्माता पृथक्-पृथक्

मानते हैं। ये लोग कारिका भाग के निर्माता भरत को मानते हैं, और वृत्ति-भाग मम्मट द्वारा विरचित मानते हैं।

यह मन बल्लदेशीय विद्वानों का है, जिनमें साहित्यकीमुदी के टीकाकार श्री विद्याभूषण व काव्यप्रकाश व आदर्श टीकाकार श्री महेश्वर हैं। विद्याभूषण ने अपनी साहित्य कीमुदी में दो बार इस बात का उल्लेख किया है—

मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मिता साहित्यकीमुदीम् ।

वृत्ति भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणोऽप्यत्र ॥

इसमें विद्याभूषण ने “काव्यप्रकाश” के सूत्रों को भरत सूत्र कहा है। दूसरी जगह उन्होंने फिर लिखा है—

“सूत्राणां भरतमुनीश्वरिणतानां वृत्तीनां मितवपुषा कृतो ममास्याम ।”

इसी प्रकार काव्यप्रकाश के आदेश व्याख्या के निर्माता महेश्वर भट्टाचार्य ने भी वृत्तिभाग को ही मम्मट की वृत्ति माना है। कारिका भरतनिमित्त मानी है। उन्होंने “ग्रन्थकृत परामृशति” इत्यादि उद्धरण दते हुए अपनी यादशं टीका में लिखा है— ‘ग्रन्थकृच्चार्त्त कारिकाकृद् भरतमुनिरेव तदीय संहितामायासो कारिकाणां दशनात् । न तु वृत्तिकृदेव कारिकाकृत, परामृशती-त्यादिषु सवत्र नामणोगोचित् प्रथम पुरुष निर्देशस्वरसात्, अन्यथाऽस्मद् योगोचितोत्तम पुरुष एव निर्दिश्येत ।’

इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार मम्मट जिन कारिकाओं की व्याख्या करने जा रहे हैं, उनका बनाने वाला कोई भिन्न भरत मुनि है, जिसके लिए परामृशति यह प्रथम पुरुष का प्रयोग किया है। अन्यथा यदि वे अपनी बनायी हुई कारिका की वृत्ति लिखने तो प्रथम पुरुष का प्रयोग नहीं करते। इससे यही सिद्ध होता है कि कारिका मम्मट की न होकर भरत की है।

कारिका तथा वृत्तिभाग के भिन्न वर्तुत्व स्पष्ट—

पूर्वपक्षियों में कारिकाकार तथा वृत्तिकार को भिन्न सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, वे विचार करने पर निम्नान्न प्रतीत होती हैं। काव्यप्रकाश व आरम्भ में आये हुए “समुचितेष्ट देवता ग्रन्थकृत् परामृशति” इस प्रथम पुरुष के प्रयोग के आधार पर सूत्र या कारिकाभाग को वृत्तिकार से भिन्न की वृत्ति सिद्ध करने का जो उपक्रम किया गया है, वह उपहास्यास्पद ही है। क्योंकि ग्रन्थों में इस प्रकार के अवसरो पर अपने लिए प्रथम पुरुष के प्रयोग की शैली तो मस्कृत साहित्य की बहुत-समाहत तथा बहुत प्रचलित सामान्य शैली है। अथवा नोग ऐसे प्रसङ्गों में प्रथम पुरुष का ही प्रयोग

करते हैं। जैसे—माहिन्द्राणकार कविराज विश्वनाथ ने इसी प्रकार का प्रयोग कर “वादेवताया साध्मुह्यमाद्यत्ते” लिखा है।

“नागेश कुरुते सूधी” में नागेश ने भी प्रथम पुरुष का ही प्रयोग किया है। संस्कृत माहित्य के ग्रन्थकारों की तो यह एक अलङ्कृत सीली है।

आचार्य कुन्तक ने इसे पुरुष वैचित्र्य प्रयुक्त वक्त्रत्व कहा है—“पुरुष वैचित्र्यवहित वक्त्र रिचते—यत्र प्रत्यक्तापरभावविपर्यास प्रयुञ्जते षव्य वाद्यवैचित्र्यार्थं युष्मादि अस्मदि वा प्रयोक्तव्ये प्रातिपादिकमात्र नियतन्ति—यथा—अस्मदभाग्यत्रिपर्ययाद्यदि पर देवो न जानाति तम् ॥

अत्र त्व न जानासीति वक्तव्ये वैचित्र्याय “देवो न जानाति” इत्युक्तम् ॥

अर्थात्—पुरुष वैचित्र्यवक्त्रत्व वहाँ होता है, जहाँ प्रथम पुरुष का मध्यम अथवा उत्तम पुरुष रूप अर्थ के साथ विपर्यास का कवि लोग प्रयोग करते हैं। तात्पर्य यह है कि वाद्य के वैचित्र्य के लिए (मध्यम पुरुष बोधक) युष्मद् शब्द अथवा (उत्तम पुरुष बोधक) अस्मद् शब्द के प्रयोग करने के स्थान पर प्रातिपादिकमात्र (प्रथम पुरुष) का प्रयोग करते हैं।

जैसे—यदि आप (राजण) उभ (लोकप्रसिद्ध रामचन्द्र) को नहीं जानते हैं (यह अभिमानवश कहते हैं) तो यह हमारे (लङ्कावासियों के) दुर्भाग्य में ही है। अर्थात्—हमारे दुर्भाग्य का सूचक है।

यहाँ “त्व न जानासि” इसके स्थान पर “देवो न जानाति” यह प्रथम पुरुष प्रातिपादिकमात्र का प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार व्यक्तिविशेषकार महिमभट्ट ने भी इसे गुण ही माना है - उनका कहना है कि—“यस्तु वक्त्रित् कश्चिभि प्रयुग्यमानो दृश्यते स कर्तृत्वव्यत्यासो नाम गुण एव न दोष ।”

कही-कही कवियों के द्वारा प्रयुक्त यह कर्तृत्वव्यत्यास नाम प्रथम भेद भी गुण ही होता है।

यदाह—जैसा कि वही कहा भी है—

प्रकृतमपि यत्र हित्वा कर्तृत्व युष्मदस्मदर्थस्य ।

चास्तुवायान्यन्नारोप्येत गुण स तु न दोष ॥

अतः इन सब प्रमाणों के आधारों पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वृत्ति तथा कारिका भाग के कर्ता एक ही हैं। यदि मम्मद केवल वृत्तिभाग के ही रचयिता होते तो वे अपने वृत्ति ग्रन्थ के आरम्भ में अवश्य मङ्गलाचरण करते यह सब नहीं किया।

अतः मूल का मङ्गलाचरण ही वृत्तिभाग का भी मङ्गलाचरण है। इसलिए दोनों भागों को मम्मटाचार्य की ही वृत्तिमानने में कोई आपत्ति नहीं है।

काव्यप्रकाश के कर्ता के रूप में साधारणतः मम्मट ही प्रसिद्ध है। किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ निर्माना वे नहीं हैं, इसमें मम्मट के अतिरिक्त वडमोर के एक दूसरे विद्वान् का भी इसके समाप्ति करने में हाथ है। दूसरे विद्वान् का नाम "अल्लट" है। अधिकांश टीकाकारों का भी यही मत है। काव्यप्रकाश के अन्त में एक श्लोक दिया गया है। जिससे इस ग्रन्थ की समन्वयात्मक रचना प्रतीत होती है।

इत्येष मार्गो विदुषा विभिन्नोऽप्यभिन्नरूप प्रतिभासते यत् ।

न तद्विचित्र यदमुत्र सम्पत् विनिर्मिता सङ्घटनां व हेतु ॥

काव्यप्रकाश के पाचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने भी इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

“अथ चाऽप्य ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समापित इति द्विसंज्ञोऽपि सङ्घटनावशादखण्डायते ।”

तात्पर्य यह है कि—किसी कारणवश मम्मटाचार्य इस ग्रन्थ को समाप्त न कर सके तब दूसरे विद्वान् ने इसे पूर्ण किया। परन्तु टीकाकारों ने यह स्पष्ट निर्देश नहीं किया कि कितना अंश मम्मटाचार्य का है और कितने अंश की पूर्ति दूसरे विद्वान् ने की है, और वह दूसरा विद्वान् कौन है जिसने शेष भाग की पूर्ति की है। इन दोनों बातों का स्पष्ट सङ्केत राजनक आनन्द की निदर्शना टीका में मिलता है, जो इस प्रकार है—

कृत श्रीमम्मटाचार्यवर्ये परिकरावधि ।

ग्रन्थ सम्पूरित शेषो विधायाल्लटसूरिणा ॥१॥

स्पष्ट है कि मम्मटाचार्य ने परिकर अलङ्कार पर्यन्त ही काव्यप्रकाश ग्रन्थ की रचना की है, उसके बाद ग्रन्थ का अवशिष्ट अंश “अल्लट” नाम के विद्वान् ने पूर्ण किया। इसी प्रकार की घटना “कादम्बरी” ग्रन्थ के विषय में भी हुई है। वाणभट्ट कादम्बरी के केवल पूर्वाध्याय की ही रचना कर सके थे। उसके बाद उत्तरार्ध भाग की रचना उनके सुयोग्य पुत्र पुलिन्दभट्ट ने की थी। इसी प्रकार मम्मटाचार्य के इस काव्यप्रकाश की समाप्ति भी अल्लट या अलकसूरि ने की।

इस ग्रन्थ में दश उल्लास हैं, जिनमें क्रमशः (१) काव्यस्वरूप, (२) शब्दशक्तिविवेचन (३) शब्दार्थव्यञ्जकता का विवेचन (४) रस व ध्वनि

भेदों का वर्णन (५) व्यञ्जना स्थापना (६) शब्दार्थविघ्ननिरूपण (७) दोषों का व्याख्यान (८) गुणविवेचन (९) शब्दालङ्कार निर्णय (१०) अर्थालङ्कार निर्णय ।

इन दश उल्लासों में प्रायः काव्य के सभी तत्वों का समावेश हो जाता है ।

काव्यप्रकाश की टीका सम्पत्ति—

टीका सम्पत्ति की दृष्टि में काव्यप्रकाश एक मोभाग्यशाली ग्रन्थ है, धीमद्भगवद्गीता को छोड़कर संस्कृत साहित्य में शायद ही कोई दूसरा ग्रन्थ हो जिस पर इतनी टीका लिखी गई हो । इसमें इसकी दुर्दृष्टता ही कारण है, प्राचीन आन्ध्रकारिकों में भामह, दण्डी, वामन, भोज आदि के ग्रन्थ प्रसादगुण-मण्डित प्राञ्जल प्रायः सूक्ष्मविवेचनरहित थे ।

वे अपने प्रकृतविषय के प्रतिपादन में समर्थ थे । साहित्य के केवल शोभाधायक बाह्य तत्वों के प्रतिपादन में निर्विवाद उनका उत्कर्ष था । मम्मट के बाद भी पण्डितराज जगन्नाथ का रम गङ्गाधर ध्वनिप्रस्थान का एक प्रौढ तथा उत्कृष्ट ग्रन्थ है इसमें सन्देह नहीं है कि पण्डितराज ने प्रायः सभी विषयों को अपनी प्रौढ प्रतिभा से प्रकाशित किया है । सूक्ष्मातिमूक्ष्म अनुसन्धानपूर्वक पदार्थों का प्रतिपादन किया है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, केवल एक ही दोष है, वह है नव्यन्याय की शैली का अनुसरण । वस्तुतः यह दोष भी ग्रन्थकार पण्डितराज का अपना दोष नहीं है, यह तो उस वादयुग का दोष या गुण है जिसके बिना पाण्डित्य का रथ एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता है । फिर दूसरा दायित्व पण्डितराज पर यह था कि साहित्य के क्षेत्र में बढ़ती हुई निरर्गलता का नियन्त्रण करना था, इसके लिए ही शक्ति, परिमार्जित व नवी-तुली भाषा की आवश्यकता थी । अतः उन युग की परिस्थिति को देखते हुए पण्डितराज का यह दोष न होकर गुण या भूषण ही कहना चाहिए ।

मम्मटाचार्य का यह काव्यप्रकाश तो सूक्ष्म विषय की विवेचना में निःसन्देह उत्कृष्ट है, परन्तु किसी-किसी अंश में यह काफी जटिल भी हो गया है । जिसका अभिप्राय सामान्य तो क्या प्रौढ पण्डित भी सहसा अवगत नहीं कर पाते । टीकाकारों का भी परस्पर किसी अंश विशेष में मतभेद मालूम पड़ता है । एक टीकाकार यदि किसी पंक्ति का एक अर्थ करता है तो दूसरा टीकाकार कुछ दूसरा ही अर्थ कर देता है । यही कारण है इसकी टीकाओं की प्रचुरता का ।

साहित्य के क्षेत्र में काव्यप्रकाश ही सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ रहा । इस पर टीका लिखना पाण्डित्य की कसौटी समझा जाता था । अतः पण्डितमण्डली में

इसी ग्रंथ का अध्ययन उ अद्यापन होना था । साहित्य का पण्डित या साहित्य का विद्यार्थी काव्यप्रकाश पर अपनी पूर्ण प्रतिभा का व्ययकर प्रतिपत्ति के प्रतिपद का पदकृत्य करने में ही अपना सौभाग्य समझता था । काव्यप्रकाश के विषय में प्रसिद्ध है कि उसरी टीकायें घर-घर में विद्यमान हैं, किन्तु यह ग्रन्थ आज भी वैसा ही दुरूह बना हुआ है—काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे सन्ति टीका तथाप्येव ग्रन्थस्तथैव दुर्बोध । करीब इमकी सत्तर टीकायें हैं, जिनमें—माणिक्यचन्द्र, सोमेश्वर, विश्वनाथ त्रिविक्रमर्षी, प्रदीपकार, मुधासागरकार महेश्वर इत्यादि प्राचीनटीकाकारों की टीकायें प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार काव्यप्रकाश पर बारहवें शताब्दी से लेकर आज तक मस्कृत व हिन्दी में कुछ न कुछ टीका टिप्पणी आदि शोध कार्य चल ही रहा है । यामनाचार्यलक्ष्मीकर की संस्कृत टीका वर्तमान समय में सर्वाधिक प्रचलित टीका है इसमें सभी टीकाओं का संग्रह है । इसी तरह आचार्य विश्वेश्वर की काव्यप्रकाशदीपना टीका भी सुन्दर है । जिनमें पूर्व टीकाओं के सभी सारगर्भित अंश समूहित हैं ।

मम्मट का जन्मस्थान—

काव्यप्रकाश की “मुधासागर” टीका के निर्माता भीमसेन ने मम्मट के परिचय के रूप में कुछ पद्य लिखे हैं । उनमें यह प्रतीत होता है कि मम्मट “कश्मीरदेशीय” जैशट के पुत्र थे । इन्होंने वाराणसी में आकर विद्याध्ययन किया, पतञ्जलि प्रणीतमहाभाष्य के टीकाकार कैयट तथा चतुर्वेदभाष्यकार-उश्वट दोनों मम्मट के छोटे भाई थे । इस भाव का ब्यक्त भीमसेन ने अपने जिन श्लोकों में किया, वे इस प्रकार हैं—

शब्दब्रह्म सनातन न विदित् शास्त्रे वचन्ति केनचित् ।
 तद्दो हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान् ॥१॥
 श्रीमज्जैशटपेहिनीमुजठराज्जन्माप्य पुमानुज ।
 श्रीमन्मम्मटसप्तयाश्रिततनु सारस्वतीं सूचयन् ॥२॥
 मर्यादा किल पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपद्यादरात् ।
 शास्त्र सर्वजनोपकाररतिञ्च साहित्यसूत्र व्यधात् ॥३॥
 ततर्षति च विरच्य गूढमकरोत् काव्यप्रकाश स्फुटम् ।
 वेदार्थैकनिदानमथिपु चतुर्वर्गप्रदं सेवनात् ॥४॥
 कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरहो को वा गुणान् वेदितुम् ।
 शक्तः स्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवताहपिण ॥५॥
 श्रीमान् कैयट-ओश्वटौ ह्यवरजो यच्छान्ततामागतौ ।
 भाष्याब्धिं निगम यथाक्रममनुश्याप्त्याय सिद्धिं गतो ॥६॥

विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम् । तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्य-
मुखेन, वेति त्रयं पक्षा धाद्येऽपि अलकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम् । द्वितीयेऽपि
भणिति वैचित्र्येण, भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम् । इति पञ्चसु पक्षेषु आद्य, —
उद्भटादिनिरङ्गीकृत, द्वितीयो वासनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो
भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनाचार्येण ।”

उनका कल्पना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य होते हैं । शब्द और
अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार में समझ है—

- (१) धर्म से ।
- (२) व्यापार से ।
- (३) व्यङ्ग्य से ।

धर्म दो प्रकार के होते हैं । (१) नित्य और (२) अनित्य । अनित्यधर्म
की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नहीं होती जितनी नित्य धर्म की । अनित्य
धर्म है अलङ्कार, और नित्य धर्म का नाम है गुण । इस प्रकार धर्म मूलक
विशिष्टता की प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए—(१) अलङ्कार
सम्प्रदाय (२) रीति या गुण सम्प्रदाय ।

व्यापार मूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है । (१) वक्रोक्ति, और
(२) भोजकत्व । वक्रोक्ति-उक्ति वैचित्र्य का ही दूसरा नाम है । और इन
वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार मानने वाले आचार्य हैं कुन्तक । अतः
उनका मत वक्रोक्ति सम्प्रदाय के नाम में प्रसिद्ध है ।

भोजकत्व व्यापार की कल्पना रस निरूपण के प्रसङ्ग में भट्टनायक ने की
है । परन्तु इसे अलग न मानकर आचार्य भरत के रस सम्प्रदाय के भीतर ही
अन्तर्भूत मानना उचित है ।

शब्दार्थ में व्यंग्यमूलक वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं,
जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है, आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक
के आरम्भ में ध्वनि विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है, जो उनसे प्राचीन
हैं और काव्य में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानने के विरोधी हैं—इन तीनों
सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार हैं । (१) अभाववादी (२) भविष्यवादी (३)
अनिर्वचनीयतावादी । आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक की पहली
कारिका में इन तीनों वादों का निर्देश करते हुए, सहृदयजनों के हृदय में
प्रकाशमान ध्वनि तत्त्व का मिथ्या प्रवाद करने वाले निराकरण के लिए ही
यह हमारा प्रयास है कहा है, जिससे कि सहृदयों की मानसिक चिन्ता दूर हो
इसी अमिथ्या को उन्होंने श्लोक के अन्वितपाद में अनिव्यक्त किया है ।

“तेन ध्रूम सहृदयमन प्रीत्ये तत्स्वरूपम् ॥१॥”

उक्त पद्य का संक्षेप में रहस्योद्घाटन करते हुए अभिनव गुप्ताचार्यपाद ने इन तीन ध्वन्यभाववादियों को क्रमशः भ्रान्त, सन्दिग्ध, तथा अज्ञ माना है। क्योंकि काव्य में जो विलकुल भी ध्वनि की सत्ता स्वीकार नहीं करते, वे देहात्मवादी चार्वाक के समान हैं। जैसे चार्वाक दर्शन वह से पृथक् आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करता है, इसी प्रकार ये भी ध्वन्यभाववादी भी काव्य में आत्मभूत ध्वनि की सत्ता नहीं मानते हैं। अतः ये विपर्ययज्ञान युक्त हैं अर्थात् भ्रान्त हैं।

हमारे भक्तिवादी यह तो जानते ही हैं कि वाच्यातिरिक्त भी कोई अर्थ है परन्तु अभिधा व लक्षणा व्यापार में भी अतिरिक्त कोई व्यापार है या नहीं इस विषय के सन्देह में मुक्त नहीं हैं। अतः ये सन्दिग्ध हैं। अन्तिम अनिर्वचनीयवादी यद्यपि भ्रान्त व सन्दिग्ध नहीं हैं, ये लाग ध्वनि के स्वरूप से अच्छी तरह परिचित भी हैं फिर भी ध्वनि लक्षण नहीं बना सकते अतः इनमें अज्ञान की प्रधानता है।

इस प्रकार ध्वनि के विषय में जब लोगों में अनेक प्रकार का विपरीत ज्ञान या विरोध है तो महूद्रयों के मतों के लिए ध्वनि का विवेचन करना परमावश्यक है।

इस सब विरोधों के परिहार के लिए तथा माहित्य जगत में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता हेतु आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोचन की रचना की।

यही ने ध्वनि सम्प्रदाय की पुनः स्थापना हुई। छठा सम्प्रदाय "औचित्य" सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। इनका उदय इन टीकाकारों के बाद में करीब एकादशशती के उत्तरार्ध में हुआ, अतः अलवारसवस्व की टीका में इस सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं है।

संस्कृत आलोचना शास्त्र के ये मुख्यतः छ सम्प्रदाय हैं—

सम्प्रदाय	ध्याचार्य
(१) रस सम्प्रदाय	भरत मुनि
(२) अलङ्कार सम्प्रदाय	भामह
(३) गीति सम्प्रदाय	वामन
(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय	कुन्नाक
(५) ध्वनिसम्प्रदाय	आनन्दवर्धन
(६) औचित्य सम्प्रदाय	क्षेमेन्द्र

(१) रस सम्प्रदाय

रस शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में सोम रस के अर्थ में हुआ है 'दधान कलशे रसम्' (१।६३।१३) तैत्तिरीय उपनिषद् में पुनः आनन्द के अर्थ में

भी इसका उल्लेख हुआ है, ("रसो वै स रस ह्येवाऽय लब्धवानन्वी भवति ।" (११।७।१) इस प्रकार वैदिक साहित्य में रस के विषय में यत्र तत्र किञ्चित् चर्चा है ।

इधर लौकिक साहित्य में भी सर्व प्रथम रसो का वर्णन हमे आदिकाव्य राममीकीय रामायण में मिलता है ।

"रस शृङ्गार करुणरौद्रवीरभयानकै." (वा० वा० २।६)

शृङ्गारादि आठ रसों का वर्णन यहाँ मिलता है, जैसे इस आदि काव्य को रस का ही विवर्तन या परिणाम माना जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है । महाकवि कालिदास की यह उक्ति भी इस बात को सुतरा पुष्ट करती है

नियादविद्याऽजदर्शनोत्प श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक (१४।२७)

व्याध के द्वारा श्लोच पक्षी के वध को जब मुनि ने देखा तो वे बहुत दुःखी हुए, वही हृदयस्थ मुनि का शोक श्लोक में परिणत हो गया ।

अतः यह मानना पटता है कि आदि काव्य का उदय करण रस से ही हुआ, इसीलिए रामायण करुण रस प्रधान आदि काव्य है इसको आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में इस प्रकार कहा है—“रामायणे हि कश्चनो रस स्वयमादि कविना सूत्रित, “शोक श्लोकत्वमागत” इत्येव वादिना और महाभारत में चान्न रस को ही मुख्यतया विवेक्षा का विषय माना है ।

निलो में तेल की तरह अङ्गनाओं में लावण्य की तरह यह रस भी महाकवियों के महाकाव्यों में व्याप्त हैं ।

इसका शास्त्रीय विवेचन करने का ध्येय भरत को है । भरतमुनि ही इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं और उनका “नाट्यशास्त्र” रस सिद्धान्त का प्रतिपादक सर्व प्राचीन ग्रन्थ है ।

भरत के नाट्य शास्त्र को ललित कलाओं का विश्वकोष कहना चाहिए, नाट्य विषय का ही नहीं, प्रत्युत आलोचना शास्त्र का, छन्दशास्त्र का, सङ्गीत का तथा अभिनय का भी यह आदि तथा प्रौढ ग्रन्थ है । इसकी लोकप्रियता का पता इसके भाष्यकारों के नाम से भी चल सकता है । इसके नौ भाष्यकार हैं । जिनका नाम नीचे दिया जाता है—

(१) उदभट्ट (२) लोल्लट (३) शङ्कुक (४) भट्टनायक (५) राहुल (६) भट्ट यन्त्र (७) अभिनव गुप्त (८) कौर्निधर (९) मातृ गुप्त । इन सब में अभिनव गुप्त की प्रख्यात व्याख्या “अभिनव भारती” ही आज उपलब्ध है और इसी में उल्लिखित होने से अन्य टीकाकारों के अस्तित्व का पता चलता है । इन टीकाकारों में लोल्लट, शङ्कुक तथा भट्टनायक ने भरत

के रस सूत्र की विभिन्न व्याख्या की है, जिसका निर्देश अभिनव भारती ने बहुश किया गया है।

रस सम्प्रदाय के अनुसार काव्य में रस ही एकमात्र मुख्य तत्त्व है। भरत मुनि ने नाटकीय रस का ही निरूपण किया है इसीलिए रस को नाट्यरस की संज्ञा दी है। पिछले आलङ्कारिकों ने इसे श्रव्य काव्य का भी महनीय तत्त्व माना है। रस का उन्मेष ही नाट्य का तथा काव्य का चरम लक्ष्य है। इस तात्पर्य की मिथि के अभाव में काव्य नीरस, फीका तथा उद्वेगकर होना है। इसके उन्मीलन के निमित्त स्थायी तथा व्यभिचारी भाव विभाव तथा अनुभाव का भी विश्लेषण यही सूक्ष्मता के साथ यहाँ किया गया है। रस की मत्था के के विषय में भी मतभेद है। इन आठ रसों की संज्ञा के विषय में किसी की भी विमति नहीं है। शृङ्गार, हास्य, कृष्ण, रौद्र वीर भयानक वीभत्स तथा अद्भुत। शान्त रस नवम रस है जिसकी काव्य तथा नाट्य में मत्था के विषय में आचार्यों में काफी मतभेद है। धनञ्जय शान्तरस को नाट्य में निषेध करते हैं, परन्तु अभिनव गुप्त नाट्य तथा श्रव्यकाव्य दोनों में इसकी संज्ञा मानते हैं। रद्वट ने “पेयन” नामक रस को विश्वनाथ कविराज ने वात्मत्य को, गीडोय वैष्णवों ने ‘मधुर रस’ को इस श्रेणी में जोड़कर रसों की संख्या को घटाने ही बढ़ा दिया है।

साहित्य में रसमत्त का सर्वनोभावेन प्राधान्य है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि के त्रिविध प्रकारों में “रसध्वनि” को ही मुख्य तथा काव्य की आत्मा माना है। ध्वनि मुख्यतया तीन प्रकार की होती है—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि। इन तीनों में अन्तिम मुख्यतम है।

भोजराज भी रसमत्त वाङ्मय को तीन भागों में बाँटते हैं—
(१) स्वभावोक्ति (२) वक्रोक्ति, (३) रसोक्ति।

इनमें अन्तिम का विशेष महत्त्व काव्य में होता है। विश्वनाथ कविराज ने रसात्मक काव्य को काव्य मानकर काव्य में रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। अग्निपुराण की स्पष्ट उक्ति है—“वागवैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।” काव्य में वक्रोक्ति से उत्पन्न चमत्कार के मुख्य होने पर भी रस ही उसका प्राण होना है। भरत ने ‘न हि रसादृते कश्चिदथ प्रवर्तते’ का सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर रस को काव्य का मौलिक तत्त्व माना है। इस प्रकार रस सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों हुए जिनमें अनेक ध्वनि को भी विशेष महत्त्वशाली मानने के कारण ध्वनि सम्प्रदाय के भी अनुयायी हैं।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार रस सिद्धान्त की पूर्णरूपेण व्याख्या नहीं हो सकती है। क्योंकि भारतीय साहित्य में इसका अपना कुछ अलग ही महत्त्व

है, जिसका सम्बन्ध भारतीय दर्शन से है, जो आत्मानन्द सहोदर है, चिन्मय तथा प्रकाशस्वरूप है, अतः पाश्चात्य मनोविज्ञान की परिधि से परे की बात है। जब आधुनिक विज्ञान केवल मन तथा उसकी वृत्तियों के विवेचन तक ही सीमित है, तो आत्मस्थानीय रमाम्वादजन्य अनौकिक अनुभूति की आशा करना तो दुराधामात्र है।

बहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्त दर्शन के अनुसार आनन्द तीन प्रकार का होता है—(१) विषयानन्द, (२) ब्रह्मानन्द, (३) रमानन्द। विषयानन्द वासना पर अवलम्बित है, यह विषय चिन्तन में या विषयों के समीप से उत्पन्न होने वाला लौकिक क्षणिक तथा वासनाओं की मस्तिष्का के कारण सुखदुःखादि सासारिक भावों के द्वन्द्व में अभिभूत है। अतः यह सत्त्वप्रधान आनन्द न होकर आनन्दाभास है। आनन्द की उच्चतम कोटि है ब्रह्मानन्द, जिसके अन्वयन समस्त आनन्द सिमट कर एकत्र हो जाते हैं। रमानन्द भी करीब करीब इसी आनन्द की कोटि में आता है। विषयानन्द के लिए जिस प्रकार वासना अपेक्षित है रमानन्द में उस जगह वासना की शुद्धि अपेक्षित है, अर्थात् भावों का उदात्तीकरण, भावों की अशुद्धि का कारण है, उसका व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध, मेरी यह रति है इत्यादि जो परिमित प्रमाणा का सम्बन्ध विशेष है वही हीनता तथा अशुद्धि का कारण है। इसी भावसंशोधन के लिए साहित्यशास्त्रियों ने रसनिष्पत्ति प्रक्रिया के लिए साधारणीकरण व्यापार की कल्पना की है, जिसकी सहायता से प्रमाणा में अपरिमित भाव आ जाता है। वासना विषयविषय में दूषित न होकर निष्काम भावना या उदात्तभावना से स्वच्छ हो जाती है। इसी दिशा में शून्य शून्य रत्यादि भाव से जो अज्ञानावरण में परिच्छिन्न थे वे व्यञ्जना व्यापार व साधारणीकरण व्यापार के सहयोग से अपरिच्छिन्न होते हुए मच्चिदानन्दव्यवस्था स्वरूप रस को प्राप्त कर लेते हैं। इसी रस के विषय में भरत ने लिखा है—

‘न हि रसादृते कश्चिदर्थं प्रवर्तते ।’

अलङ्कार सम्प्रदाय

कव्य जगत् में अलङ्कारों का सर्वाधिक महत्त्व है, आपाततः यही महत्त्व गुण व अलङ्कार ही काव्य के व्यावर्तक धर्म है। इसीलिए “काव्यवृत्तेस्तदाभयात्” इस आनन्दवर्धन की सूक्ति का आश्रय लेकर गुणालङ्कारादि से निरूपणीय काव्य को माना है। अर्थात् काव्य के काव्येतर से भेदज्ञान में साधन अलङ्कारादि ही हैं। “काव्य काव्येतराद् भिन्न गुणालङ्कारादिमत्वात्” यह अनुमानाकार है। बहने का तात्पर्य यह है कि काव्य में अलङ्कार की स्थिति अति आवश्यक है।

आचार्य मम्मट ने जब काव्य के लक्षण में अलङ्कारों का विधान विस्तृत रूप से किया तो अलङ्कारवादियों को यह विकल्प अमह्य सा प्रतीत हुआ। जयदेव का तो यहाँ तक रहना है कि जो विद्वान् अलङ्कार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है, वह अग्नि का भी अनुष्ण (उष्णताहीन) क्यों नहीं मानता है? जिस प्रकार अग्नि का उष्णतारहित होना अमम्भव है, उसी प्रकार काव्य का अलङ्कार से रहित होना भी अमम्भव है—

अङ्गीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलङ्कृती ।

असौ न मप्यत कस्मात् अनुष्णमनलङ्कृती ॥१॥ (चन्द्रालोक)

इस सम्प्रदाय में अलङ्कार ही काव्य की आत्मा है।

अलङ्कार मन के प्रवर्तक आचार्य भामह हैं इस मत के पोषक हैं भामह के टीकाकार उदभट्ट। दण्डी स्मट्ट एव प्रतिहारेन्द्रराज भी उसी मत के अनुयायी हैं। दण्डी के मत में काव्य के पोषक अंगों को भी अलङ्कार कहने हैं। स्मट्ट व प्रतिहारेन्द्रराज ने भी अपने ग्रन्थों में अलङ्कार को ही प्रधानता दी है।

रुच्यर ने स्पष्ट गम्भान है कि प्राचीन आचार्यों के मत में अलङ्कार ही काव्य में प्रधान होने हैं।

अलङ्कारों का विकास धीरे-धीरे होना आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में इन चार ही अलङ्कारों का निर्देश मिलता है—यमक उपमा रूपक व दीपक। साहित्य के मूलभूत अलङ्कार यही हैं जिनमें पहला अलङ्कार और तीन अर्थालङ्कार हैं। भरत के मत में यमक शब्दालङ्कार दस प्रकार का है और उपमा के पाँच भेद होते हैं—प्रसशा निन्दा उत्पिप्ता मद्गी तथा किञ्चित् मद्गी। रूपक तथा दीपक का एक एक भेद होना है। इन्हीं चार अलङ्कारों से विकसित तथा वर्धित होकर अलङ्कारों की सरया कुबलयानन्द में सवा सौ के ऊपर तक पहुँच गयी है।

कालक्रम के अनुसार अलङ्कारों की सख्या के समान उनके स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है।

भरत ने नाट्यशास्त्र (अध्याय १७) में ३६ प्रकार के लक्षणा का विवरण दिया है। बहुत से इन लक्षणों को परवर्ती आचार्यों ने अलङ्कार में सम्मिलित कर लिया, और इस प्रकार अलङ्कारों का विकास में इन लक्षणा का भी वम महत्त्व नहीं है। उदाहरणाय, हेतु, आशी तथा लेश के विषय में परवर्ती आचार्यों की भिन्न भिन्न सम्मितियाँ हैं। भामह हेतु तथा लेश को तो अलङ्कार नहीं मानते परन्तु आशी को अलङ्कार मानते हैं। दण्डी ने तीनों को अलङ्कार माना है। परवर्ती आचार्यों के विभिन्न मत हैं। अप्यय दीक्षित ने कुबलयानन्द

इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, और अलंकार अनिरय धर्म । अलंकारों की स्थिति काव्य में हो या न हो परन्तु गुण की स्थिति तो अवश्यम्भावी है ।

ध्वनि सम्प्रदाय का इतिहास

ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय आनन्दवर्धन को प्राप्त है । कुछ लोग वृत्तिकार तथा कारिकाकार को मिश्र-भिन्न मानते हैं और "सहृदय" नामक क्रिमी आचार्य को ध्वनि के सिद्धान्त की उद्भावना का श्रेय प्रदान करते हैं । परन्तु अधिकतर विद्वानों की सम्मति में आनन्दवर्धन ने ही कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना की थी । आचार्य अभिनव गुप्त ध्वनि सम्प्रदाय के इतिहास में विशेष महत्त्व इसीलिए रखते हैं कि उन्होंने ध्वन्यालोक के ऊपर लीचन टीका लिखकर ध्वनि के सिद्धान्त को अनेक युक्तियों से पुष्टकर उसे प्रामाणिक बनाया, उसके अनन्तर मम्मटाचार्य ने ध्वनि विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देकर ध्वनि के सिद्धान्त को दृढतर आधारों पर स्थापित किया । अपने ग्रन्थ में उन्होंने भिन्न भिन्न दर्शनों के मतानुयायी विद्वानों की युक्तियों का मण्डन कर व्यञ्जना की स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में स्थापना की । मम्मट के पश्चात्पूर्वों विश्वनाथ कविराज ने "साहित्यदर्पण" में ध्वनि की पर्याप्त भीमसा की है । पिछले युग के सबसे बड़े आलंकारिक पण्डितराज जगन्नाथ (१७ शती) हैं । जिनकी कृति "रसगङ्गाधर" ध्वनि सम्प्रदाय का नितान्त परिपोषक अन्तिम प्रौढ ग्रन्थ है । वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ध्वनिकार को आलंकारिकों की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया है—

ध्वनिकृतामलङ्कारसरणि-व्यवस्थापकत्वात्" (२० ग०)

यद्यपि ध्वनि सिद्धान्त प्रबल प्रमाणों द्वारा प्रतिष्ठापित किया गया था, तथापि काश्मीर के मान्य आलंकारिकों को यह सिद्धान्त प्रथमतः मान्य नहीं हुआ । "मकुलभट्ट" सबसे प्राचीन ध्वनि विरोधी आचार्य हैं । अमिषा वृत्ति मातृका" में इनके कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनि की उद्भावना अभी एकदम नहीं थी, और वे उसे लक्षणा के अन्तर्गत मानते थे । इनके शिष्य "प्रति-हारेन्दुराज" ने ध्वनि को अलंकार के ही अन्तर्गत माना है । ध्वनि के खण्डन के लिए "भट्टनायक" ने "सहृदयदर्पण" नामक ग्रन्थ की रचना की है । ये काव्य में रस के पक्षपाती थे, परन्तु रस की व्याख्या के लिए व्यञ्जना का सिद्धान्त उन्हें मान्य न था । "कुन्तक" ध्वनि को वक्त्रोक्ति का ही दूसरा प्रकार मानते हैं । इनके मत में रस काव्य का स्वतन्त्र तत्त्व न होकर वक्त्रोक्ति का ही एक भेद मात्र है । "महिमभट्ट" के ग्रन्थ का नाम "व्यक्तिविवेक" है, जिसमें

उन्होंने ध्वनि को अनुमान में ही गतार्थ करने का प्रयास किया है। इसकी विवेचना बड़ी मार्मिक और गम्भीरता पूर्ण है।

इन विरोधी आचार्यों को तर्कपूर्ण समाधान "काव्यप्रकाश" में मिलता है। जिसने बाद यह सिद्धान्त एकान्त प्रतिष्ठित हो गया और पिछले आचार्यों ने इसे सर्वथा मान्यता दी।

(६) औचित्य सम्प्रदाय

औचित्य साहित्यशास्त्र का व्यापकतम सिद्धान्त है। उसे काव्य की आत्मा या प्राण मानने का गौरव यद्यपि क्षेमेन्द्र को प्राप्त है तथापि औचित्य की कल्पना साहित्य जगत में अत्यन्त प्राचीन काल में चली आ रही है। भरत के नाट्यशास्त्र में सिद्धान्त रूप में तो नहीं परन्तु व्यवहार रूप में औचित्य का विधान पाया जाता है, भरत का कहना है कि लोक ही नाट्य का प्रमाण है। लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस वेश में, जिस मुद्रा में उपलब्ध होती है, उमका उमी वेश तथा उमी मुद्रा में, अनुकरण करना नाट्य का धर्म लक्ष्य है इसीलिए नाट्यशास्त्र (प्रवृत्ति) पात्र के भाषा वेष आदि का विधान पर उतना जोर देना है। भरत ने विभिन्न प्रवृत्तियों का वर्णन अपने ग्रन्थ में विस्तार के साथ किया है। हमसे स्पष्ट है कि भरत नाट्य में औचित्य के विधान को परमावश्यक मानने थे, काव्य में औचित्य तत्त्व की कल्पना का मूल स्रोत यही है। इस प्रसङ्ग में भरत का यह श्लोक बड़ा ही सारशक्ति है—

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभाञ्जनविष्यति ।

मेललोरसि वन्द्ये च हास्यायैव प्रजायते ॥ (ना०२३।८)

औचित्य के सर्वमान्य आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने काव्य में औचित्य की पूर्ण गरिमा का अवगाहन किया था और रसभङ्ग की व्याप्ति के अक्सर पर यह मान्य तथ्य प्रतिपादित किया था कि "अनौचित्य" ही रसभङ्ग का प्रधान कारण है।

अनुचित वस्तु के परिवेश में रस का परिपाक काव्य में उत्पन्न नहीं हो सकता। रस के उन्मेष का मुख्य रहस्य है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन तथा काव्य में कल्पना और विधान। आनन्दवर्धन कहते हैं—

अनौचित्याद् ऋते नान्यत रसभङ्गस्य कारणम् ।

औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्थोपनिबन्ध परा ॥१॥

आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने उन नास्मिरी आलोचकों की बड़ी आलोचना की है जो ध्वनि के सिद्धान्त में अति सम्पर्क रूपे औचित्य को ही काव्य की आत्मा मानने थे। उन्होंने दिखलाया है कि

ध्वनि को सत्ता के बिना औचित्य का सिद्धान्त अप्रतिष्ठित रहता है। ध्वनि को जोड़कर औचित्य तत्त्व का उन्मीलन कथमपि युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। अतः औचित्य तथा ध्वनि परस्पर उपकारक तथ्यों के रूप में काव्य जगत् में अवतीर्ण होते हैं।

साहित्यशास्त्र में जमिनवगुप्त के प्रधान शिष्य "क्षेमेन्द्र" थे, ये स्वतः ध्वनिवादी थे, तथापि "औचित्यविचारचर्चा" नामक अपने ग्रन्थ में इन्होंने औचित्य को व्यापक काव्यतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। औचित्य को यह महत्त्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है। औचित्य किसे कहते हैं? इसका उत्तर देते हुए क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि "उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाना है। जो वस्तु जिसके सद्भा हो, जिसमें उसका मेल मिले उसे कहते हैं "उचित" और उचित का ही भाव होता है—"औचित्य"

"उचित प्राहुराचार्या . सद्भा किल यस्य यत् ।

उचितस्य यो भाव , तवौचित्यं प्रचक्षते ॥ (श्री० वि० ७)

यह औचित्य ही रस का जीवनभूत है, उसका प्राण है, तथा काव्य में चमत्कारकारी है।

औचित्यस्य चमत्कारणश्चारिणश्चारुचर्चणे ।

रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥ (श्री० वि० ३)

क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किए हैं। पद, वाक्य, अर्थ, रस, काव्य, लिङ्ग, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखाकर तथा इसके अभाव की अन्यत्र बतलाकर क्षेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया है। औचित्य की विषय विवेचना कर क्षेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र में इसे व्यवस्थित रूप दिया है। परन्तु इन्हें ही इस सम्प्रदाय का उद्भावक मानना भयंकर ऐतिहासिक भ्रम है, क्षेमेन्द्र ने अपने विवेचन के लिए आनन्दवर्धन तथा भरत में सामग्री एकत्रित की है। इनके द्वारा बताये गये औचित्य के सभी भेद "ध्वन्यालोक" में पूर्णतया विद्यमान हैं, सच्ची बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार ही कोई शोभा धारण करता है, और न गुण ही रचिकर प्रतीत होता है। अलंकार और गुण के शोभन होने का रहस्य औचित्य के भीतर ही निहित है।

क्षेमेन्द्र का यह महत्त्वपूर्ण कथन है—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा ।

पाशो नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा ।

शौच्यं करुणया प्रपन्ते, रिपो नाघान्ति के हास्यताम्, ।

औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालकृति मो गुणा ॥१॥

इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को पिछले युग के आलकारिको ने अपनी काव्य-कल्पना में औचित्य के तत्त्व को पूर्णतः स्वीकार किया और अपनी समीक्षा में इसका उपयोग किया ।

रसालकृति-वक्रोक्ति-रीति ध्वन्योचिता क्रमा ।

साहित्यशास्त्र एतस्मिन् सम्प्रदाया इमे स्मृता ॥१॥

अलकारशास्त्र के आचार्यों का सक्षिप्त इतिवृत्त—

संस्कृत साहित्य में दोनों प्रकार के काव्य, श्रव्य व दृश्य, आलोचना के विषय होते हैं, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से दृश्य काव्य की ही समीक्षा भारतवर्ष में सबसे पहले आरम्भ हुई पाणिनि के समय (७ शती विक्रम पूर्व) में नटों की शिक्षा-दीक्षा तथा अभिनय से सम्बद्ध ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी, उन्होंने "शिलालि" तथा "कृशाश्व" के द्वारा चित्रित नट भूतों का निर्देश अपनी अष्टाध्यायी में किया है ।

श्रव्यकाव्य की आलोचना का उदय विक्रम की छठी शताब्दी के मध्य में हुआ जिस युग में भामह ने अपने "काव्यालङ्कार" की रचना की । भामह से पूर्ववर्ती आचार्यों में काश्यप ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी की बहुत प्रसिद्धि थी, परन्तु उनके ग्रन्थों की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है, उपलब्ध आचार्यों में मान्य आचार्यों का सक्षिप्त परिचय यहाँ विषय की पूर्ति के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है ।

(१) भरत (द्वितीय शताब्दी) —

भरत आलोचना शास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य है । दो भरतों का पता चलता है, वृद्धभरत तथा भरत । वृद्धभरत का ग्रन्थ नाट्यवेद सम्भवतः बारह हजार श्लोकों में था, परन्तु वह आज अनुपलब्ध है, भरत का "नाट्यशास्त्र" आज उपलब्ध है, यह आलोचना का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण सलिनकलाओं की समीक्षा का सर्वमान्य ग्रन्थ है । 'नाट्यशास्त्र' एक युग की रचना न होकर अनेक ऋषि-वृत्तियों के साहित्यिक प्रयास का परिणत फल है । आज यह कारिकावद्ध रूप में ही उपलब्ध है, परन्तु इसकी अन्तरङ्ग परीक्षा करने पर इसके भीतर वर्तमान तीन अंशों का पर्याप्त परिचय मिलता है ।

(१) — सूत्र भाष्य — यह गद्यात्मक अंश ग्रन्थ का प्राचीनतम रूप है । मूल ग्रन्थ सूत्र-रूप में ही था, जिस पर भरत ने ही भाष्य भी लिखा था—

(२) कारिका — मूल-ग्रन्थ के अभिप्राय को समझने के लिए कालान्तर में कारिकाओं का निर्माण हुआ, कुछ विस्तार से विषय का प्रतिपादन है ।

(३) अनुवश्य-श्लोक—गुरुशिष्य परंपरा से आने वाले प्राचीन पद्य (आर्या या अनुष्टुप् में निबद्ध) जो अभिनव भारती के अनुसार प्राचीन आचार्यों द्वारा विरचित हैं, तथा सूत्रों की पुष्टि में यहाँ मग्न हैं ।

भारत के वर्तमान नाट्यशास्त्र का समय द्वितीय शती से कम नहीं हो सकता । कालिदास भरत को देवों के नाट्याचार्यों के रूप में जानते हैं, और नाटकों में आठ रसों के विकास होने तथा अप्सराओं के द्वारा अभिनीत होने का वे स्पष्ट निर्देश करते हैं । अतः भारत को कालिदास (पञ्चमशती) में पूर्ववर्ती होना चाहिए । मूल सूत्रात्मक ग्रन्थ का समय इससे भी प्राचीन है ।

नाट्यशास्त्र में मुख्यतः ३६ अध्याय हैं, तथा लगभग पाच हजार श्लोक हैं । इन अध्यायों में नाट्य की उत्पत्ति तथा अभिनय के नाना प्रकारों से सम्बद्ध विषयों का सर्वाङ्गीण विवरण है । रस तथा भाव का वर्णन पृष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में है । यहाँ काव्य की आलोचना वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में की गई है । १६ वें अध्याय में काव्यालोचन का मर्म ममज्ञाय गवा है । भारत ने दश दोष, दश गुण तथा चार अलंकार (गमक-उपमा-रूपक-दीपक) की मीमांसा कर इग शास्त्र का आन्वय किया । इसके उपर अनेक टीका में लिखी गईं, जिनमें आचार्य "अभिनवगुप्त" की "अभिनव भारती" ही आज उपलब्ध प्रमुख व्याख्या है ।

(२) भामह (षष्ठ शतक का पूर्वार्ध) —

भारत के बाद आलंकारिकों में भामह ही मान्य आचार्य हैं । इन्होंने अलंकार शास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से मुक्त कर स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में आलोचकों के सामने प्रस्तुत किया है । भामह से पूर्ववर्ती "मिधाविरट्ट" नामक आचार्य का परिचय कम ही मिलता है, भामह के पिता का नाम था "रक्तिग गोमी" और ये कश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं ।

भामह और दण्डी की कालिक स्थिति के विषय में विद्वानों में कभी पर्याप्त मतभेद था परन्तु अब तो यह सर्वमान्य तथ्य है कि भामह दण्डी से पूर्ववर्ती आचार्य हैं । इन्होंने अपने ग्रन्थ में न्यायक्षेप के वर्णन में बौद्ध न्याय से अपना विशेष परिचय दिखलाया है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण आचार्य दिङ्नाग (षष्ठशती) के अनुसार है । धर्मकीर्ति (सप्तमशती) के अनुसार नहीं फलतः इनका समय इन दोनों बौद्धाचार्यों के मध्ययुग में होना चाहिए, अतः इनका आविर्भाव काल पञ्चमशतक का मध्यभाग माना जाता है ।

भामह बौद्ध न्याय में विशेष परिचय रखते पर भी बौद्ध नहीं हैं, प्रत्युत ब्राह्मण हैं । क्योंकि इन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया है, तथा बौद्धों के "अपोहवाद" का लण्डन भी किया है

जो कोई भी बौद्ध नहीं कर सकता है। भामह का ग्रन्थ “काव्यालङ्कार” छे परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें काव्य के साधन, लक्षण तथा भेद का प्रथम परिच्छेद में अलकारों का द्वितीय तृतीय परिच्छेद में, दश दोषों का चतुर्थ परिच्छेद में, न्यायविरोधी दोष का पञ्चम परिच्छेद में, तथा शब्द शुद्धि का षष्ठ परिच्छेद में, वर्णन क्रमशः किया है। श्लोक चार सौ करीब हैं, भामह के सम्मन सिद्धान्त इस शास्त्र में मान्य हैं। इनके विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—

- (१) शब्द तथा अर्थ दोनों का काव्य होना “शब्दार्थौ काव्यम्”
- (२) भरत के द्वारा वर्णित दश गुणों का गुणत्रयी माधुर्य-ओज-प्रसाद में अन्नर्भाव।
- (३) वक्रोक्ति को सकल अलकारों का प्राण मानना।
- (४) दशविध दोषों का सुन्दर विवेचन।
- (५) रीति पर आग्रह न रखकर काव्य गुणों पर आस्था।

(३) दण्डी (सप्तम शती)—

दण्डी दक्षिण भारत के परलव नरेश सिंहविष्णु (सप्तमशती) के सभा पंडित माने जाते हैं। इनका लोकप्रिय ग्रन्थ “काव्यादर्श” है। जिसके कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश तथा अनेक श्लोकों का अनुवाद कन्नडभाषा के प्राचीन ग्रन्थ ‘कविराज मार्ग’ तथा सिधली ग्रन्थ “सिय वस-लकर” (स्वभापालकार) में किया गया है। और ये दोनों अष्टम शती के ग्रन्थ माने जाते हैं। इसका निबन्धी अनुवाद डमकी लोकप्रियता का पर्याप्त सूचक है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अपने विषय में विदोष प्रख्यात तथा लोकप्रिय रहा है।

“काव्यादर्श” बड़ा ही माननीय ग्रन्थ है, इसमें चार परिच्छेद हैं। तथा श्लोकों की मर्यादा साठे छ सौ के आसपास है। पहिले परिच्छेद में काव्य का लक्षण भेद रीति-तथा गुण का विस्तृत वर्णन है। दूसरे में अर्थालंकारों का, तृतीय में शब्दालंकारों का, (विशेषण यमक का) तथा चतुर्थ परिच्छेद में दशविध दोषों का सुन्दर तथा व्यापक वर्णन है। ये सबमें पहिले आचार्य हैं जिन्होंने बंदर्भों तथा गौडी रीति के पारस्परिक भेद को स्पष्टतया दिखलाया है। इस प्रकार ये रीति सम्प्रदाय के भी मार्गदर्शक माने जा सकते हैं।

(४) वामन (अष्टम उत्तरार्ध)—

कल्हण पंडित के कथनानुसार वामन काश्मीर नरेश जयापीड (७६-८१ ई०) के मन्त्री थे, वामन भवभूति के उत्तररामचरित या एक पद्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है, फलतः ये भवभूति (अष्टमशती पूर्वार्ध) से परवर्ती है। तथा राजशेखर (१० म शता) से प्राचीन है, क्योंकि काव्य मीमांसा में वामन के कतिपय सूत्र उद्धृत किये गये हैं। वामन आनन्दवर्णन

(नवमशती मध्यभाग) से प्राचीन ही प्रतीत होते हैं जिन्होंने इनका नामतः उल्लेख तो नहीं किया है, परन्तु इनके रीति सिद्धान्त का स्पष्ट निर्देश किया है।

इनके ग्रन्थ का नाम है—“काव्यालङ्कारसूत्र”—जिसमें काव्य की आलोचना सूत्रों में प्रस्तुत की गई है। वामन ने इसके उपर अपनी वृत्ति भी लिखी है। सूत्रों की संख्या ३१६ है। तथा ग्रन्थ पाच अधिकरणों में विभक्त है। प्रथम अधिकरण में काव्य का रूप तथा प्रयोजन तथा रीतियों का वर्णन है। दूसरे में दोषों का, तीसरे में गुणों का, चौथे में अस्कारों का तथा पाचवें में शब्द युद्धि का वर्णन है।

वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक है।—रीति को काव्य की आत्मा मानने का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। “रीतिरात्मा काव्यस्य” इनके कनिष्ठ सिद्धान्त में है—

(क) गुण तथा अलंकार का परस्पर विभेद, तथा गुण की अलंकार की अधिक महत्ता का प्रतिपादन।

(ख) रीति को काव्य की आत्मा मानना।

(ग) बंदर्भों गोडी तथा पाञ्चाली-इन तीन रीतियों की कल्पना।

(घ) “वक्रोक्ति” को सादृश्यमूलक लक्षणा मानना।

(ङ) समग्र अर्थालङ्कारों को उपमा का प्रपञ्च मानना।

(च) दश प्रकार के गुणों को शब्द तथा अर्थ उभयगन मानकर बीस प्रकार की कल्पना।

(५) उद्भट (अष्टम शती का उत्तरार्ध)—

अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्यों में “उद्भट” नितान्त प्रख्यात हैं। ये भी वामन के समकालीन आचार्य थे, तथा जयापीड के सभापति किसी उद्भट नामक विद्वान से भिन्न नहीं है। प्रतिहारेन्दुराज, रघुवक्, तथा पतिरराज जगन्नाथ ने उद्भट को आनन्दवर्धन से प्राचीन माना है। आनन्द वर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्भट के नाम तथा मत का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय अष्टम शती उत्तरार्ध है। वामन और उद्भट एक ही राजा के राजदरवार में उपस्थित समकालीन विद्वान थे, जिनमें एक थे रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक और दूसरे थे अलंकार सम्प्रदाय के उन्माद्यक, परन्तु किसी ने भी किसी का निर्देश नहीं किया।

उद्भट के उपलब्ध ग्रन्थ है—काव्यालङ्कारसार सग्रह, और प्रतिहारेन्दुराज द्वारा निर्दिष्ट-भामहू के ग्रन्थ “काव्यालङ्कार” की टीका—“भामहू विवरण” है जो आज उपलब्ध नहीं है। इनकी तीसरी वृत्ति है—“कुमार सम्भव काव्य” कालिदास के कुमार सम्भव के आदर्श पर लिखित एक लघुकाव्य है, जिसके अनेक पद्य प्रथम ग्रन्थ में उदाहरण के रूप में उद्धृत किये गये हैं।

इनके—“काव्यालङ्कारसार-संग्रह” ग्रन्थ के दो टीकाकार हैं—प्रतिहारन्दुराज (दशम शती) जो मुकुलभट्ट के शिष्य थे, दाक्षणात्य थे, तथा अलङ्कारशास्त्र के मान्य आचार्य हैं। दूसरे व्याख्याकार वाश्मीरी राजान, तिलक हैं, (१०७५-११२४ ई०) जिनकी “विवृति” नामक टीका बडौदा से सन् १९३१ में प्रकाशित हुई है।

काव्यालङ्कारसार संग्रह में अलङ्कारों का ही विवेचन है। परन्तु यह विवेचन विशेष आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक ढंग पर किया गया है। उद्भट्ट के कल्पित विशिष्ट सिद्धान्त य हैं—

(१) अर्थभेद में शब्दभेद की कल्पना।

(२) श्लेष के दो प्रकार, शब्द श्लेष तथा अर्थश्लेष मानना। परन्तु दोनों को अर्थालङ्कार में ही परिगणित करना।

(३) अन्य अलङ्कारों को योग में श्लेष की ही प्रबलना मानना।

(४) वाक्य का त्रिविध अभिधा व्यापार।

(५) अर्थ की द्विविध-कल्पना—विचारित मुख्य तथा अविचारितरमणीय

(६) वाच्य गुणों को सचटना का धर्म मानना।

इन्हीं सब विषयों के कारण उद्भट्ट का ग्रन्थ अलङ्कार सम्प्रदाय में एक विशिष्ट ग्रन्थ तथा इस सम्प्रदाय का आदिम ग्रन्थ माना जाता है।

(६) रुद्रट (नवम शती का पूर्वार्ध)—

रुद्रट भी कश्मीर निवासी ही थे। राजनेपर ने अपने “काव्यमीमांसा” में रुद्रट के द्वारा उद्भाविन ‘वक्रोक्ति’ नामक शब्दालङ्कार का निर्देश किया है। “शिशुनाम वक्र” के टीकाकार काश्मीरी कल्लभदेव (दशमशती पूर्वार्ध) ने इनके अलङ्कार ग्रन्थ का निर्देश अपनी टीका में किया है। फलतः इनका समय १० शती के पूर्वार्ध में भी प्राचीन है। ये वाच्य तथा उद्भट्ट के पश्चात् वर्ती आचार्य हैं। रुद्रट की वक्रोक्ति की कल्पना निराली है तथा प्राचीन आलङ्कारिकों से मेल नहीं खाती। “शृङ्गारतिलक” के कर्ता “रुद्रभट्ट” रुद्रट से भिन्न है या अभिन्न इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। परन्तु रुद्रट सिद्धान्त की भिन्नता के कारण रुद्रभट्ट से भिन्न ही प्रतीत होते हैं।

इनका काव्यालङ्कार १५ अध्यायों में विभक्त ग्रन्थ है तथा इसमें ७३४ श्लोक हैं। इनमें काव्यस्वरूप, शब्दालङ्कार चार रीतियाँ, वक्तियाँ, विषयव्यय अर्थालङ्कार, दोष, रस तथा नायिका भेद का विवेचन किया गया है।

रस रस का विचार से वर्णित है। रुद्रट ने पहिले-पहल अलङ्कारों के वैज्ञानिक विभाजन की ओर ध्यान दिया और वास्तव, लौपम्य, अतिशय, तथा श्लेष को अलङ्कार का मूलतत्त्व निर्दिष्ट किया है।

इन्होंने नये नये अलंकारों की भी उद्भावना इस ग्रंथ में की है।

(७) आनन्दवर्धन (नवम शती का उत्तरार्ध) —

आलोचनाशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन अपनी मौलिक कल्पना के लिए युगान्तरकारी आचार्य हैं। इसका सर्वमान्य ग्रन्थ “ध्वन्यालोक” है। जिसमें ग्रन्थकार की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचना तथा गूढ़ विषय प्राहिता का अपूर्व परिचय मिलता है। ये कश्मीर के राजा अच्युतवर्मा (९१५ ई०-९८३ ई०) के सभापण्डित थे और इसलिए इनका समय नवम शती का उत्तरार्ध निश्चित रूप से है।

“ध्वन्यालोक” में मूलतः कारिकाएँ हैं जिन पर गद्यात्मक वृत्ति भी है। कारिका तथा वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति है या भिन्न-भिन्न व्यक्ति? इस प्रश्न की मीमांसा दो प्रकार से की गई है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि आनन्दवर्धन ने वृत्ति और “सहृदय” नामक किसी प्राचीन पण्डित ने ध्वनि-सम्बन्धी कारिकाएँ लिखी थीं। परन्तु यह मत अब मान्य नहीं है। आनन्दवर्धन ही स्वयं कारिकाकार व वृत्तिकार हैं। इस बात के लिए अभिनवगुप्त के “लोचन” में अनेक पुष्ट प्रमाण विद्यमान हैं। इसके उपर “चन्द्रिका” नामक कोई प्राचीन टीका थी, जो आज उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध टीकाओं में सबसे विद्वत्पूর্ণ व्याख्या “लोचन” ही है। इस टीका के निर्माता महामाहेश्वराचार्य अभिनव गुप्त हैं। इस टीका को मौलिक-ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है।

आनन्दवर्धन ध्वनिसम्प्रदाय के उद्भावक आचार्य हैं। ध्वन्यालोक में धार उद्योत हैं। प्रथम में ध्वनि के विषय में प्राचीन आलंकारिकों के मतों का विस्तृत समीक्षण है।

द्वितीय तथा तृतीय उद्योत में ध्वनि के भेद-उपभेद का तथा उसकी स्थापना का प्रामाणिक विवरण है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता का विचार है।

आनन्दवर्धन काश्मीरी थे, परन्तु इनके जीवनवृत्त का पता नहीं चलता है। हेमचन्द्र के कथनानुसार ये “नोण” के पुत्र थे। इन्होंने अर्जुन-नरित, विषमवाणलीला, (प्राकृत काव्य) देवीशतक, तत्त्वालोक नामक अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी, परन्तु इसमें “देशी शतक” ही मिलता है।

(८) अभिनवगुप्त (दशम शती का उत्तरार्ध) —

अभिनव गुप्त कश्मीर निवासी हैं, ये शैवदर्शन तथा तन्त्रशास्त्र के भी अलौकिक प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। इनका “तन्त्रालोक” नामक ग्रन्थरत्न तन्त्रशास्त्र का विश्वकोष ही है। साहित्यशास्त्र में इनकी प्रसिद्धि भरत के

समकालीन कश्मीरी आचार्य हैं। अभिनव ने इनके नाम का तो नहीं, परन्तु इनके विशिष्ट मत का उल्लेख अपने ग्रन्थ में अवश्य किया है।

“वक्रोक्तिजीवित” कारिका तथा वृत्ति से सवलिन ग्रन्थ है। इनमें चार उन्मेष हैं जिसमें वक्रोक्ति के स्वरूप तथा प्रकारों का पूरा वर्णन किया है। प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण रूप से मिलते हैं, परन्तु अन्तिम दो उन्मेष अछूरे ही मिलते हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत आलोचना का नितान्त प्रौढ़ तथा श्रान्तिकारी ग्रन्थ है। इसका वक्रोक्ति सिद्धान्त भी काव्य-जगत् में एक निराला सिद्धान्त है।

(१०) महिमभट्ट (११वीं शती का मध्यभाग)—

महिमभट्ट काश्मीर के निवासी थे, ये रसध्वनि आदि को मानते तो थे परन्तु इनके लिए पृथक् व्यञ्जनावृत्ति को नहीं मानते थे, वे अनुमान के द्वारा रसादि की प्रतीति मानते थे। इनके मन में व्यञ्जनावृत्ति की न तो ध्वनि के लिए कोई आवश्यकता है, और न इसके लिए कोई अवकाश ही।

ध्वनि के खण्डन के लिए ही इन्होंने “व्यक्तिविवेक” नामक ग्रन्थ की रचना की। इनके अनुसार ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपितु अनुमान का ही एक प्रकार विशेष है।

इसी बात की निद्रि के लिए इन्होंने इस ग्रन्थ में अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। यह ग्रन्थ तीन विमर्शों में विभक्त है। प्रथम विमर्श में ध्वनि के लक्षण का खण्डन तथा उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव बड़ी प्रौढ़ता के साथ दिखलाया है।

द्वितीय विमर्श में “औचित्य” को काव्य का मुख्य दोष मानकर उसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रकारों का प्रगल्भ वर्णन है। अन्तरङ्ग अनौचित्य के भीतर “रसदोष” का अन्तर्भाव होना है। बहिरङ्ग के भीतर समस्त शब्दगत दोषों की गणना भी गई है।

तृतीय विमर्श में ग्रन्थकार “ध्वन्यालोक” के ध्वनि स्थापन पर टूट पड़ता है, और उसमें से लगभग चालीस उदाहरणों की परीक्षा कर उन्हें अनुमान के द्वारा सिद्ध करता है।

महिमभट्ट के पिता का नाम श्रीधर्य तथा गुरु का नाम श्यामल था। इन्होंने लोचन तथा वक्रोक्ति जीवितकार के सिद्धान्त का खण्डन किया है। मम्मट भट्ट ने इनके द्वारा उद्भाविन दोषों को अपने काव्यप्रकाश के मध्यम उल्लास में ग्रहण किया है। अतः इसका समय दोनों के बीच (११वीं शती का मध्यकाल) होना चाहिए।

(११) धनञ्जय (१०वीं शती का उत्तरार्ध)—

महिमभट्ट के समान धनञ्जय भी ध्वनि विरोधी आचार्यों में अन्यतम हैं। वे रस की उत्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं, और व्यञ्जनावृत्ति के

खण्डनकर्ता हैं। धनञ्जय तथा इसके भ्राता धनिक, दोनों धारा नगरी के विद्याप्रेमी नरेश मुञ्जराज (१७४ ई० १६० ई०) के सभा पण्डित थे। इनका ग्रन्थ है—“दशरूपक” जिसमें नाटक के समस्त विषय बड़े संक्षेप में, परन्तु बड़ी सुन्दरता से वर्णित हैं। धनिक ने इस पर “अवलोक” नामक टीका लिखी है। इन्होंने “काव्यनिर्णय” नामक साहित्य विषयक ग्रन्थ का प्रणयन इससे पहले किया था। बहुरूप मिथ की अप्रकाशित टीका दशरूपक की बहुत ही विशद टीका मानी जाती है।

दशरूपक में चार प्रकाश हैं, तथा लगभग तीन सौ कारिकाएँ हैं जिसमें वस्तु (नाटक का कथानक) नेत्रा, (नायक) रूपक के दस प्रकार तथा रस का विशिष्ट वर्णन क्रमशः किया गया है। नाट्यशास्त्र एक भारी भरकम ग्रन्थ है, जिसका अनुशीलन करना साधारण पाठकों के लिए कठिन है। “दशरूपक” में यह कठिनता ब्रह्म ज्ञानों में दूर होती है। इसीलिए यह नाट्य का बहुत ही उपार्ण्य तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है।

(१२) भोजराज (११वीं शती का पूर्वार्ध)—

धारा नरेश राजा भोज साहित्यशास्त्र का इतिहास में संग्राहक रूप से विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके दानों ग्रन्थ इस विषय में वस्तुतः विश्वकोष ही है। “मरुस्वती कण्ठाभरण” जो ब्रह्म समय में विद्वानों का कण्ठाभरण हो रहा है, दूसरा ग्रन्थ “शृङ्गारप्रकाश” है यह भी अब प्रकाश में आ चुका है।

मरुस्वती कण्ठाभरण में पाँच परिच्छेद हैं।

प्रथम परिच्छेद में काव्य के ४ गुणों का व १६ दोषों का वर्णन अपने मतानुसार है। द्वितीय परिच्छेद में २४ अलंकारों का, तृतीय में २४ अर्थालंकारों का तथा चतुर्थ में २४ उपमालंकारों का उदाहरण सहित वर्णन है। पञ्चम परिच्छेद में रस भाव, मन्धि तथा वृत्ति-चतुष्टय का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

शृङ्गार प्रकाश में रसों का विशेषण शृङ्गार का बहुत ही विस्तृत तथा विशद विवेचन है। भोज की दृष्टि समन्वयारमक है और अपने सिद्धान्तों को पृष्ट करने के लिए इन्होंने प्राचीन आलम्बनिका के मतों का तथा उदाहरणों का पर्याप्त रूप से उद्धरण किया है। दण्डी के काव्यादर्श का प्रभाव इस ग्रन्थ पर ब्रह्म अधिक है।

(१३) मम्मट (एकादश शती का उत्तरार्ध)—

पूर्ववर्ती चारों आचार्य ध्वनि विरोध का प्रामाणिक खण्डन कर मम्मट ने अपने “काव्य प्रकाश” में ध्वनि मार्ग का जो विवरण प्रस्तुत किया, वही आदर्श

माना जाने लगा, और उमी का अनुगमन पिछले भालकारिको ने किया कश्मीर ही मम्मट की जन्मभूमि थी, भीमसेन ने इन्हे जैयट का पुत्र तथा कव्यट और उर्वट का ज्येष्ठ भ्राता लिखा है।

मम्मट का समय निश्चित करने में ज्यादा कठिनाई नहीं है। इन्होंने अभिनव गुप्त के मत को तथा पद्म गुप्त (१०१० ई०) के आस-पास वर्तमान पद्यों को उद्धृत किया है। उधर इसके प्रथम टीकाकार माणिक्य चन्द्र सूरि ने "सकैत" की रचना (११६० ई०) में भी। फलत इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त है।

काव्यप्रकाश प्रस्थान ग्रन्थ के समान प्रौढ तथा मौलिक है। इसके १० उल्लास हैं, जिनमें काव्यलक्षण, वृत्तिविचार, ध्वनिप्रकार तथा दोष गुण प्रलकार का विस्तृत तथा विशद विवरण है।

ध्वनि मार्ग का इसमें सुन्दर विवेचन सक्षेप में मिलता है। इस पर टीका का निर्माण करना पाण्डित्य की कसौटी माना जाता था। टीका सम्पत्ति में यह देजोड है। इसकी मत्तर टीकाओं में से अनेक स्वतन्त्र रीति ग्रन्थ के कर्ताओं की भी रचतायें हैं। "अलकार सर्वस्व" के लेखक स्य्यक तथा साहित्य दर्पण के निर्माता विश्वनाथ कविराज ने भी इतने व्याख्याओं से मण्डित किया है।

(१४) सागरनन्दी (एकादश शती का पूर्वार्ध)—

ग्रन्थकार का नाम "भागर" है, पर नन्दीवश में उत्पन्न होने के कारण ये सागर-नन्दी के नाम से विख्यात थे। इनके ग्रन्थ का नाम "नाटकलक्षण-रत्नकोष" जिनमें नाटक के सब लक्षणों का वर्णन है। फलत यह दशरूपक की कोटि का ग्रन्थ है। सागरनन्दी दशरूपककार के ही समकालीन है। इन्होंने राजशेखर (१२० ई०) के दलोको को उद्धृत किया है, तथा इनके मत तथा पद्यों को सुभूति (१०६० ई० ११५० ई०) ने अपनी अमर टीका में उद्धृत किया है। फलत इनका समय ११ शती का पूर्व भाग मानना उचित होगा। दशरूपक में यह ग्रन्थ अपने में वैशिष्ट्य रखता है।

(१५) अग्निपुराण (११वीं शती का अन्तिम भाग)—

अग्निपुराण वस्तुतः नाना विषयों का लोकप्रिय कोष है। इसके दश अध्यायों में अलकार-शास्त्र से सम्बद्ध विषय वर्णित हैं। इनमें किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है। प्रस्युत प्राचीन आलकारिकों के मती को आधार मानकर इसकी रचना की गई है। अधिकांश मत अलकार सम्प्रदाय से मिलते हैं। ये ध्वनि मार्ग को अङ्गीकार नहीं करते हैं। इनके उपर भोजराज का विशेष प्रभाव नक्षित होता है। फलत इस अंश की रचना का समय ११वीं शती का अन्तिम भाग होना चाहिए।

का निरूपण किया है, जिनमें से "विकल्प" तथा "विचित्र" जैसे नवीन अलंकारों की कल्पना इनकी मौलिक सूत्र का फल है।

विश्वनाथ कविराज इस ग्रन्थ के विशेष ऋणी हैं, तथा अण्वय्य दीक्षित भी इसे उपजीव्य मानते हैं। इसके ऊपर दो टीकाएँ प्रकाशित हैं—(१) जयरथकृत विमर्शिणी तथा (२) विशाधर चक्रवर्ती कृत अलंकार सम्जीवनी। दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ कहीं-कहीं जयरथ के मूल को उद्धृत करते हैं, और कहीं-कहीं खण्डन भी करते हैं।

(१८) हेमचन्द्र (१२वीं शती का उत्तरार्ध)—

गुजरात के राजा कुमारपाल (१२वीं शती उत्तरार्ध) के गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य "हेमचन्द्र" ने साहित्यशास्त्र पर "काव्यानुशासन" नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस पर इन्होंने टीका भी लिखी है। ये अभिनव गुप्त व मम्मट के विशेष ऋणी हैं। ये सवखनकर्ता ही अधिक हैं। काव्यानुशासन के रस प्रकरण में इन्होंने अभिनव भारती से रस प्रसङ्ग का पूरा अक्षरशः उदाहरण ही दे दिया है, जो अभिनव के मूल ग्रन्थ के समझने में तथा पाठ निर्धारण में आज भी सहायता देता है।

हेमचन्द्र के दो शिष्यों की सम्मिलित कृति है—"नाट्यदर्पण"। इन दोनों शिष्यों के नाम हैं—रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र। रामचन्द्र—"प्रबन्धशतवर्ती" की उपाधि में मण्डित हैं। ये गुजरात के अनेक तरेख सिद्धराज, कुमारपाल तथा अजयपाल के समय में वर्तमान थे। फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध है।

नाट्यदर्पण—नाट्यशास्त्र के विषयों को संक्षेप में प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। छोटा होने पर भी उपादेय है। ग्रन्थकारों ने इस पर व्याख्या भी लिखी है, जिसमें आज अज्ञान और अनुपलब्ध अनेक नाट्यग्रन्थों के नाम ही मिलते, प्रत्युत उनके महत्त्वपूर्ण लम्बे-लम्बे उद्धरण भी मिलते हैं। ऐंसे ही कई उद्धरणों में "रामगुप्त" के ऐतिहासिक रूप का परिचय इतिहास प्रेमियों को मिलता है, और इतिहास की एक विस्तृत कड़ी इसी ग्रन्थ की कृपा में उनके हाथ लगी है।

(१९) शारदातनय (१२वीं शती का मध्य भाग)—

शारदा तनय के व्यक्तिगत नाम में हम अपरिचित ही हैं। ये नश्मीर के निवासी थे अपने को शारदा का पुत्र मानते थे। भोज के शृङ्गार प्रकाश से और मम्मट के काव्यप्रकाश में यहाँ अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। तिहभूपाल (१४वीं शती का प्रथम चरण) ने "रसार्णव सुपाकर" में

शारदातनय के मत का उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ विहभूपाल के मध्यकाल में १२५० ई० के लगभग लिखी जाना चाहिए।

इनके ग्रन्थ का नाम "भावप्रकाश" है। यह प्रकृतियों का नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ है। इनमें दश अधिवाह हैं जिसमें अङ्ग, रसभेद, नायक-नायिका भेद, शब्दार्थ-सम्बन्ध नाट्यशरीर, दसरूप, नृत्यभेद, तथा नाट्यप्रयोग इन दश विषयों का क्रमशः वर्णन किया गया है। यह नाट्य के सिद्धान्त के साथ ही साथ नाट्य के व्यवहार का भी सुन्दर विवेचन करता है। रस विषयक मामूली अपूर्व है। रस के विषय में अनेक अज्ञान रसाचार्यों के जैसे नागद, वासुकि, व्यास आदि के मतों का ही निर्देश नहीं मिलता, प्रद्युम्न लभिनव गुप्त के भी मत का सुन्दर रूप में विस्तृत विवरण ऐसे निरालोप उपयोगी बना रहा है। कतिपय आचार्यों के मत को तो यहीं पहली बार उपन्यास किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ नाट्य की जानकारी के लिए तथा रस के विश्लेषण के लिए बहुत ही उपयोगी और उपादेय है।

(२०) पीयूष वर्ण जयदेव (१३वीं शती उत्तरार्ध) — 103437

जयदेव मिथला के निवासी थे, ये गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव से तो भिन्न हैं, परन्तु 'प्रमत्तराघव' नाटक के कर्ता जयदेव यही हैं या पद्मघर मिश्र व्यायशास्त्र के विद्वान हैं, इस विषय में अभी तक विद्वानों में सन्देह है।

पीयूष वर्ण जयदेव विश्वनाथ कविराज से तो प्राचीन हैं, क्योंकि इन्होंने जयदेव का एक पद्य साहित्यदर्पण में उद्धृत किया है। अतः उनका समय १ वीं शती का उत्तरार्ध मानना चाहिए।

"चन्द्रालोक" इनका अलंकार शास्त्र का सुन्दर तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। यह पूरा ग्रन्थ दश मयूखों में विभक्त है। इसमें ३५० अनुष्टुप् दशक हैं, इसमें काव्य के समस्त विषयों का संक्षिप्त वर्णन है। इसकी शैली बड़ी सुन्दर है, पद्य के पूर्वार्ध में लक्षण हैं, उत्तरार्ध में उदाहरण। इसी ग्रन्थ को अप्यय्यदीक्षित ने अपने ग्रन्थ "कुवलयानन्द" के लिए उपजीव्य माना है। चन्द्रालोक की टीकाओं में "शारदागम" प्राचीन तथा पण्डितपूर्ण टीका है। राजा जयवन्तमिह का "भाषाभूषण" इसी चन्द्रालोक का हिन्दी अनुवाद है, यह भी मूल के समान ही रुचिर तथा आवश्यक है।

(२१) शोभाकर मिश्र (१४वीं शती) —

इनके ग्रन्थ "अलंकाररत्नाकर" का उल्लेख "रत्नाकर" के नाम से अप्यय्य दीक्षित तथा पण्डितराज दोनों ने किया। इसके मतका सकेत जयरथ ने विर्मशिणी के अनेक स्थलों पर किया है। निश्चित रूप से ये जयरथ (१५शती) से प्राचीन हैं। अतः इनका समय १४वीं शती मानना उचित है। ये कश्मीर

के निवामी प्रतीत होते हैं। इनके पिता का नाम त्रयीश्वर मिश्र था। तथा काश्मीरी कवि यशस्कार ने इन्हीं के अलकारों के उदाहरण के लिए "देवी-स्तोत्र" नामक काव्य का निर्माण किया।

इनका "अलकाररत्नाकर" सूत्र-वृत्ति के ढग पर लिखा गया अभिन्नव शैली का ग्रन्थ है। इनमें इन्होंने लगभग एक सौ अलकारों का निरूपण किया है जिनमें कुछ अलकार इनकी मौलिक कल्पना हैं तथा कतिपय अलकार प्राचीन अलकारों के नाम बदलकर आये हैं। अलकारों के विकास के अनुशीलन के निमित्त यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। पण्डितराज जगन्नाथ ने "रत्नाकर" के आधार पर "असम" तथा उदाहरण" नामक नवीन अलकारों की कल्पना की है जिसे अल्पव्यय दीक्षित नहीं मानते।

पण्डितराज ने "असम" के उदाहरण में दोष भले ही दिखलाया हो परन्तु उसकी कल्पना को मान्यता थी।

(२२) विश्वनाथ कविराज (१४वीं शती का पूर्वार्ध) —

ये उत्कल के राजा के मन्थविग्रहिक थे। इनका वंश पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता चन्द्रसेखर रचित "पुष्पमाला" तथा "भाष्यार्णव" के उल्लेख मिश्र हैं। इनके पितामह के अनुज "चण्डीदाम" ने "काव्यप्रकाश" पर "दीपिका" नामक टीका लिखी थी। इन्होंने "रुच्यक" के अलकार सर्वस्व" के कई नये अलकारों का निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है। तथा गीत-गोविन्द (११वीं शती) और नैषध काव्य (१२वीं शती का उत्तरार्ध) से पद्यों को उदाहरण के लिए उद्धृत किया है। एक श्लोक में इन्होंने "अलाउद्दीन नूपति" का उल्लेख किया है जो दिल्ली का खिलजी अलाउद्दीन ही मालूम पड़ता है। फलतः इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्ध मानना उचित है।

इनके अनेक ग्रन्थों का पता चलता है। परन्तु इनकी प्रसिद्धि का स्तम्भ-दीप है—"साहित्यदर्पण" जो अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। तथा आलोचना शास्त्र के सिद्धान्तों के जिज्ञासु पुरुषों के लिए नितान्त उपयोगी है। इसमें दश परिच्छेद हैं, जिनमें काव्य के तत्त्वों का विस्तृत वर्णन है। पृष्ठ परिच्छेद में नाट्य का भी सर्वांगीण विवरण देकर लेखक ने एक ही ग्रन्थ में काव्य तथा नाट्य दोनों का श्लाघ्य समीक्षण प्रस्तुत किया है। यह काव्य प्रकाश की शैली पर लिखा गया है, परन्तु उतनी प्रौढता इसमें नहीं है। विश्वनाथ आत्मकामिक होने की अपेक्षा कवि अधिक हैं। इसीलिए उदाहरणों के रूप में सुन्दर पद्यों का उपन्यास इस ग्रन्थ में किया गया है। विश्वनाथ के पुत्र "अनन्दास" की टीका प्राचीन है पर इस ग्रन्थ पर रामचन्द्र तर्कवागीश की टीका विशेष प्रसिद्ध है।

(२३) विद्याधर (१४वीं शती का पूर्वार्ध) —

विद्याधर का ग्रन्थ 'एकावली' काव्यप्रकाश की शैली पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ में आठ उभेय (अध्याय) हैं। जिनमें काव्यस्वरूप, वृत्तिविचार ध्वनिभेद, गुणीभूतव्यङ्ग्य, गुण और रीति, दोष, चन्द्रालङ्कार तथा अर्थालंकार का क्रमशः वर्णन किया गया है। यह काव्यप्रकाश तथा अलंकार-सर्वस्व पर आधारित है। इसके रचयिता "विद्याधर" ने समस्त उदाहरणों को अपने आश्रयदाता उत्कल के शासक राजा नरसिंह-द्वितीय, (शासन काल-१२००-१३-१४ ई०) की स्तुति में स्वयं लिखा है। विद्याधर ने रय्यक तथा नैपथ्यकार श्रीहर्ष का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया है, तथा इसके ऊपर एक ही टीका 'तरला' है, जिसके लेखक कालिदास के सञ्जीवनीकार मल्लीनाथ मूरि (१४वीं शती का अन्तिम चरण) हैं, फलतः इनका समय १३वीं शती का अन्त तथा १४वीं शती का प्रारम्भ है।

(२४) विद्यानाथ (१४वीं शती का पूर्वार्ध) —

विद्यानाथ के ग्रन्थ "प्रतापस्त्रयशोभूषण" की प्रतिष्ठा दक्षिण भारत में बहुत ही अधिक है। ग्रन्थकार ने अपने आश्रयदाता काकतीय नरेश "प्रतापस्त्र" की स्तुति में दृष्टान्त के लिए पद्यों की रचना की है। साथ ही साथ नाटकाद्य परिभाषा के मर्मभङ्गे के लिए इनकी स्तुति में "प्रतापकल्याण" नामक नाटक भी इसमें मन्त्रिविष्ट कर दिया है। प्रतापस्त्र की राजधानी एकशिला (वारंगल) आन्ध्र में पड़ती थी जो वहाँ के सप्तम नरेश में अभिन्न माने जाते थे। इनके शिलालेख (१२६८-१३१७ ई०) तक वे मिलते हैं। फलतः इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्ध होना चाहिए। इस ग्रन्थ में नौ प्रकरण हैं जिनमें काव्य के अङ्गों के साथ-साथ नाट्य के अङ्गों का भी पूरा विवरण मिलता है। मम्मट के आदर्श पर लिखित होने पर भी यह रय्यक के अलंकारसर्वस्व का विशेष श्रेणी है। मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने इस पर "रत्नापण" नामक टीका लिखी है।

(२५) अप्पय्य दीक्षित (१६वीं शती का अन्तिम भाग) —

अप्पय्य दीक्षित दक्षिण भारत के प्रसिद्ध शोध दार्शनिक थे, वे द्रविड थे। कुवलयानन्द में इन्होंने अपने आश्रयदाता का नाम वेंटरपति लिखा है जो विजयनगर का राजा वेंकट न होकर पेन्नकोण्डा का राजा वेंकट प्रथम था जिसके शिलालेख १५८६ से लेकर १६१३ ई० तक मिलते हैं। फलतः इनका समय १६वीं शती का अन्तिम चरण है।

इनके तीन ग्रन्थ अलङ्कार शास्त्र विषयक वृत्तिवार्तिक चित्रमीमासा व कुवलयानन्द हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके मत का छण्डन "रसगङ्गाधर" में बस कर किया है तथा इनकी खिल्ली उड़ाई है। तुच्छ शब्द के प्रयोग से ये

पराङ्मुख नहीं हुए। तथ्य यह है कि अप्पय्य दीक्षित वेदान्ती तथा मीमांसक हैं। साहित्य इनका अपना विषय ही प्रधानरूप से नहीं था। तथापि अलकारों के विकारों के अध्ययन के लिए इनका “कुवलयानन्द” नितान्त उपादेय तथा मान्य ग्रन्थ है।

(२६) पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं शती का मध्य भाग)—

पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने अपना यौवन काल “दिल्ली बल्लभ” की सरक्षकता में बिताया। यहाँ “दिल्ली बल्लभ” से दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ का संकेत माना जाता है। यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक तथ्य रखता है कि शाहजहाँ के निमन्त्रण पर उनके जेठी दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाने के लिए ये काशी से दिल्ली आये। और दारा का हँस बर्णन इन्होंने अपने काव्य में किया है। फलतः इनका समय १७वीं शती का उत्तरार्ध है। ये जात्या तैलङ्ग ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम पेरुमह तथा माता का नाम लक्ष्मी देवी था।

इनका साहित्यशास्त्र विषयक प्रौढ ग्रन्थ रसगङ्गाधर है। ये प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त अलौकिक पाण्डित्य से मण्डित विद्वान् थे। ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है उसे पाण्डित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है। उदाहरण सब इन्हीं के स्वयं निर्मित पद्य हैं। इनकी शैली प्रौढ तथा विचारोत्तेजक है। ग्रन्थ पूरा नहीं कहा जा सकता परन्तु साहित्य के समग्र तत्त्वों का विवेचन किया गया है। रस तथा अलकारों के विवेचन में इन्होंने नयी मूल से काम लिया है। ग्रन्थ के प्रथम आनन में काव्य के भेद, दश शब्द तथा अर्थ गुण ध्वनि भेद तथा रस की विस्तृत मीमांसा है। द्वितीय आनन में सलक्ष्य क्रमध्वनि शक्ति, घ लक्षणा तथा सत्तर अलकारों का विशेष विवेचन है।

इस प्रसङ्ग में इन्होंने प्राचीन मान्य आलकारिकों का उल्लेख खण्डन या मण्डन की दृष्टि से किया है। रस तथा अलकारों के विवरण में इनके अनेक मौलिक विचार उपलब्ध होते हैं।

इन्होंने अप्पय्य दीक्षित के “चित्रमीमांसा” के खण्डन के लिए एक नये ग्रन्थ की ही रचना की है जिसका नाम है—चित्रमीमांसा-खण्डन, इनकी प्रतिभा काव्य क्षेत्र में भी इसी प्रकार चमकती थी।

(२७) विश्वेश्वर पण्डित (१८वीं शती का पूर्वार्ध)—

विश्वेश्वर पण्डित १८वीं शती के अन्तर्गत पाटिया ग्राम के पाण्डेय थे। ये अपने युग के प्रबल पण्डित थे। ये साहित्यिक ही न होकर वैद्यकरण तथा तार्किक भी थे। इसीलिए इन्होंने पण्डितराज के समान ही नव्यन्याय की “अवच्छेदकावच्छिन्न वाली” शैली में अलकारों का परिष्कृत

लक्षण प्रस्तुत किया है : इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है "अलकार-कौस्तुभ" जिसकी रूपक अलकार के प्रकरण तक स्वयं व्याख्या लिखी है ।

इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था, जो स्वयं प्रकाण्ड पण्डित थे तथा इनके विद्यागुरु भी थे । इनके भाई का नाम उमापति था जिनके मत का संकेत "कौस्तुभ" में किया गया है ।

"अलङ्कारकौस्तुभ" का एक उद्देश्य यह भी था कि अलङ्कारों की बढ़ती हुई संख्या रोकनी जाए, और इसी लिए इन्होंने मम्मट के द्वारा उपन्यास ६१ ही अलङ्कारों का वर्णन यहां किया है । तथा अन्य अलकारों का उन्हीं में अन्तर्भाव कर दिया है । नव्य न्याय की शैली इस ग्रन्थ की भूमि विशेषता है, तथा अलङ्कारों के लक्षण का परिष्कार इनकी मौलिक विचारधारा का प्रदर्शक है । उपमालङ्कार का विवेचन यहां डेड सौ बड़े पृष्ठों में किया गया है । इनके छोटे-छोटे सरल ग्रन्थ भी इस विषय में ये हैं—

अलङ्कार भुवनावली, रसचन्द्रिका, अलकार प्रदीप तथा कवीन्द्रकण्ठाभरण ।

आलोचनाशास्त्र के मान्य आचार्यों में विश्वेश्वर पण्डित ही अन्तिम आलंकारिक माने जाते हैं ।

पथम उल्लास

काव्यप्रकाश का प्रतिपाद्य विषय
“मङ्गलाचरण”

नियतिकृतनियमरहिता ह्लादिकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ॥
नवरसरचिरा निमित्तिमाद्यती भारती कवेर्जयति ॥१॥

नियति के द्वारा निर्धारित, नियमों से रहित, केवल ध्यानन्दमात्रस्वभाव वाली काव्य-रूपी-अगत् का निर्माण करने वाली कवि की भारती (वाणी-सरस्वती) सर्वोत्कृष्टशास्त्रिणी है ॥१॥

प्रारम्भ कार्य की निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति के लिए काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ग्रन्थ के आरम्भ में अपने इष्ट देवता 'वाणी' को नमस्कार करते हैं ।

उक्त मङ्गलाचरण में ग्रन्थकार ने यह दिखलाया है कि ब्रह्मा की सृष्टि (निमित्ति) की अपेक्षा कवि-भारती की रचना (सृष्टि) कहीं अधिक उत्कर्ष शाली है। क्योंकि ब्रह्मा की कृति की अपेक्षा इसमें चार विशेषतायें, जो व्यक्ति-रेकमुख में प्रदर्शित की गई हैं, वे सहृदय हृदयों को सर्वदा प्रीति होती हैं ।

(१) सृष्टि के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं। मीमांसक सृष्टि का मूलकारण कर्म (धर्माधर्म विशेष) को मानते हैं, तो माध्यदर्शन सृष्टि का मूलकारण सत्त्व, रज व तमोगुणस्वरूपा प्रकृति को मानता है और न्यायदर्शन सृष्टि का मूल कारण परमाणु को मानता है। पर ये सब नियतिकृत नियम में सहित हैं। पर कवि की सृष्टि नियतिकृत नियम में रहित है। कवि की सृष्टि में ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा यह पहली विशेषता है। कहने का अभिप्राय यह है कि “नियति” शब्द के यहाँ दो अर्थ हैं “नियम्यन्ते सौरभदयो धर्मा अनर्थात् नियतिरसाधारणो धर्म पद्मत्वादिरूप, अर्थात् जिसके द्वारा सौरभ आदि धर्मों का नियन्त्रण किया जाता है वे पद्मत्वादि रूप अमाधारण धर्म नियति पद में गूँथे जाते हैं। उसके द्वारा किया गया नियम है—“यत्र पद्मत्व तत्र सौरभविशेष” जहाँ पद्मत्व होता है, वहाँ विशेष प्रकार का सौरभ होता है। इस प्रकार की व्याप्ति को “नियतिकृतनियम” कहा जाता है। ब्रह्मा की सृष्टि इस नियतिकृतनियम से युक्त है। क्योंकि उसकी सृष्टि में इनप्रकार व्याप्ति पाई जाती है। परन्तु कवि की सृष्टि में इस प्रकार का कोई नियम

नहीं है। क्योंकि आतन्दवर्षनाचार्य ने कवि को स्वयं प्रजापति कहा है और काव्य जगत् को कवि का सार कहा है—

अपारे काव्यससारे कविरेव प्रजापति ।

यथाऽस्य रोचते विश्व तथेद परिवर्तते ॥१॥

इस काव्य-सृष्टि में कवि के लिये कोई बन्धन नहीं है। यहाँ कान्ता के मुखकमल में भी कवि प्रतिभा से मोरम उद्भासित हो जाता है। नियम शब्द का दूसरा अर्थ, अदृष्ट या धर्माधर्म है। ब्रह्मा की सारी सृष्टि "अदृष्ट" के सिद्धान्त पर स्थिर है। प्राणियों के पूर्वकृत धर्माधर्म के निमित्त तदनुसार सुखदुःख रूप फल को भोगने के लिए स्वर्ग-नरकादि सृष्टि का निर्माण होता है।

परन्तु कवि की सृष्टि इन सब बन्धनों से परे है। कवि केवल अपनी कल्पना के बल पर अपने पात्र को स्वर्गीय ऐश्वर्य से समृद्ध कर देता है। उसके लिए देहांतर या अपूर्व देह की आवश्यकता नहीं है।

अतः कविसामर्थ्य ब्रह्मा के सामर्थ्य से कहीं अधिक है।

(२) कवि सृष्टि की दूसरी विशेषता यह है कि वह आतन्दमय है। जबकि साक्ष्य दर्शन व अनुसार यह मन्त्र मुल-दुःख, मोहमय है। क्योंकि इस मन्त्र का मूल कारण प्रकृति है, और वह मत्परजतमो गुणस्वरूपा है। वहाँ भी है—“सत्त्वरजतमसा साम्यावस्था प्रकृति”। “कारण गुणा कार्यगुणानारभन्ते” इस नियम के अनुसार प्रत्येक जागतिव पदार्थ सत्त्वरज और तमागुण के कार्यस्वरूप सुखदुःखमोह वाला होगा।

काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका की व्याख्या प्रभा में इस बात का और भी स्पष्टीकरण किया है—“एकस्या एव कामिन्या कचित् प्रति मुखात्मक-सत्त्वसमुद्भूतत्वम्, सपत्नी प्रति दुःखात्मकरज समुद्भूतत्वम्, स्वमलममान प्रति तमोरूपमोहसमुद्भूतत्वमिति रीत्या सर्वपदार्थानां सुखदुःखमोहात्मर-त्वमिति साध्यमतानुसारेणेदम्”।

अर्थात्—किसी पदार्थ में किसी के प्रति सत्त्वगुण समुत्पन्न तो उसका लिए वह सुखस्वरूप है, यदि रजोगुण है तो वह दुःखस्वरूप है, और यदि तमोगुण समुत्पन्न है तो वह मोहस्वरूप है।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ सुखदुःखमोहात्मक है।

परन्तु कवि की सृष्टि में दुःख का अस्तित्व ही नहीं है। उसकी सृष्टि में तो महाकवि भवभूति के अनुसार “अपि प्राया रोदित्यपि दलति वक्षस्य हृदयम्।” अपनी महदयतावश या कविप्रतिभाजन्यपरितापस्फुरित स्वयं प्रस्तर

भी आंभू गिराते हैं, और वज्र का भी हृदय रिघल जाता है। पर ये ही पदार्थ अपने पाठक को कितना आनन्द प्रदान करते हैं, इसको तो केवल महृदय ही जानता है।

कवि की कृति में तो रदन और जन्दन से भरा हुआ करण भी आनन्दानुभूति स्वरूप ही है—

साहित्यदर्पणकार का भी यही कहना है—

करुणादावपि रसे जायते यत् पर सुखम् ।
सचेतसामनुभव प्रमाण तत्र केवलम् ॥१॥

इसलिए कवि की सृष्टि ह्लादकमयी—केवल सुखमयी है।

(३) कवि सृष्टि की तीमरी विशेषता है, उसका “अनन्तपरतन्त्रा” होना। अर्थात्—वह कवि की प्रतिभा के सिवाय और किसी के परतन्त्र नहीं है। जब कि ब्रह्मा की सृष्टि, परमाणु आदि उपादान (समवायि) कारण, और ईश्वरेच्छा द्वारा जो परमाणुओं में स्पन्दनादि कर्म है, ऐसे निमित्त व असमवायि कारणों के परतन्त्र है।

कहने का तात्पर्य यह कि—न्यायदर्शन के अनुसार सृष्टि का मूल उपादान कारण परमाणु है, परिमाणुओं में ईश्वरेच्छावश जब आपस में स्पन्दन होता है तो परमाणुद्वय मध्य में आये द्व्यणुकादि की उत्पत्ति होती है, पुनः तीन द्व्यणुकों द्वारा त्रसरेणु, इस प्रकार क्रमशः स्थूल पृथिवी की उत्पत्ति होती है। पर यह सब नहीं हो सकता है, जब परमाणुओं के स्पन्दन निमित्त ईश्वरेच्छा हो, और ईश्वरेच्छा तत्त्व प्राणियों के धर्माधर्म “अदृष्ट” पर निर्भर है। न तो वह स्वेच्छया परमाणुओं का ही निर्माण कर सकता है और न बिना प्राणियों के अदृष्ट को देवे स्पन्दनादि व्यापार में ही समर्थ है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि प्राणियों के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म ही एव मात्र उनके भोगानुकूल परमाणुओं के निर्माण में तथा उनके आरम्भ के कारण हैं, तदनुकूल पुनः ब्रह्मा की सृष्टि करती पड़ती है। इसीलिए लिखा है कि ब्रह्मा की परमाणुवादि-उपादान-सामग्री के परतन्त्र है। पर प्रतिभाशील कवि के विषय में इतनी क्षणित नहीं है।

(४) ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की सृष्टि की चौथी विशेषता यह है कि—ब्रह्मा की सृष्टि केवल मधुर-अम्ल, लवण, कटु, कषाय, और तिक्त ये छे ही रस हैं, ये भी सभी रस सबके लिए प्रिय नहीं है, पर कवि की सृष्टि में शृङ्गारादि—ती रस हैं। जैसा कि कहा है—“नवरसरश्चिराम्” इत्यादि। एक तो ये सस्या में अधिक हैं दूसरा सभी के सभी हृद्य है। सभी आनन्दस्वरूप है।

इसलिए भी कविसृष्टि नवरसा तथा रुचिरा होने के कारण ब्रह्मा की सृष्टि से उत्कृष्ट है।

अब इस मङ्गलश्लोक में उपमानभूत ब्रह्मासृष्टि की अपेक्षा उपमेयभूत कविसृष्टि में उत्कृष्ट की प्रतीति होती है। इसलिए यहाँ व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य है।

पुनश्च शिल्प क उत्कर्षमुख में शिल्पी के उत्कर्षरूप वस्तु की भी अभिव्यञ्जना होती है।

पर्यन्त म भारती कवेर्जयति" इत्यादि पदों के द्वारा जहाँ कवि का काव्यरूप भारती (वाणी) के प्रति जन्यजनकभाव सम्बन्ध है, और दूसरे पक्ष में आराध्य-देवता (सरस्वती) के प्रति आराध्य आराधक सम्बन्ध है।

पुनश्च—ग्रन्थकार का वाणी की अधिष्ठात्री (भारती) देवी सरस्वती के लिए नमस्कार का आपेक्ष होगा—अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति द्वारा सरस्वती के प्रति ग्रन्थकार का नमन अभिव्यक्त है।

अब मम्मटनिष्ठ भारती विषयकभाव क अभिव्यक्त होने से भावध्वनि भी है।

भगवती श्रुति भी उस ध्वजण्डब्रह्माण्डनायक (ईश्वर) को कवि के नाम में पुकारती है, न तो उस शाब्दिक कहती है और न तार्किक।

इस जगत् का निमाता तथा नियन्ता न ब्रह्माकारण कहा गया है, और न नैय्यायिक परन्तु कहा गया है कवि। 'कविर्ननीपी परिभू स्वयम्भू' इत्यादि उपनिषद वाक्य इमं क्व यथार्थ पोषक है। इसलिए भारतीय सस्कृति में कवि का आदर सर्वतोभावन विराजमान है। यह कवि के लिए गौरव की बात है—

स्तोतु प्रवृत्ता स्तुतिरीश्वर हि ।

न शाब्दिक प्राह न तार्किक वा ॥

ब्रूते हि तावत् कविरित्यभीक्ष्णम् ।

काष्ठा परा सा कविता ततो न ॥ (शिवलीलार्णव १।१६)

काव्य का प्रयोजन

समाज में किसी भी कृति का कोई न कोई प्रयोजन (उद्देश्य) अवश्य होता है। अब कवि की कृति (काव्य-रचना) में भी कोई न कोई प्रयोजन ध्वनिनिहित अवश्य होगा, जिसका प्रतिपादन अवश्य है, अन्यथा—यदि प्रयोजन का प्रतिपादन ग्रन्थ के प्रारम्भ में न किया जाय तो, पाठकों को अभिलषित वस्तु (इष्टसाधनता) का ज्ञान नहीं होगा, उस अभीप्सित (इष्ट) के ज्ञान के

अभाव में पाठकों, की ग्रन्थ पढ़ने में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः ग्रन्थकार प्रयोजन के अभिमुख प्रवृत्ति दिखलाने हुए काव्य के प्रयोजन का निरूपण करने हैं—

काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतपे ।

सद्यः परनिर्वृत्तपे कात्तास्तस्मिततपोपदेशयुजे ॥२॥

काव्य का निर्माण यश की प्राप्ति के लिए है। जैसे—कालिदास तथा भवभूति ने अपने काव्यों के द्वारा ही विपुल कीर्ति को अर्जित किया। कालिदास व भवभूति आदि महाकवियों को इस घराघाम को छोड़े हुए न मालूम कितने वर्ष बीत गये पर उनके काव्यग्रन्थ उनका विमल यश अभी तक फैला रहे हैं। रामचंद्र कवियों का यश विरम्यार्या हीना है, इन बात को महामनीषी महाराजा भर्तृहरि ने कितने सुन्दर ढंग में कहा है—

जयन्ति ते मुहूर्तानो रससिद्धा कवीश्वराः ।

नास्ति येषां यशः कार्ये जराभरणज भयम् ॥३॥

(२) घन प्राप्ति के निमित्त भी काव्य रचना की जाती है। कविगण अपने आश्रयदाता की कीर्ति का गुणगान किया करते थे। इसके फलस्वरूप उन्हें उपहार में काफी धनराशि मिलनी थी। धावक तथा वाण ने भी अपने आश्रयदाता "श्रीहर्ष" से काव्यरचना द्वारा अतुल सम्पत्ति प्राप्त की। नात्कालिक इतिहास इसका साक्षी है।

(३) व्यवहारज्ञान कराने के लिए भी काव्य की रचना की जाती है। काव्य के द्वारा ही हमें राजदरबारों का और तत्सम्बन्धी मन्त्रि अमात्यादियों के व्यवहार का उचित ज्ञान होता है, और ही काव्य के अनुशीलन ने ही हम किमी युग विशेष के लोगों का या समाज का आचरण तथा व्यवहार भलीभाँति जान सकते हैं।

(४) अमङ्गल का निवारण या शिवेतरक्षति के लिए भी काव्य का निर्माण किया जाता है। कवि अपनी रचना द्वारा कमी विनिष्ट देवताओं की स्तुति करता है, जिसमें प्रसन्न होकर वे देवता रक्षितों के अमङ्गल (सकट) को दूर कर देते हैं।

माहित्य में इसके बहुत उदाहरण मिलते हैं। सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि मयूरभट्ट कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गये थे। उन्होंने अपने कुष्ठ रोग की निवृत्ति के लिए भगवान् भास्कर की स्तुति में शूर्पशक नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। मयूर की इस भव्य-स्तुति में प्रसन्न होकर भगवान् भास्कर ने उन्हें कुष्ठ रोग से निवृत्त कर दिया। अन्य कवियों के विषय में भी ऐसी ही वधार्थ प्रचलित हैं।

(५) इन प्रयोजनों में मद्य परमानन्द की प्राप्ति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। काव्य-पाठ में तल्लीन हुआ पाठक कभी शारीरिक आनन्द का अनुभव करता है। इस समय वह सासारिक-प्रपञ्च में जल में कमल की भाँति कुछ पृथक् सा रहता है। अर्थात्-उस समय पाठक सहृदय को (वेदान्तर) किसी अन्य वस्तु का ज्ञान ही नहीं होता है। यह आनन्दानुभूति ही काव्य का "सकल प्रयोजन मौलिभूति" प्रयोजन है।

(६) कान्ता व समान उपदेश दान भी काव्य के मुख्य प्रयोजनों में अन्यतम है। यह कान्तासम्मित उपदेश राजाज्ञा के तुल्य शब्द प्रधान वेदादि शास्त्रों से, और मित्र के तुल्य अर्थ प्रधान पुराणोक्तिहामादियों से विलक्षण भावना प्रधान होता हुआ सरस तथा मधुर शब्दों द्वारा असन्मार्ग में स्थित व्यक्ति को 'रामादि की तरह आचरण करना चाहिए न कि रात्रण की तरह' इस प्रकार के उपदेश में सम्मार्ग की ओर अभिमूय कर देता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि उपदेशक शब्द तीन प्रकार के होते हैं। प्रभुसम्मित मित्रसम्मित, तथा कान्तासम्मित शब्द।

प्रभुसम्मित शब्द—वेदादि वाक्य हैं, जो राजाज्ञा की तरह हैं इनको अक्षरशः पालन करना पड़ता है और इनके शब्दों को जरा भी इधर-उधर नहीं किया जा सकता अर्थात् शब्दावली-या वाक्य विन्यास के आनुपूर्वी को किसी स्थिति में भी शिथिल नहीं किया जा सकता है। वेद वाक्यों का अन्वया उच्चारण में या आज्ञा न मानने में एक 'प्रत्यवाय' नामक दोष लग जाता है। बिना किसी तनु न च किए आज्ञा पालन करना, और उसी क्रम में उच्चारण करने में वेद पढ़ने का पुण्य। अतः वेदादिवाक्य शब्द प्रधान हैं।

दूसरे उपदेशक शब्द हैं मित्रसम्मित—मित्र अपने मित्र को उचित कार्य करने के लिए तथा अनुचित कार्य के परित्याग के लिए उपदेश करता है। पर मित्र का उपदेश राजाज्ञा या वेद वाक्य की तरह उसे उस मार्ग के अनुष्ठान के लिए मजबूर भी नहीं करना, और न इस उपदेश की शब्द में ही प्रधानता रहती है अपितु अर्थ में इनका तात्पर्य रहता है यह शैली इतिहास पुराणादि की शैली है। इसी शैली में ग्रन्थकार ने "मुहूर्तसम्मित" या मित्रतुल्य उपदेश कहा है।

इन दोनों प्रकारों में मित्र काव्य की उपदेश शैली का नाम है—कान्तासम्मित शब्द या कान्ता के समान उपदेश दान—इस प्रकार के उपदेश में शब्द व अर्थ दोनों ही अप्रधान हो जाते हैं, अपितु रमाङ्गभूत—जो व्यञ्जना व्यापार, इसी व्यापार की महिमा से सरसतापूर्ण-उपदेश, पाठक व श्रोता के चित्त को एकाएक आकृष्ट करके सत्यार्थ की ओर प्रवृत्त करा देता है। अन्य शास्त्रों से यही काव्य का वैशिष्ट्य है।

विभिन्न-धारायै

काव्य के प्रयोजन के प्रसङ्ग में विभिन्न विद्वानों की अनेक तरह की धारणाएँ हैं। संक्षेप में दिग्दर्शन किया जाता है—

आचार्य वामन के मन में काव्य इष्ट (ऐहलौकिक) तथा अइष्ट (पार-लौकिक) दोनों तरह के फल को देता है। जीवन काल में आनन्द और मृत्यु के बाद यश देता है।

अर्थात्—काव्य-रचना की प्रतिष्ठा को यश प्राप्ति का मार्ग कहा है—

काव्य सद् दृष्टाऽदृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ॥५॥

काव्य सत् = चाइष्ट प्रयोजन, प्रीति हेतुत्वात्। अइष्ट प्रयोजन कीर्ति-हेतुत्वाद्।

“प्रतिष्ठा काव्यबन्धस्य यज्ञस सरणि विदुः” ॥ इत्यादि।

वक्रोक्ति जीवितकार आचार्य कुन्तक की सम्मति में—

काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझने वाले सहृदयों के अन्न करण में चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

आगे स्वयं उन्होंने इसके अभिप्रायको स्पष्ट करते हुए कहा है— जो चतुर्वर्गफल प्रकृष्ट पुरुषार्थ होने के कारण सब शास्त्रों के प्रयोजन रूप में प्रसिद्ध है वह भी इस काव्यामृत रस की चर्चणा के चमत्कार की कलामात्र के साथ भी किसी प्रकार की बराबरी नहीं कर सकता है। (वह) सुगन्ध में कट, बोलने में कठिन, और समझने में मुश्किल आदि अनेक दोषों से दुष्ट और पटने के समय में ही उत्पन्न दुख दायी शास्त्र सदमं हैं। पठने के साथ ही अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करने वाले काव्य की बराबरी (स्पर्धा) किसी प्रकार भी नहीं कर सकता है। यह बात अर्थापत्ति प्रमाण से प्रतीत होती है।

अन्य शास्त्र कड़वी औषधि के समान अविद्या रूप व्याधि का नाश करता है, और काव्य आनन्ददायक-अमृत के समान अज्ञानरूप रोग का नाश करता है।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विद्वाम् ।

काव्यामृत रसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥५॥

अथमभिप्राय — योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वाद प्रकृष्ट पुरुषार्थतया सर्वशास्त्र-प्रयोजनत्वेन प्रसिद्ध, सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्चणाचमत्कार कलामात्रस्य न कामपि साम्यकलना कर्तुमर्हति, दुःश्रद्धुर्भण-दुरधिगमत्वादिदोषदुष्टोऽध्ययनावसर. एव

सुदुःसहदुःखदायी, शास्त्रसन्दर्भस्तत्कालकल्पितकननीयचमत्कृते काव्यस्य न क्यञ्चिदपि स्पर्धामधिरोहतीत्येतदप्यर्थतोऽभिहितं भवति ।

कटुकौघवच्छास्त्रमविद्या व्याधिनाशनम् ।

ब्राह्मद्यामृतवत् काव्यमविवेकगदापहम् ॥७॥

आचार्य भामह ने काव्यफलो निरूपण करते हुए कहा है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिबन्धनम् ॥

ये फल भामह ने केवल काव्य-रचना करने वाले कवि के लिए ही कहे हैं न कि पाठक के लिए, परन्तु कीर्ति को छोड़कर अन्य सभी फल तो पाठक को भी प्राप्त हो सकते हैं, इसीलिए विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्य दर्पण में कुछ पाठ परिवर्तन के साथ इस श्लोक को रखा है, “साधु काव्यनिबन्धनम्” की जगह पर “साधु काव्यनिषेवणम्” यह पाठ रखा है ।

मम्मट की मद्य परा निवृत्ति ही कुन्दक की “अन्तरिमत्कार” है । यही आनन्दानुभूति काव्य का परम प्रयोजन है ।

भारतीय दर्शन के अनुसार भी इसी परम पुरुषार्थ आनन्दावाप्ति स्वरूप मोक्ष के लिए ही सभी प्राणियों की प्रवृत्ति होनी है । पर यह सभी सम्भव है, जब व्यक्ति प्रवञ्च पराडभुज रहे, या सासारिक पदार्थों में आसक्ति छोड़ दे । उपनिषदों में लिखा है कि मानव की तीन एषणायें होती हैं । (१) पुरुषेणा, (२) वित्तैषणा और (३) लोकैषणा, अन्य शब्दों में इन्हे काम, अर्थ और धर्म कह सकते हैं । यही ससार में समस्त मानव प्रवृत्तियों की मूल मानी जाती है । परन्तु इन तीन पुरुषार्थों के अनिरिक्त एक मोक्ष नाम का परमपुरुषार्थ भी है, जहां आत्मा की साक्षात् अनुभूति कलात्मक चिन्तन (शास्त्र द्वारा) या रसात्मक प्रेरणा द्वारा होती है । इसी स्थिति की प्राप्ति के लिए यावत् कला, यावत् शास्त्र, यावत् काव्य निरन्तर प्रवृत्त है । इसी के लिए कवियों की काव्य में प्रवृत्ति कभी कभी स्वान्न सुखाय भी होनी है । इसी आत्मा को जानना ही भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का सर्वश्रेष्ठ फल है ।

“आत्मानं विजानीहि ॥ इति ॥

काव्य का कारण

काव्य की रचना करने वाले व्यक्ति को कवि कहते हैं, राजशेखर के अनुसार कवि शब्द की निष्पत्ति “कवृवर्ण—इस घातु में ई प्रत्यय लगाने से हुई है, कवि का अर्थ है वर्णनकर्त्ता—अर्थात्—रमभावादि का विमर्शक इस प्रकार लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि के कर्म को काव्य कहते हैं । यद्यः प्रभृति फल से सम्पन्न काव्य सर्वथा उपादेय व उपेय है—

इसी के समुल्लास के लिए आचार्य मम्मट उपायो का वर्णन करते हैं—

शक्तिनिपुणता श्लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।

काव्यज्ञ शिक्षयाम्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥३॥

काव्य के समुल्लास उद्भव में शक्तिप्रतिमा अर्थात्-कवित्व बीजरूप-सस्कारविशेष, और लोक-व्यवहार शास्त्र एव काव्यादि के पर्यालोचन में व्युत्पत्ति-निपुणता, और काव्यज्ञ विद्वानों की शिक्षा का अभ्यास, ये तीनों-शक्ति-निपुणता-व-अभ्यास सम्मिलित (समष्टि) रूप से कारण हैं ।

“इति हेतुस्तदुद्भवे” ये “हेतु न तु हेतव” ऐसी व्याख्या नृत्ति में की है, इसका अभिप्राय यही है कि यहाँ काव्य की उत्पत्ति में उक्त शक्ति-निपुणता अभ्यास की सम्मिलित हेतुता है न कि पृथक् पृथक् । अत एव हेतु शब्द में एकवचन का ही प्रयोग किया, बहुवचन का प्रयोग नहीं किया ।

अर्थात्—जैसे तृण से, मणि से, व अरणि से सहायान्तरनिरपेक्ष रूप में अलग-अलग अग्निरूपी कार्य उत्पन्न होता है वैसे यहाँ सहायान्तरनिरपेक्ष-काव्योत्पत्ति कार्य नहीं होता है, इस प्रकार के हेतु जो पृथक् रहकर कार्योत्पत्ति के कारण होते हैं—उनमें तृणारणीमणि न्याय चरितार्थ होता है । परन्तु यहाँ काव्योत्पत्ति-कार्य निपुणता व अभ्यास की सम्मिलित हेतुता होने के कारण दण्डचक्रवीवरादि न्याय चरितार्थ होगा ।

अर्थात्—घटरूपी कार्य में जैसे दण्डचक्र व चीवर में मभी कारण अपेक्षित है इनमें से एक की भी अनुपस्थिति बाञ्छनीय नहीं होती, उसी प्रकार काव्योत्पत्ति-कार्य में भी उक्त तीनों हेतुओं की सम्मिलितावस्था अपेक्षित है, इनमें एक की भी यदि अनुपस्थिति हुई तो अनुपहमनीय काव्य का निर्माण नहीं हो सकता, यही “हेतु” इस एकवचन का स्वारस्य है ।

काव्य की कारणता के विभिन्न पक्ष

संस्कृत आलोचनाशास्त्र में काव्य की कारणता के प्रसङ्ग में अनेक प्रकार के मत मतान्तर दिखाई देते हैं, अधिकतर आचार्य कारण-प्रत्यय पक्ष के ही समर्थक दिखाई देते हैं, पर उनके वारणों की सजा में केवल भेद मालूम पड़ता है ।

आचार्य दण्डी के मत में भी प्रतिभा, शास्त्रज्ञान व निरन्तर अभ्यास ही काव्य की माधना है—

नैसर्गिको च प्रतिभा, श्रुतञ्च बहुनिर्मलम्, ।

अमन्दश्चाभियोगरच कारण काव्यसम्पद ॥ (१।१०३ का० ६०).

आचार्य वामन भी इस विषय में दण्डी के ही अनुयायी हैं। वे प्रतिभा शब्द को 'प्रतिभानम' शब्द से कहते हैं और इसी को कवित्व का बीज मानते हैं। यह प्रतिभा या प्रतिभान ज-मज-मा-नर का सस्कार विशेष है इसके अभाव में कवित्व का स्फुरण ही नहीं होता है इसका अतिरिक्त वे लोकवृत्त लोकव्यवहार तथा प्रकीर्ण काव्यत्र-वृद्ध सवा को भी आवश्यक मानते हैं। लिखा भी है—

लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि ॥१॥ इत्यादि

इनके सहायक कारण हैं चित्त की एकाग्रता विविक्तदेशवित्त्व अथवा ब्राह्ममुहूर्त—प्रातः चार बजे का समय और पदो अवापोद्वाप अर्थात् पदा का परिवर्तन काव्य के परिपाक के लिए उचित पदा वा विन्यास व अनुरूप पदा का अपसारण पुनः उनका निरीक्षण भी आवश्यक है—

आधानोद्धरणे तावत् प्राबहोलायते मनः ।

पदस्य स्यापिते स्वयं हन्त सिद्धा सरस्वती ॥

यत् पदानि त्यजत्येव परिवृत्तिं सहिष्णुताम् ।

त शब्द-यासनिष्णाता शब्दपाकं प्रचक्षते ॥ ५॥

आचार्य रट्ट ने भी काव्यकारणा के प्रसङ्ग में प्रतिभा व्युत्पत्ति व अभ्यास को एक माय कारण माना है। प्रतिभा के स्थान पर वे शक्ति का प्रयोग करते हैं—और नवा लक्षण भी प्रस्तुत करते हैं—एकाग्रचित्त होने पर अर्थों का जहाँ अनेक प्रकार से स्फुरण होता है कमनीय पद कवि के सामने स्वयं उपस्थित हो जाते हैं उसे शक्ति या प्रतिभा कहते हैं।

उनके शब्दों में शक्ति का लक्ष्य यह है—

मनसि सुप्तमाधिनी तदा विस्फुरणमनेकधाभिधयस्य ।

अक्लिष्टानि पदानि च विभाङ्गं तस्यामनो शक्ति ॥ (१११५)

आचार्य आनन्दवर्धन की सम्मति में व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा दोनों में प्रतिभा ही श्रेयस्कर है। शास्त्र की व्युत्पत्ति व रखने वाला कवि अपने काव्य में अनेक दोषों का सम्पादन कर बैठता है। प्रतिभा इन समस्त दोषों को दूर कर देती है प्रतिभा के प्रबल समर्थक आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति अत्यन्त स्पष्ट है—

अव्युत्पत्ति कृतो दोष शक्यः सन्नियते कवेः ।

यस्त्वशक्ति कृतस्तस्य भटित्येवावभासते ॥१॥

आचार्य कुतूब के मत में कवि का स्वभाव ही काव्य का मूल कारण है, इस स्वभाव के अनुसार ही कवि की व्युत्पत्ति होगी और तदनुसार ही कवि

का अभ्यास भी होगा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तो केवल प्रतिभा के परिपोषक मात्र हैं। वस्तुतः काव्य बन्ध तो कवि स्वभाव पर आश्रित हैं, यद्यपि कुन्तक ने स्वतन्त्र काव्य हेतुओं पर विचार नहीं किया फिर काव्य मार्ग के प्रसङ्ग में वे कवि स्वभाव की व्याख्या करते हुए कहते हैं।

“कविस्वभावभेदनिबन्धत्वेन काव्यप्रत्यानभेद समञ्जसता गाहते ।
मुकुमारस्वभावस्य कवेस्तयाविधैव सहजा शक्ति समुद्भवति, शक्तिशक्ति-
मतोरभेदात् तथा च तयाविधसौकुमार्यरमणीया व्युत्पत्तिभावघ्नानि ।”

राजशेखर ने लिखा है कि श्यामदेव नामक आलंकारिक के मत में काव्य-कर्म में सबसे अधिक सहायक वस्तु “समाधि” है अर्थात्—“चित्त की एकाग्रता”, आचार्य मलग “अभ्यास” को ही अधिक उपयोगी मानते हैं। परन्तु राजशेखर का मत इन दोनों से भिन्न है, वे शक्ति को ही काव्य-कला के उन्मीलन में प्रधान हेतु मानते हैं।

समाधि तथा अभ्यास तो शक्ति के उद्भासक मात्र हैं। काव्य-कला के उन्मीलन में साक्षात् हेतु तो शक्ति ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ भी केवल प्रतिभावादी हैं। उनके शब्द इन प्रकार हैं—“तस्य च कारण कथिता केवला प्रतिभा” प्रतिभा का लक्षण करते हैं—काव्यरचनानुकूल शब्दार्थों की उपस्थिति, और उस प्रतिभा में रहने वाली एक प्रतिभात्व जाति विशेष है। अर्थात्—काव्य निष्ठ कार्योत्तर के प्रति समवाय सम्बन्ध में अवच्छिन्न प्रतिभा में रहने वाली जो कारणता है, वह किसी न किसी धर्म में अवच्छिन्न रहेगी, अतः प्रतिभावृत्ति कारणता भी प्रतिभात्व धर्म से अवच्छिन्न होती रहेगी, क्योंकि यह नियम है जो जो कारणता होती है वह किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न होती है, अतः प्रतिभा में रहनेवाली कारणता भी प्रतिभात्व धर्मावच्छिन्ना होगी, इसीलिए प्रतिभा को जाति विशेष कहा है।

इस प्रतिभा के फिर दो कारण मानने हैं—

एक अदृष्ट—अर्थात् जन्मान्तरीय कवित्ववीजरूप सस्कार विशेष—और दूसरा—व्युत्पत्ति एव अभ्यास।

अदृष्ट का अर्थ पुण्य—मन्त्र तन्त्र जन्य भी माना है। कहा भी है—

“मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्टा कविराजता ॥”

जैसे श्रीहर्ष के विषय में कहा गया है—“तच्चिन्तामणि मन्त्रचिन्तनफले-
काव्ये महाचारणि” इत्यादि मन्त्रानुष्ठान जन्म महाफल उनका नैपथीय चरित
महाकाव्य है। और कही लोक-शास्त्र व काव्यादिके अनुशीलन भी काव्य या
प्रतिभा का कारण माना गया है।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना और काव्य निष्ठ कार्यता निरूपित कारणता का अवच्छेदक प्रतिभात्व होगा ।

इस प्रकार सस्कृत साहित्य में काव्य कारणता के विषय में सम्मिलित कारणतावाद तथा केवल कारणतावाद का कोतुक काव्य रसिकों के आलोचना चक्षु के लिए अत्यन्त रमणीय आस्वाद्य तथा मननीय है ।

वस्तुतः कवित्व के आधार स्तम्भ दो ही हैं दर्शन और वर्णन । इन दोनों के परिपूर्ण होने पर ही सत्कवित्व का उन्मेष होता है । दर्शन का सम्बन्ध आन्तरिक प्रतिभा से और वर्णन का सम्बन्ध शब्दावली की समुचित उपस्थिति से है ।

वास्तविक महर्षि तत्त्वा के दृष्टा थे, परन्तु जब तक उन्होंने अपने अनुभूत-आन्तरिक प्रतिभा ज्ञान को शब्दों के माध्यम से नहीं प्रकाशित किया तब तक उन्हें आदिकवि या महाकवि की महनीय मज्ञा नहीं प्राप्त हुई । ऋग्वेद पक्षी के निधन में उत्पन्न हुए कम्पन स्वर ने जब उनका काव्यिक हृदय को पिघला दिया तब उनका आन्तरिक शोक ही

मा निपाद प्रति ठात्वमगम शारवती समा ॥

यत ऋग्वेदमियुनादेकमवधो काममोहितम ॥

इत्यादि श्लोक में परिणत हुआ । इसीलिए मौन की यह उक्ति भी सत्य ही है कि ऋषि ऋषि ही होता है अनृषि नहीं होता ।

ऋषयोमद्रष्टार अत दत्तान व वर्णन ये दोनों कवि के मुख्य पाथेय हैं ।

काव्य का लक्षण

‘लक्षणप्रमाणान्या वस्तुसिद्धि’ किसी भी वस्तु की सिद्धि लक्षण अथवा प्रमाण से होती है इस नियम के अनुसार काव्य के प्रयोजन व कारण के निवचनानन्तर काव्य पद प्रवृत्ति निमित्तपथक या काव्य के व्यवहार के लिए उसके लक्षण का निरूपण करते हैं—

‘तदशेषो शब्दाथौ सगुणावनलडकृतो पुन क्वाऽपि

दोषरहित और गुणरहित उही वही अलङ्कारो से रहित भी शब्द और अर्थ (दोनों की समष्टि) काव्य कहलाते हैं ।

अर्थात्—काव्य शब्द और अर्थ के मञ्जुल समन्वय में विराजमान है जिस प्रकार ‘अर्घनारीश्वर — शिव और पावनी का नित्य सम्बन्ध है उसी प्रकार शब्द और अर्थ भी काव्य में नित्य समभाव से रहते हैं । पर ये शब्दाथ तीन विशेषणों से विशिष्ट होने चाहिए ।

(क) श्लेषो से रहित (ख) गुणो से सहित (ग) अलंकार रहित भी यदि कही कही हो तो क्षति नहीं है।

(१) रस के विघातक कतिपय प्रबल दोष, जो रस के प्रतीति के प्रतिबाधक हो वे दोष काव्य से नहीं होने चाहिए। यद्यपि दोष सामान्याभाव या निर्दुष्ट काव्य सर्वथा दुर्लभ है, फिर साक्षात् या परम्परया-शब्दार्थ द्वारा जो दो उद्देश्य प्रतीति के प्रतिबन्धक हो उन दोषो से रहित हो।

(२) गुणो की सम्पत्ति—शब्दार्थ को गुणो से सहित-युक्त होना आवश्यक है। काव्य के मुख्य तीन गुण हैं—माधुर्य, श्रोज और प्रसाद। ये गुण काव्य के आरम्भभूत रस के नित्य धर्म हैं। रस के धर्म होने के कारण ही रस के साथ इनका साक्षात् सम्बन्ध है और अप्रधान रूप से परम्परया ये शब्द और अर्थ में भी रहते हैं। जिन शब्द और अर्थ से काव्य सम्पन्न होता है, उनमें गुणो की स्थिति आवश्यक है।

(३) अलंकार की वैकल्पिक स्थिति—काव्यगत शब्द तथा अर्थ को सर्वथा अलंकार से युक्त होना बहुत जरूरी नहीं है। परिस्थिति विरोध में ही अलंकार की अपेक्षा है। इस प्रसङ्ग में काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने अपनी प्रौढ टीका प्रदीप में एक मार्मिक टिप्पणी दी है—जिसका सार यह है—प्रदीपकार का कहना है कि चमत्कार सार ही तो काव्य है। और वह चमत्कार या तो रस के द्वारा अभिव्यक्त होगा, अथवा अलंकार के द्वारा जहाँ रस की स्थिति है वहाँ किसी अन्य अलंकार की अपेक्षा नहीं है। इस बात को स्वयं घ्वनिकार ने भी कहा है कि निबन्ध का वाक्यार्थ जहाँ स्वतः रसानुकूल हो ऐसी स्थिति में अलंकार की अनुपस्थिति में भी प्रबन्ध किसी अनिर्वचनीय विच्छिन्नता को परिपुष्ट करता ही है।

परन्तु ऐसी स्थिति में जहाँ शब्दार्थ नीरस हो वहाँ भी यदि अलंकार न हो तो चमत्कार की अनुभूति कहीं से होगी? इस स्थिति में स्फुटालंकार की भी आवश्यकता है। इसीलिए काव्यलक्षण में “अनलङ्कृती पुन क्वाऽपि” न देकर अलंकार की सामान्यतः वैकल्पिक स्थिति न रचकर “स्फुटालंकाररसान्वतर-त्वम्” यह विशेषण देना चाहिए। अर्थात् शब्दार्थ के साथ केवल अलंकार वैकल्पिक स्थिति न देकर रस व अलंकार के विकल्प को रखना चाहिए था।

उक्त लक्षण की कविराज विश्वनाथ कृत आलोचना—

विश्वनाथ कविराज ने अपने “साहित्यदर्पण” नामक ग्रन्थ में मम्मट उक्त काव्य लक्षण की प्रतिपद आलोचना की है। दर्पणकार ने मम्मट के इस काव्य लक्षण को चिन्तनीय बतलाया है। सर्वप्रथम उन्होंने “अदोषी” इस विशेषण पर कटाक्ष किया है कि काव्यप्रकाशकार का यह काव्य लक्षण अव्याप्त है।

अर्थात् लक्ष्य के एक देश में सङ्गत नहीं होता है क्योंकि "न्यक्कारो ह्यपमेव मे यदरय" इत्यादि ध्वनिकाव्य के उदाहरण हैं परन्तु यही पर "अपमेव न्यक्कार" इस प्रकार दोषों के परस्पर उद्देश्य विधेय भाव का विचर्य होने से विशेषा विमर्श दोष है। फलतः उक्त दोष से द्रुष्ट होने के कारण आपका लक्षण यहाँ व्याप्त नहीं है, अतः आपका लक्षण अव्याप्ति दोषग्रस्त है। इस प्रकार निर्दुष्ट काव्य का मिलना अत्यन्त ही अमम्भव है। इसलिए काव्य के शब्दार्थों के लिए यह दोषाभाव की शर्त नहीं रखनी चाहिए।

इसी प्रकार सगुणों का भी खण्डन किया। विश्वनाथ का कहना है कि जब गुण रस के घर्म हैं तब शब्दार्थों के तब काव्य तो सरम होगा ही, घर्मों रस की सत्ता में उसका घर्म गुणों की स्वतः सत्ता है, इसके लिए पुनः 'सगुणों' यह विशेषण देना सर्वथा अनुचित है, जब रस की सत्ता शब्दार्थ नहीं रहे उस स्थिति में शब्दार्थों के सगुण विशेषण आवश्यक है इस तरह यदि समाधान किया जाए तो रस के अभाव में तो शब्दार्थों में काव्यत्व ही नहीं फिर गुणों की चर्चा करना ही व्यर्थ है। अतः रसाभावदशा में भी सगुणों यह विशेषण उचित नहीं है।

अनलकृती पुनः वार्जपि—के उदाहरण में भूल—

मम्मट ने अनलकृती पुनः वार्जपि का अर्थ किया है सर्वत्र सालङ्कार शब्दार्थों काव्य है यदि कहीं स्पष्ट अलङ्कार नहीं रहे तो उस दशा में भी काव्य माना जाता है। जैसे—“य कौमारहरं स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षणा” इत्यादि पद्य में किसी स्वाधीन पतिका का यह कथन है।

यहाँ प्रकृत मामग्री के सद्भाव में भी उत्कृष्टा की निवृत्ति नहीं हो रही है। इसमें विश्वनाथ का कथन है कि यहाँ विभावना तथा विशेषोक्ति दोनों अलङ्कार प्रतीत होते हैं एक ही काव्य में दोनों की स्थिति होने से उनके गुण प्रधान भाव में सन्देह होने के कारण सन्देह सत्कर स्पष्ट ही है। अतः मम्मट का यह कथन कि यहाँ स्पष्ट अलङ्कार नहीं है यह सरासर भूल है।

इस प्रकार काव्यप्रकाशकार के ऊपर विश्वनाथ के आक्षेप आपाततः यथार्थ प्रतीत होते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि विश्वनाथ कोट व कोई वगील हैं, और मम्मट के ऊपर एक से एक पौडग्ट पकड़ कर बहम कर रहे हो और प्रतिपद दोषारोपण कर रहे हो।

पर मम्मट की काव्य परिभाषा पर थोड़ा भी गम्भीर चिन्तन करने से विश्वनाथ की ये दलीले कपूर की तरह उड़ जाती हैं।

अदोषों का अर्थ है दोषरहित शब्दार्थों काव्य के उपयुक्त हैं। यह दोष दो तरह के होते हैं दोष सामान्य व दोष विशेष। दोष सामान्य के रहने पर भी यदि

काव्य की आत्मा रस की प्रतीति में कोई बाधा नहीं आती है, तो वे दोष-रामान्य हैं दोष नहीं माने जाते हैं।

कुछ दोष विशेष होते हैं। वे रस दोष कहलाते हैं। या शब्दार्थ निष्ठ ऐसे दोष हैं जो परम्परया अर्थात् शब्दार्थ को दूषित करते हुए रस प्रतीति के भी विघातक हैं। ऐसे दोषों का परिहार काव्य में आवश्यक है। ऐसे ही दोषों का परित्याग ग्रन्थकार को अभीष्ट है। अतः अदोषो यह विशेषण सार्थक ही है। इसी तरह काव्य के लिए गुणों की सम्पत्ति भी आवश्यक है। गुण यद्यपि रस के धर्म हैं परन्तु स्वाश्रया व्यञ्जकत्व रूप परम्परा सम्बन्ध से वे शब्दार्थ में भी रहते हैं। यहा स्व शब्द से गुणों का ग्रहण होगा। उन गुणों का आश्रय रस है और उस रस के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ है। स्वयं मम्मट ने भी अष्टम उल्लास में कहा है—गुणवृत्त्या पुनस्तेषा वृत्ति शब्दार्थयोर्मता।” अर्थात् गुण-रूप में वे गुण शब्द और अर्थ में भी रहते हैं।

आनन्दवर्धन का “काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्” तथा कुन्तक का “सालकारस्य काव्यता” आदिवाक्य अलकार को उपलक्षक मानकर गुणों की ओर भी संकेत करते हैं। वामन ने तो साफ ही कहा है “विशेषो गुणात्मा” अर्थात्—काव्य में वह वैशिष्ट्य गुणों द्वारा ही है। रस जहाँ काव्य का अन्तरङ्ग तत्त्व है, वहाँ अलकार व गुण शब्दार्थ को सम्भृत करने वाले बहिरङ्ग तत्त्व है। किसी वस्तु के पूर्ण परिचय के लिए उसके अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग तत्त्वों का वर्णन सर्वथा आवश्यक है। आदिकवि वाल्मीकि ने भी इस सिद्धान्त को पुष्ट किया है। लघु-कुश के द्वारा रामायण का गायन सुनकर वाल्मीकि का कथन है—

अहो गीतस्य माधुर्यं दलोकाना च विशेषत ।

चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ॥ (वा० ४।१७)

अहो ! इस गायन में विशेष कर दलोको में कितना माधुर्य है। वर्णन इतना रोचक है कि प्राचीनकाल में होने वाली भी घटना प्रत्यक्ष के समान दीख पड़ती है। इस पद्य में माधुर्य गुण व भाविक अलकार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

अनलट्कृती पुन क्वाऽपि—काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा प्रदर्शित उक्त अस्फुटालकार के उदाहरण “य. कौमारहर” इत्यादि पद्य में विभावना, व विशेषोक्ति मूलक सन्देह सकर की कल्पना कर जो आपत्ति विश्वनाथ ने दिखलाई है उसका निराकरण इस प्रकार है।

यहाँ उत्कण्ठारूप कार्य का वर्णन किया गया है, (पर प्रकृत सामग्री की सत्ता में) उसका कारण नहीं है इसलिए विभावना है, ठीक इसके विपरीत.

जहाँ सब वस्तुएँ उपभुक्तपर है, अर्थात् कारण सामग्री विद्यमान है पर उत्कण्ठाभाव रूप कार्य नहीं है, इसलिए विशेषोक्ति है। और किमी एक अलङ्कार की स्वीकृति में माघक वाघक कोई सामग्री न होने से सन्देह सकर है; विश्वनाथ ने विशेषोक्तिमूलक सन्देह सकर माना है। परन्तु ये अलङ्कार यहाँ भावमुखेन नहीं, अपि तु अभावमुखेन निकलते हैं, इसीलिए वे स्पष्ट नहीं हैं प्रत्युत बहुत खीचा तानी से निकलते हैं। अतः अस्फुटालङ्कार का यह उदाहरण ठीक ही है।

कुन्तक की काव्य परिभाषा और वक्रोक्ति—

आचार्य कुन्तक के अनुसार सालकार शब्द और अर्थ काव्य है इनके मत में अलङ्कार काव्य का मूल तत्त्व है, बाह्य भूषण मात्र नहीं। काव्यत्व की स्थिति अलङ्कार और अलङ्कार्य शब्द-अर्थ के अवयव रहित समस्त समुदाय में ही रहती है।

काव्य मर्मज्ञो को आनन्द देने वाली सुन्दर कवि व्यापार युक्त रचना (वङ्घ) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर (सहितरूप में) काव्य कहलाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें शब्द का सम्पूर्ण सौन्दर्य और अर्थ के सम्पूर्ण समत्व दोनो का सम्यक् सामञ्जस्य या विशिष्ट महभाव जहाँ रहता है वह काव्य है। पहले सरलतया काव्य की पहिधान के लिए "सालकारस्य काव्यता" कहकर पुनः काव्य व्यवहार के प्रयोजक-लक्षण को प्रदर्शित करते हैं—

शब्दार्थो सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ॥

व्ये व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि ॥७॥

काव्य मर्मज्ञो के आह्लादकारक सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।

कुन्तक की वक्रोक्ति की परिभाषा—

प्रसिद्ध कथन से मिनन विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। अर्थात् वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति ही (वक्रोक्ति) है। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता—कवि कर्म कोशल उसकी भङ्गिमा या छटा (शोभा) उसके द्वारा उक्ति (विचित्र अभिधा) या (वर्णन शैली) का नाम ही वक्रोक्ति है। संक्षेप में इस पद्य में इसका स्वरूप दिखाते हैं।

उभावेतावलङ्काणे तयो पुनरलङ्कृति ।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणिति कथ्यते ॥१०॥

यह दोनो (शब्द और अर्थ) अलङ्कार्ये होते हैं और चतुरता पूर्ण-कथन प्रकार विशेष रूप वक्रोक्ति ही उन दोनो (शब्द और अर्थ) का अलङ्कार होती है। अर्थात् विवित्राऽभिधान व्यापार रूप अलङ्कार ही वक्रोक्ति है। इसी से शब्दार्थ अलङ्कृत होते हैं। यही काव्य की आत्मा है या जीवन है।

काव्य के विषय में विश्वनाथ का मत—

विश्वनाथ कविराज काव्य के उपस्कारक बाह्य उपकरणों की उपादेयता के विषय में किञ्चित् उदासीन से प्रतीत होते हैं। इसीलिए इनका महान् सरम्भ मम्मट के काव्य लक्षण के विशेषणों के खण्डन के लिए रहा। यहाँ तक कि वक्रोक्तिजीवितकार के “काव्यजीवित के रूप में प्रतिष्ठित “वक्रोक्ति” को भी सहजरूप में अलङ्कार स्वरूप मानकर फिर उसके युक्ति के लिए कोई प्रयास भी नहीं करते।

ये काव्य के कला पक्ष से प्रभावित न होकर भाव पक्ष से प्रभावित हैं— इसीलिए बाह्यलक्षणों में पड़कर काव्य के अन्तस्तल का स्पर्श करते हुए— “वाक्य रसात्मक काव्यम्” रसात्मक वाक्य को ही काव्य का लक्षण मानते हैं। काव्य की आत्मा रस ही है और इस आत्मभूत रस के अभिव्यञ्जक वाक्य को काव्य कहते हैं। यहाँ रस शब्द व्यापक अर्थ में है। अर्थात्-रस सं-भाव रसाभास-भावाभास आदि रस के समीवर्ती सभी भावनायें गृहीत हो जाती हैं। पर पण्डितराज को विश्वनाथ का यह काव्य लक्षण अत्यन्त सकीर्ण प्रतीत होता है। एक तो यह महाकवियों के विरुद्ध है, क्योंकि लक्ष्यानुसार लक्षण को व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि काव्यात्मा जो ध्वनि है, उसके वस्तु ध्वनि अलङ्कार ध्वनि आदि जो महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं उनमें यह लक्षण अभ्याप्त है। अतः काव्य के क्षेत्र में यह लक्षण अत्यन्त संकुचित मालूम पड़ता है।

काव्य के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ का विचार—

पण्डितराज जगन्नाथ—काव्य में रमणीयार्थ के पक्षपाती हैं—उनका प्रख्यात काव्य लक्षण है—“रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द काव्यम्”। रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। काव्य में शब्दों द्वारा प्रतिपादित अर्थ ऐसा हो जिसमें चित्त-रमण करे, आनन्द का अनुभव करे। इस रमणीयता का ही पर्याय वाचक शब्द चमत्कार भी है। यहाँ चमत्कार का अर्थ व्यापक है—

अर्थात्—जो रमणीय रचना हृदय को प्रभावित कर उसमें अलौकिक चमत्कार या आनन्द का संचार करती है वह “काव्य” कहलाती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी काव्य प्रकाशकार के काव्य लक्षण की कड़ी आलोचना की है—

उनका कहना है कि—काव्यप्रकाशकार ने जो “शब्दार्थो काव्यम्” अर्थात् शब्द और अर्थ को काव्य माना है उस पर जस विचार किया है—

क्या काव्यत्व धर्म उभयनिष्ठ है—शब्द तथा अर्थ में “व्यासज्यवृत्ति” है। अर्थात् शब्द अर्थ दोनों में रहने वाला धर्म है अथवा प्रत्येकपर्याप्त ?

अर्थात्—“शब्द में अलग काव्यत्व और अर्थ में अलग काव्यत्व”। इनमें पहला पक्ष अर्थात् “व्यासज्य-वृत्ति” वाला पक्ष नहीं बन सकता है। क्योंकि उस दशा में “एको न द्वौ” इस व्यवहार के समान यह श्लोक वाक्य तो है, परन्तु काव्य नहीं है। इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा। जैसे दो पदार्थों में रहने वाली द्वित्व सत्या दोनों में मिलकर ही रहती है। अलग-अलग नहीं इसी लिए द्वित्वसङ्ख्या उन दोनों पदार्थों का व्यासज्य वृत्ति धर्म है। जब दोनों पदार्थ उपस्थित होते हैं, तभी “द्वौ” ये दो हैं, इस प्रकार का व्यवहार होता है। और जब उनमें से एक ही उपस्थित होता है, उस समय ‘यह दो नहीं, एक है, इन प्रकार का व्यवहार होता है। इसी प्रकार यह श्लोक वाक्य है, काव्य नहीं” यह व्यवहार होने लगेगा। अतः काव्यत्व को व्यासज्य वृत्ति नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार “काव्यत्व” को प्रत्येकपर्याप्त अर्थात् शब्द तथा अर्थ में दोनों में अलग अलग रहने वाला धर्म भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उस दशा में एक ही श्लोक वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों की दृष्टि में दुहरा काव्यत्व आ जायेगा, इसलिए एक पद्य में दो काव्यों का व्यवहार होने लगेगा। अतः न तो व्यासज्यवृत्ति काव्यत्व बनता है और न प्रत्येकपर्याप्त। फलतः काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है अपितु केवल शब्दनिष्ठ धर्म है।

103437

नागेश द्वारा मम्मट का समर्थन—

रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेशमट्ट ने अपनी रसगङ्गाधर की टीका “मर्मप्रकाश” में पण्डितराज की युक्तियों का खण्डन कर मम्मट के ही मत का समर्थन किया है। उनका उत्तर इस प्रकार है—

काव्यत्व का प्रयोजक जो रसास्वाद व्यञ्जकत्व है वह शब्द तथा अर्थ दोनों में समान रूप से रहता है। काव्य पदा—यहाँ पाठ शब्द है। काव्य को ममभा यहाँ बोध अर्थ का है। ये उभयविध व्यवहार लोक में देखे जाते हैं। अतः काव्यत्व को व्यासज्य-वृत्ति धर्म-अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनों में मानने में कोई क्षति नहीं है। इसलिए चमत्कार बोध जनक ज्ञान विषयतावच्छेदक धर्मत्व रूप लक्षण शब्द और अर्थ दोनों में रहने से प्रकाशोक्त काव्य अनुपहमनीय है।

काव्य के भेद—

मम्मट ने काव्य के मुख्य तीन भेद माने हैं ।

(१) ध्वनि-काव्य (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य तथा (३) चित्र काव्य ।

(१) ध्वनि काव्य को ही उत्तम काव्य कहते हैं—

जहाँ वाच्य से व्यङ्ग्य-अर्थ में अधिक चमत्कार रहे उसे उत्तम काव्य या ध्वनि काव्य कहते हैं ।

मम्मट के शब्दों में ध्वनिकाव्य (उत्तम काव्य) का लक्षण इस प्रकार है—

इदमुत्तममतिर्नायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधै कथितः ॥४॥

अर्थात्—वाच्यार्थ की अपेक्षा जहाँ व्यङ्ग्यार्थ में अधिक चमत्कार रहे, वह उत्तम काव्य होता है, विद्वानों ने इसे ध्वनि या ध्वनि काव्य कहा है ।

यहाँ ध्वनि शब्द के परिचय हेतु कुछ बातें आवश्यक हैं ।

साहित्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना आनन्दवर्धनाचार्य ने की है । सर्वप्रथम वैयाकरणों ने स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया था, उन्हीं की कल्पना को ग्रहण कर ध्वनि पण्डित आनन्द-वर्धनाचार्य ने शब्द-अर्थ-शब्दार्थ-व्यापार व ध्वन्य तथा व्यङ्ग्यप्रधान काव्य में भी ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है । वैयाकरणों ने केवल स्फोट रूप व्यङ्ग्य के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि का प्रयोग किया था ।

सक्षेप वैयाकरणों की प्रक्रिया इस प्रकार है—

स्फोट भाट वैयाकरणों का मुख्य सिद्धान्त है । स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है, स्फुटति अर्थो यस्मात् स स्फोट तिसमे अर्थ की प्रतीति हो । इन्होंने वाक्यार्थ बोध के लिए एक निश्च-स्फोट की कल्पना की है ।

इस स्फोट की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य ध्वनि रूप शब्द से होती है । इस लिए जैसे वैयाकरणों ने अपने यहाँ प्रधानभूत स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है, इसी प्रकार प्रधानभूत व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ के लिए आनन्दवर्धनाचार्य आदि ध्वनि पण्डितों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है ।

ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य का उदाहरण—

नि शेषच्युतचन्दनस्तनतट निर्मृष्टरागोऽधरो ।

नेत्रे दूरसुनञ्जने पुलकिता तन्वी सक्षेप तनु ॥

मिथ्यावादिनि दूति धान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे ।

दापी स्नातुमिती गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥२॥

किसी विदग्धोत्तम नायिका की अपनी दूति के प्रति यह उक्ति है—जिने उसने अपने नायक को बुलाने के लिए भेजा था, परन्तु यह दूती स्नान कार्य के बहाने से अपने व नायक के सम्पर्क को छिपा रही थी, इसी के उत्तर में दूती के स्नाय कार्य द्वारा, उसके रहस्योद्घाटन की सुन्दर शब्दा में बर रही है कि स्नान के ही कारण तुम्हारे स्तन के अग्रभाग का चन्दन विलकुल छूट गया है अथर की लालिमा भी लुप्त सी है आँखों में अब अञ्जन भी नहीं है, अरी परवेदना को न जानने वाली दूती ! तू यहाँ से सीधे स्नान के लिए बाबली को चल दी उस अधम (नायक) के पाम नहीं गयी ।

यहाँ वक्ता व बोधव्य की विशेषता से (अर्थात् रहस्य को जब दोनों जानती हैं) तब अधम पद की सहायता से—लक्षणा शक्ति द्वारा वापी गमन का निषेध होने में, दूति का नायक के पास जाना ही प्रधान व्यङ्ग्य है । यहाँ वाच्यार्थ—“वापीस्नान” की अपेक्षा व्यङ्ग्याथ ‘तदतिक्रमनरूप’ अधिक चमत्कार युक्त है, अतः यह ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य का उदाहरण है ।

(२) गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य—(मध्यम काव्य)

जहाँ व्यङ्ग्याथं, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार युक्त न हो उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं—

अन्ताद्दिशि गुणीभूत व्यङ्ग्य व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ॥

अर्थात्—वाच्य में अधिक चमत्कार व्यङ्ग्य में न होने से गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य कहलाता है—

उदाहरण—

ग्रामतरुण तदृष्या नववञ्जुलमञ्जरी सनायकरम ।

पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरा मलिना मुखच्छाया ॥३॥

किसी कारणवश तकेतित स्थान में न पहुँच सकने के पश्चात्ताप का सुन्दर वर्णन है ।

ग्राम तरुण के हाथ में नवीन देवस मञ्जरी को हाथ में लिए हुए देखकर ग्राम तरुणी का मुख कुम्हला जाता है, अर्थात् उसके मुख की कान्ति मलिन हो जाती है—

यहाँ यद्यपि सकेत करके भी निश्चित स्थान में नहीं जा सकी यह व्यङ्ग्य अंश है पर मञ्जरी को देखते मुख्य मलिन हो गया इस वाच्यार्थ का चमत्कार व्यङ्ग्य की अपेक्षा कहीं अधिक होने से यह गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य या मध्यम काव्य है ।

चित्र-काव्य—(अधम काव्य)

जिसमें व्यङ्ग्यार्थ का अभाव हो या व्यंग्याय अस्पष्ट हो केवल शब्दालंकार या अर्थालंकार की ही प्रधानता हो उसे अधम काव्य या चित्र काव्य कहते हैं ।

चित्र शब्द का अर्थ अलंकार है—

शब्दचित्र वाच्यचित्रमव्यङ्ग्य त्ववर स्मृतम् ॥१॥

व्यङ्ग्य अर्थ से रहित शब्दचित्र या अर्थचित्र (दो प्रकार का होता है) को अधम काव्य कहते हैं ।

उदाहरण—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छलेतराम्बुच्छटा ।

मूर्छन्मोहमहविहर्षविहितस्नानानाङ्गिकाङ्गाय बः ॥

मिथ्यादुच्छुदारद्वंद्वरदरीदीर्घाविरद्रुम

द्रोहो द्वैश्वहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी भवताम् ॥४॥

प्रस्तुत पद्य में कोई भक्त भागीरथी से प्रार्थना कर रहा है कि—

भगवती भागीरथी गङ्गा-आपकी मन्दता वर्धात् अज्ञान को शीघ्र दूर करे । स्वच्छन्द रूप से उछलती हुई, निर्मल किनारे के कच्छ-गह्वरो में अत्यन्त वेग से प्रवाहित होने वाली जो जल की धारा है, जिसमें, आनन्द पूर्वक स्नान व नित्यकृत्य करने वाले महर्षियों का मोह नष्ट हो चुका है । जिसमें बड़े-बड़े मेढक दिखाई पड़ रहे हैं ऐसे कन्दरा हैं जिस मन्दाकिनी में, और प्रबलवेग के कारण, जिसने अपने तटस्थ शाखापत्रों से सम्पन्न बड़े भारी द्रुमों को गिरा दिया है, ऐसी उत्कट वेग वाली मन्दाकिनी आपके अज्ञान या पाप को तुरन्त नष्ट करे ।

यद्यपि इस पद्य में भक्त में रहने वाला मन्दाकिनी विषयक-पूज्य-भाव प्रतीत होता है, तथापि वह अनुप्रास की छटा के सामने तिरोहित हो जाता है, प्रधानतया कवि प्रयत्न अनुप्रास की तरफ ही है ।

अतः यह शब्दचित्र का उदाहरण है ।

अर्थचित्र का उदाहरण—

विनिर्गत मानदमात्ममन्दिराद् भवत्पुपश्रुत्य यदृच्छयार्जप यम् ।

ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव मियाऽमरावती ॥१॥

राज्यों के मान को छण्डन करने वाले, और मित्रों को सम्मान देने वाले जिस हृषीकेश को बिना किसी उद्देश्य से केवल भ्रमण के लिए अपने महल से

निकला हुआ मुत्तकर, स्वर्ग में इन्द्र ने स्वयं नगर के प्रधान द्वार को अर्गल सहित बन्द कर दिया, उस समय ऐसा मालूम पड़ता था मानो इन्द्र की राजधानी अमरावती माने भय के आँख मूँद रही हो।

उक्त पद्य में यद्यपि हयग्रीव के प्रभावातिशय का वर्णन होने से वीर रम की अभिव्यक्ति हो सकती है, “निमीलिताक्षोव भियामरावती” इस उत्प्रेक्षाजन्य चमत्कार से वह वीर रम ओझल सा हो जाता है। मालूम पड़ता है कि कवि का सरम्भ उत्प्रेक्षा की ओर ही अधिक था। अतः यह अर्थचित्र का उदाहरण है।

“केविच्चित्ररस्य तृतीय काव्यभिच्छन्ति” कह कर विश्वनाथ ने काव्य प्रकाशकार की तरफ सकेत किया, और स्वयं तृतीय काव्य—चित्रकाव्य में अरुचि प्रकट की, और अपने पक्ष की पुष्टि में उन्होंने आनन्दवर्धनाचार्य के “प्रधानगुणभावाम्या व्यङ्ग्यस्यैव व्यवस्थिते उभे काव्ये” इत्यादि कारिका को उद्धृत किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार काव्य के चार भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, और अथम।

॥ प्रथम उल्लास समाप्त ॥



द्वितीय उल्लास

शब्दार्थ विभाग

प्रथम उल्लास में काव्य-स्वरूप विवेचन के अवसर पर “शब्दाद्यौ काव्यम्” कहा था. अब द्वितीय उल्लास में शब्दार्थ का विभाग करते हैं—

प्रथम उपस्थिति का विषय होने से और अर्थ का उपजीव्य होने से शब्द का पहिले निरूपण करते हैं—

“स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽन व्यञ्जकस्त्रिधा” (सू० ५)

यहां (काव्य में) वाचक, लाक्षणिक, और व्यञ्जक तीन प्रकार का होता है। अन्य शास्त्रों में व्यञ्जक शब्द नहीं माना जाता है, परन्तु काव्य में तो व्यञ्जक के बिना चमत्कार ही नहीं आता, अतः काव्य में तीन प्रकार के शब्द होते हैं, वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक।

यह यह विभाग केवल उपाधिकृत है, शब्दों का नहीं क्योंकि एक ही शब्दा शब्द वाचक भी है, लाक्षणिक भी और व्यञ्जक भी।

अर्थ का विभाग

जिस प्रकार उपाधि भेद से शब्द तीन प्रकार का होता है, उसी प्रकार अर्थ भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

“वाच्यादयस्तदर्थ्या स्यु” (६ सू०)

वाच्य, लक्ष्य और व्यञ्ज्य उन वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों के अर्थ (भी तीन प्रकार के) होते हैं।

इन वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों के वाच्य, लक्ष्य व व्यञ्ज्य ये अर्थ हैं, जिस प्रकार ये वाच्यादि पदार्थव्यञ्जनावृत्ति के आश्रय होते हैं, उसी प्रकार वाक्यार्थ भी व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय है, पर वाक्यार्थ (परार्थविरूप) के बोध के लिए किसी वृत्ति विशेष का निरूपण करना चाहिए, इसी न्यूनता के परिहार के लिए मम्मट प्राचीन नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत अथवा कुमारिल भट्ट आदि मीमामको के द्वारा प्रतिपादित, तात्पर्यावृत्ति प्रतिपाद्य तात्पर्यार्थ का भी निर्देश कर रहे हैं—

“तात्पर्यार्थोऽपि केयुचित्”

बिन्ही कुमारिलभट्ट आदि के मत में वाच्यादि अर्थों के अनिश्चित तात्पर्यार्थ भी होता है—

अर्थात्—कुमारिलभट्ट आदि अभिहितान्वयवादी मीमांसक पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध बोध के लिए तात्पर्या नाम की एक अलग वृत्ति मानते हैं। इस तात्पर्यावृत्ति का प्रतिपाद्य वाक्यार्थ है, और वाक्य इसका बोधक अभिहितान्वयवादी कुमारिलभट्ट आदि मीमांसकों का कहना है कि—अभिधा तो केवल पदार्थ के बोध में समर्थ है वाक्यार्थरूप जो पदार्थों का परस्पर अन्वय सम्बन्ध विशेष है उस ससर्ग वा बोध तो तात्पर्या नाम की वृत्ति से ही हो सकता है। इसलिए तात्पर्या नाम की वृत्ति को भी मानना चाहिए।

इसके विपरीत कुमारिलभट्ट व शिष्य प्रभाकर गुरु और उनके मतानुयायी वाक्यार्थ बोध के लिए तात्पर्या नाम की वृत्ति को नहीं मानते। वे अन्विता पदा में ही शक्ति मानते हैं। इनके अनुसार पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ वाच्य ही होता है—

“वाच्य एव वाक्यार्थ” इति “अन्विताभिधानवादिना ।”

अर्थात्—अन्विता का ही अभिधान होता है, वाक्यार्थ अभिधा का ही विषय है, इसके लिए पृथक् तात्पर्या नाम की वृत्ति मानना आवश्यक नहीं है। मीमांसा दर्शन प्रभाकर का मत गुरुमत में प्रसिद्ध है।

अभिहितान्वयवाद —

अभिहितान्वयवादियों का कहना है कि सर्वप्रथम पदों में पदार्थों की प्रतीति होती है, अर्थात् पहिले पदा के द्वारा पदार्थ अभिहित अभिधा शक्ति द्वारा बोधित हो जाते हैं। बाद में अस्फुटता-योग्यता सन्निधि वश इसके सहयोग में अभिहित पदार्थों का अन्वय ससर्ग होता है। जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, इसी अन्वयार्थ के बोध के लिए जिस कुछ लोग ससर्ग मर्यादा में भासित मानते हैं तात्पर्या वृत्ति को मानते हैं। इस प्रकार अभिहित पदार्थों के अन्वय मानने के कारण इन्हें अभिहितान्वयवादी कहते हैं—पदानि अभिहिताति भूत्वा पश्चाद्घिशिष्टमयं बोधयन्तीति ये वदन्ति ते अभिहितान्वयवादिना । अभिधाय यह है कि—“घट करोति” इस वाक्य का अर्थ है—“घट कृतिकमत्वाऽनुकूलं कृति” इसमें घट पद का कम्बुश्रीवादिमान व्यक्ति विशेष घट का अर्थ है अम् प्रत्यय का अर्थ कर्मता, करोति का अर्थ कृति है। परन्तु वाक्यार्थ में ससर्गमर्यादा से या अन्वयबोध में भासित होने वाले वृत्तित्व व अनुकूलत्व तो किसी पद का अर्थ नहीं है। इन्हीं की वाक्यार्थ में उपस्थिति के लिए तात्पर्या वृत्ति की आवश्यकता होती है।

वृत्ति ग्रन्थ में “अभिहितान्वयवादिना मतम्” इन बहुवचन से ग्रन्थकार की इसी मत में (आदर) सम्मति है, यह बात ध्वनित होती है।

अन्विताभिधानवाद—

अन्विताभिधान वाद के प्रतिपादक भाचार्य प्रभाकर हैं। इनके मत में पदार्थ पहले अभिहित हो फिर उनका परस्पर अन्वय होता हो, यह बात नहीं अपितु पहले से अन्वित पदार्थों का ही अभिधा से बोध हो जाता है। अन्वय पूर्व सिद्ध होने के कारण इसके लिए पुनः तात्पर्यावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

प्रभाकर का कहना है सर्वप्रथम बालक को सकेतग्रह या पदार्थों ज्ञान वाक्य में ही होता है। क्योंकि बालक को तत्तत् पदार्थों ज्ञान या सकेतग्रह व्यवहार से होता है। और यह व्यवहार वाक्य द्वारा ही होता है क्योंकि प्रयोजक वृद्ध को जो कुछ भी उपदेश देता है वह वाक्य द्वारा ही देता है, और बालक चुपचाप इनकी चेष्टाओं या व्यवहार का अनुशीलन करता है। जैसे किसी वृद्ध ने किसी को आज्ञा दी कि “गाय ले आओ” या कलम ले आओ” बालक को इनमें से किसी भी पद का ज्ञान नहीं है, न वह कलम जानता है न ले आओ ही इसी प्रकार मस्कृत में “गामानय” यह वाक्य है। बालक को गौ पद के भी अर्थ का ज्ञान नहीं है, और आनय इस पद का भी अर्थ ज्ञान नहीं है। परन्तु जब बालक व्यवहार को देखता है कि अमुक शब्द के उच्चारण करने से मध्यम वृद्ध-अमुक अमुक वस्तु को ला रहा है, तो अन्वित पद या वाक्य में ही सर्वप्रथम बालक को ज्ञान होता है पश्चात् पद-मदार्थ बोध होता है। इसीलिए यह सकेतग्रह केवल पदार्थ होकर (किसी के साथ) अन्वित पदार्थ में ही होता है। इसीलिए इस मत का नाम अन्विता का अभिधान—अर्थात् अन्वित पद ही अभिधा का विषय है। फिर से अन्वय भान के लिए तात्पर्यावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, सर्वप्रथम प्रभाकर के मत का यही सार है।

अर्थों की ध्वञ्जकता

शब्द शक्तियों का विवेचन प्रायः सभी शास्त्रों में हुआ है। शास्त्रकारों ने अपने-अपने विचार से इसका विवेचन किया है। शक्ति के स्वरूप के विषय में भी विभिन्न शास्त्रकारों के परस्पर भिन्न मत हैं।

क्योंकि शक्ति का सम्बन्ध शब्द से है इसीलिए पद-प्रमाण व वाक्य की जिन शास्त्रों में विशेष चर्चा की गई है, उन्हीं में शब्द-शक्ति के विषय में भी विशेष उद्घाटन किया गया है इनमें उदाहरण के पद शास्त्र कहते हैं क्योंकि पदसाधुत्व का अधिक दायित्व व्याकरण पर आता है और न्याय की प्रमाण शास्त्र कहते हैं, यह शास्त्र प्रत्यक्ष या अनुमानादि के द्वारा पदार्थोपरीक्षण

करता है, और वाक्य के विषय विचार करने वाले शास्त्र को भीमासा शास्त्र कहते हैं, भीमासा विशेषतः वेद वाक्यों पर विचार करती है प्रसङ्गत लौकिक वाक्यों से सम्बन्धित पद-पदार्थों पर भी विचार करती है। अतः प्राधान्येन शब्द-शक्ति का विषय इन्हीं शास्त्रों का विषय है, पर प्रसङ्गानुसार अन्य शास्त्रों में भी आनुपङ्गिक रूप से इस विषय की चर्चा होती है। अतः इन्हीं के अनुसार अन्यत्र भी पद-पदार्थ कल्पना की जाती है।

वैयाकरण—पद-पदार्थ के सम्बन्ध विशेष को ही शक्ति मानते हैं। पद में वाचकता शक्ति है और अर्थ में वाच्यता रूप शक्ति है, एक में बोधजनकता है तो दूसरे में बोध विषयता। यह वाचक वाचक भाव शब्दार्थोभय निष्ठ होगा जो शब्द—है वही अर्थ और जो अर्थ है वही शब्द इस प्रकार इतरेतराध्याम मूलक तादात्म्य इन्हीं को सकेत कहते हैं। प्राचीन वैयाकरण-केवल वाचकजनकता को ही शक्ति मानते हैं। जैसे इन्द्रियों की अनादि काल में अपने अपने विषय-रूपादि ग्रहण की योग्यता है, इसी प्रकार शब्दों की भी अर्थ के साथ जो बोध-जनकता है वही शक्ति है।

मुख्याधिकों के मत में—ईश्वर सकेत ही शक्ति है अर्थात् यह पद इस अर्थ का बोधक हो इस प्रकार की जो ईश्वरेच्छा है वही सकेत या शक्ति है। या इसी वृत्ति के द्वारा अर्थ बोधक पद वाचक और उससे बोध्य गोत्वादिविशिष्ट अर्थ वाच्य है, इसी को मुख्यार्थ भी कहते हैं।

भीमासक—शब्द की बोधकता शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं जिस प्रकार बलि में दाहकता शक्ति है, उसी प्रकार शब्द में भी एक अर्थ बोधकता शक्ति है, यही सकेत है, इंगोलिए ये लोग शक्ति को पदार्थान्तर मानते हैं।

शालङ्कारिकों के मत में—शब्दार्थ का परस्पर प्रतिपाद्यप्रतिपादक भाव लक्षण सम्बन्ध विशेष ही शक्ति है। जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने लिखा है—“शक्त्याप्योऽयंश्च शब्दगत शब्दरथार्थगतौ वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा” वे तीन हैं—अभिधा लक्षणा व व्यञ्जना। आसाद्यन भट्ट ने अपन त्रिवेणिका नामक ग्रन्थ में इन शक्तियों का सरल शब्दों में सुन्दर विचार किया है। शक्ति को ही वृत्ति भी कहते हैं। शक्ति वृत्ति य पर्याय वाचक शब्द है। उन्होंने उक्त ग्रन्थ के वृत्ति प्रकरण में शक्ति का विवेचन इस प्रकार किया है—

चतंते-शब्दोऽयं प्रवर्तते अनपेति वृत्ति ।

जिस भाष्य में से शब्द की अपेक्षा की ओर प्रवृत्ति होती है, वही वृत्ति है। यहाँ वृत्ति बताने इस धातु से करण में विनय प्रत्यय लगाकर वृत्ति शब्द की सिद्धि होती है। इसी प्रकार अन्यत्र—जैमिनि करण वाचक बुद्धि शब्द में भी वितन्

प्रत्यय ही है, और भगवद् प्रेम-सूचक भक्ति शब्द में भी क्तिन् प्रत्यय करण में ही है, जैसा कि भागवत-सुबोधिनी में लिखा है—अत्र धान्वर्थं सेवा । प्रत्ययार्थं प्रमेत्युक्तम् । इतीति मत्तिलनाय ने भी ऋग्वेद की टीका “भक्ति प्रतीत्येषु कुतोचिता ते” में भक्ति की व्याख्या करते हुए “सूत्येव नुरागो भक्ति” ऐसा कहा है । साहित्यदर्पणादि ग्रन्थों में वृत्ति के स्थान में शक्ति शब्द का प्रयोग किया है और लक्षणा के स्थान पर कही-कही भक्ति शब्द का प्रयोग है तथा व्यञ्जना के स्थान पर व्यक्ति का शब्द का प्रयोग मिलता है ।

अतः साहित्यशास्त्र में ये शक्ति-भक्ति-व्यक्ति क्रमशः गङ्गा, यमुना, सरस्वती की तरह हैं—

“शक्यते-साक्षादभिधोयतऽन्ययेति-शक्ति” “करणे क्तिन्”

साक्षात् जिससे अर्थ का प्रतिपादन किया जाए वह शक्ति है—

भज्यते—शक्यते खण्ड्यतेऽन्ययेति भक्तिलक्षणा, भज्जो आभादने इस धातु से करण में क्तिन् प्रत्यय । अथवा—

भज्यते-सेव्यतेऽर्थांतरमनयेति भक्ति” भज्ज सेवायाम् इस धातु से क्तिन् प्रत्यय ।

अर्थात्—मुख्यार्थ का खण्डन-बोध हो जिसमें उसे भक्ति-लक्षणा कहते हैं । या अर्थान्तर का जहाँ बोध हो उसे भक्ति-लक्षणा कहते हैं ।

व्यञ्जने-प्रकटीक्रियतेऽर्थोऽन्येति व्यक्तिव्यञ्जना ।

व्यङ्ग्यार्थ जिस व्यापार के द्वारा अभिव्यक्त किया जाए उसे व्यक्ति या व्यञ्जना कहते हैं ।

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने इन शक्तियों का निर्देश इस प्रकार किया है—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षण्या मतः ।

व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ता स्फुटित्वा शब्दस्य शक्तयः ॥३॥

वाचक-शब्द का स्वरूप—

इस प्रकार वाचक, लक्षण व व्यञ्जक के अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा क्रमशः वाच्य, लक्ष्य व व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होते हैं ।

यह नियम है कि वृत्ति के बिना किसी भी शब्द से अर्थ का प्रकाशन नहीं हो सकता है अतः तत्तत् शब्दों से तत्तत् वृत्ति के द्वारा तत्तत् अर्थों का प्रकाशन होता है । आचार्य मम्मट सर्वप्रथम वाचक शब्द निरूपण करते हुए कहते हैं—

साक्षात् सकेतित्वा योऽर्थमभिधत्त स वाचकः ॥ (सू० ६)

जो शब्द साक्षात् सकेतित अर्थ कहता है, वह वाचक शब्द कहलाता है ।

लोक व्यवहार में सकेत सहायक शब्द ही अर्थ विशेष का प्रतिपादन करता है, इसलिए जिस शब्द का जिस अर्थ में साक्षात्-विना किसी व्यवधान के सकेत ग्रहण होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है। यह सकेत ग्रह अनेक प्रकार से होता है—व्याकरण से भी सकेत ग्रह होता है जैसे धातु पाठ में पढ़ा है कि भू धातु सत्ता अर्थ में है, और सून स जैसे "साधकतम करणम्" आदि साधकतम का करण अर्थ में सकेत ग्रह हुआ। इसी प्रकार पाचक व पाठक आदि का भी निर्णय व्याकरण के द्वारा ही होता है। इसी प्रकार उपमात—जैसी गाय है दंभा ही गधव भी होगा है। इसी तरह कोष आप्तवाक्य व व्याख्या आदि सकेत ग्रह के उपाय हैं।

इन सबमें मुख्यरूप में व्यवहार है क्योंकि अधिकांश शब्दों का या सबसे पहिले वालक को सकेत ग्रह या व्यवहार से ही ज्ञान होता है जैसा कि तन्विनाभिधानवादी आचार्य प्रभाकर आदि का मत है।

सकेतग्रह का विषय -

यह एक समस्या है कि सांसारिक पदार्थों की तो कोई सीमा नहीं है, फिर कहीं कहीं इनमें सकेत किया जाए क्योंकि जिस पदार्थ या व्यक्ति में सकेत किया जायेगा उसी पदार्थ का ज्ञान होगा तदतिरिक्त पदार्थ का तो ज्ञान होगा नहीं जैसे—यदि कहा जाए कि 'घट पदान् कम्बुग्रीवादिमान पदार्थ-विशेषो बोधव्य' घट पद में कम्बुग्रीवादिमान पदार्थ का बोध हो तो अस्मान पदादयमर्थो बोधव्य के नियम से घट का ही बोध होगा न कि पट का।

यदि प्रत्येक व्यक्ति में सकेत ग्रह किया जाए तो यह असम्भव है। क्योंकि दुनियाँ के अनन्त व्यक्तियों में सकेतग्रह सम्भव नहीं है।

इसीलिए किसी व्यक्ति विशेष में सकेतग्रह नहीं हो सकता, अनन्त व्यक्तियों में एकत्र या एक समय में उपस्थिति तो ही नहीं सकती है। इसलिए व्यक्ति पक्ष में यह आनन्द्य दोष आ जाता है। और दूसरा दोष आता है व्यभिचार नियम का उल्लंघन रूप। मान लिया जाए एकत्र दो चार व्यक्तियों में सकेत ग्रह हो भी गया तो दोष व्यक्तियों का विना सकेत ग्रह में ही व्यवहार होता रहेगा, इस तरह में यह निरमभङ्गरूपी दूसरा दोष भी आ जाता है, अतः व्यक्ति पक्ष में तो कथमपि सकेतग्रह बनता नहीं है। इसलिए हम अब दुनियाँ के पदार्थों का उपयुक्त विभाजन करना पड़ेगा, जिससे तत्तत् वर्ग के सभी पदार्थ आ जायें और सरलतया सबमें सकेतग्रह भी हो जाए, इसमें एकनो व्यक्ति में सकेत ग्रह न करके व्यक्ति की उपाधि या जाति में सकेतग्रह किया जाए—जैसे गो व्यक्ति में न करके गोत्व जाति या उपाधि में सकेत ग्रह किया जाय। और यह सकेतित जार्यादि अर्थ भी चार प्रकार का होता है—जाति गुण, क्रिया, और द्रव्य यश्छाशब्द। आचार्य मम्मट के शब्दों में यह इस प्रकार है—

सकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादि जाति रेव वा ।

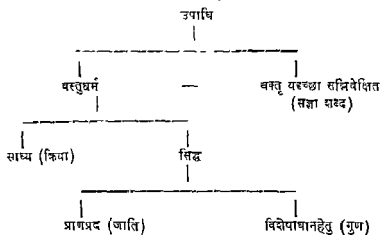
सकेतित अर्थ (पदार्थ) जाति आदि अर्थात्—जाति, गुण, क्रिया, और द्रव्य (यश्छा) भेदों में चार प्रकार का होना है। यह मम्मट का जात्यादि पक्ष है मीमांसकों का पक्ष है, केवल जाति में ही सकेत ग्रह मानना ।

अर्थात्—केवल जाति को ही शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त—व्यवहार का प्रयोजक मानना न कि गुण क्रिया, द्रव्य को भी ।

कहने का तात्पर्य यह है कि—जैसे—गोत्व जाति में आप सकेतग्रह करते हैं, इसी प्रकार गुण क्रिया व द्रव्य में भी जाति का अनुसन्धान किया जा सकता है । जैसे अनेक गो व्यक्तियों में रहने वाला अनुगत प्रत्यय हेतु सामान्य (एकाकार प्रतीति में कारण जाति) गोत्व एक ही है, इसी प्रकार गुणादि में भी अनेक शुक्ल व्यक्तियों रहने वाला शुक्लत्व सामान्य और अनेक पाकादियों में रहने वाला पाकत्व सामान्य, अनेक द्वित्वादियों में रहने वाला द्वित्वत्व सामान्य एक ही है, अतः केवल जाति में ही सकेत मानना चाहिए । यह मीमांसकों का जाति पक्ष है ।

पर शब्दकार को यह पक्ष अभीष्ट नहीं है । उन्होंने जाति-गुण-क्रिया व द्रव्य (यश्छाशब्द) में ही सकेतग्रह माना है । इस विषय में उ होने व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि का भी बचन प्रमाण रूप से उद्धृत किया “चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः” इति महाभाष्यकार । इस प्रकार जाति-गुण क्रिया और-द्रव्य (सज्ञा शब्द) इन चारों को प्रवृत्ति निमित्त माना है । यह उपाधि या जाति भी दो तरह की है—वस्तु धर्म और वक्तृ यश्छा सन्निवेशित (सज्ञा शब्द) वस्तु धर्म भी दो प्रकार का है—सिद्ध और साध्य यह सिद्ध भी दो प्रकार का है—पदार्थ का प्राणप्रद, और विशेषाघन हेतु ।

उपाधि का विषय विभाग इस प्रकार है—



सकेतग्रह के विषय में नैयायिकों का मत—

नैयायिकों के मत में सकेतग्रह केवल जाति में भी नहीं माना जाता और केवल व्यक्ति में भी नहीं माना जा सकता है। यद्यपि अर्थक्रियाकारित्व केवल व्यक्ति में ही है न कि जाति में तथापि व्यक्ति पक्ष में सकेतग्रह मानने से वही पूर्वोक्त दो दोष—आनन्त्य व व्यभिचार दोष आ जाते हैं और केवल जाति में सकेतग्रह करके यदि व्यक्ति का आक्षेपात् ज्ञान कर लें तो भी "शाब्दी ह्याकाट्क्षा शब्देनैव पूर्यते" इस नियम के अनुसार अर्थात्—शब्द शक्ति से लक्ष्य अर्थ का ही शाब्द बोध में अन्वय होता है। आक्षेपलभ्य अर्थ का शाब्द बोध में अन्वय नहीं होता है। इसलिये—“ध्यवत्याह्वनिजातयस्तु पदार्थ” इस नियम के अनुसार “तद्वान्” अर्थात् जानिविशिष्ट व्यक्ति में ही सकेतग्रह मानना चाहिए।

सकेतग्रह के विषय में बौद्ध मत—

बौद्धों के मत में शब्द का अर्थ होता है अपोह। अपोह का अर्थ होता है, अनद्ध्यावृत्त, या तद्भिन्न-भिन्नत्व, है। दश घट व्यक्तियों में घट घट इस प्रकार की एकाकार प्रतीति (अनुवृत्तिपत्त्यय) का कारण नैयायिक जैसे “घटत्व” सामान्य को मानते हैं इसी प्रकार बौद्ध भी दश घट व्यक्तियों में दो घट घट इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है, उसका कारण अपोह या अघट व्यावृत्ति या “घटभिन्नभिन्नत्व” को मानते हैं।

अर्थात्—घट से भिन्न मारा जगत् और उसका भेद घट में है। इस प्रकार बौद्धों के मत में अपोह ही शब्द का अर्थ है या सकेतग्रह का विषयीभूत पदार्थ अपोह ही है।

अभिधाशक्ति या व्यापार—

सकेतग्रह का विषयीभूत अर्थ ही शब्द का मुख्यार्थ है।

इस मुख्यार्थ में शब्द का जो व्यापार होता है उसे अभिधा कहते हैं।

स मुख्योऽयंस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोव्यते ॥८॥

अर्थात्—वह साक्षात् सकेतित अर्थ ही मुख्यार्थ है, उस मुख्यार्थ के बोधन कराने में शब्द का जो व्यापार है उसे “अभिधा” व्यापार या “अभिधा शक्ति” कहते हैं।

लक्षणाशक्ति या व्यापार—

जहाँ किसी प्रतिदिधि या किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ अपने में सम्बद्ध किसी लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता है उस अर्थ का लक्ष्यार्थ कहते हैं, और उस लक्ष्यार्थ की बोधिका शक्ति का नाम लक्षणा शक्ति है।

इसमें तीन शर्तें हैं (१) मुख्यार्थ का बोध होना, (२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ कोई न कोई सम्बन्ध होना, (३) रुद्धि (प्रसिद्धि) अथवा प्रयोजन का होना ।

मुख्यार्थं वाच्यं तद्योगे रुद्धितोऽप्य प्रयोजनात् ।

ग्रन्थोऽर्थो लक्ष्यते यत् तत्र लक्षणारोपिता क्रिया ॥६॥

मुख्यार्थ का वाच्य (अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति) होने पर उस मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होने पर रुद्धि अथवा प्रयोजन विशेष में, जिस शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ वक्षित होता है, वह मुख्यरूप से अर्थ में रहने वाला परम्परया शब्द में आरोपित व्यापार लक्षणा है ।

लक्षणा के सम्बन्ध में विभिन्न मत—

नैयायिकों का मत है कि—शक्य का सम्बन्ध ही लक्षणा है । इनमें प्राचीन नैयायिक अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं, और नव्य नैयायिक-तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं । विश्वनाथपञ्चानन ने न्याय सिद्धान्तमुक्तावली में लिखा है—

“लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः ॥”

मीमामको का सिद्धान्त है कि शक्यार्थ सम्बन्ध के ज्ञान होने से जो अशक्य अर्थ की उपस्थिति है वही लक्षणा है, जैसे गङ्गा पद में शक्यार्थ प्रवाह का ज्ञान हुआ उससे पुन (एक सम्बन्धी ज्ञान अपर सम्बन्धी का स्मारक होता है) इस न्याय के अनुसार तीर की स्मृति हो जाती है, यही लक्षणा का स्वरूप है ।

वैयाकरणों के मत में—शक्यतावच्छेदक का आरोप लक्षणा है । वे संकेतित अर्थ के धर्म का असंकेतित अर्थ में आरोप कर लेते हैं ।

इसी का नाम अन्य के धर्म का अन्य में अभ्यास है । गङ्गाया घोष इत्यादि स्थलों में शक्यतावच्छेदक धर्म प्रवाहत्व या गङ्गात्व का तीर रूप अर्थ में अभ्यास कर लेते हैं और यह तीर रूप अर्थ की उपस्थिति अभिधा द्वारा ही हो जाती है अतः अभिधा का ही एक भेद लक्षणा है जैसा कि भर्तृहरि ने लिखा है—“अर्थमात्रं विपर्यस्त शब्द स्वार्थं व्यपस्थित” अर्थात् अर्थ मात्र ही बदल जाता है, शब्द अपने रूप में व्यवस्थित ही है ।

कुछ आलंकारिकों की लक्षणा के विषय में असहमति जैसे वैयाकरण लक्षणा के पृथक् वृत्ति के विषय में उदासीन हैं । अभिधा के ही प्रसिद्ध व अप्रसिद्ध भेद मानकर, अप्रसिद्ध भेद को लक्षणा मान लेते हैं, इसी प्रकार कुछ आलंकारिक भी लक्षणा को स्वतन्त्र वृत्ति न मानकर अलंकारों में ही इसका अन्तर्भाव कर देते हैं—

जैसे—वामनाचार्य ने सादृश्य हेतु लक्षणा को वक्रोक्ति बलकार में अन्तर्हित कर दिया—“सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति” (४-३-८) बलकार रत्नाकर में शोभाकर मिश्र ने तो यहाँ तक कहा है कि—सादृश्य प्रयुक्त या सम्बन्धान्तर प्रयुक्त जितना भी उपचार का विषय है वह सब रूपक में आ जाता है।

“सादृश्य प्रयुक्त सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावान् भिन्नयोः सामान्यतया निर्देशः स सर्वोऽपि रूपकम्।”

काव्यप्रकाश के अनुसार लक्षण के भेद—

लक्षणा के भेदक हेतु हैं—रूढि और प्रयोजन। अर्थात् लक्षणक रूढिगत भेद और प्रयोजनगत भेद होंगे।

रूढि का उदाहरण है “कर्मणि कुशल” (चित्रमं या निश्चिंसां मेषु कुशलं) यहाँ कुशल शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ (व्याकरण के द्वारा निश्चित वाक्य अर्थ) है “कुशलं स्ति आदत्ते” इति कुशल। (कुशु को लाने वाला) प्रकृत में “कुशु को लाने वाला” इत्यादि अर्थ का कोई सम्बन्ध न होने से मुख्यार्थ का बोध होता है। तदनुसर विवेचनत्वादि सम्बन्ध से कुशल पद दश प्रथ में रूढि (प्रसिद्ध) होने से मुख्य म अन्य अर्थ दक्ष या घतुर अर्थ लक्षित होता है। अतः कर्मणि कुशल यह रूढि का उदाहरण है।

प्रयोजन का उदाहरण—“गङ्गाया घोष” है।

यहाँ गङ्गा पद का मुख्यार्थ भगीरथरथयातावन्निष्ठ जलप्रवाह है। घोष का अर्थ है कुटिया (कौटेज) जलप्रवाह कुटिया का आधार नहीं बन सकता है। अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध होता है। गङ्गा के साथ तट का सामीप्य सम्बन्ध होने पर, “गङ्गातटे घोष” इत्यादि पदों का प्रयोग न अलभ्य शैत्य पावनत्वादि अर्थों की प्रतीति स्वरूप प्रयोजन से मुख्य गङ्गा का प्रवाह रूप अर्थ से अमुख्य तीरादि जो लक्षित होते हैं वह शब्द का व्यवहाराय विषयक आरोपित शब्द व्यापार लक्षणा है।

लक्षणा का रहस्य—

सात्पर्य यह है कि काव्य नाटकादि माहिस्यिक ग्रन्थों में जिन शब्दों का प्रयोग होता है, उनसे प्रकाशित होने वाला अर्थ तीन प्रकार का होता है—(१) सुन्दर, (२) सुन्दरतर, () सुन्दरतम।

सामान्यजनो की बोलचाल के शब्दों में होने वाला अर्थज्ञान सामान्यतः सुन्दर है। जैसे—देवदत्त गाव को जाता है। यह मुख्यार्थ-विषयक अभिधा-व्यापारजन्य है, इससे स्वाम चमत्कार नहीं है। लक्षणाजन्य चमत्कार चाक्षर या सुन्दरतर है—किंसी ने अपने मित्र से पूछा आपका निवास स्थान कहाँ है ?

उसने उत्तर दिशा गङ्गा के पास है। तो मित्र ने समझ लिया कि गङ्गा के आसपास कहीं होगा, इसलिए इसके घर जाने से क्या फायदा, न तो वहाँ शीतलता है और न पवित्रता। फिर दूसरे मित्र से पूजा कि आपका निवास स्थान कहां है तो उसने उत्तर दिया—गङ्गा मे ही मेरी कुटिया है। अब इसे विश्वास हो गया कि गङ्गा से ज्यादा दूर नहीं है, अवश्य यहाँ शीतत्वपावन-त्वातिशय की प्राप्ति हो सकती है। अब मित्र उसके घर चलने को राजी हो गया।

यह शब्द प्रयोग की विशेषता है कि एक जगह अभीष्ट प्रयोजन की प्रतीति हो जाती है, और एक जगह नहीं हो रही है, प्रथम मित्र का कथन अभिधा वा विषय है, जिसमें शैत्यपावनत्वातिशय की प्रतीति नहीं होती है।

दूसरे मित्र का कथन—लक्षणा का विषय है, जिसमें श्रोता को सुनते ही अपने अभीष्ट प्रयोजन पर विश्वास हो जाता है। वाचक व लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग में यही अन्तर है। अन्यथा शब्द प्रयोग तो स्वायत्त है, क्यो अवाचक शब्दों का प्रयोग किया जाय ?

“शङ्काया घोष” गङ्गा में कुटिया है इत्यादि स्थलों में यद्यपि लक्षणाशक्ति का विषय नट ही है, क्योंकि लक्षणा की पहुँच ही तट तक है, उससे अधिक जो शैत्यपावनत्वातिशय का ज्ञान तो व्यञ्जना व्यापार का विषय ही है, पर यह व्यञ्जना यहाँ लक्षणामूला है। इसीलिए इस प्रयोजन को लक्षणा का फल भी कहते हैं। यह प्रयोजन या फल हमेशा व्यङ्ग्य ही होता है। अनएव यह लक्षणा का उदाहरण सुन्दरतर है। निरुद्धा लक्षणा या रूढि लक्षणा में कोई प्रयोजन न होने से अभिधा व्यापार की तरह वह पद सामान्यरूप होने से सुन्दर है।

लक्षणा के अदान्तर भेद—

यह लक्षणा उपादान लक्षणा व लक्षणलक्षणा के भेद से पुन दो प्रकार की होती है।

उपादान लक्षण—जहाँ वाक्य में स्थित पद अपने सम्बन्ध की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का “उपादान” ग्रहण करते हुए, अन्य अर्थ का भी आक्षेप किया जाय वहाँ उपादान लक्षणा होती है। “कुन्ता प्रविशन्ति” इसका उदाहरण है।

यहाँ कुन्त (भाले) अपने प्रवेशन क्रिया की सिद्धि के लिए अपने से सयुक्त कुन्तधारी पुरुषों का आक्षेप होता है, और स्वयं कुन्तों का भी उपादान ग्रहण होता है। इसीलिए यह उपादान लक्षणा का उदाहरण है।

कुन्तों की अतिगहनता ही यहाँ प्रयोजन है।

सप्तमलक्षणा—वाक्य में दूसरे की अन्याय की सिद्धि के लिए जहाँ अपने मुख्यार्थ का परित्याग करना पड़ता है, उस 'सप्तमलक्षणा' कहते हैं। इसका उदाहरण—“गङ्गाया घोष” है।

यहाँ गङ्गा शब्द पर घोष की आधाररव सिद्धि के लिए अपने प्रवाहस्य मुख्यार्थ का परित्याग कर सामीप्य सम्बन्ध में अन्य तत्कार्य या बोध कराता है अतएव यह सप्तमलक्षणा का उदाहरण है, शैत्यशवनस्वानिशाया की प्रतीति प्रयोजन है।

ये दोनों उदाहरण—‘स्वसिद्धये पराक्षेपा’ रूप उपादान लक्षणा का कुन्ना प्रविशन्ति यह और परार्थ स्वसमर्पण रूप लक्षणा लक्षणा या गङ्गाया घोष यत्। ये दोनों शुद्धा के ही भेद हैं क्योंकि यहाँ उपचार का मिश्रण नहीं है।

जहाँ सादृश्यमूलक कोई सम्बन्ध होता है, वही उपचार होता है। उक्त स्थलों में तो समीप्यादि सम्बन्ध है अतः ये शुद्धा के भेद हैं। विभिन्न पदार्थों का किन्ती सादृश्यानिद्वय क द्वारा जहाँ परस्पर भेद प्रतीति का स्थान हो जाय उस उपचार कहते हैं। जैसे—‘अग्निर्माणवक’ इत्यादि स्थल में। ‘उपचारो हि नामाद्यन्त विशकलितयो शब्दयो सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थान-मात्रम्। (साहित्यदर्पण)

मुकुलभट्ट के उपादान लक्षणा के उदाहरणों का सङ्ग्रह—

मुकुलभट्ट के आने गन्ध ‘अभिप्रादृति मातृका’ में उपादान लक्षणा के दो उदाहरण दिखलाये हैं। एक—‘गौरनुबन्ध’ दूसरा—‘पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते।’

प्रथम उदाहरण—‘गौरनुबन्ध’ यहाँ पर मुकुलभट्ट का कहना है कि श्रुतिचोदित अनुबन्धन यहाँ गोत्र जाति का तो हो नहीं सकता है अतः उपादान लक्षणा के द्वारा मुख्यार्थ जाति से अन्यार्थ व्यक्ति का आक्षेप किया जाता है, इस पर मम्मट का कहना है कि यहाँ उपादान लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि ऐम स्थली में तो आक्षेप या अनुमान से ही व्यक्ति का लाभ हो जाता है, प्रयोजन व रुचि के न होने के कारण यहाँ लक्षणा की कोई गुञ्जादसा ही नहीं है।

दूसरी प्रकार दूसरा उदाहरण—‘पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते’ यह भी उपादान लक्षणा का उदाहरण नहीं हो सकता, यह श्रुतार्थाति या अर्थाति का विषय है।

शुद्धा तथा गौणी विषयक मुकुलभट्ट का सिद्धान्त—

मुकुलभट्ट के अनुसार गौणी लक्षणा में तो सादृश्यातिशय के कारण लक्ष्य तथा लक्षक की अभेद प्रतीति होती है—जैसे—‘गौर्वाहीक’ में गौ तथा

वाहीक अर्थों में अभेद प्रतीति होती है, तभी उन दोनों पदों का सामानाधिकरण्य होने में समान विभक्ति में प्रयोग होता है। परन्तु शुद्ध लक्षणा में तो अर्थात् उपादान लक्षणा व लक्षण लक्षणा में "गङ्गाया घोष" इत्यादि स्थलों में लक्ष्य तट तथा लक्षक गङ्गादि शब्दों में तो अभेद नहीं अपितु भेद रूप ताटस्थ की ही प्रतीति होती है। अतः शुद्धा तथा गौणी का भेदकधर्म यही है। एकत्र शुद्धा में लक्षक लक्ष्य में भेद प्रतीति तथा अन्यत्र गौणी में लक्षक व लक्ष्य में अभेद की प्रतीति। यही इन दोनों में अन्तर है।

मम्मट द्वारा ताटस्थ सिद्धान्त का निराकरण—

मम्मट को मुकुलभट्ट का शुद्ध व गौणी के विषय में यह ताटस्थ सिद्धान्त व्यभिमत नहीं है। उनका कहना है कि शुद्धा के भेदों में भी लक्षक व लक्ष्य में अभेद प्रतीति ही होती है, फर्क सिर्फ इतना ही है कि एकत्र गौणी में उपचार का मिश्रण रहता है, और अपरत्र शुद्धा में उपचार का मिश्रण नहीं रहता है। यदि शुद्धा के उदाहरण "गङ्गाया घोष" इत्यादि स्थलों में लक्षक व लक्ष्य में अभेद प्रतीति नहीं मानेगे तो तट में गङ्गात्व की प्रतीति नहीं हो सकेगी। तट के साथ केवल गङ्गा का सम्बन्ध मात्र मानने से तो "गङ्गायास्तटे घोष" गङ्गा के किनारे घोष है, इस मुख्य शब्द के कवन से लक्षणा का भेद ही क्या रह जायेगा।

शुद्धा तथा गौणी के भेद—

अहाँ आरोप्यमाण (उपमान) तथा आरोप विषय (उपमेय) दोनों शब्दतः कथित होते हैं वहाँ दूसरी (गौणी) सारोपा लक्षणा होती है—

“सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयो विषयस्तथा ॥

और आगेप्यमाण (उपमान) के द्वारा यहाँ (आरोप विषय) उपमेय को निर्गुण किया जाय, अर्थात् उपमान वाचक पद के द्वारा ही उपमेय का भी बोध कराया जाय उसे साध्यवसाना लक्षणा कहते हैं।

विषयवन्त कृतेऽप्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥११॥

यदि यह आरोप वा अध्यवसान साध्यमूलक हो तो गौणी के लक्षणा होगी, यदि किसी सम्बन्धान्तर से होय तो शुद्धा लक्षणा होगी।

उपादान गौणी सरोपा का उदाहरण है "गौर्वाहीक" यहाँ गौ तथा वाहीक दोनों के समान गुणों के आश्रयरूप में वाहीक अर्थ ही लक्षणा द्वारा उपस्थित होना है।

यहाँ गौ आरोप्यमाण उपमान है और आरोप विषय उपमेय है वाहीक दोनों में जाड्यमान्यादि गुणों की समानता के कारण वाहीक में गौ का आरोप किया है। दोनों का निर्देश शब्दतः होने से सारोपा गौणी का उदाहरण है। लक्षणलक्षणा—गौणी साध्यवसाना का उदाहरण—गौरयम् है।

यहाँ आरोप्यमाण गौ के द्वारा आरोप विषय उपमेय वाहीक का निर्णीर्ण हो चुका है। साथ ही साथ पूर्वोक्त जाड्पादि गुणों के द्वारा सामानाधिकरण्य भी है, अतः यह उदाहरण गौणी साध्यवसाना लक्षणा का है।

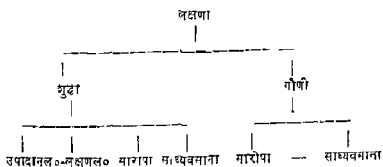
शुद्धा सारोपा का उदाहरण—“आयुर्घृतम्” घी आयु है। यहाँ आरोप्यमान उपमान आयु व आरोप विषय उपमेय घी दोनों का शब्दत निदेश है, और यहाँ साक्ष्य मे अतिरिक्त कार्यकारण सम्बन्ध है अर्थात् घी कारण है और आयु कार्य है, घी खाने मे अवश्य आयु बढ़ती है यही इसका प्रयोजन भी है।

शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण—“आयुरेवेदम्” यह (घी) आयु ही है। यहाँ आरोपविषय घी का आरोप्यमाण उपमान आयु के द्वारा निर्णीर्ण हो चुका है अतः यह उदाहरण शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा का है। निश्चित रूप से आयु बढ़ाना समप्रयोजन पूर्ववत् है—

लक्षणा तेन पडविधा

इस प्रकार पूर्व भेद उपादान लक्षणा, व लक्षणलक्षणा, सारोपा व साध्यवसाना ये शुद्धा के चार भेद है, और गौणी के केवल दो भेद—मारोपा व साध्यवसाना, सब मिलकर छ भेद हुए—

इनका विषय विभाग इस प्रकार है—



पुनः व्यङ्ग्य की दृष्टि से लक्षणा का विभाग—

यह लक्षणा पुनः व्यङ्ग्य, अश्लेष, गूढव्यङ्ग्य, अगूढव्यङ्ग्य तीन प्रकार की होती है। रुचि मे—“कर्म्मणि कुशलत्” इत्यादि स्थलों मे व्यङ्ग्य सहित होगी और प्रयोजनवती लक्षणा व्यङ्ग्य सहित होगी।

वह प्रयोजन भी कही गूढ होगा और कही अगूढ।

गूढ (व्यङ्ग्य), प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण—

“मुख विकसित स्मितम्” इत्यादि हैं।

यह किसी इन्दुवदना की तरुणिमा का सुन्दर वर्णन है।

इस सुन्दरी का मुख स्मित इपद्हास्य से विकसित है ।

यहाँ विकास पुष्प का धर्म है, इसको स्मित में बाध होने में लक्षणा के द्वारा स्मित की सातिशयता लक्षित होती है, इससे मुख में सौरभादि व्यङ्ग्य है, यह व्यङ्ग्य सर्वजनवेद्य न होने के कारण गूढ है ।

अगूढ व्यङ्ग्य प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिता विदग्धचरितानाम् ।

उपदिशति कामिनीना यौवनमद एव ललितानि ॥१०॥

लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर मूर्ख भी चतुरो के व्यवहार को समझने वाले हो जाते हैं, (पुन अर्थान्तर न्यास से इसका समर्थन करते हैं) जैसे यौवन मद ही कामिनियो की ललित उपदेश कर देता है ।

यहाँ "उपदिशति" यह पद अगूढ व्यङ्ग्य है, क्योंकि शब्द द्वारा अज्ञातार्थ का ज्ञापन रूप उपदेश तो चेतन का धर्म है न कि जड़ यौवन मद का, अतः मूर्खार्थ का बाध होने से सामान्य विशेषरूप सम्बन्ध से उन चेष्टाओं का आविष्कार मात्र लक्ष्य है, अनायास ललित चेष्टाओं का ज्ञान यह व्यङ्ग्य याच्यार्थ की तरह स्पष्ट मालूम पड़ता है ।

इस प्रकार काव्यप्रकाशकार के मत में छः प्रयोजनवती लक्षणार्थ पूर्ववर्णित हैं । इनके प्रयोजन स्वरूप व्यङ्ग्य के गूढागूढ होने से ये चार प्रकार की हो गईं । रुढ़ि का केवल एक भेद है, सब मिलाकर तेरह प्रकार की लक्षणा हुई ।

साहित्यवर्षणकार ने मम्मट के छ भेदों के स्थान पर सोलह भेद माने हैं । उन्होंने रुढ़ि तथा प्रयोजन की भी भेद का कारण माना है । इस प्रकार उपादान लक्षणा दोनों के रुढ़िगत व प्रयोजनगत होने में चार भेद हो जाते हैं । फिर इन चारों में सारोपा और साध्यवाचना मान लेने से आठ भेद हो जाते हैं । इन आठों में शुद्धा तथा गौणी के भेद से सोलह प्रकार की लक्षणा हो जाती है पुन इन भेदों के व्यङ्ग्य के गूढागूढ होने में और धर्म गत होने में पद व वाक्य गत लक्षणा के मानने से अस्ती प्रकार के भेदों के विश्वनाथ ने दिखलाया है ।

लाक्षणिक शब्द—

इस प्रकार लक्षणा के अवान्तर भेदों का निरूपण करके अब पूर्व प्रसङ्ग से अगुकृष्ट लाक्षणिक शब्द का विवेचन करते हैं—

उस लक्षणा शक्ति का आश्रयमूर्त यह "गङ्गादि" शब्द लाक्षणिक कहलाता है । तात्पर्य यह है कि प्रवाहरूप अर्थ का वाचक-गङ्गादि शब्द लक्षणा शक्ति

की परिधि में आ जाने में व्यवहारवश साक्षणिक कहलाता है। "तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।"

उन साक्षणिक शब्दों के द्वारा जब शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन का प्रतिपादन करना पड़ता है तो व्यञ्जनात्मक व्यापार की आवश्यकता होती है।

अर्थात्—प्रयोजन केवल व्यञ्जना व्यापार का ही विषय है।

प्रयोजन की प्रतीति में व्यञ्जना वृत्ति की अपारहायना—क्योकि—

जिस प्रयोजन की प्रतीति के लिए साक्षणिक शब्द का आशय लिया जाता है, केवल उसी साक्षणिक शब्द द्वारा सम्यक् फल (प्रयोजन) के विषय में व्यञ्जना के अतिरिक्त (शब्द) का अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता है।

यस्य प्रतीतिमाघातु लक्षणा समुपास्यते ।

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा श्रिया ॥१४॥

उक्त प्रयोजन की प्रतीति न तो अभिधा वृत्ति से हो सकती है, क्योकि पावनत्वादि प्रयोजनों के प्रतिपादन गङ्गादि शब्दों में इस प्रकार का संकेत यह नहीं किया गया है और मृत्युार्थ बाधादि हेतुओं के न होने से लक्षणावृत्ति का भी विषय नहीं है।

लक्षणावृत्ति प्रयोजन की प्रतीति तब करानी जब यहाँ लक्ष्यार्थ ही मुख्यार्थ माना जाता, पर यहाँ तो तट रूप मुख्यार्थ नहीं है न उतमे किसी प्रकार का बाध ही है, और न शैत्य पावनत्वादि फल के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही है। फिर प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने में आगे कोई अन्य प्रयोजन भी नहीं है।

यदि प्रयोजन सहित तट को लक्षणा का विषय माना जाए तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योकि विषय और फल में भेद होना, जैसे ज्ञान का विषय ज्ञान के फल में भिन्न होता है, उसी प्रकार लक्षणा ज्ञान का विषय तट है और लक्षणा ज्ञान का फल पावनत्वादि ये दोनों परस्पर भिन्न हैं।

अतः प्रयोजन विशिष्ट तट लक्षणा व्यापार का विषय नहीं हो सकता। क्योकि "ज्ञानस्य विषयो ह्यन्ध फलमग्न्यदुदाहृतम्"।

अर्थात्—ज्ञान का विषय (घटादि) अलग और ज्ञान का फल (सैय्याधिक्यो) के मत में अनुद्यवसाय और मीमांसकों के मत में ज्ञातता (प्रकटता) अलग बने गये हैं।

न्याय का अनुव्यवसाय सिद्धान्त—

न्याय सिद्धान्त के अनुसार पहिले घटार्थानीलादि पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा हो जाता है, "अथ घट" इस प्रकार का ज्ञान। पश्चात्

“घटविषयक ज्ञानवानहम्” या “घटमह जानामि” इस प्रकार का यह दूसरा ज्ञान अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहा जाता है। पहला ज्ञान विषय-घट से उत्पन्न होता है इसलिए यह व्यवसायात्मक ज्ञान है, दूसरा ज्ञान घटज्ञान से उत्पन्न होता है। इसीलिए यह अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहलाता है इसी को दूसरे शब्दों में सवित्ति भी कहते हैं। यह दूसरा ज्ञान घट ज्ञान का फल हुआ।

अर्थात्—घट ज्ञान के विषय घट से उस घट ज्ञान का फल “अनुव्यवसाय” भिन्न है इसीलिए विषय और फल दोनों की समकालीन उपस्थिति नहीं होती है।

मीमांसकों का ज्ञातता सिद्धान्त—

मीमांसकों के मत में अथ घट इस प्रकार के ज्ञान होने के बाद “जानो मया घट” इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में घट में रहने वाला ज्ञानता या प्रकटता नामक धर्म भासता है। यह धर्म घटज्ञान के पहिले घट में नहीं था, घट ज्ञान के बाद आया, अतः वह ज्ञान से उत्पन्न होने से ज्ञान उसका कारण है, अन्यथा ज्ञानता की अनुपपत्ति है, इसी अन्यथानुपपत्ति के द्वारा ज्ञातता से ज्ञान का ग्रहण होता है।

नैयायिकों का अनुव्यवसाय जैसे आत्मा में रहने वाला धर्म है, वैसे ही मीमांसकों का यह ज्ञातता धर्म घटादि विषय में रहने वाला धर्म है वही इन सिद्धान्तों में भेद है—

दोनों ही मतों में ज्ञान का विषय ज्ञान के फल से भिन्न होता है, क्योंकि विषय ज्ञान का कारण है इसलिए उसकी स्थिति ज्ञान के पहिले रहती है। फल ज्ञान का कार्य है इसलिए यह ज्ञान के बाद होता है। इसलिए लक्षणा जन्म ज्ञान के विषय तटादि का उसके फल (प्रयोजन) पुण्यत्व मनोहरत्वादि या शैत्य पावनत्वादि की स्थिति भी अलग अलग है उन दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए विशिष्ट अर्थात् प्रयोजन सहित तट में लक्षणा नहीं हो सकती है। हाँ लक्षित तटादि में विशेष शैत्यपावनत्वादि हो सकते हैं।

यह लक्षणामूला व्यञ्जना का प्रकरण समाप्त हुआ।

अभिधामूला व्यञ्जना—

अनेकार्थक शब्दों का समोपादि द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाने पर भी उसी शब्द से यदि पुनः अन्यार्थ की प्रतीति होती हो तो उस प्रतीति का कराने वाला शब्द व्यापार अभिधा मूला-व्यञ्जना के नाम में कहा जाता है।

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे तिपन्त्रिते ।

संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यावृत्तिरञ्जनम् ॥१६॥

अनेकार्थक शब्दों के विषय में जहाँ यह सन्देह हो कि किस अर्थ को लिया जाए तो ऐसी स्थिति में ये मयोगादि चौदह मन्त्र नियामक होते हैं—

(१) जैसे सयोग—“शख चक्र के सहित हरि” यदि कहा जायेगा तो वहाँ हरि शब्द अनेकार्थक—विष्णु इत्यादि वाचक होना हुआ भी सयोग के द्वारा विष्णु का ही वाचक होगा क्योंकि शख चक्र का सयोग विष्णु में ही रहता है।

(२) इसी प्रकार वियोग भी नियामक होगा है, यदि अज्ञपचक्रो इति कहेंगे तो वियोग के द्वारा भी हरि शब्द विष्णु का ही वाचक होगा क्योंकि सयोगपूर्वक ही वियोग होता है।

(३) साहचर्य—“रामतदमणी” में साहचर्य सद्भाव के कारण दोनों दशरथ पुत्र के वाचक होगा।

(४) विरोधिता—“रामार्जुनगतिस्त्रयो” इत्यादि स्थल विरोध नियामक है। राम और अर्जुन इन दोनों शब्दों का विरोधिता के कारण परशुराम तथा कार्तवीर्य अर्थ होगा।

(५) अर्थ अर्थान प्रयोजन—समार में मुनि के लिए “स्थानु” का भजन करो यहाँ स्थानु शब्द (प्रयोजन विशेष मुनि अर्थ के कारण शिव इस अर्थ में नियमित हो जायगा।

(६) प्रकरण—“देवो जानाति” देव” यह शब्द अनेकार्थक है पर प्रकरणवश “आप” इस अर्थ में नियमित हो जायेगा।

(७) लिङ्ग—“मकरध्वज कुपित हो रहा है” इत्यादि स्थला में कोप चिह्न के द्वारा मकरध्वज शब्द कामदेव अर्थ में ही नियमित हो जायेगा।

(८) अन्य शब्द की सन्निधि—“पुरारि देव वा” यहाँ पुरारि शब्द के सान्निध्य से देव शब्द शत्रु अर्थ ही होगा।

(९) सामर्थ्य—“कोकिल मधु में मत्त हो रहा है” यहाँ कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसन्त में होने से मधु शब्द का वसन्त अर्थ होगा।

(१०) औचित्य—“पत्नी का मुख तुम्हारी रक्षा करे” इसमें अनेकार्थक मुख शब्द औचित्य के कारण साम्मुख्य—आनुकूल्य अर्थ में नियमित होगा।

(११) देश—“यहाँ परमेश्वर शापित है” इसमें राजधानी रूप देश विशेष के कारण अनकार्यक परमेश्वर शब्द का राजा अर्थ होगा।

(१२) काल—“दिवाभानु चमक रहा है” यहाँ अनेकार्थक चित्रभानु शब्द का दिन में सूर्य अर्थ और रात में कालविशेष के कारण आग्न अर्थ होगा।

(१३) व्यक्ति—“मित्र भाति” में नपुंसक लिङ्ग होने के कारण मित्र शब्द का सुहृद् सखा आदि और पुल्लिङ्ग में ‘मत्रो भाति’ होने से सूर्य अर्थ लिया जायेगा।

(१४) “इन्द्र शत्रु वर्धस्व” इत्यादि स्थलों में ही स्वर का उपयोग होता है ।

अर्थात्—वेद में ही स्वर विशेष से अर्थ विशेष का बोध होता है, काव्य में स्वरों का विशेष उपयोग नहीं होता है ।

इसी तरह चेट्यादि में भी किसी विशेष अर्थ की प्रतीति होती है । इस प्रकार सयोगादि से अब अनेकार्थक शब्दों का एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है, पुन यदि उसी शब्द से अर्थान्तर की प्रतीति होती है तो उसमें अभिधा व्यापार न होकर व्यञ्जना व्यापार ही होता है—इसी को अभिधामूला व्यञ्जना कहते हैं—

उदाहरण—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोविद्यालवशोन्ते कृतशिलीमुखसग्रहस्य ।

यस्यानुपप्लवगते परवारणस्य दानाम्बुसेक्सुभग सतत करोऽमृत ॥१२॥

इस श्लोक में किसी राजा की स्तुति की जा रही है, अब इन अनेकार्थक शब्दों का भद्रात्मनो “मुन्दर आश्मा दाने” हाथी के पक्ष में भद्रजातीय हाथी इत्यादिको का प्रवर्णन द्वारा जब राजा के अर्थ नियमित हो जाता है, पुन. उन्ही शब्दों से हाथीपरक दूसरे अर्थ की प्रतीति और प्रकृत अर्थ के साथ उपमानोपमेयभाव की भी प्रतीति होती है, राजा के सारे विशेषण हाथी के पक्ष में भी लगते हैं । यह द्वितीय अर्थ की प्रतीति अभिधामूला व्यञ्जना द्वारा ही होती है ।

इन व्यञ्जना व्यापार से युक्त शब्द व्यञ्जक कहलाता है । इनमें अर्थ की भी सहकारिता रहती है—

अर्थात्—शाब्दी व्यञ्जना में शब्द की प्रधानता व अर्थ की सहकारिता रहती है, और आर्था व्यञ्जना में अर्थ की प्रधानता व शब्द की सहकारिता रहती है, इसीलिए ये शब्दार्थ काव्य में एक दूसरे के पूरक के रूप में हैं ।

काव्य प्रकाश में शब्द अर्थ का निरूपण नामक

द्वितीय उल्लास समाप्त हुआ ।

तृतीय उल्लास

आर्थी व्यञ्जना

द्वितीय उल्लास में शब्द अर्थ के स्वरूप का निर्णय करते हुए वाचक लक्षण व व्यञ्जक शब्द और वाच्य लक्षण व व्यञ्ज्य अर्थ का भी प्रतिपादन किया, साथ ही साथ लक्षणाशक्ति पर विचार कर लक्षणा के प्रयोजन के प्रतिपादन के अतिरिक्त प्रयोजन को व्यञ्जना व्यापारमय ही मानते हुए लक्षणामुलाशाब्दी व्यञ्जना व अभिधामुलाशाब्दी इन दोनों प्रकार की शाब्दी व्यञ्जना का निरूपण कर, अब इस उल्लास में आर्थी व्यञ्जना का निरूपण करते हैं—“अर्थव्यञ्जकत्वोत्पत्ते” इत्यादि कारिका द्वारा ।

जैसे—लक्षणामूला व्यञ्जना के लिए मूल में लक्ष्यार्थ का होना आवश्यक है, और अभिधामूला व्यञ्जना में ‘मनोवादि नियामक तत्त्वा द्वारा प्राकरणादि अर्थों का नियमन आवश्यक है उन्ही प्रकार इस आर्थी व्यञ्जना में भी वस्तु वागव्यादिका ज्ञान आवश्यक है जिनकी विशेषता में अर्थ, अर्थान्तर को अभिव्यक्त करना है—

उन वस्तु बोधव्यादि का निर्देश इस प्रकार है—

वस्तुबोधव्यक्ताकुना वाक्यवाक्यान्वसन्निधे ॥२१॥

प्रस्तावदेशकालादेवैर्बिशिष्टयात प्रतिभाजुषाम ।

पोऽयंस्यान्वापंधीर्हंतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

(१) वक्ता, (२) बोधव्य, (३) काकु (४) वाक्य (५) वाच्य, (६) सन्वसन्निधि, (७) प्रस्ताव (८) देश, (९) बाल, (१०) आदि के वैशिष्ट्य में (प्रतिभाशैली) महदयो को अर्थार्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ का जो व्यापार होता है वह आर्थी व्यञ्जना ही है ।

(१) वक्ता के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

अनि पृबुल जलकुम्भ गृहीत्वा समागतास्मि सखि (वरित्तम) ।

अमस्तेदसलिनिति स्वामिति सहा विभ्राभ्यामि क्षणम् ॥२३॥

कोई सखी अपनी सखी से कहती है, कि बहुत भारी जलकुम्भ लाई है, इसलिए परिश्रम में थक गई हूँ अब क्षण मात्र विश्राम करूँगी ॥

यहाँ प्रतिभाशाली मामाजिको को प्रमाणान्तर से जिसका अमनीत्व ज्ञात था, उन्हें उस बकरी मखी के वैशिष्ट्य से वाच्यार्थ के द्वारा उक्त मखी का चौर्यरत गोपन अभिव्यक्त होता है ।

बोधव्य के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

औभित्त दीर्घतय चिन्तालसत्त्व सति इयसितम् ।

मम मन्दभागिन्या कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति । १४॥

कोई नायिका अपनी मखी को कहती है, ये चिन्ता, दुर्बलता आदि जो मुझे परेशान कर रही हैं, मेरे लिए परिश्रम करने वाली तुमको भी ये परेशान कर रही हैं ।

इहाँ बोधव्य मखी है । उमी के वैशिष्ट्य से उमका काकुभविषयक अपराध प्रकाशन किया जा रहा है ।

काकु के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन—

गुरु खेद खिन्ने मयि भर्जात नाद्यापि कुरुषु ॥१५॥

यहाँ भीम युधिष्ठिर के प्रति कहते हैं उस प्रकार की अवस्था का अनुभव करके भी, यिम्न मेरे उपर युधिष्ठिर नाराज होंगे, न कि कौरवों पर ?

इस काकु (एक प्रकार की ध्वनि विशेष) “मेरे उपर नाराज होना उचित नहीं कौरवों पर नाराज होना उचित है—यह व्यंग्य विशेष प्रकाशित होता है ।

वाच्य के वैशिष्ट्य से व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन—

तदा मम गण्डस्थानिमत्ना दुष्टि नानसोरन्ध्र ।

इदानीं संवाह तौ स्व कपोलौ न न सा वृष्टि ॥१६॥

कपोल प्रविन्वित सखी को देखते वाले के प्रति किसी नायिका की यह उलाहना है कि तुम्हारी प्रच्छन्न वामुकता का क्या कहा जाय, यह व्यङ्ग्य इस सारे वाच्य की विशेषता से मालूम पड़ना है ।

वाच्य (अर्थ) का विशेषता का उदाहरण—

“उद्देश्य सरसकदलीध्रेणिशोभातिशायो” इत्यादि यह प्रदेश सरस कदली कुञ्ज में मण्डित है” इत्यादि वाच्यार्थ की विशेषता में कुञ्जादि विशेषण में विशिष्ट प्रदेश रूप वाच्य से सुख पूर्वक भ्रमण योग्य यह देश है, यह व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है ।

अन्य सन्निधि की विशेषता का उदाहरण—

मुदयगात्रमना श्वश्रुर्मा गृहघरे सकले ।

क्षणमात्र यदि सध्यायां विद्यासो भवति न धा भवति ॥

सन्निहित उपनायक के प्रति "सध्या सवेत" काल की सूचना सामाजिकी को उक्त सन्निहित व्यक्ति की विशेषता से मालूम पड़ता है ।

प्रकरण की विशेषता का उदाहरण—

श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण । इत्यादि

यहाँ प्रकरण के भाता सामाजिकी को किसी के अभिमरण निषेधादि व्यङ्ग्य प्रस्ताव विशेष में मालूम पड़ता है ।

देश की विशेषता का उदाहरण—

अन्यत्र यूय कुसुमावचाय कुण्डममत्रास्मि करोमि सत्य ।

नाह हि दूर भ्रमितु समर्था प्रसीदताय रचितोऽञ्जलिर्व ॥२०॥

यहाँ कुसुमावचय को उद्देश्य करके सखियों का अन्य देशाधिकरण का विधानरूप विविक्त देश विशेष में उपपत्ति समागम रूप व्यङ्ग्य प्रकाशित होता है ।

काल के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

गुरुजनपरवदा प्रिय, किं भणामि तव मन्दभागिनी अहम् ।

अद्य प्रवास व्रजति व्रज स्वयमेव श्रोष्यति करणीयम् ॥२१॥

यहाँ अद्य पद प्रयुक्त वसन्त काल की विशेषता से प्रिय के प्रति अनुरक्त किसी का जीवन मुश्किल है यह अभिव्यक्त होता है ।

आदि से चेष्टाविशेष से भी व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है । शब्द प्रमाण से वेद्य अर्थ अर्थात्तर को अभिव्यक्त करता है । इमीलिए आर्थी व्यञ्जना में शब्द की भी सहकारिता है ।

शाब्दी व्यञ्जना के प्रसङ्ग में यह कहा था कि शब्द ही यहाँ मुख्यरूप से व्यञ्जक होता है, पर अर्थ भी उनका महायन होता है । इसी प्रकार आर्थी-व्यञ्जना में यद्यपि अर्थ ही मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है तथापि शब्द की भी सहकारिता रहती ही है ।

काव्य प्रकाश में अर्थ व्यञ्जकता निषेध नामक

तृतीय उल्लास समाप्त हुआ

चतुर्थ उल्लास

यद्यपि प्रथम, द्वितीय व तृतीय उल्लास में काव्य स्वरूप "शब्दार्थौ काव्यम्" इत्यादि और शब्दार्थ का निर्णय, इसी प्रसङ्ग में अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना व्यापार का भी निर्णय हो चुका है, अब काव्य के धर्म-दोष-गुण अलंकारों का स्वरूप कथन अवशिष्ट था, पर धर्मों काव्य के प्रतिपादन किये बिना उसके धर्मों की हेयोपादेयता का उचित मूल्याङ्कन नहीं हो सकता। इसलिए पहले उत्तम काव्य-ध्वनिकाव्य के मुख्य भेदों का निरूपण करते हैं—
ध्वनि के मुख्य भेद—

ध्वनि मूलतया दो प्रकार की होती है—

अभिधामूलाध्वनि तथा लक्षणामूला ध्वनि।

द्वितीय उल्लास में जिस लक्षणा का विवेचन किया है, उसी का प्रयोजन व्यङ्ग्य होता है, और वाच्य विवक्षित नहीं होता, अर्थात् मुख्यार्थ का वाच्य होता है। अतएव इस लक्षणामूला ध्वनि को अविवक्षितवाच्यध्वनि कहते हैं—

इसके भी पुन अर्थ के कभी अर्थान्तर में सक्रमित हो जाने से, और मुद्रमार्थ को बिल्कुल छोड़ देने से दो भेद होते हैं।

एक अर्थान्तर सक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि।

लक्षणामूला ध्वनि

अविवक्षितवाच्यध्वनि

|

अर्थान्तरसक्रमितवाच्यध्वनि

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि

अर्थान्तरसक्रमितवाच्यध्वनि का उदाहरण—

त्वामस्मि वच्मि विदुषा समुदायोऽत्र तिष्ठति ।

आत्मीया मतिमास्थाय स्थितिमत्र विद्येहि तत् ॥२३॥

अपने शिष्य के प्रति किसी विद्वान की यह उक्ति है—

मैं तुमसे कहता हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय रहता है, अतः जरा सोच समझकर (बोलना) या रहना।

यहाँ जब वक्ता और बोधव्य जब आमने सामने हैं, तो "वस्मि त्वा वच्मि" यह पद अनुपयुक्त होते हुए अर्थान्तर-उपदेश्य तुमको हितभावना से

उपदेश देता हूँ । इस अर्थ में वाच्य परिणत हो जाता है, शिष्य के प्रति उसका हित सम्पादकत्व व्यङ्ग्य है ।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उदाहरण—

उपकृत बहु तत्र किमुच्यते मुजवता प्रथिता भवता परम् ।

विदधदीदृशमेव सदा सत्ते मुखित मास्व तत, शरदां शतम् ॥२४॥

अपकारी मित्र के प्रति किसी की यह उक्ति है—

आपने बड़ा उपकार किया है, वहाँ तक प्रशमा की जाय ? हे मित्र !

सदा ऐसा ही करते हुए तुम सैकड़ों वर्ष तक सुखी रहो ।

यहाँ उपकृतादि शब्द अपने अर्थ को अत्यन्त तिरस्कृत करते हुए उपकृतम् अपकार में परिणत हो जाते हैं । अकारातिशय प्रकाशन व्यङ्ग्य है ।

अभिधामूला ध्वनि या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि ।

जहाँ वाच्यार्थ बाधित न होते हुए अन्य परक—व्यङ्ग्य परक होना है ।

अर्थात्—वाच्यार्थ अपने स्वरूप का बिना किसी रकावट के प्रकाशन करता हुआ व्यङ्ग्य में पर्यवसित होना है ।

यहाँ वाच्यार्थ व व्यङ्ग्यार्थ के बीच ओ क्रम है वह कहीं लक्षित हो जाता है, और कहीं वाच्यार्थ से इतनी जल्दी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होनी है कि वहाँ बीच में क्रम लक्षित नहीं होता है ।

इसी क्रम के लक्षित और अलक्षित के कारण पुन विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं—

(१) सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और (२) असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का जो असलक्ष्यक्रम ध्वनि नामक भेद है, इसी भेद के अन्तर्गत-रस भाव रसाभास व भावाभास भावशान्ति आदि सभी आ जाती हैं । रसादि की जहाँ पर प्राधान्येन स्थिति होगी अन्य वाक्यार्थ या अलङ्कार जहाँ उपस्कारक होंगे वही पर रस भावादि को विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का भेद माना जायेगा । अन्यथा इसके विपरीत स्थिति में तो यदि कहीं अन्य वाक्यार्थ प्रधान हो और रसादि अङ्गभूत उसके उपस्कारक हो तो ऐसी स्थिति में क्रमशः रस के अङ्ग होने पर रसवत् अलङ्कार और भाव के अङ्ग होने पर प्रेक्षोऽलङ्कार और रसाभास व भावाभास के अङ्ग होने पर उर्वस्वि अलङ्कार होंगे । भाव शक्ति के अङ्ग होने पर समाहितादि अलङ्कार होते हैं—

जैसा कि छन्द्यालोककार का कथन है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्ग तु रसादय ॥

काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मति ॥ इति॥

जानन्दवर्धनाचार्य ने छन्द्यालोक में उक्त कारिका द्वारा अलङ्कार्य तथा अलङ्कार का विषय विभाग व्यवस्थित किया था ।

उनका कहना था कि रसादि उसी स्थिति में अलङ्कार्य हो सकते हैं, जब वे प्राधान्येन अभिव्यक्त होते हैं, अन्य वाक्यार्थ या अलङ्कार उनके उपस्कारक हों, यदि छन्दमें विपरीत स्थिति रमभावादि की कही देखी जाय तो वे रभवदादि अलङ्कार ही माने जायेंगे अर्थात् वे प्रधान ध्वनि के भेद न होकर गुणीभूत-व्यङ्ग्य के ही भेद होंगे ।

कुन्तक का विरोध

पूर्वोक्त जानन्दवर्धन की अलङ्कार्य तथा अलङ्कार के विषय विभाग व्यवस्था के प्रतिकूल कुन्तक की मान्यता है ।

कुन्तक ने अनेक तर्क व वितर्कों के द्वारा स्वभावोक्ति तथा रसवत् अलङ्कार का जोरदार शब्दों में खण्डन किया है । वे इन दोनों अलङ्कारों के विषय में प्राचीन दण्डी आदि आलङ्कारिकों के मत से सहमत नहीं है—

स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है—

अलङ्कारकृता येषा स्वभावोक्तिरलङ्कृति ।

अलङ्कार्यतया तेषा किमन्यदवतिष्ठते ॥११॥

जिन दण्डी सहस्र आलङ्कारिकों के मत में स्वभावोक्ति भी अलङ्कार है, उनके मत में फिर अलङ्कार्य क्या रह जाता है । अर्थात् कुन्तक के अनुसार स्वभाव ही अलङ्कार्य है, उसको अलङ्कार मान लेने पर पुन “अलङ्कार्य” किसको कहा जाएगा ।

इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का मत भी कुन्तक के ही अनुकूल है—उनके तर्क इस प्रकार हैं—

(१) प्रस्तुत विषय और अप्रस्तुत-विधान-अर्थात् वर्ण्य वस्तु तथा वर्णन प्रणाली में स्पष्ट अन्तर है । स्वभावोक्ति प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु है अलङ्कार वर्णन-प्रणाली है, अतएव स्वभावोक्ति अलङ्कार नहीं हो सकती ।

(२) स्वभावोक्ति की अलङ्कारता इसी से प्रसिद्ध है कि उसका कोई निश्चित लक्षण नहीं मिलता, किसी ने उसे स्वक्रिया-रूप-वर्णन कहा है, किसी ने अवस्था वर्णन और किसी ने उसे सूक्ष्म-स्वभाव-वर्णन ।

(३) मम्मट की परिभाषा में निर्दिष्ट बालक आदि पद का आशय अत्यन्त अस्पष्ट है, स्वयं बालको की रूप-चेष्टा का वर्णन वात्मन्य रस के अन्तर्गत आता है। वह रस का प्रज्ञ है अलंकार नहीं, और यदि डिम्भादे की व्याप्ति सृष्टि की नाना वस्तुओं के रूप और व्यापार तक मान ली जाय तो वह वर्ण्य वस्तु ही है वर्णन प्रणाली नहीं है।

स्वभावोक्ति की ही भाँति कुन्तक ने रसवत् अलंकार को भी अलंकार की श्रेणी में हटाकर अलंकार्य पदवी से भूषित किया।

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।

स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥११॥

रसादि की प्रतीति के स्थल में रस के अपने स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी की प्रतीति न होने में और रस के साथ अलंकार शब्द का प्रयोग करने पर भी शब्द तथा अर्थ की सङ्गति न होने से रसवत् अलंकार नहीं अपितु अलंकार्य है।

कुन्तक के मत से—

(१) रसवत् अलंकार अलंकारो का घूडामणि है।

(२) नीरस व जड़ पदार्थों में सरसता लाने के लिए यह सस्कवियों का अद्भुत साधन है।

(३) यह अलंकार प्रतीयमान ही होता है।

कुन्तक के शब्दों में इसका मौलिक स्वरूप यह है—

रसेन वर्तते मुख्य रसवत्प्रविधानत ।

योऽलंकार स रसवत् तद्विदाह्लादनिमित्ते ॥३॥१४॥

पर आनन्दवर्धन की स्थापना उनके ध्वनि सिद्धान्त के अनुकूल ही है, जहाँ रसाभावादि अन्य वस्तु या अलंकार रूप व्यङ्ग्य का उत्कर्ष करेगा, वहाँ रस उपस्कारक होने से अलंकार का कार्य करता है, ऐसी स्थिति में रसत्व प्रमुक्त चमत्काराघायक होने पर भी प्राधान्य के न रहने से भृत्य के विवाह में प्रवृत्त राजा की तरह उसकी स्थिति होगी है। राजा जैसे उस भृत्य के बारात का अङ्ग बनकर शोभा बढ़ाना है, रसवत् अलंकार में भी रस स्वयं अङ्ग बनकर अन्य वाक्यार्थ को शोभाघायक होता है, अतः यह ध्वनि का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता है।

स्वभावोक्ति अलंकार के विषय में जो कुन्तक का आक्षेप है, वह किसी वस्तु के सामान्य विदोष भाव को बिना देखे ही है, मम्मटादि शालंकारिकों का

अभिप्राय विशिष्ट स्वभाव वर्णन ही स्वभावोक्ति अलंकार है। महिममट्ट ने भी वस्तु के दो रूप माने हैं और अलंकार के लिए वे इसका विशिष्ट रूप ही उपयुक्त मानते हैं। आगे हेमचन्द्र ने तो अपने काव्यानुशासन ग्रन्थ में साफ ही कहा है कि वस्तु का सामान्य स्वरूप भले ही अलंकार्य हो, पर लोकोत्तर अर्थ अलौकिक उस वस्तु का जो सौन्दर्य है वह अलंकार है, वही कवि के वर्णन का विषय है।

नाट्यशास्त्र में, अङ्गज-हासभाव, अयत्नज-शोभा कान्ति आदि स्वभावज-लीलाविलासादि को जिस प्रकार नाट्यालङ्कार के रूप में माना है इसी प्रकार किसी बालक या मृग के भी उसकी सहज या आहार्य जो चोटायें हैं वे भी अलङ्कार हैं, यह स्वभावोक्ति को अलंकार मानने में एक हेतु है।
रस निरूपण—

लोक में रति आदि (स्थायी भाव) के जो कारण कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वे ही काव्य व नाटक में वर्णित हो तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और ध्याभिव्यक्ति भाव कहलाते हैं। उन विभावादियों में अभिव्यक्त वह रति (स्थायी भाव) ही “रस” कहलाता है।

कारणान्यय कार्याणि सहकारीणि यानि च ।

रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्य-काव्ययो ॥२७॥

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते ध्यभिचारिण ।

व्यक्तं स तै विभावाद्यै स्थायीभावो रस स्मृत ॥२८॥

(१) स्थायी भाव—यद्यपि ये रत्यादि सब अल्पकाल की वृत्ति रूप हैं, वृत्ति विशेष होने के कारण आशुविनाशी अस्थिर हैं, इन्हें जो अन्यशास्त्रकार या मनोवैज्ञानिक भाव शब्द से कहते हैं, ये भाव कभी अनुकूल होते हैं और कभी प्रतिकूल, समुद्र की लहर की तरह ये चञ्चल हैं, पर इनका सत्कार जिसे वासना कहते हैं वह स्थिर है। यही वासना सूक्ष्मरूप स्थिर होने के कारण स्थायी कहा जाता है। आधुनिक भाषा में इसे इस प्रकार कह सकते हैं—

मनुष्य के अवचेतन मन के अन्तराल में बहुत समय तक सूक्ष्म-रूप से छिपने वाले भाव को ही स्थायीभाव कहते हैं।

यही प्रसुप्त सत्कार उपयुक्त-विभावादि-सामग्री को प्राप्त कर जब अभिव्यक्त होता है, तब “रस” इस संज्ञा को प्राप्त करता है।

इसीलिए मम्मट ने भी कहा—

“व्यक्तं स तै विभावाद्यै स्थायीभावो रस स्मृत ।”

(२) विभाव—वामनारूप में वर्तमान रत्नादि स्थायिभावों की आस्वाद योग्यता को जो कारण प्रदान करते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। “विभावयन्ति आस्वादयोग्यता भवन्तीति विभावा” ये विभाव भी दो प्रकार के होते हैं, आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव, जैसे—सीता को देखकर राम के मन में, और राम को देखकर सीता के मन में “रति” भाव या अनुराग की उत्पत्ति होती है, और इन दोनों को देखकर (नाटक में या काव्य में पढ़कर) सामाजिक के मन में भी आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। अतः सीता रामादि शृङ्गार रम के आलम्बन विभाव हैं। और चन्द्र चाँदनी उद्यानादि रति के उद्दीपन विभाव हैं।

(३) अनुभाव—अन्य कारण में अवस्थित विभाव द्वारा उद्बुद्ध उस रति जो उपादान दर्शकों के अनुभव में ला देते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं। “अनुभावयन्ति, अनुभव विषयी कुर्वन्तीति अनुभावा” स्मितादि लोक में इन्हें कार्य कहते हैं।

(४) व्यभिचारी भाव—उद्बुद्ध हुए स्थायिभावों की पुष्टि या उपचय में जो उनके सहकारी होते हैं उन्हें व्यभिचारीभाव कहते हैं। “विशेषण अभित रत्नादीनां कामे चारयन्तीति सचारयन्तीति व्यभिचारिण्य सञ्चारिणो वा” विविधरूप से स्थायिभाव के अनुकूल संचरण करने वाले भाव, हर्ष विषाद, चिन्ता, जड़ता आदि ये ३३ हैं।

रस निष्पत्ति-प्रक्रिया

भरतमुनि ने रस के उन्मीलन की प्रतिष्ठा सबसे पहले अपने नाट्यशास्त्र में की, इस विषय में इनका प्रसिद्ध सूत्र है जिसको मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में अविकलरूप में रखा है—“उक्तं हि भरतेन”—“विभावानुभाव-व्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्ति ॥

अर्थात्—विभाव, अनुभाव व सञ्चारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा है, विचार में उतना ही सारगर्भित है—अन्य अनेक आचार्यों ने इस सूत्र पर अपने अपने सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या की हैं, अभिनव गुप्त द्वारा रचित नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव भारती में, बड़े विस्तार के साथ कई मतों का उपन्यास किया है। पर वहाँ का व्याख्यान अत्यन्त कठिन व विस्तृत है।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में उसी का संक्षिप्त सार उपस्थित किया है। जिसके प्रमुख व्याख्याता-भट्टलोहलट, शकुन्त, भट्टनायक व अभिनवगुप्त ये चार

हैं। ये चारों आचार्य क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य व साहित्यशास्त्र के प्रकाश में अपना अपना रस विषयक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

(१) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद—

विभाव—आलम्बन व उद्दीपन ललना-उद्यानादि रति आदि उत्पन्न होती है, उसी स्थायी रति के कार्यभूत-कटाक्षादि अनुभावों से प्रतीति योग्य किया गया, (रत्यादिमान्), निर्वेदादि सञ्चारी भावों से पुष्ट किया गया रत्यादि स्थायीभाव मुख्यरूप से अनुकार्य रामादि में रहता है, पर उनके स्वरूप का अनुकरण करने से नट में भी प्रतीत होता है, अर्थात्—नट में भी उसका आरोप होता है। यही नट में आरोप्यमाण या प्रतीयमान रत्यादि ही रस है।

सूत्र में आये हुए मयोग व निष्पत्ति इन दो शब्दों के विषय में आचार्यों की अपने अपने सिद्धान्तानुकूल अलग-अलग व्याख्या है।

भट्टलोल्लट मीमांसक हैं, अतः उन्होंने विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोग से अनुकार्य-रामादि में रस की निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति माना। विभावादि उत्पादक सामग्री है। स्थायी भाव उत्पाद्य है, जैसे मीमांसा दर्शन में वागादि उत्पादक सामग्री से अपूर्व द्वारा स्वयं उत्पाद्य है, उसी प्रकार यहाँ रस भी उत्पाद्य है। अतः विभाव का स्थायीभाव रत्यादि के साथ उत्पाद्य उत्पादक भाव सम्बन्ध होगा, और अनुभाव का गम्य-गमकभाव सम्बन्ध, और सहचारी भावों का पोष्य पोषकभाव सम्बन्ध है। यही संयोग शब्द का अर्थ है। और निष्पत्ति शब्द का क्रमशः उत्पत्ति, प्रतीति व पुष्टि ये अर्थ होते हैं।

भट्टलोल्लट के मत में अरुचि—

भट्ट लोल्लट की इस व्याख्या में सबसे बड़ी कमी यह है कि वे रसानुभूति को सामाजिक में न मानकर मुख्य रूप अनुकार्य रामादि में मानते हैं। और उसका आरोप या अप्रधानरूप से नट में मानते हैं। इन दोनों में भी अभिव्यक्ति न मानकर, उत्पत्ति मानते हैं।

शकुन्तला का अनुभूतिवाद—

यह राम ही है, यही राम है। यह राम नहीं है, यह राम है या नहीं यह राम के समान है। इस तरह क्रमशः सम्यक् प्रतीति, मिथ्याप्रतीति, सशय प्रतीति तथा साक्ष्यप्रतीति, इन चारों प्रकार की प्रतीतियों से भिन्न प्रतीति "चित्रतुरगन्याय" वाली प्रतीति नट में होती है। अर्थात्-चित्र में अङ्कित घोड़े को बालक जैसे घोड़ा ही समझता है, उसी प्रकार ग्राह्य पक्ष नट में राम बुद्धि होती है वह भी इन चार प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण होती है। "यह राम

सीता विषयक रति वाला है, तब विषयक कटाक्षादि युक्त होने से इस नट पक्ष में कटाक्षादि हेतुओं से सीताविषयक राम की रति का अनुमान किया जाता है। यहाँ विभावादि का रत्यादि के साथ जो संयोग सम्बन्ध विशेष है वह गम्यगमकभाव है। विभावादि गमक हैं और रत्यादि गम्य अनुमेय है। वस्तु सौन्दर्य की विशेषता से यह अनुमान अत्र अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण है। रस की निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है।

नट में वास्तविक रूप से न रहने वाले रत्यादि का सामाजिक अपने वामना के बल से नट पक्ष में अनुमान कर लेता है। वस्तुन अनुमित रस न सामाजिक में रहता है और न कृत्रिम राम (नट) में ही रहता है, केवल वासना मात्र से सामाजिक को उसका आस्वाद होता है। शकुन की यह रस की अनुमिति न्याय दर्शन के अनुसार है, न्यायशास्त्र अनुमिति प्रधान शास्त्र है, इसीलिए इसमें पक्ष हेतु व साध्य की कल्पना की गई है।

शकुन के मत में अहं—

यद्यपि शकुन ने सामाजिक में रस प्रतीति सम्पादन करने का अच्छा प्रयत्न किया है, परन्तु उस रस प्रतीति को अनुमेय बनाकर अनुमान द्वारा रस निष्पत्ति उपपादन किया है, जब कि सामाजिक को रस का साक्षात्कार होता है और अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। साक्षात्कारात्मक नहीं।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्ट नायक ने रस की व्याख्या में सबसे पहले दशक या सामाजिक के महत्त्व को स्वीकार किया है। इनका कहना है कि रस की निष्पत्ति न तो अनुकार्य रामादि में होती है और न अनुकर्ता नट्यादि में ही होती है। ये दोनों अनुकार्य और अनुकर्ता तटस्थ हैं। अतः इसमें रसानुभूति नहीं हो सकती। ये रस की न तो उत्पत्ति मानते हैं, न उसकी प्रतीति मानते हैं और न उसकी व्यक्ति। ये रस को भुक्ति का विषय मानते हैं। रस है भोग्य और विभावादि हैं भोजक अतः रस और विभावादि का परस्पर भोग्य भोजक भाव सम्बन्ध है। भट्ट नायक काव्य में अभिधा व्यापार के अतिरिक्त दो अन्य नये व्यापारों की कल्पना करते हैं। इनके नाम हैं—भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार।

काव्य में अभिधा के द्वारा शब्द से अर्थ की उपस्थिति होती है। इसके बाद भावकत्व व्यापार द्वारा उन विभावादि अर्थों का साधारणीकरण हो जाता है। अर्थात्—नाटकस्थ या काव्यस्थ प्रतिपाद्य विषयीभूत पात्र का व्यक्तिगत उसका विशेष सम्बन्धों का परिस्थान हो जाता है। इस भावकत्व व्यापार के बल से रङ्गमञ्च में शकुन्तलादि पात्र अपने व्यक्ति विशेष्याश का परिहार कर सामान्य नायिकात्वेन रूप सामाजिक को दृष्टि में उपस्थित होते हैं, यही

विभावादि का साधारणीकरण है। यहाँ ध्वनि अपने स्व के सम्बन्ध विरोध से परिच्छिन्न न होकर “वसुधैव कुटुम्बकम्” जैसे अपरिमित भाव से सवलित हो जाता है। फिर वहाँ स्व पर की कोई परिधि नहीं होती है। एक तरह से यह साधारणीकरण व्यापार साहित्यशास्त्र में ध्वनि के अन्त करण का उदात्तीकरण व्यापार है। जहाँ चित्त रागद्वेषोपेक्षादि परिमित प्रपञ्च से ऊपर रहता है। यह सब कार्य है भावस्त्व या साधारणीकरण व्यापार का जिसके ध्वन से हनुमानादि राम मेवकों को समुद्र लङ्घनादि जैसा अपरिमित उत्साह हुआ।

बहने का तात्पर्य यह है कि पात्र का यहाँ परिमित भाव विगलित होकर सामान्य अपरिमित भाव का उदय हो जाता है।

तदनन्तर भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक या सामाजिक रस का भोग करता है। इस अवस्था में प्रमाना के अन्त करण में स्थिर रजोगुण व तमोगुण सत्त्व—सत्त्व गुण की अधिकता के कारण दब जाते हैं। सत्त्व के समुद्रिक के कारणचित्त निर्मल हो जाता, माध हो माध उसमें चैतन्य का भी प्रतिफलन होना है। यद्यपि ये भाव रथादि चित्त में ही हैं चैतन्य में उनका सम्बन्ध नहीं है, पर चिच्छायापत्ति से वहाँ चित्त व चैतन्य की एकरूपता मालूम पड़ती है। उस रति का भोग तो बुद्धि या अन्त करण अथवा चित्त में होने पर भी “बुद्धेर्भोग इवात्मनि” के अनुसार आत्मा में भोग का आरोप किया जाता है। अतः भट्ट नायक का यह मुक्तिवाद साख्य मिद्वान्त के अनुसार है। इस दर्शन के अनुसार सुख दुःख वस्तु अन्त करण के धर्म हैं न कि आत्मा के। पुरुष आत्मा में तो उनकी औपाधिक प्रतीति होती है।

इस भट्ट नायक के मत के अनुसार सूत्र में आये हुए सयोग शब्द का अर्थ भोज्य-भोजक या भाव्य-भावक-भाव सम्बन्ध है तथा निष्पत्ति शब्द का अर्थ मुक्ति है।

भट्टनायक के मत में अहत्ति—

यद्यपि भावकत्व व भोजकत्व व्यापार की कल्पना कर भट्टनायक ने रस सिद्धान्त को समझाने का एक स्तुत्य प्रयास किया है, और भावकत्व व्यापार की नई उद्भावना से साहित्य शास्त्र की बहुत सी मङ्गीर्णताओं को दूर करने का सफल प्रयास किया है, और साधारणीकरण की इस प्रक्रिया की प्रतिष्ठा करके अपने मनोवैज्ञानिक परिशीलन का परिचय भी दिया है। भावी आलकारिकों ने जिसका यथेच्छ उपयोग भी किया है, परन्तु जो दो नये भावकत्व व भोजकत्व नामक व्यापारों की कल्पना की है, इस पर अधिक विद्वानों की सम्मति नहीं रही।

अभिधगुप्त का व्यक्तिवाद—

साहित्य शास्त्र में अधिनवगुप्त ध्वनिवादी आचार्य हैं। वे आनन्दवर्धन के ध्वनि तत्त्व के व्याख्याता हैं और भरत मुनि के रमनत्त्व के भी व्याख्याता हैं, रस ध्वनि के प्रभेदों में अन्यतम प्रभेद है।

यह अभिधा का विषय नहीं है, और न लक्षणा से ही लक्षित है अपि तु व्यञ्जना शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होना है। इस प्रकार रस तथा विभावादिको में परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव है।

अभिनवगुप्त का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति में श्रोता या वक्ता में राग, द्वेष, शोक, क्रोध आदि भाव विद्यमान रहते हैं। ये भाव अपनी उपयुक्त गामभी को पाकर प्रबुद्ध हो जाते हैं। अन्यथा चित्त शय्या में प्रसुप्त ही रहते हैं। प्रति दिन के सघर्ष में इनका सूक्ष्म संस्कार अन्तःकरण में घर कर लेता है। यही वासना रूप में हृदय में स्थिर हो जाते हैं। इन्हीं को स्थायी भाव भी कहते हैं। यही वासना जिसमें परिपूर्ण है वही रस का अनुभव करता है। तत्तत् भावनाओं तत्तत् उदबोधक सामग्री की सहायता से अपना उपचय करती हैं। इन्हीं भावनाओं के उन्मीलन व विकसन का क्रम यदि काव्य व नाट्य में वर्णन किया जाता है तो वे कुछ अलौकिक आनन्द को प्रदान करते हैं। काव्य में इस उत्पादक गामभी का वर्णन कार्य-कारण सहकारी कारण न होकर विभाव अनुभाव व मञ्चारी भाव के नाम किया जाता है। यही विभावादि उक्त वासनारूप में स्थिर स्थायी की अभिव्यक्ति करने हैं। और व्यञ्जना व्यापार के द्वारा इन विभावादिको का साधारणीकरण तथा रस्यारस्यो का रसरूप में अभिव्यजन होना है। रसाभिव्यक्ति की दशा में सभी वस्तुओं का साधारणीकरण हो जाता है और सामाजिक भी अपने को सामान्य रूप में ही पाता है। वह रस को केवल अपने स्व व्यक्तित्व तक न मानकर सभी सामाजिकों को रस का अनुभवकर्ता मानता है। यह आनन्द सामान्य लौकिक आनन्द में विलक्षण ब्रह्मानन्द सहोदर है। यही रस के अलौकिकत्व का रहस्य है कि अन्य आनन्द जो कि अपने कारण पर निर्भर रहते हैं वे सुख दुःखादि के भी जनक होते हैं, पर यह तो दुःख कारणों में समुत्पन्न दुःख भी सुख ही अनुभूति करता है। जैसे शोक बुद्धि या भय म्यादिभावों में अभिव्यक्त करण रोद या भयानक प्रमाता को आनन्दानुभूति ही करना है। इसीलिए कहा है "रसो वै स । रस ह्येव लब्ध्वाऽयमानन्वी भवति"।

रस की अलौकिकता —

अभिनवगुप्त ने रस को "अलौकिक" कहा है, अर्थात् वह अन्य वस्तुओं से भिन्न है, मम्मट ने अपने शब्दों में इसे इस प्रकार कहा है—लोक में पायी जाने वाली अनित्य वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं एक कार्य रूप और दूसरी ज्ञाप्य-रूप। घट-पट आदि पदार्थ कार्य-रूप हैं। ये किसी कारण से उत्पन्न होते हैं इसीलिए कार्य हैं। और इनका जनक कारण "कारक" कहलाता है, दूसरे प्रकार के विषय ज्ञान के विषय या ज्ञाप्य होते हैं। जैसे शीतल के प्रकाश में

घट का ज्ञान होता है, इसलिए दोषरु के द्वारा घट ज्ञाप्य है, पूर्व सिद्ध पदार्थ का जब किसी साधन के द्वारा ज्ञान होता है तो वह ज्ञाप्य कहा जाता है। जो पूर्व सिद्ध नहीं है कारण व्यापार से निष्पन्न होता है वह कार्य कहलाता है। मगार के मारे पदार्थ इन्हीं दो वर्गों में (कार्य और ज्ञाप्य) आते हैं। परन्तु रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य ही। कार्य इसलिए नहीं है कि कार्य तो निमित्त नाश होने पर भी बना ही रहना है जैसे घटादि कार्य निमित्त कारण कुम्हार के मर जाने पर भी बने रहते हैं पर रस तो अपने निमित्त विभावादि अवधि तक है। अतः कार्य नहीं है। रस ज्ञाप्य इसलिए नहीं है कि वह पूर्वसिद्ध नहीं है। अनुभव में पूर्व रस की सत्ता नहीं है अपितु अनुभव काल में ही व्यजना व्यापार द्वारा वह अभिव्यक्त होने वाला है। इन दोनों वर्गों में न आने में रस लोक विलक्षण ही कोई आनन्द है।

गुणश्च यह वेदान्तर मयं शून्य है—अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष के जितने प्रकार हैं उन मयमें विलक्षण अलौकिक साक्षात्कारात्मक या अलौकिक-अपरोक्षानुभूति स्वरूप रस है। अस्मदादि का साक्षात्कारात्मकज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा ही होता है और मितयोगी-सविकल्पक समाधि में स्थित युञ्जानपदवाच्य का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना भी केवल योगज सामर्थ्य से भी ही जाना है, तीसरे परिमितेतर योगी-परिपक्व-निर्विकल्पसमाधि में स्थित योगी का ज्ञान, वेदान्तर के स्पर्श से रहित केवल आत्मानुभूति मात्र होता है, रस की अनुभूति इन तीन प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण है। वह न तो अस्मदादि के प्रत्यक्ष के समान, प्रत्यक्ष प्रमाणों से उत्पन्न होती है, न प्रमाणनाश्य वाले मितयोगी के ज्ञान का विषय है, और न निर्विकल्प समाधि में स्थित योगियों की वेदान्तर स्पर्श रहित आत्मानुभूति ही है, इस प्रकार इन तीनों प्रकार की अनुभूति से विलक्षण होने के कारण वह अलौकिक ही है, और इसलिए भी वह अलौकिक है कि उसका ग्रहण न सविकल्पक ज्ञान से हो सकता है, और न निर्विकल्पक ज्ञान से, क्योंकि रस की प्रतीति में विभावादिके परामर्श की प्रधानता होने से निर्विकल्पक-ज्ञान उसका ग्राहक नहीं हो सकता है, और आस्वाद्यमान अलौकिक आनन्दमय रस के स्व सवेदन सिद्ध होने से सविकल्पक-ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता है तथा उभयाभावस्वरूप का (अर्थात् निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों से भिन्न उस रस का) उभयात्मकत्व भी पहले के समान लोकोत्तरता को ही बोधित करता है, यही श्रीमान् महामाहेश्वर अभिनव गुप्त पदाचार्य का मत है।

विभावादि की सम्मिलित रूप से कारणता व्याघ्रादि विभाव, भयानक रस के समान वीर अद्भुत तथा रौद्र रस के प्रति भी हो सकते हैं, अध्वान

आदि अनुभाव शृङ्गार के समान कर्ण तथा भयानक रस के भी हो सकते हैं, विन्ना आदि व्यभिचारी भाव शृङ्गार के समान वीर कर्ण तथा भयानक रस के भी हो सकते हैं। इसलिए उनके अलग-अलग अनैकान्तिक होने से (अर्थात् किसी एक ही रस के साथ निश्चित न होने से) सूत्र में उनको सम्मिलित रूप से निर्दिष्ट किया गया है।

विभावादि के मध्य में तीनों में से एक या दो के अनुक्त होने पर भी आक्षेप द्वारा उनका बोध—जैसे—“विषदलिमलिनाम्बु गभ भेघम्” इत्यादि में दयिता रूप आसम्बन व वर्षाकाल उद्दीपन विभाव मात्र का वर्णन है।

“परिमुदित भृगालीम्लानमङ्ग प्रवृत्ति”

इत्यादि में मालती के अङ्गम्लानि पाण्डुता आदि केवल अनुभावों का वर्णन है और ‘दूरादुत्सुकमागते विपलित सन्भाषिणि स्फारितम्’ इत्यादि में केवल औष्ण्य आदि व्यभिचारीभावों का ही वर्णन किया गया है फिर भी इनके प्रकृत रस के बोध में अज्ञापारण ज्ञापक होने से, दोष दो का आक्षेप हो जाता है अतः तीनों के सम्मिलित रूप से रस निष्पत्ति-सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता है।

रसों के भेद—

शृङ्गार हास्य कर्ण-रोद्र वीर भयानका ।

धीमत्साद्भुत सती चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः ॥२२॥

(१) शृङ्गार (२) हास्य (३) कर्ण (४) रोद्र (५) वीर (६) भयानक (७) वीरम और (८) अद्भुत ये आठ रस नाट्य में माने जाते हैं।

भाव के भेद—

भाव दो प्रकार के होते हैं एक वे हैं जो स्थिर रहने की योग्यता रखते हैं, ये स्थायीभाव कहलाते हैं।

दूसरे वे हैं जो कई क्षणों तक ही स्थिर रहते हैं। इसी अस्थायित्वा के कारण इन्हें संचारी भाव या व्यभिचारीभाव कहते हैं, संचारी भावों की संख्या ३३ है परन्तु स्थायी भावों के विषय में बड़ा मतभेद है।

अभिनवगुप्त व मम्मट इनकी संख्या तो ही मानते हैं वीर इनसे उत्पन्न होने वाले रसों की संख्या भी तो ही मानते हैं।

स्थायीभाव	रस	वर्ण	देवता
(१) रति	शृङ्गार	श्याम	विष्णु
(२) हास	हास्य	श्वेत	ब्रह्म
(३) शोक	करुण	कपोत	शिव
(४) क्रोध	रोद्र	रक्त	रुद्र
(५) उत्साह	वीर	हेम	महेन्द्र
(६) भय	भयानक	कृष्ण	भूत
(७) शृगुप्ता	वीरम	शैल	महाकाल
(८) विस्मय	अद्भुत	पीत	गन्धर्व
(९) व्रम	शान्त	इन्दुवर्ण	नारायण

आगे चलकर स्थायी भावों की तथा रसों की सख्या बढ़नी गई। विद्वनाथ कविराज ने “वात्सल्य भाव” तथा “वात्सल्यरस” की प्रतिष्ठा की, तथा रूपगोस्वामी ने माधुर्यरस (भक्तिरस) नामक एक नवीन रस की प्रतिष्ठा की, इनका विस्तृत विवेचन इन्होंने अपने प्रतिष्ठित ग्रन्थ “उज्ज्वलनीलमणि” में किया।

इस भक्तिरस का भी स्थायीभाव रति ही है, परन्तु अन्तर इतना है कि यहाँ दिव्या कृष्णविषयक रति ही भक्तिरस के लिए स्थायीभाव मानो गई है।

शान्त रस के विषय में भी मतभेद है। धनञ्जय भाटक ने शान्त रस की स्थिति नहीं मानते हैं।

व्यभिचारी भाव या सूच्यारी भाव ३ हैं—

(१) निर्वेद (२) ग्लानि (३) शका (४) श्रम (५) घृति (६) उदर (७) हृष्य (८) दैन्य (९) उग्रता (१०) चिन्ता (११) त्रास (१२) ईर्ष्या (१३) अमर्ष (१४) गर्व (१५) स्मृति (१६) मरण (१७) मव (१८) मुग्ध (१९) निद्रा (२०) बिबोध (२१) शौडा (२२) अपलाप (२३) मोह (२४) मति (२५) आलस्य (२६) आवेग (२७) वितर्क (२८) अवहित्या (२९) व्याधि (३०) उन्माद (३१) विषाद (३२) औत्सुक्य (३३) चापल इत्यादि हैं।

शृङ्गार रस और उसके भेद—

इन रसों में सर्वप्रथम शृङ्गार रस है।

(१) स्थायी भाव—रति (नायक तथा नायिका का अनुराग)

- (२) आलम्बन विभाव—परस्पर एक दूसरे के ।
- (३) उद्दीपन विभाव—चन्द्र-चाँदनी, उद्यानादि ।
- (४) अनुभाव—अनुरागपूर्व चेष्टा में परस्परावलाकनादि ।
- (५) व्यभिचारी भाव—हृषं, चि ना, मद, उत्कण्ठादि ।

शृङ्गार के मुख्य दो भेद होते हैं—

(१) सम्भोग शृ गार तथा (२) विप्रलम्भ शृ गार ।

एक दूसरे में अनुरक्त नायक नायिका का परस्पर मिलन युक्त शृ गार सम्भोग शृ गार है—

उदाहरण—

शून्य वासगृह विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिर निर्वर्ण्यं पर्युमुखम् ।
विश्रम्य परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
सज्जा नम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिर चुम्बिता ॥१॥

नायक यहाँ आलम्बन विभाव है, शून्यवासगृह उद्दीपन विभाव है, मुम निर्वर्णन चुम्बनादि अनुभाव है, सज्जा, हाम तथा उसस व्यङ्ग्य हृषादि व्यभिचारी भाव है । इनमें अभिव्यक्त रति की चक्रा हो शृ गार रस है ।

विप्रलम्भ शृ गार—

विप्रलम्भ शृ गार उस कहते हैं, जहाँ उत्कट अनुराग होने पर भी प्रिय समागम न हो सके—

यह क्षमिताप, विरह, ईर्ष्या, प्रवाम, शाप हेतुशोक भेद स पाच प्रकार का होता है ।

माहित्य दर्पणकार आदि कुछ आचार्यों ने इसे चार ही प्रकार का माना है—

पूर्वानुराग मानाद्य प्रवास वरुणात्मना ।

विप्रलम्भाभिधानोऽयं शृ गार स्याच्चतुर्विधः ॥

पूर्वानुराग, मान, प्रवास, वरुणविप्रलम्भ क भेद से यह चार ही प्रकार का माना है ।

विप्रलम्भ सामान्य का उदाहरण—

त्वामालिख्य प्रणयकुपिता घातुरागं तिलापाम्,
मात्मान ते चरणपतित यावदिच्छामि वर्तुम् ।

अत्रं स्तावन्मुहुरूपजितं दृष्टिरालुप्यते मे,
भूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गम नो कृतांत ॥२॥

यह पद्य महाकवि कालिदास के मेघदूत का है। प्रिया को उद्देश्य कर वियोगी यक्ष का विलाप इस प्रकार है—

पत्थर की शिला पर गते आदि धातु के रङ्गों से तुम्हारा चित्र बनाकर, मैं जब तक चित्र में अपने को तुम्हारे चरणों में गिराना चाहता हूँ, तब तक आँसू बढकर मेरी दृष्टि को आच्छादित कर देते हैं। और मैं उस चित्र को पूरा नहीं कर पाना हूँ, निष्कुर दैव उस चित्र में भी हमारे सङ्गम को सहन नहीं करता है, यहाँ नायिका बालम्बन है, उसका प्रणय कोप उद्दीपन है, चरणपातादि अनुभाव हैं। कृतान्त विषयक अनुभावि सञ्चारी भाव है, इससे अभिव्यक्त विप्रतम्भ रति की चर्चणा ही विप्रतम्भ शृंकार है।

(२) हास्य रस—

विकृत आकार, वेप, चेष्टादिव्यवहार के वर्णन से हास्य रस होता है।

(१) स्थायी भाव—हास

(२) आलम्बन विभाव—विकृत वेप या विकृत चेष्टायुक्त व्यक्ति

(३) उद्दीपन विभाव—अनुपयुक्त वचन, वेपविन्यासादि

अनुभाव—मृग क्रीडना, बाल्यां का मीचनता आदि

व्यभिचारी भाव—विद्रो, आलस्य, चणलतादि

उदाहरण—

सौप्त पर गया हसं भुजति भुजगा हसं,

हास ही को दगा भयो मगा के विवाह मे ॥

पराकर कविकृत इस पद्य में महादेव जी के विवाह का प्रसङ्ग है, यहाँ महादेवजी आलम्बन हैं, नगास्य उद्दीपन है, लोगों का झोंटपोंट कर हँसाना अनुभाव है, उत्सुकता वचनता आदि सञ्चारी भाव हैं, इससे अभिव्यक्त हास्य स्थायी भाव है।

(३) करुण रस—

(१) स्थायी भाव—शोक

(२) आलम्बन विभाव—कोई मृत व्यक्ति या दीनहीन व्यक्ति,

(३) उद्दीपन विभाव—मृतव्यक्ति के दाहविवाहादि,

(४) अनुभाव—भाव्य की कोसना, रोना इत्यादि;

(५) सञ्चारी भाव—निर्बन्ध, मोह, विषादादि।

उदाहरण—

विपिने क्व जटा निबन्धन तव चेद क्व मनोहर वपु ।

धनयोर्घटना विधे स्फुट ननु छडगेन शिरोपकतनम् ॥३॥

वनवास के लिए उद्यत हुए राम के प्रति दशरथ की यह उक्ति है, यहाँ राम आलम्बन हैं, उनका वनगमनादि उद्दीपन है, दैवनिन्दा अनुभाव है, प्लानि-विपादादि सञ्चारी भाव हैं, इनमें अभिव्यक्त शोक स्थायीभाव की चर्चणा करण है ।

(४) रौद्र रस—

(१) स्थायी भाव—क्रोध ।

(२) आलम्बन विभाव—अपकारी व्यक्ति या शत्रु

(३) उद्दीपन विभाव—मत्सर या शत्रु कृत अपकारादि ।

(४) अनुभाव—डोंगें मारना, शस्त्र चमकाना आदि ।

(५) व्यभिचारी भाव—अमर्ष, मद, उग्रता आदि ।

उदाहरण—

“कृतमनुभूत दृष्ट वा येरिद गुरुपातकम्” इत्यादि—

द्रोणाचार्य का निघन सुनकर अश्वत्थामा की अर्जुनादिया के प्रति यह उक्ति है । यहाँ अपकारी अर्जुनादि आलम्बन हैं, पित्रुवधादि उद्दीपन हैं, प्रतिज्ञा अनुभाव है गर्वादि सञ्चारी भाव है, इनमें अभिव्यक्त क्रोध स्थायी भाव है ।

(५) वीर रस—

(१) स्थायी भाव—उत्साह

(२) आलम्बन विभाव—शत्रु जिम पर अधिकार प्राप्त करना है ।

(३) उद्दीपन विभाव—शत्रु का प्रताप, शौर्य आदि ।

(४) अनुभाव—हथियारों का चलाना, नेत्रों का लाल होना इत्यादि ।

(५) सञ्चारी भाव—मति, गर्व, धृति इत्यादि ।

इनमें अभिव्यक्त उत्साह स्थायी की चर्चणा ही वीर रस है ।

उदाहरण—

क्षुद्रा सत्रासमेने विजहत हरय क्षुण्णशक्नेमकुम्भा ।

युष्मद्देहेषु लज्जा दधति परमसो सायका निष्पतन्त ॥

सौमिन्ने । तिष्ठ पात्र त्वमसि नहि रूपा नन्वह मेघनाद ।

किञ्चिद्भ्रू भङ्गतीलानियमितजलार्थि राममन्वेषयामि ॥१॥

यह पद्य हनुमन्नाटक का है, लड्डू के फुट्ट के समय मेघनाद की यह उक्ति है।

यहाँ प्रतिपक्षी राम घातम्बत है, किञ्चित् भूमङ्ग की ही चीला में समुद्र बन्धन कर देना उद्दीपन है, दुद्रावतरो की उपेक्षा और प्रतापशायी राम का अन्वेषण अनुभाव है। ऐरावत हाथों के गण्डस्थल को भेदन करने वाले नाणों का वानरो के शरीर में गिरने से लज्जा का अनुभव करना इसमें अभिव्यक्त गर्व सञ्चारी भाव है, राम में लड्डू का उल्हास श्यामी में वीर रस की अभिव्यक्ति हो रही है।

(६) भयानक रस—

- (१) श्यामी भाव—भय।
- (२) घातम्बत—घेर आदि भयानक जन्तु या वस्तु विशेष।
- (३) उद्दीपन—भयानक वस्तु या जन्तु की चेष्टादि।
- (४) अनुभाव—उत्पत्तादि विकर्तव्यविमूढ हो जाना।
- (५) सञ्चारी भाव—ईर्ष्य, सगम, सम्मोह, आत्तादि।

उदाहरण—

श्रीवामङ्गाभिराम मुहुरनुपनति स्यन्दने दत्तदृष्टि ।
 पश्चाद्येन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम् ।
 दभैरर्षयित्वाहै श्रमविवृतमुत्तम्रयिभि कीर्णवर्मा ।
 पशोवप्रप्नुस्तप्साद् म्रियति बहुतर स्तोत्रमुष्पी प्रयाति ॥६॥

यह पद्य अभिज्ञान साकुन्तल का है—राजा दुग्धन्त के रथ में भयभीत आश्रम की ओर भागने हुए मृग का वर्णन है—यहाँ पीछा करने वाला राजा या रथ, आतम्बत है, बाण लगने का भय या और अनुसरण उद्दीपन है, गर्दन मोड़ कर भागना आदि अनुभाव, और शय-शय आदि व्यभिचारी भाव हैं, इनमें अभिव्यक्त भयश्यामी भयानक रस सायाजिबों के चर्वणा का विषय है।

(७) शोभता रस—

- (१) श्यामी भाव—जुगुप्सा
- (२) आतम्बत—दुर्ग-प्रमय भासादि।
- (३) उद्दीपन—भासादि मटना, उनमें दुर्गन्ध का आका आदि
- (४) अनुभाव—नाक भौं मिरोटना आदि
- (५) सञ्चारी भाव—धावेग, व्याधि, मोहदि

उदाहरण—

“उत्तृप्त्योन्मृत्प कृति प्रथममय प्यूस्तोद्यमूपाति सातनि” इत्यादि

यह पद्य मालती माधव नाटक का है, इसमें दमशान का वर्णन है। दमशान में किसी प्रेत को मास भक्षण में लगे हुए देखकर उसकी वीभत्स चेष्टाओं का वर्णन माधव कर रहा है—यहा दरिद्र प्रेत आलम्बन है, मास नोचना, खाना आदि उद्दीपन है, इस चेष्टा को देखते वाले का ताक भी मिचोडना, धूकता आदि अनुभाव हैं, उद्दोगादि सञ्चारी भाव हैं। जुगुप्सा स्थायी भाव है, इससे सामाजिक में जुगुप्सा प्रकृतिक वीभत्सरम अभिव्यक्त होता है।

(८) अद्भुत रस—

(१) स्थायी भाव—विस्मय।

(२) आलम्बन—कोई अलौकिक या आश्चर्य उत्पन्न करने वाला पदार्थ

(३) उद्दीपन—अलौकिक वस्तु का दर्शन, श्रवण या स्पर्शन।

(४) अनुभाव—प्रशंसा करना, गद्गद् हो जाना।

(५) सञ्चारी भाव—हर्ष, आवेग, घृति।

उदाहरण—

चित्र महानेप वतावतार इध कान्तिरेपाऽभिनवैव भङ्ग ।

लोकोत्तर धर्ममहो प्रभाव, काऽप्याकृतिर्नूतन एव सार्ग ॥८॥

वामनावतार को दशमर राजा बलि की यह उक्ति है—यहा चित्र शब्द लोकोत्तर वाचक है, इसलिए स्वशब्द वाच्यता दोष नहीं है। वामन आलम्बन है, कान्ति तथा गुणों का अनिश्चय उद्दीपन है। स्तुति आदि अनुभाव हैं, मति, घृति, हर्षादि भाव सञ्चारी हैं, इनमें अभिव्यक्त विस्मय स्थायिक अद्भुत रस है।

(९) शान्त रस—

(१) स्थायी भाव—“शम” (चित्त का शान्त होना) या “निर्वेद”

(सत्सार के प्रति वैराग्य)

(२) आलम्बन—परमात्मा का चिन्तन या जगत के मिथ्यात्व का ज्ञान।

(३) उद्दीपन—मम्मङ्ग, पुण्याश्रम, तीर्थेश्वरनादि का दर्शन

(४) अनुभाव—रोमाञ्चित या गद्गद् हो जाना,

(५) सञ्चारी भाव—मति, हर्ष, स्मृति आदि।

उदाहरण—

अहोवा हारे वा कुसुमशयने वा हृषदि वा ।

मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपो वा सुहृदि वा ॥

वृषे वा स्वर्णे वा मम समवृशो यान्ति दिवसा ।

वचिन्त् पुण्यारण्ये शिव शिष्य शिवेति प्रत्यत ॥९॥

किभी भगवद्भक्त का अपनी जीवन चर्या का यह वर्णन है—साप और मुक्ताहार में, फूलों की सेज और पत्थर की शिला में, मणि तथा डहेले में, बलवान शत्रु तथा मित्र में, तिनके में अथवा स्त्रियों के समूह में, यमान बुद्धि रखने वाले भेरे दिन किसी पवित्र तपोवन में शिव शिव जपते हुए ध्यनीत होते हैं। यहा मिथ्याप्रतीति होने वाला जगत्-आलम्बन है, तपोवनादि उद्दीपन हैं, सर्प व हारादि में समभाव अनुभाव हैं, धृति, प्रबोध मति, हर्षादि व्यभिचारी भाव हैं, इनसे अभिव्यक्त निर्वेद म्यायी भाव से सामाजिक में शान्त रस की अनुभूति होती है।

आचार्य मम्मट के शब्दों में—

“निर्वेद स्यापिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस” । इस प्रकार है।

शान्त रस के विषय में आचार्यों की भिन्न भिन्न धारणायें हैं। धनञ्जय ने अपने दशरूपक में तथा घनिक ने उसकी टीका में शान्त रस के विरुद्ध अनेक मतों का उल्लेख किया है।

(१) शान्त रस प्रस्थान विरुद्ध है।

साहित्य सत्तार में भरत मुनि के ही वचन प्रमाण माने जाने हैं, उन्होंने शान्त रस का विशेष विवेचन नहीं किया है, अत एव भरत द्वारा विशेष अनुभव न होने में शान्त रस नहीं है।

(२) शम का व्यवहारिक क्षेत्र में अभाव—

हमारे आचार्य शम म्यायिक शान्त की सत्ता ही नहीं मानते हैं। प्रथम मन में शम की केवल काव्य और नाटक में मान्यता स्वीकार नहीं है, परन्तु द्वितीय मत ने तो व्यवहारिक क्षेत्र में भी उसकी मान्यता स्वीकार नहीं की। क्योंकि रागद्वेष का प्रवाह मनुष्यों में अनादिकाल से चला आता है, जिसका संबंध नाश असम्भव है, ऐसी स्थिति में शान्त रस का उदय ही कैसे हो सकता है।

(३) वृत्तीयमत—अन्तर्भाववाद—

इस मत के आचार्य चित्त की शमप्रधान वृत्ति को तो अवश्य मानते हैं, परन्तु इसका अन्तर्भाव बीरादि रसों में कर बेते हैं। शमप्रधान चित्त में परम तत्त्व को पाने के लिए जो प्रयत्न होता है, वह उत्साहमय होने से शान्तरस बीर में ही अन्तर्निविष्ट किया जा सकता है। जब इसमें सत्तार के विषयो में जुगुप्सा तथा घृणा का भाव प्रबल रहता है, तब इसका अन्तर्भाव बीररस रस के भीतर हो जाता है, यह मत व्यवहार में शम का अपलाप तो नहीं करता परन्तु तज्जन्य शान्तरस को स्वतन्त्र नहीं मानता है।

(४) चतुर्थ मत—नाटक में शान्त रस का निषेध—

इस मत के अनुसार शान्त रस की स्थिति अवश्य है। परन्तु इनका प्रयोग नाटक में नहीं हो सकता व्यापार के विराम होने पर शान्त रस होता है। शान्त रस वही होता है। नहा दुःख भी नहीं है, सुख भी नहीं है न द्वेष है, और न चिन्ता, न राग—

न यत्र दुःख न सुख न चिन्ता,
न द्वेषरागो न च काचिद्विच्छा ।
रस स शान्त फयितो मुनीन्द्रं,
सर्वेषु भावेषु शमप्रधान ॥

यह स्थिति तो मोक्षावस्था में ही सम्भव है। नाटक में तो अभिनय होने से व्यापार की ही प्रधानता है। सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि मनोभावों का प्रदर्शन नाटक में अभीष्ट है। ऐसी दशा में तो शान्तरस का अभिनय होना ही मुश्किल है।

शान्तरस अनिर्वचनीय होना है। अतः रसिकों के आस्वाद के योग्य न होने से, शान्तरस का प्रयोग नाटक में नहीं हो सकता यह दशरूपकार का मत है।

(५) पञ्चम मत—(शान्त रस की सार्वत्रिक स्थिति)—

अभिनव गुप्त का मत है कि शान्त रस काव्य में तथा नाटक में दोनों में रहता है। पर इसका स्थायी भाव के विषय में मतभेद है शान्तरस की सत्ता के विषय में मतभेद नहीं है बल्कि अभिनव गुप्त का मत में तो शान्त रस ही सर्वश्रेष्ठ रस है। यही प्रकृति रस है, शृंगारादि तो इसकी नाना विकृतियाँ हैं कश्मीर के शैवाचार्य अभिनव गुप्त का शान्त रस का प्राधान्य बोधक यह मत उनका दार्शनिक दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल ही है।

(१०) वात्सल्य रस—

विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "साहित्यदर्पण" में इने एक स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है हिन्दी साहित्यिकों में भुनसी और सूरदास ने इस रस की कविताओं की रचना कर हिन्दी साहित्य को उज्जवल किया है।

इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) स्थायी भाव—अपने से छोटी में जो प्रेम किया जाता है जैसे—
भाई-बहिन पुत्र-कन्या शिष्यादि में उसे "वात्सल्य" कहते हैं। यही स्थायी है।

- (२) झालम्बन—भाई-बहिन-पुत्र-कन्या आदि ।
- (३) उद्दीपन—तोतली बोली आदि उनकी ललित क्रीडादि ।
- (४) अनुभाव—आलिङ्गन, चूमनादि ।
- (५) सञ्चारी भाव—हर्ष, गर्व, उत्सुकता इत्यादि ।

उदाहरण—

यदाह धात्र्या प्रयतोदित वचो यथो तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।

अभूच्च नम्र प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान्न सोऽर्भक ॥१०॥

रघुवश मे रघु के शिशुवचस्या का यह वर्णन है—यहाँ बालक रघु झालम्बन है, धाई के अनुसार तोतली भाषा मे उसकी उक्ति उद्दीपन है । आलिङ्गन चुम्बनादि अनुभाव हैं । हर्षादि सञ्चारीभाव है । इनसे अभिव्यक्त दिलीपनिष्ठ वात्सल्य सामाजिकों के चर्चणा का विषय है ।

(११) भक्ति रस—

भक्ति रस के विषय मे आचार्यों मे बडा मत भेद है । प्राचीन आचार्य इसे देवता विषयक रति मानकर केवल भाव कोटि मे ही इसका अन्तर्भाव कर देते हैं ।

परन्तु गोडीय वैष्णवों ने इसे रस ही नहीं माना बल्कि सर्वश्रेष्ठ आदि रस माना है । श्रीरूप गोस्वामी के “भक्तिरसामृतसिन्धु” तथा “उद्भवत्तनीतमणि” ग्रन्थ इस विषय के सबसे श्रेष्ठ बोधक तथा परिचायक ग्रन्थ हैं ।

(१) स्थायी भाव—श्री कृष्ण विषयक रति ।

अन्य देव विषयक रति तो केवल भाव ही होती है, परन्तु श्रीकृष्ण तो साक्षात् परमात्मा ही हैं । “कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्” अतः परमात्मस्वरूप कृष्ण विषयक रति, देवविषयक रति से भिन्न पदार्थ है । वही यहाँ स्थायी भाव है ।

- (२) झालम्बन—श्रीकृष्ण रामादि
- (३) उद्दीपन—भक्तो समागम, तीर्थसेवनादि
- (४) अनुभाव—भगवान् के नाम व लीलाओं का नीर्तनादि ।
- (५) सञ्चारी भाव—मति, हर्ष, वितर्क, आदि ।

उदाहरण—

गणिकाऽजामिल मुह्यानन्दता भवता वताऽहम् ।

सीदन् भवमरुगतं करुणा मूर्ते न सर्वथोपेक्ष्य ॥११॥

अथवा

व्याध हँ ते वेहद असाधु हो अजमिल लौं ।

ब्राह्म ते गुमाही कैसे तिनप्रौं गिनाओगे

•कैसे अपनाओगे, इत्यादि ।

यहाँ कवि या भक्त भगवान् के सामने अपने अपराधों को स्वीकार करता है और क्षमा की याचना के अभिप्राय में विनती कर रहा है । भगवान् आलम्बन विभाव हैं तथा भगवद् विषयक रति स्थायीभाव है, पूर्णभक्ति चर्चणा का विषय है ।

मूल रस—

इस प्रकार रसों की सख्या आठ से लेकर ग्यारह तक पहुँच चुकी है । किन्तु इनमें भी अनेक आचार्यों ने प्रधानता तथा अप्रधानता की दृष्टि से अलग अलग मूल रसों की कल्पना की है । स्वयं भरत मुनि ने आठ रसों का मूल शृङ्गार, रोद्र, वीर तथा वीभत्स इन चार रसों को माना है । इन चारों को प्रधान मानकर शेष रसों की उत्पत्ति भी इन्हीं से मानी है—

शृङ्गारवि भवेदहास्यो रोद्राच्च करणो रस ।

वीराच्चैवाद्भुतोऽपि वीभत्साच्च भयानक ॥१॥

एकरसवाद—

इसके अतिरिक्त अपनी अपनी दृष्टि से किसी एक रस को मूल रस मानने की प्रवृत्ति भी साहित्य शास्त्र में पायी जाती है ।

इस विषय में निम्नलिखित मनो का उल्लेख किया जा सकता है ।

(१) महाकवि भवभूति ने कर्णरम को ही एक मात्र रस मानकर अन्य रसों को उसी का विवर्त माना है ।

एको रस कर्ण एव निमित्तमेवाद् ।

मित्र पृथक् पृथगिवाभयते विवर्तन् ।

आवर्त-बुद्बुद् तरङ्गमयान् विकारान् ।

अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥२॥

(२) भोजराज ने अपने "शृङ्गारप्रकाश" नामक ग्रन्थ में शृङ्गार रस को ही एकमात्र मूल रस बतलाते हुए लिखा है—

शृङ्गार वीर करुणाद्भुत-रोद्र-हास्य ।

वीभत्स घलस-भयानक शान्त नाम्ना ॥

आम्नासिपुवंश रसान् सुषियो घवं तु ।

शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनाम ॥३॥

(३) साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने पूर्वज भारायण पण्डित के केवल अद्भुत रस को ही मूल रस मानने का निर्देश किया है—

रसे सारश्चमत्कार सर्वत्राप्यनुभूयते ।

तत्त्वमत्कारसारत्वान् सर्वत्राप्यद्भुती रसः ।

तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥४॥

(४) अभिनव गुप्त ने शान्त रस को ही एक मात्र मूल रस प्रतिपादन करते हुए अभिनव भारती में लिखा है—

एव एव निमित्तमासाद्य शान्ताद्भाव प्रवर्तते ।

पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥५॥

रसों की सुख-दुःखरूपता—

रसों की अलौकिकता के साथ साथ उनकी सुख-दुःखरूपता का भी प्रश्न प्राचीन साहित्य शास्त्रियों के लिए एक विवेचनीय प्रश्न रहा है। इस विषय में प्रायः तीन प्रकार के मत हैं।

(१) अभिनव गुप्त ने प्रत्येक रस को उभयात्मक माना है उनका कहना है, शृङ्गारादि चार रसों में सुख की मात्रा अधिक है और श्लेष रौद्र, मयातक वीमत्स, व करुण में इनमें दुःख की प्रधानता है। पर आंशिक रूप में सुख भी रहता है। केवल शान्त रस पूर्ण सुखात्मक है।

(२) नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र व ग्रणचन्द्र का मत विभज्यवादी है, उन्होंने शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत, और शान्त रस को सर्वथा सुखात्मक माना है, और श्लेष चार रसों को सर्वथा दुःखात्मक माना है।

(३) धनिक धनञ्जय विश्वनाथ मम्मटादि सभी रसों को नितान्त सुखरूप मानते हैं। इन लोगों ने करुण रस को भी सर्वथा सुखात्मक माना है—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।

सचेतसामनुभव प्रमाणं तत्र केवलम् ॥

किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदनुसृतम् ।

तथा रामायणादीनां भविता वृत्तहेतुता ॥ (सा० दण्ड) ॥

भाव का लक्षण—

भवन्तीति या भावयन्तीति भावा दो प्रकार से भाव की व्युत्पत्ति हो सकती है ।

मम्मट ने इसका लक्षण किया है—

रतिर्द्वैवादि विषया व्यभिचारी तथाऽञ्जित ॥३५॥

भाव प्रोक्त ।

देवादि विषयक रति तथा प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारी (३३) भाव कहलाते हैं ।

उदाहरण—

हरत्वथ सम्प्रति हेतुरेद्यत शुभस्य पूवा चरितं कृत शुभैः ।

शरीरभाजा भवदीयदशन व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥

नारद जी के आने पर श्रीकृष्ण उनका स्वागत करते हुए कह रहे हैं—

आपका दर्शन प्राणियों की वर्तमान, भूत भविष्यत” तीनों कालों में योग्यता को प्रकट करता है । क्योंकि वर्तमान काल में पाप का नाश करता है, भविष्य में प्राप्त होने वाले कल्याण का कारण बनता है, और पूर्व में पुण्य से प्राप्त होता है ।

यहाँ श्रीकृष्ण निष्ठ मुनि विषयक रति होने से भाव ध्वनि है ।

इसी प्रकार गुरु राजा, पुत्रादि विषयक रति भी भाव ही होते हैं

यही रस और भावों का यदि अनुचित वर्णन किया जाए तो क्रमशः रसाभास व भासाभास कहलाते हैं ।

प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारिभावा में यदि अन्य पदार्थ से यदि किसी भाव की निवृत्ति हो जाय तो वहाँ भाव की शान्ति होती है ।

उसी प्रकार अन्य भाव व अपसरण परस्पर प्रधान भाव का जहाँ उदय होता है उस भावोदय कहते हैं । अभिव्यक्त दो भावों के सम्मिलन में भावसन्धि होती है । अभिव्यक्ति बहुत से भावों के समुदाय को भावशक्तता कहते हैं ।

रस ब्रह्म स्रवकार—

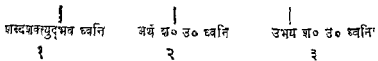
मुख्य रस के विद्यमान रहने पर भी कभी कभी ये भाव शान्त्यादि भी अङ्गित्व को प्राप्त करते हैं—

ऐसी स्थिति में रसवत् अलङ्कार होता है । मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ।

सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि के भेद—

सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि तीन प्रकार का होता है ।

सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य



(१) शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि—

प्रधानतया जहाँ शब्द शक्ति के द्वारा वस्तु और अलंकार अभिव्यक्त होय-
उसे शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहते हैं—

शब्दशक्ति के द्वारा वस्तु की अभिव्यक्ति—

चिर जोवों जोरी जुरे कशे न सनेह गम्भीर ।

को धरि ये वृषभानुजा के हलधर के वीर ॥

विहारी का यह दोहा शब्द शक्ति ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है ।
वृषभानुजा और हलधर इन शब्दों के सामर्थ्य से दूसरा अर्थ गाय बैल वाला
भी अभिव्यक्त होता है यही इन शब्दों से अभिव्यक्त वस्तु है ।

शब्द शक्ति के द्वारा अलंकार ध्वनि अभिव्यक्ति—

निरुपादानसम्भारमभित्तादेव तन्वते ।

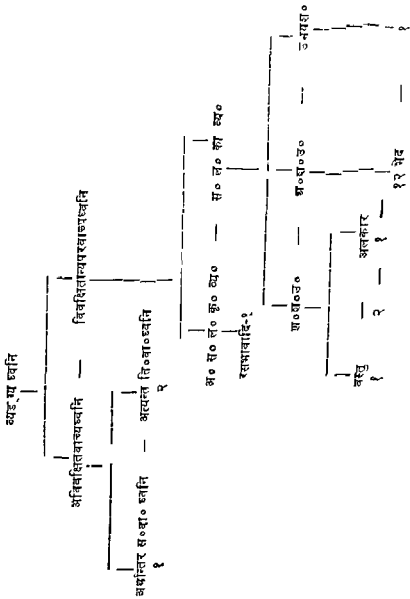
जगच्चित्र नमस्तस्मै कलाश्याघ्याय श्रुतिने ॥

बिना सामग्री और बिना आधार भित्ति के नाना प्रकार के जगत् रूप
चित्र का निर्माण करने वाले (अन्यचित्रकारों से विलक्षण) शिरम्भित पद्ममा
की कला से उदात्तनीय उस शिव को नमस्कार है ।

अथ कलाकार कृतिका रग व्याधि सामग्री से ही चित्र तैयार करता है,
परन्तु यहाँ भगवान् शिव बिना किसी आधार व बिना किसी सामग्री के ही
जगत् रूपी चित्र को उत्पन्न कर देते हैं अतः निरुपादान, "अभित्ती" इत्यादि
शब्दों से शिव का व्यतिरेक अभिव्यक्त होता है ।

अतः यहाँ शब्दशक्तिमगुल्य अलंकारध्वनि है । इस प्रकार सलक्ष्यक्रम-
व्यङ्ग्य के शब्दशक्तिमूलक भेद दो हुए, और अर्थशक्तिमूलक भेद बारह होते
हैं और उभयशक्तिमूलक भेद एक है ।

संक्षेप में मुख्य ध्वनि भेद इस प्रकार दिखलाये जा सकते हैं—



यह अर्थशक्तिमूलक बारह प्रकार का ध्वनि भेद इस प्रकार है—

(१) स्वत सम्भवी अर्थशक्तिमूलकसलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य—

जिस अर्थ की लोक में भी सत्ता हो उसमें अभिव्यक्त व्यङ्ग्य यह चार प्रकार का होगा—

- (१) स्वत सम्भवी—वस्तु से वस्तुध्वनि ।
- (२) " " वस्तु से अलकारध्वनि ।
- (३) " " अलकार से अलकारध्वनि ।
- (४) स्वत सम्भवी अलकार से वस्तुध्वनि ।

(२) कविप्रौढोक्तिसिद्ध—अर्थात् जिसकी सत्ता केवल कवि की ही दुनियाँ में हो । यह भी चार प्रकार का होता है ।

- (१) कविप्रौढोक्ति वस्तु से वस्तुध्वनि ।
- (२) " " वस्तु से अलकारध्वनि ।
- (३) " " अलकार से अलकारध्वनि ।
- (४) " " अलकार से वस्तुध्वनि ।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति—जहाँ कवि के द्वारा निबद्ध वक्ता में कोई बात कही गई हो । यह भी चार प्रकार का है ।

- (१) कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति—वस्तु से वस्तुध्वनि ।
- (२) " " " वस्तु से अलकारध्वनि ।
- (३) " " " अलकार से अलकारध्वनि ।
- (४) " " " अलकार से वस्तुध्वनि ।

इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य बारह प्रकार का होता है, और शब्दार्थोभयशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य एक ही प्रकार का होता है—

उदाहरण—

अलन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा ।

तारकातरला श्यामा सानन्द न करोति कम् ॥१५॥

चमकते हुय् चन्द्रया से विमूषित, काम को समुद्दीपित करने वाली तारिकाओं से तरल श्यामा किमकी आनन्दित नहीं करती है । यहाँ पूर्वार्ध के विशेषण आनन्द चन्द्राभरणा, समुद्दीपितमन्मथा ये परिवर्तितसह होने से अर्थशक्तिमूलक हैं, और तारकातरल श्यामा ये परिवृत्त्यह होने से शब्दशक्तिमूलक हैं । अतः उभयशक्तिमूलक यह सलक्ष्यक्रमध्वनि भेद है ।

यहाँ यह श्यामा रात्रि श्यामा षोडशवर्षीया बाला के समान है यह अर्थ व्यङ्ग्य है ।

इस प्रकार सब मित्रावर ध्वनि के अठारह भेद हुए ।

अष्टादशध्वनि का विस्तार—५१ भेद ।

अविवक्षित वाच्यध्वनि—	{ अर्थान्तर म० वाच्य—पदगत वाक्यगत-२ अत्यन्ततिर० वाच्य—पदगत-वाक्यगत-२
विवक्षितान्यपरवाच्य- ध्वनि	{ अमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—रस पदगत, वाक्यगत, पदाशगत, रचनागत, वर्णगत, प्रबन्धगत=६
विवक्षितान्यपरवाच्य- ध्वनि	{ शब्दशक्त्युद्भव—वस्तु व अलकार=पदगत वाक्यगत=४, अर्थशक्त्युद्भव के १२ भेद पद वाक्य प्रबन्धगत=३६, उभयशक्त्युद्भव=१—

इन एकशत भेदों के परस्पर समूह होने से = ५१

५१ × ५१ = २६०१ हो जायेंगे ।

तीन प्रकार के सजर तथा एक प्रकार की समूह = चार प्रकार से फिर गुणन करने पर १०४०४ मख्या होगी । पुन शुद्ध ५१ भेद जोड़ देने से = १०४५५ ध्वनि भेद हुए ।

यथा—पदद्योत्य अर्थान्तर सक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण हिन्दी में—

राधा अतिगुन आगरी स्वर्न वरन तनु रग ।

मोहन तू मोहन भयो परसत जाके अङ्ग ॥१॥

यहाँ पहला मोहन शब्द कृष्ण का वाचक है, पर दूसरा मोहन शब्द सबको मोहित करने की सामर्थ्य आदि से युक्त मोहन का बोधक है । अत अर्थान्तर में सक्रमित हो जाने से यह पदद्योत्य अर्थान्तर सक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण है । इसी प्रकार—

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा ।

अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जलत स च जीवति ॥२॥

यहाँ द्वितीय मित्रादि शब्द अदवस्त, नियन्त्रणीयत्व, स्नेहपान्त्रत्वादि अर्थों में सक्रमित हो जाने से यह भी पद प्रकाश्य अर्थान्तर सक्रमित वाच्यध्वनि का भेद है ।

॥ काव्यप्रकाश में ध्वनिनिरूपण नामक चतुर्थ उल्लास ॥

पञ्चम उल्लास

गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद (मध्यमकाव्य) —

ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यों का भेद सहृदयों के अनुभव के आधार पर किया जाता है। सहृदयमात्र सवेद्य व्यङ्ग्य होने पर ही ध्वनि काव्य कहलाता है। सहृदय से भिन्न सामान्य व्यक्ति भी जिम व्यङ्ग्य को यनायाम ग्रहण कर ले वह अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण वाच्यार्थ के समान ही हो जाता है, वही-कही व्यङ्ग्य का चमत्कार वाच्य की अपेक्षा मन्द पड़ जाता है। ऐसी दशा में जहाँ व्यङ्ग्य अगूढ स्पष्ट वाच्यवत् रहे, या वाच्य में न्यून रहे, अथवा व्यङ्ग्य की प्रतीति सहृदयों को मरलता से न हो सके इन सभी दशाओं में गुणीभूत व्यङ्ग्य मध्यम काव्य ही होता है।

इस प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य आठ प्रकार का होता है—

अगूढमपरस्वाङ्ग वाच्य सिद्धचङ्गमस्फुटम् ।

सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काव्यवाक्षिप्तममुन्दरम् ॥४१॥

व्यङ्ग्यमेव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्पाठौ भिदा स्मृता ॥

(१) अगूढ व्यङ्ग्यम्, (२) अपरस्य—दूसरे का अङ्ग व्यङ्ग्यम्, (३) वाच्यसिद्धि का अङ्गभूत व्यङ्ग्य, (४) अस्फुट व्यङ्ग्य, (५) सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य, (६) तुल्यप्राधान्य व्यङ्ग्य, (७) काकु में आक्षिप्त व्यङ्ग्य, (८) अमुन्दर व्यङ्ग्य ।

(१) अगूढ व्यङ्ग्यम्—असहृदयैरपि भटिति सवेद्यम्—अत्यन्त स्पष्ट होने में असहृदयों को भी वाच्यवत् प्रतीत हो ।

(२) अपरस्य व्यङ्ग्यम्—अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा अङ्गम्—ऐसा व्यङ्ग्य जो स्व भाव रसाभास भावाभानादि का या वाच्य का भी अङ्ग साधक उपकारक हो ।

(३) वाच्यसिद्धयङ्ग व्यङ्ग्यम्—वाच्यसिद्धेरङ्ग निदान वाच्यस्य सिद्धिरेव घटघोना तदिति यावत्—अर्थात् ऐसा व्यङ्ग्य जिसके अधीन वाच्यार्थ की सिद्धि हो, जिसकी सहायता के बिना वाच्यार्थ ही सम्मन्न न हो, व्यङ्ग्यार्थ सापेक्ष वाच्यार्थ ।

(४) अस्फुटव्यङ्ग्यम्—सहृदयानामपि दुःखसवेद्यम्, जिसका समझना सहृदयों के लिए भी कठिन है, ऐसा व्यङ्ग्य ।

(५) सन्दिग्ध प्राधान्यव्यङ्ग्यम्—सन्दिग्ध चमत्कारजनने वाच्यव्यङ्ग्यो. सन्देहविषयभूत प्राधान्य यत्र तत् । वाच्य और व्यङ्ग्य के चमत्कार की प्रधानता में जहाँ सन्देह हो ।

(६) तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्यम्—तुल्यमर्थाद् वाच्येन तुल्य प्राधान्य यत्र तत् । जहाँ वाच्य का व व्यङ्ग्य का चमत्कार बराबर रहे ।

(७) काव्यवाक्षिप्त व्यङ्ग्यम्—काकुर्ध्वनेविकारः, तथा आक्षिप्त भटिति प्रकाशितम्, यथा काक्वा बिना वाच्यार्थ एव नात्मानलभते तथा प्रकाशयमिति ।

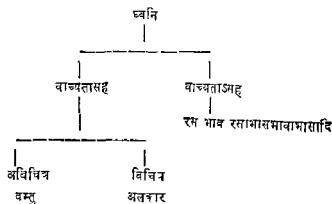
जिम काकु के बिना वाच्यार्थ ही नञ्जत न हो ।

(८) अमुन्दर व्यङ्ग्यम्—स्वभावादेव वाच्यापेक्षयाऽच्चारु । वाच्य की अपेक्षा जिस व्यङ्ग्य का चमत्कार सुन्दर न हो ।

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के मुख्य भेद ये ही हैं । ध्वनि के भेदों की तरह इस गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य की भी सत्त्व व ससृष्टि के द्वारा गणना करने से भेद सन्या बहुत अधिक हो सकती है । प्रकृत में उसका कोई अधिक उपयोग नहीं है । अतः निरर्थक गणना का परिधम नहीं करना है । यदि कही वस्तु में अलङ्कार की अभिव्यञ्जना हो तो ऐसा काव्यभेद, गुणेभूत व्यङ्ग्य का न होकर ध्वनि का होगा । यह आनन्दवर्धनाचार्य का मत है—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा ।
ध्रुव ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तस्तदाश्रयात् ॥

सक्षेप में व्यङ्ग्य तीन प्रकार का होता है—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि । इसमें रसादि रूप व्यङ्ग्य वाच्यता को सहन नहीं करता । अन्य वस्तुरूप और अलङ्कार रूप व्यङ्ग्य, कभी कभी अन्य दशा में वाच्य भी हो सकता है ।



व्यञ्जना की स्थापना—

अभिधा व लक्षणा की चर्चा तो अन्य शास्त्रो में भी यत्र तत्र होती ही रहती है। प्रायः शास्त्रीय चर्चा में सर्वत्र अपने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए अभिधा वृत्ति का आश्रय लिया जाता है। कहीं-कहीं अस्यावश्य प्रमेय के प्रतिपादन के लिए, यदि अभिधावृत्ति विवक्षित तात्पर्य को समझाने के लिए समर्थ न हो तो वहाँ लक्षणा वृत्ति का भी आश्रय लिया जाता है।

इसी प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध वृत्तियों की परिधि में शास्त्र चर्चा चलती है, परन्तु साहित्यशास्त्र में तो केवल अभिधा या लक्षणा वृत्ति से ही काम नहीं चलता है। साहित्यिक गोष्ठी या कवि गोष्ठी में तो इन वृत्तियों को उतना सम्मान नहीं दिया जाता है, जितना कि व्यञ्जना वृत्ति का सम्मान है, जहाँ न गतासि का अर्थ अवश्यमेव गतासि हो जाता है, भ्रम का अर्थ न भ्रम हो जाता है, अर्थात्—विधि का निषेध में पर्यवसान और निषेध का विधि में पर्यवसान हो जाता है, ऐसे स्थलों में बेचारी इस प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध वृत्तियों की गहूँच ही कहाँ।

जहाँ व्यङ्ग्य वस्तु के ही विषय में, (जोकि ध्वनि का स्थूल भेद है, साथ ही साथ दशादिशेष में वाच्यतासह भी है,) ही यह बात है, वहाँ वाच्य वृत्ति से जो दूरत दूर रसभादादिध्वनि है, उसके विषय में तो कहना ही क्या, रसादिध्वनि तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं है, फिर उस रसादि लक्षण अर्थ का बोधन कराने में अभिधादि वृत्तियाँ कहाँ तक समर्थ हो सकती हैं। अतः रसादि अर्थ के बोध के लिए अभिधा लक्षणा से अतिरिक्त व्यञ्जना को अवश्य मानना चाहिए जैसा कि विश्वनाथ कविराज का कहना है—

“वृत्तीना विश्रान्तेरभिधा तात्पर्यलक्षणाख्यानाम् ।

प्रज्ञीकार्या तुर्पावृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥१॥

शब्दशक्तिमूलक-ध्वनि, अभिधा में गतार्थ नहीं है—अभिधामूला व्यञ्जना के जो दो भेद हैं असलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ये दोनों भेद अभिधावृत्ति के विषय नहीं हैं, क्योंकि असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि तो स्वप्न में भी वाच्यता को सहन नहीं करता, और सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य-ध्वनि के जो तीन भेद हैं, शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभय शक्त्युत्थ, इसमें शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि जहाँ अनेकार्थक शब्द का प्रकरणादिवशात् एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर भी शून्य अर्थ की जो प्रतीति होती है, उसके लिए व्यञ्जना व्यापार मानना ही पड़ेगा।

अर्थशक्तिमूलकध्वनि में भी व्यञ्जना अनिवार्य—

यह ध्वनि अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्यावृत्ति से गतार्थ नहीं हो सकती है। अभिहितान्वयवादियों के मत में अभिधाशक्ति केवल पदार्थों की उपस्थिति

करती है। पदार्थों के परस्पर ससंग्रह वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए एक तात्पर्य नाम की वृत्ति माननी पड़ती है। जब वाक्यार्थ ज्ञान के लिए ही अलग से तात्पर्य नाम की वृत्ति माननी पड़ती है, तो वाक्यार्थ के बाद में प्रतीति होने वाले व्यङ्ग्यार्थ के लिए तो अवश्य ही व्यञ्जना वृत्ति माननी पड़ेगी। अर्थात् जाति में सकेतग्रह होने से सामान्यरूप पदार्थों का परस्पर ससंग्रह विशेष, जहाँ प.ी से उपस्थित न होकर "आकाङ्क्षा योग्यता सन्निधि रूप तात्पर्यवृत्ति से उपस्थित होना है वहाँ वाक्यार्थ बोध के बाद में उपस्थित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की तो बात ही क्या ?

अन्विताभिधानवाद में भी व्यञ्जना आवश्यक—

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर आदि जो सकेतग्रह का प्रधान साधन व्यवहार को मानते हैं, क्योंकि उत्तम मध्यमादि वृद्धों के "गामान्य" इत्यादि वाक्यों के व्यवहार से ही सर्वप्रथम बालक को सकेत ज्ञान होता है।

इनके मत में 'गो अश्व' ये पद विशेष होते हुए भी दोनों में रहने वाले सामान्य 'कर्मत्व' रूप में ही 'आनय' के साथ अन्वित होते हैं। यह उनका सामान्य विशेष हुआ, पर गोत्व और अश्वत्व या गो और अश्व आदि अति विशेष हैं। यह अति विशेषरूप अर्थ भी मान्यार्थ में प्रतीत होता है, पर इनमें सकेतग्रह नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति में सङ्केतग्रह करने में आनय और व्यभिचार दोष आता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इनके मत में यहाँ तीन चीजें हैं—
 (१) सामान्य = आनय—अश्वत्व आदि सामान्यरूप से अन्वितत्वमान,
 (२) सामान्यविशेष का अर्थ है कर्मत्वादिरूप में अन्वितत्व "गामान्य" इत्यादि। (३) अतिविशेष का अर्थ है, गो अश्व आदि व्यक्ति विशेष के साथ अन्वितत्व।

अन्विताभिधानवादी के मत में अन्वित में शक्ति मानने से अन्वित वाक्यार्थ के भासित होने पर भी "अतिविशेष अर्थ" (व्यक्तिविशेष) असकेतित होने के कारण वाक्यार्थ नहीं हो सकता, उसके लिए अतिरिक्त शक्ति मानने भी जरूरत है। जब वाक्यार्थ के बोध के लिए ही अभिधाय से भिन्न शक्ति की आवश्यकता होती है, तो वाक्यार्थ के बोध के बाद में उपस्थित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ का बोध अभिधा से ही संकेत ऐसा कहना तो सर्वथा असङ्गत है।

मीमांसक एक देशीय का मत—

किसी मीमांसक का कहना है कि "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते" नैमित्तिक (कार्य) के अनुसार निमित्त (कारण) की कल्पना की

जाती है। अतः व्यङ्ग्यार्थ जो नैमित्तिक (या कायं) है, वह किसी न किसी शब्द से ही प्रतीत होना है, अतः शब्द को ही उस प्रतीति में निमित्त मानना पड़ेगा और निमित्त दो ही प्रकार का होना है—कारक और ज्ञापक।

व्यङ्ग्यार्थ के प्रति शब्द का निमित्तत्व कारकत्वरूप नहीं हो सकता है अपितु ज्ञापकत्व या बोधकत्वरूप ही होगा। व्यङ्ग्यार्थ के भाव इनका बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहेगा, यह बोध्यबोधक-सम्बन्ध अभिधाव्यतिरिक्त ही है, क्योंकि शब्द से अर्थ का बोध कराने वाली व्यतिरिक्त अभिधा ही है। जब अभिधा व्यापार से ही व्यङ्ग्यार्थ का बोध हो जाना है तो फिर व्यतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति की मानने की क्या आवश्यकता है।

व्यञ्जनाव्याप्ती की तरफ से उत्तर—

आपके मतानुसार शब्द में जो व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, इसमें शब्द केवल ज्ञापकत्व निमित्तत्व है, परन्तु यह ज्ञापकत्वरूपनिमित्त शब्द तब बन सकता है, जब उस अर्थ में उस शब्द का सङ्केतग्रह हो।

आपके सिद्धान्तानुसार सङ्केत केवल सामान्यरूप से अन्वितमात्र में ही यही होना है। विशेष में सङ्केतग्रह नहीं होता, इसलिए निमित्तरूप शब्द का जब तक व्यङ्ग्यरूप विशेष अर्थ के साथ निश्चिन्नरूप में सम्बन्ध या सङ्केतग्रह न हो तब तक अभिधा में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति ही कैसे हो सकती है।

क्योंकि कहीं भी व्यङ्ग्यार्थ में सङ्केतग्रहण नहीं है। इसलिए निश्चिन्न सङ्केतग्रह के अभाव में “नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते” यह कथन भी अविवेकपूर्ण है।

भट्टलोल्लट का पूर्वपक्ष—

भट्टलोल्लट भी मीमामानुयायी हैं, वे भी व्यञ्जना वृत्ति को नहीं मानते। उनके मत में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अभिधाव्यापार में ही हो जाती है, इस पर उन्होंने एक वाण का दृष्टान्त दिया है “सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा-व्यापारः” यह अभिधाव्यापार भी वाण की तरह दीर्घ दीर्घतर होता जाता है। जैसे निर्गो बलवान् के द्वारा प्रयुक्त एक ही वाण शत्रु का वर्म भेदन, चर्म भेदन तथा मर्म भेदन कर देता है, अभीष्टित कार्य करने तक बीच में विश्राम नहीं करता है, इसी प्रकार एक ही अभिधा व्यापार पदार्थोपस्थिति, गन्वय बोध व व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी करा सकता है। जहाँ तक वक्ता का तात्पर्य हो वह सब अभिधा वृत्ति द्वारा ही बोधित हो जाता है, और यह तात्पर्य अभिधेय तक ही सीमित रहे यह वान भी नहीं।

आचार्य धनिक की भी यही सम्मति है, कि तात्पर्य कोई तराजू से तोली हुई चीज नहीं है, अपितु जहाँ वक्ता को अर्थ की जल्दतरन रहती है, वहाँ तक उन शब्दों का तात्पर्य समझा जाय।

तात्पर्यं व्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः ।

यावत् कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुला घृणम् ॥ इति ॥

क्योति जिम अर्थं म जिम शब्द का तात्पर्यं रहता है, वही उस शब्द का अर्थ है कहा भी है 'यत्पर शब्द स शब्दार्थं' इति । अतः 'निश्चोपच्युतचन्दनमिति' इत्यादि शब्दों का "नायकान्तिकगमनरूप" जो विधि है, वह तात्पर्य विषय होने के कारण वाच्य ही है न कि व्यङ्ग्य ।

व्यञ्जनावादी का समाग्रान—

पूर्वपक्षी ने "यत्पर शब्द स शब्दार्थं" इस वैदिक वाक्य का तात्पर्यं जो यह निकाला है कि लक्ष्य व्यङ्ग्य आदि सभी वषों को वाच्यार्थ ही मान देना चाहिए, वस्तुतः यह भीमासा शास्त्र के नियमों के अनुसार उक्त वाक्य के तात्पर्य का अन्तर्भूत ही है क्योंकि उक्त वाक्य—“यत् पर शब्द स शब्दार्थं” इस वाक्य का अर्थ भीमासको ने इस प्रकार किया है—

“अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम” इत्यादि वैदिक वाक्यों में वही केवल होम क्रिया का विधान होता है वही 'इष्टना जुहोति' जैम वाक्यों में होम के पूर्व वाक्य में प्राप्त होने के कारण केवल दधिकल्प साधनद्रव्य का विधान अभिप्रेत होता है वही 'सोमन यजेत' जैम वाक्या में सोम और याम दोनों के अप्राप्त होने में दोनों का विधान अभिप्रेत हाता है ।

इस प्रकार वैदिक विधिवाक्यों में जहाँ जितना अक्ष प्रमाणान्तर में अप्राप्त होता है, उतने अक्ष का विधान अभिप्रेत होता है, जैम अग्नि अक्षय का ही दहन करता है, उनी प्रकार वैदिक वाक्य या विधिवाक्य भी अप्राप्त का ही विधान करते हैं । ऐसी स्थिति में जिस अप्राप्त अक्ष के योग्य में विधि वाक्य का तात्पर्य होता है, वही उस विधिवान्त का विषय या तात्पर्य अक्षर प्रतिपाद्य होता है वही "यत्पर शब्द स शब्दार्थं" का अर्थ है ।

लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ मत्र शब्द का वाच्यार्थ ही होना है, यह अर्थ "यत्पर, शब्द स शब्दार्थं" इस वाक्य का अर्थ नहीं है । यदि यही अर्थ इस वाक्य का होता तो कुमारिलभट्ट आदि भीमासक भी लक्षणावृत्ति को क्यों मानते, धन. भट्टलोल्लटादि जो भीमासक इस तात्पर्य वाच्योक्ति के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ ही सिद्ध करना चाहते हैं, वे उस वाक्य का वास्तविक अर्थ ही नहीं समझते हैं, स्वयं अपने शास्त्र के अर्थ को न समझने के कारण मम्मट ने इनको 'देवाना प्रिय' (मूर्ख) कहा ।

उक्त "यत्पर शब्द स शब्दार्थं" इस वाक्य का अभिप्राय प्रथम प्रकार इस प्रकार समझते हैं—

“भूत सव्याय उपदिश्यते” भूत का अर्थ है सिद्ध कारकादि पदार्थ । सव्य का अर्थ है साध्य क्रियारूप । इन दोनों का जहा सहोच्चारण हो वहा भूत सिद्ध का प्रथम साध्य के लिए उपदेश होता है । अर्थात् सिद्ध-भूत सव्य साध्य के लङ्कारूप में उपदिष्ट होता है, क्योंकि ‘आप्तायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यपनदर्शानाम्’ इस नियम के अनुसार वेद के विशापरक विधि निषेध परक होने से अक्रिया स्वरूप जो सिद्ध भाग है वह क्रियारूप साध्य का अर्थ बन जाता है, जन्. क्रियारूप विधि अन् की ही प्रधानता रहती है ।

यही ‘भूत सव्याय उपदिश्यते’ इस वाक्य का अर्थ है । जैसे “लौहितोष्णीया ष्टित्वञ्च प्रचरन्ति”—यह वाक्य श्वेत याग के प्रकरण में आया है, श्वेत याग एक विकृति याग माना जाता है, ज्योतिष्टोम याग इसका प्रकृति याग है, “यत्र समायाङ्गोपदेश सा प्रकृति” इसी को प्रधान याग कहते हैं । प्रकृति याग के साथ अनेक विकृति याग भी वर्णित होते हैं । इन विकृतियों में विशेष नवीन अङ्गों का ही वर्णन होना है, “प्रकृतित्वत् विकृति फलंश्या” इस नियम के अनुसार वेद सारी विशिष्ट प्रकृति की तरह की जाती हैं ।

ज्योतिष्टोमस्य प्रकृति याग में “लौहितोष्णीया विनोतवसना ष्टित्वञ्च प्रचरन्ति” इस वाक्य के द्वारा ष्टित्वञ्च-प्रचरण का विधान किया हुआ है, श्वेत याग में “प्रकृतित्वत् विकृति नर्तवदा” इस नियम के अनुसार वहाँ ष्टित्वञ्च प्रचरण स्वयं प्राप्त है, न तो यहा उष्णीय का विधान है और न ही प्रचरण का विधान है ये तो मन्त्र ज्योतिष्टोम वाले वाक्य में प्राप्त ही हैं । केवल यहा उष्णीय में लौहित्य (लालरङ्ग) का विधान अधिप्रेत है । इतना ही इस वाक्य का धर्म है, जन् “यत्पर शब्द स शब्दार्थ” यह वाक्य इसी अर्थ को सूचित करता है ।

इसी प्रकार “दध्ना जुहोति” इत्यादि वाक्य में भी दधि-द्रव्य है, द्रव्य सिद्ध होना है, साध्य नहीं, पर कभी कभी यह भी साध्य की तरह प्रतीत होता है ।

लङ्कारूप में विधान किये गये इस सिद्ध पदार्थ का भी प्रधान क्रिया से सम्बन्ध होने में साध्य की तरह प्रतीति होती है, प्रकृत में हवन का अर्थ प्रभाव से विधान हो जाने में केवल दधि का करणत्वभाव में विधान किया गया है । इसी प्रकार कहीं दो या तीन पदार्थों का भी विधान होता है, कहे का तात्पर्य यह है कि जिसका विधान किया जाता है, उसी में शब्द का तात्पर्य रहना है, और जो शब्द वाक्य में आये हैं उन्हीं उपात्त शब्दों में ही किसी के अर्थ में वाक्य का तात्पर्य रहता है ।

मीमांसक की ओर से पुन शङ्का—

मीमांसक पुन आशङ्का करता है कि यदि वाचयान्तर्गत उपात्त शब्दों के अर्थ में ही यदि वाक्य का तात्पर्य है तो फिर “विद्य मशय ना चास्य गृहे

भुङ्क्या” — “विष खा ले, पर इसके घर भोजन मतकर” अर्थात् इसके घर का भोजन विष से भी भयकर है, अतः नहीं खाना चाहिए यह तात्पर्य उपात्त शब्दा में नहीं है, आपने कैसे कह दिया कि वाक्य में उपात्त शब्दों में ही तात्पर्य रहता है ।

व्यञ्जनावारी का समाधान—

यहाँ “विष भक्ष्य” इत्यादि वाक्य को यदि अलग-अलग वाक्य माना जाय तो इस वाक्य का अर्थ अमङ्गल हो जायगा क्योंकि यह किसी मित्र का वाक्य है, कोई मित्र अपने मित्र को विष खाने की सलाह नहीं देगा, इसलिए विषभक्षण का आदेश देने वाला यह वाक्य स्वयं में अपूर्ण है, इसलिए “भा चास्य गृहे भुङ्क्या” इस दूसरे वाक्य के साथ सम्बन्ध मानना आवश्यक है, अतः विषभक्षण वाक्य स्वयं अनुपपन्न होने के कारण दूसरे वाक्य का अङ्ग बन जाता है, और अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने से दोनों की एववाक्यता हो जाती है । एक वाक्यना हो जाने पर उपात्त शब्द में ही तात्पर्य आ जाता है, अतः ‘उपात्तस्यैव शब्दास्यार्थे तात्पर्यम्’ इस नियम की सङ्गति हो जाती है ।

यदि यह कहा जाय कि शब्द श्रवण के बाद जितने भी अर्थ की प्रतीति होती है वह सब अभिधा व्यापार का ही विषय है, तो किन्हीं वाक्यों के श्रवणानन्तर मुत्तादि ना विकार व सङ्कोच होता है, वह भी अभिधा व्यापार का ही विषय क्यों नहीं माना जाता है, क्यों वह अनुमान का विषय माना जाता है । फिर दीर्घदीर्घन्तर अभिधाव्यापार में ही सारे अर्थों की सिद्धि हो जाने पर, लक्षणा व्यापार की भी क्या आवश्यकता है, जिसको आपने भी स्वीकार किया है । और आपके मीमांसादर्शन में माने हुए “श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान समारया” इन छ प्रमाणों की वलवता क्यों मानी जाती है ? अर्थात् यदि शब्द श्रवण के बाद प्रतीति होने वाले सभी अर्थों की प्रतीति अभिधा से ही हो जाती है तो न लक्षणा की आवश्यकता है, और न श्रुति आदि प्रमाणों की प्रचलना दुर्बलना का निरचय ही हो सकता है । इसीलिए अन्विताभिधान वाद में भी विशेषच्युतचन्दनम् इत्यादि स्थलों में निषेधरूप वाच्यार्थ में प्रतीति होने वाले विधि की व्यष्ट्यता सिद्ध होती है ।

नित्यानित्य दोष की व्यवस्था के लिए भी व्यञ्जनावृत्ति आवश्यक है ।

वाच्यवाचक भाव से भिन्न व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव यदि नहीं माना जाय तो असाधुपदत्व (च्युतसंस्कारत्व) आदि नित्य दोषों का, और कष्टत्व (श्रुतिकष्टत्व) आदि अनित्य दोषों का विभाग भी नहीं बन सकता है ।

वाच्यवाचक भाव में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को स्वीकार करने पर तो व्यङ्ग्य के अनेक प्रकार होने में वही किसी के औचित्य के कारण (अर्थात् श्रुतिव्यङ्ग्यादि की वचनित् शृङ्गादि रसों में ही वर्जनीयता रहेगी, अन्यत्र तो उनमें उपदेयता होगी) विभाग व्यवस्था बन ही जाती है। इना लिए व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को मानना ही चाहिए।

गुणों की व्यवस्था के लिए भी व्यवस्था जरूरी—

यदि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव न माना जाय तो कुमारसम्भव में आये हुए “समागम प्रार्यंतया कपालिन” इस पद्य में शिव के वाचक पिनाकीन, आदि पदों की अपेक्षा कपाली आदि पदों का वाक्यानुगुणत्व तथा अस्मिन्तरवाच्य-व्यञ्जकत्व कैसे माना जा सकता है।

महावचि कालिदास निमित्त कुमारसम्भव वा यह पद्य इस प्रकार है—

द्वय गत सरप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्यंतया कपालिन ।

कला च सा वान्तिमती कलावतस्त्यमस्य लोकस्य च मंत्रकीमुदी ।

इस पद्य में शिव की प्राप्ति के लिए तपस्या करने वाली पार्वती के परीक्षा करने के लिए ब्रह्मपारी का वेग धारण करके आए हुए शिव की, पार्वती की शिव समागम की इच्छा का उपहास करते हुए कह रहे हैं, पहिले खकेली चन्द्र-कला ही शोचनीय थी, अब तुम दोनों की दशा शोचनीय हो गयी है। यहाँ कवि ने शिव के वाचक पिनाकी आदि शब्दों को छोड़कर “कपाली” शब्द का ही विशेष रूप से जो प्रयोग किया है, उगमे जिन दरिद्रता, वीभ्रमता आदि अनेक गुणों का वैशिष्ट्य प्रतीत होता है, वह मित्रजी के वाचक “पिनाकी” आदि शब्दों से व्यक्त नहीं होता है। उसी के आधार पर शोचनीयता का औचित्य व्यक्त होता है। यदि व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव नहीं माना जाएगा तो वाचक रूप से सभी शब्दों का समान स्थान होने में विशेष पद के प्रयोग में कोई विलक्षण चमत्कार नहीं होगा। इसलिए वाच्यवाचक भाव से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव अवश्य मानना चाहिए।

वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में भी महान् अन्तर—

वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में सद्यः, स्वरूप, काल, आशय, निमित्त, श्रवणदेश, कार्य तथा विषय आदि के भेद होने से भी व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न मानना आवश्यक है। साहित्यदर्पणकार ने इन भेदों का संग्रह इस प्रकार किया है—

स्वरूप सद्यः निमित्त-कार्य-प्रतीति-कालानाम् ।

आशय विषययोर्ना भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्य ॥

दूमरी बात यह है कि "यत्पर शब्द स शब्दार्थ" वाला नियम सर्वत्र लागू नहीं हो सकता है, असुन्दर व्यङ्ग्य नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद में 'वानीर कुञ्ज सीदन् यद्भानि' इत्यादि स्थल में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी वाच्यार्थ चमत्कार युक्त होने के कारण उसी में तात्पर्य का पर्यवसान भी होता है, ऐसे स्थलों में जहाँ व्यङ्ग्यार्थ तात्पर्यविषयीभूत है ही नहीं तो व्यञ्जना व्यापार के न मानने में वह अतात्पर्य विषयीभूत अर्थ किस व्यापार का विषय बनेगा ?

लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ में भेद होने से लक्षणा शक्ति से भी व्यञ्जना गतार्थ नहीं हो सकती—

यद्यपि व्यङ्ग्य की ही तरह लक्ष्यार्थ भी अनियत रहता है जैसे—रामोऽस्मि मध्वं महे, रामेण प्रियजीवित्तन तु कृत प्रेम्णप्रिये नोचितम्, रामोऽमो भुवनेषु विप्रमगुणं प्राप्त प्रतिद्वि पराम्, इत्यादि स्थलों में दुःख महिष्णुत्व, निष्करण, खरदूषणादिहन्ता इत्यादि एक ही राम शब्द के लक्ष्यार्थ हैं। फिर भी लक्षणीय अर्थ के नाना होने पर भी अनेकार्थक शब्द के वाच्यार्थ के समान नियतरूप ही होता है। इनके विपरीत व्यङ्ग्यार्थ तो प्रकरणादि के द्वारा कही नियतमन्व्य और कही अनियत मन्व्य और कही परम्परित मन्व्य वाला होता है। अतः लक्ष्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ नहीं होता है और न लक्षणा में व्यञ्जना गतार्थ हो सकती है।

व्यञ्जना का विशेष आदर—

व्यञ्जना के विषय को लेकर ग्रन्थकार का यहाँ तक का सारा सघर्ष मीमांसका में रहा। उन्हीं के विरोध का उत्तर देने हुए व्यञ्जना की प्रतिष्ठा की परन्तु इतने में उनका कार्य पूर्ण नहीं हुआ, अभी आगे उन्हें वैय्याकरणौ, वैशान्तिषो तथा नैय्यायिको का भी सामना करना है। इस उल्लास में व्यञ्जना की प्रतिष्ठा का भगीरथ प्रयत्न ग्रन्थकार का है। व्यञ्जना का घुत्तुविक विरोध है, साहित्यशास्त्र में भी केवल ध्वनिवादी सम्प्रदाय ही इसे स्वीकार करता है, रोष बड़े बड़े दार्शनिक व साहित्यिक तो इसका विरोध ही करते हैं। मीमांसक, वेदान्ती, नैय्यायिक और वैय्याकरण करीब करीब सभी व्यञ्जना के विरोधी हैं। पर ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार साहित्यशास्त्र की गाड़ी व्यञ्जना के बिना एक पग भी आगे नहीं चल सकती है। इस शास्त्र में तो अभिधा शक्ति की कोई कदर नहीं है। सीधी साधी बात कहना तो एक तरह गवाजीपना है। जिस उक्ति में कोई चमत्कार नहीं, कथन की कोई झोली नहीं या जिसमें कोई रस नहीं ऐसी नीरस शुष्क उक्ति सहृदयों के हृदय को अच्छी नहीं लगती है। मीमांसक नैय्यायिक आदि भले ही नग्न यथार्थवाद से सन्तुष्ट हो जायें पर साहित्यशास्त्र के विद्यार्थी को तो उन वाक्यों से कथमपि सन्तोष नहीं होता है। इसीलिए आशाधर भट्ट ने कहा है—

शक्ति भजन्ति सरला लक्षणा चतुरा नरा ।

व्यञ्जना नर्ममर्मज्ञा कवयः कमना जना ॥

माहित्यशास्त्र तो रसप्रदान शास्त्र है, रगास्वाद के बिना सहृदय की नृत्ति नहीं होती है, उसी रनाभिष्यन्ति के लिए व्यञ्जना आवश्यक है ।

कवित्व की कमीटी और काव्य का प्राण व्यञ्जना है इसलिए आचार्य मम्मट ने इसकी सिद्धि के लिए इतना आग्रह और इतना प्रयास किया है ।

वैयाकरणो या वेदान्तियो का अलण्डार्थवाद जो (वेदान्तो या वैयाकरण यह कहते हैं कि अलण्डवुद्धि से ग्राह्य वाच्यार्थ ही वाच्य होता है, और अलण्ड वाच्य ही उनका वाचक होता है । उनको भी अविद्या की स्थिति में (व्यवहार सत्ता में) आकर, पद पदार्थ की कल्पना करती ही होगी, इसलिए उनके पक्ष में भी उक्त (नि शेषच्युतचन्दनम् इत्यादि) उदाहरण में विधि आदि को व्यङ्ग्य मानना ही होगा ।

न्यायाचार्य महिमभट्ट का विरोध—

व्यञ्जनावृत्ति के सबसे कट्टर विरोधी महिमभट्ट हैं जिन्होंने काव्य जगत् में समाहित इस व्यञ्जना वृत्ति की साथ ही साथ व्यञ्जना परिवार के समष्टिभूत ध्वनित्व की कठोर समीक्षा की है । आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वनि सिद्धान्त को ध्वंस करने के लिए इस महात्मा ने एक स्वयन्त्र ग्रन्थ ही लिख डाला, जिसका नाम है—“व्यक्तिविवेक” अर्थात्—“व्यञ्जना का विचार” ग्रन्थ के आरम्भ में ही इनकी प्रतिज्ञा भी वही भयकर है—

अनुमानेऽन्तर्भाव सर्वस्यैव ध्वने प्रकाशयितुम् ।

व्यक्तिविवेकं कुस्ते प्रणम्य महिमा परा वाचम् ॥१॥

सभी प्रकार की ध्वनियो का अनुमान में अन्तर्भाव करने के लिए महिमा नामक आचार्य परा वाणी को प्रणाम कर “व्यक्ति विवेक” नामक ग्रन्थ की रचना करते हैं । कहना नहीं होगा कि बहुत कुछ अश में इनकी प्रतिज्ञा सफल हुई है, सर्व प्रथम ये ध्वन्यालोक के ध्वान लक्षण पर टूट पड़े, उनके लक्षण का प्रतिपद खण्डन करके यह दिखाया कि ध्वनि का तो कोई लक्षण ही नहीं बनना, फिर शब्द और अर्थ का सम्बन्ध दिखलाते हुए व्यञ्जनावृत्ति की समीक्षा करने लगे । इनके मत में शब्द और अर्थ का यदि कोई सम्बन्ध है तो वह वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है बस इसके लिए तो फिर बहिष्ठा से अन्य किसी व्यापार को मानने की आवश्यकता ही नहीं है यदि कहीं उपचार वश कोई व्यङ्ग्यादि अर्थ की प्रतीति होती है तो वह सब अनुमान के द्वारा ही गतार्थ हो जाती है ।

इसके लिए अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। बड़े सरम्भ के साथ इन्होंने अपने ग्रन्थ में अनुमान में ही पूरे ध्वनि प्रपञ्च को सम्हालने का साहसिक प्रयास किया है। इस पर इन्हे पूरा भरोसा है कि मेरे जैसे पण्डित अवश्य मेरी बातों का समादर करेंगे और बड़े गर्व के साथ कहते हैं—

युक्तोऽयमात्मसदृशान् प्रति मे प्रयत्नो ।

नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहर यत् ।

केचिच्च्यवन्ति विकसन्त्यपरे निमीलन्त्य-

न्ये यदभ्युदयभाजि जगत्प्रदीपे ॥२॥

जो मेरे जैसे है उन्हीं के लिए यह मेरा प्रयत्न है, ससार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सबका मन आकृष्ट करे, सबको प्रकाशित करने वाले भगवान् भास्कर के उदयोन्मुख होने पर कुछ (सूर्यकान्त मणि) जलते हैं, कुछ (कमल) खिलने हैं और कुछ (उल्लू-कमुद आदि) सकुचित हो जाते हैं ॥२॥

व्यक्तिविवेक की प्रौढ़ तथा तर्क कर्कश विचार चातुरी में ध्वनि के सारे अङ्गों को बहत बड़ी ठेस मगी है इसमें कोई मन्वेह नहीं, ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धन का वह निर्मल यश शायद कब का खनग हो जाता, यदि एकादश शती के उत्तरभाग में मम्मट जैसे अद्भुत विद्वान् का उदय नहीं होता।

महिमभट्ट का मत मुख्यतः न्यायदर्शन की अनुमान प्रक्रिया पर आधारित है। इसलिए इस मत को हम न्याय मत कह सकते हैं। इनका कथन इस प्रकार है—

वाच्य से अमम्बद्ध अर्थ तो प्रतीत नहीं होता है, यदि वाच्य से अमम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होती तो, फिर जिम किसी शब्द में जो कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। इस प्रकार जब व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्य अर्थ का आपस में व्यङ्ग्य व्यञ्जक सम्बन्ध है तो वह सम्बन्ध अवश्य (त्रिमी प्रतिबन्ध) व्याप्ति के बिना नहीं हो सकता है। इसलिए व्याप्तिरहित और नियत धर्मी (पक्ष) पर्ववादि में रहने से (अर्थात् व्याप्ति तथा पक्षधर्मता युक्त होने से पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्तिरूप) तीनों रूपों वाले (धूमादि हेतु के समान) लिङ्ग से, लिङ्गी (अर्थात् वह्नि आदि के समान साध्य) का जो अनुमान किया जाता है, उसी रूप में (व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव का भी) पर्यवसान हो जाता है।

यहाँ “त्रिरूपात्लिङ्गात्लिङ्गिज्ञानमनुमानम्” यह कहकर, व्याप्ति तथा पक्षधर्मता युक्त एव त्रिरूप (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्ष व्यावृत्तिरूप) विशिष्ट लिङ्ग से लिङ्गी (साध्य) का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान कहलाना है। और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के बिना नहीं होती, इसी

लिए व्यङ्ग्य प्रतीति अनुमिति ही है, और व्यङ्ग्य व्यञ्जकभाव एक प्रकार का अनुमान ही है—

उदाहरण के द्वारा इसे और स्पष्ट कर रहे हैं—

भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स श्वाद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवातिना दृप्तसिहेन ॥

हे पण्डित जी (धार्मिक) अब आप निडर होकर भ्रमण करें, गोदावरी के तीर के कुञ्ज में रहने वाले उम दुष्ट सिंह ने आज उम कुत्ते को (जो आपको तग किया करता था) मार डाला है ।

इस गाथा का प्रकरण इस प्रकार है—गोदावरी नदी के किनारे किसी उद्यान में त्रिभी स्त्री ने अपना निवास स्थान बनाया हुआ था, जहाँ उसका प्रिय उससे मिलने के लिए आता था, कोई दूसरे पण्डित जी अपने पूजापाठ के लिए फूल तोड़ने उसी उद्यान में आया करते थे, इनके आने से उस स्त्री के कार्य में विघ्न पड़ता था, इसीलिए उसने इस प्रकार का उपाय निकाला कि जिससे पण्डित जी का उधर आना बन्द हो जाय, इसी दृष्टि में उसने इस पद्य द्वारा पण्डित जी को सिंह द्वारा कुत्ते को मारे जाने की सूचना दी, वह जानती है कि पण्डितजी जब कुत्ते से ही बहुत डरते थे तो सिंह का नाम सुनते तो वे यहाँ आना ही भूल जायेंगे ।

भ्रम धार्मिक इत्यादि श्लोक में—(गोदावरी तीर स्थित) घर में रहने वाले कुत्ते के अभाव में विहित भ्रमण (हेतु या लिङ्ग) गोदावरी तीर पर सिंह के रहने के ज्ञान द्वारा भ्रमण के अभाव (साध्य) का अनुमान कराता है ।

जहाँ-जहाँ भीरुओं का भ्रमण होता है, वहाँ-वहाँ भयकारण के अभाव के ज्ञानपूर्वक होना है । यह व्याप्ति है, और गोदावरी के तीर में (भय का कारण) सिंह की उपलब्धि (अर्थात् साधनाभाव) है । इसलिए साध्य भीरुभ्रमण की व्यापिका जो भयकारण के अभाव की उपलब्धि, उसके विरुद्ध जो भय कारण है उसकी उपलब्धि, (अर्थात् अभावसाध्यक सिंहोपलब्धिरूप) व्यापक विरुद्ध, (व्यतिरेक व्याप्ति) की प्रतीति होती है ।

इसलिए व्यतिरेकि अनुमान के द्वारा भ्रमणनिषेध की प्रतीति हो जाती है, उसके लिए व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है ।

इसका अनुमानाकार इस प्रकार बन सकता है—

(१) गोदावरी तीर भीरुभ्रमणायोप्यम् (प्रतिजा वाक्य) ।

(२) भयकारणोपलब्धे (हेतु या माधन) ।

(३) यद्यत् भीरुभ्रमणयोग्य तत्तद्भयकारणाभाववत् ।

यथा गृहम्—(व्यतिरेक व्याप्ति उदाहरण सहित) ।

(४) न चेद् तौरसया भयकारणाभाववत्, मिहोपलब्धे (उपनय वाक्य)

(५) तस्मात् भीरुभ्रमणयोग्य तौरम् (निगमन) ।

इस प्रकार पञ्चावयव वाक्य में अनुमान द्वारा ही व्यञ्जनावादी के व्यङ्ग्य—मा भ्रम अर्थात् मन धूमो—अर्थात् भ्रमण निषेध को' अर्थ नर देते हैं।

अत व्यङ्ग्यार्थ के लिए पृथक् व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं। यह पूर्व पक्ष है—

मम्मट द्वारा महिमभट्ट के इस अनुमान का टण्डन—

यहाँ महिमभट्ट ने “मिहोपलब्धि” को ‘भीरुभ्रमणयोग्यत्व’ मिद्ध करने के लिए हेतु रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु यह हेतु अनैकान्तिक है। अर्थात् साध्यभाववदवृत्ति है। जहाँ जहाँ भीरुभ्रमण होता हो, वहाँ वहाँ भय के कारण का अभाव हो, इस प्रकार की कोई व्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि युद्धादि में राजाज्ञा से भीरु सैनिक भी भय के कारण के रहते हुए भी जाता ही है, इसी प्रकार प्रभु की आज्ञा में या गुरु की आज्ञा में शिष्य, अथवा प्रिया के अनुराग में भय के कारण रहते हुए भी जाता ही है। इसी बात को समझाते हैं—

भीर भी प्रभु या गुरु की आज्ञा में अथवा प्रिया के अनुराग में अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण में भी भय के कारण रहते हुए भी घूमता ही है। इसलिए यह मिहोपलब्धिरूप हेतु अनैकान्तिक है। अर्थात्—सर्वभ्रमण हेतुत्वभाव है और कुत्ते से डरने पर भी वीर होने से सिंह में नहीं डरता है, इसलिए विरुद्ध हेतुत्वभाव भी है। (तीसरा दोष यह है कि) गोदावरी के किनारे सिंह का सद्भाव प्रत्यक्ष से तथा अनुमान से निश्चित नहीं है। अपितु वचन से, अर्थ के साथ वचन उस नायिका के शब्द का कोई प्रतिबन्ध नियत सहचार न होने से, वचन का प्रामाण्य भी नहीं है। इसलिए पक्ष में हेतु के न रहने से स्वरूपामिद्ध हेतुत्वभाव भी है। इस प्रकार त्रिदोषग्रस्त हेतु में साध्य की सिद्धि किम तरह हो सकती है ?

अर्थात्—अनुमान द्वारा भ्रमण निषेधरूप साध्यव्यङ्ग्य की सिद्धि नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार “नि शेषच्युतचन्दनम्” इत्यादि स्यसो मे भी चन्दनच्यवनादि के द्वारा जो अनुमान महिमभट्ट करते हैं, वे अन्य कारणों से भी हो सकते हैं।

अतः अनैकान्तिक हेत्वाभाव है, अर्थात् चन्दनच्यवन को अनुमापक मानकर नायकान्तिकगमनादि को अनुमेय नहीं मान सकते हैं। स्नानादि कार्यों में भी चन्दनादि की उपपत्ति हो जाती है।

व्यञ्जनावादी ने तो अद्यतन पद की सहायता में उक्त विधि “नायकान्तिक-गमनादि” रूप व्यङ्ग्य माना है, परन्तु अनुमानवादी के यहाँ तो अद्यतनत्व की किसी प्रमाण में मिष्टि न होने के कारण अनुमान नहीं हो सकता है।

व्यञ्जनावादी यहाँ तो आप्ति के बिना भी इस प्रकार के अर्थ से इस प्रकार का व्यङ्ग्य अर्थ प्रकाशित होता है। सामान्यरूप से कथन होने से व्यञ्जनावादी के यहाँ यह दोष नहीं है।

पूर्वोक्त विचार को ही मम्मटानुयायी कविराज विश्वनाथ ने इन शब्दों से कहा है—

नानुमान रसादीना व्यङ्ग्याना बोधतक्षमम् ।
आभासत्वेन हेतूना स्मृतिर्न च रसादिधी ॥६॥

काव्य प्रकारात् मे व्यञ्जना स्थापन नामक
पञ्चम उल्लास समाप्त

षष्ठ उल्लास

चित्रकाव्य या अवर काव्य का निरूपण—

ध्वनिप्रधान उत्तम काव्य का गुणीभूत व्यङ्ग्य चाले मध्यम काव्य का निरूपण कर अब व्यङ्ग्यार्थरहित चित्रकाव्य या अधम काव्य के भेदों का निरूपण षष्ठ उल्लास में कर रहे हैं ।

शब्द चित्र तथा अर्थचित्र के नाम से जो दो प्रकार के (अधम काव्य के) भेद प्रथम उल्लास में दिये गये हैं, उनमें शब्द चित्र और अर्थ चित्र शब्दों का प्रयोग गुण प्रधान भाव से होता है ।

अर्थात्—दोनों में दोनों प्रकार की चित्रता की सम्भावना हो सकती है, पर जहाँ जिसकी प्रधानता होती है, उसी के आधार पर व्यवहार होता है । जैसे प्रथम उल्लास में वर्णित शब्द चित्र के उदाहरण “स्वच्छन्दोच्छल-दच्छकच्छ” इत्यादि पद्य में अन्य नदियों में अधिक उत्कर्ष का वर्णन होने से व्यतिरेक अर्थालङ्कार होने से अर्थ चित्रता भी है, और ‘विनिर्गत मानसमात्म-मन्दिरात्’ इत्यादि पद्य में जो अर्थ चित्र का उदाहरण है । भकार की असङ्गत् आवृत्ति होने से वृत्तनुप्रास शब्दालङ्कार के होने से शब्द चित्रत्व भी है, पर “प्राधान्येन व्यपदेशा भवति” इस नियम के अनुसार जहाँ जिसकी प्रधानता है वहाँ उसी से व्यवहार किया जाता है—

शब्दार्थचित्र यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।

गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिचित्रार्थशब्दयोः ॥१॥

शब्द चित्र तथा अर्थ चित्र के विषय में प्राचीन आचार्यों का मत—

जिन्होंने आचार्यों का मत है कि रूपकादि अर्थालङ्कार ही प्रधान अलङ्कार हैं, शब्दालङ्कारों के या शब्द चित्र में इस प्रकार का चमत्कार नहीं रहता है ।

क्योंकि सुन्दर होने पर भी जैसे बिना अलङ्कार के कामिनी का मुख शोभित नहीं होता, उसी प्रकार बिना अर्थालङ्कारों के सुन्दर शब्दों वाला काव्य भी शोभित नहीं होता है ।

दूसरे आचार्यों रूपकादि अर्थालङ्कारों को बाह्य अलङ्कार मानते हैं, अर्थात्—सुदन्त और तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति (विशेषणानुप्रासादिरूपेण

नीचा सदैव सविलासमलोकलम्ना

ये कानता कुटिलतामिव न त्यजन्ति ॥३॥

सघन पलकों वाली सुन्दरियों के केश, और दुष्ट पुरुष, जो विलासपूर्वक सदैव अलीक (केशपक्ष में नलाट, खल पक्ष में मिय्याभाषण) में लगे हुए हैं, और कुटिलता (केशपक्ष में टेडापन और खल पक्ष में दुष्टता) के समान कालेपन को नहीं छोड़ते हैं। देखते ही किसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न नहीं कर देते? अर्थात् कामिनियों के काले और कुन्तल केश और उन्हीं के समान कुटिल वृत्ति वाले दुष्ट पुरुष देखने वालों के हृदय को क्षुब्ध कर देते हैं।

यहाँ क्षोभरूप एक कार्य के प्रति अलक व खल का युगपत् नयन होने में समुच्चयालंकार है। इत्थेप तथा उपमा आरम्भ से समाप्तिपर्यन्त टमी समुच्चय के निर्वाहक होने से इसी के अङ्ग हैं। प्रधानता समुच्चयालङ्कार की ही है। काव्यप्रकाश के आदर्श टीका के रचयिता महेश्वर भट्टाचार्य का कथन है कि उक्त पद्य में प्रवृत्त खल व अप्रकृत अलक का क्षोभरूप एक धर्म के साथ अन्वय होने से दीपकालंकार है।

अलीक शब्द के परिवृत्त्यसह होने से शब्द श्लेष तथा अनुप्रास का भी सम्भव है, पर अर्थानुसार की ही प्रधानता होने से यह अर्थ चित्र का उदाहरण है।

यद्यपि सर्वत्र काव्यों में वणित पदार्थ विभावादिरूप पर्यवसित होते हैं, तथापि चित्र काव्य में स्पष्ट रूप से रसादि की प्रतीति न होने से इन दोनों काव्यों को व्यङ्ग्य रहित तथा अधम काव्य कहा गया है।

काव्य प्रकाश में चित्र काव्य प्रभेद निरूपणात्मक

षष्ठ उल्लास समाप्त हुआ।

सप्तम उल्लास

काव्य दोषों का निरूपण—

जैसे दोष की कालिमा किसी व्यक्ति उत्कर्ष में विघातक होती है, उसी प्रकार काव्य-दोष भी काव्यार्थ के मुख्य प्रतीति के उत्कर्ष के विघातक होते हैं।

स्याद् वपु सुन्दरमभिविषयेणेकेन दुर्भगम् ॥

किसी कामिनी का शरीर चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो परन्तु उसके अङ्ग में यदि कुष्ठ का छोटा सा भी दाग है तो वह मौन्द्यं भद्रा के लिए तिरस्कृत हो जाता है।

कविता कामिनी का भी यही हाल है किन्तु ही सुन्दर कविता क्यों न हो, यदि थोड़ी सी व्याकरण सम्बन्धी त्रुटि दिखाई देती है तो वह सारी कविता फोकी (नीरस) मालुम पड़ती है।

एक भी कर्ण बट्ट शब्द श्रोता को उद्ध्वित कर देता है। इसलिए कवि और लेखक को हमेशा इन काव्यगत दोषों से बचना चाहिए। अतः दोषों के परिहार के लिए सर्वप्रथम दोषों का ज्ञान आवश्यक है।

दोष सामान्य का लक्षण काव्य प्रकार में इस प्रकार किया है—

“मुख्यार्थदृतिर्दोषः”

मुख्यस्यार्थस्य दृतिरपकर्षो यस्मात्स दोष इत्यर्थः ।

अथवा

मुख्यार्थो ह्यनेत्यकृत्पनेऽनेनेति करणसाधनो दृति शब्द एवञ्च—मुख्यार्था-
पकर्षकत्व दोषत्वमिति दोष सामान्यलक्षणम् ।

अर्थात्—मुख्यार्थ का अपकर्ष जिसने होता है, उसको दोष कहते हैं।
मुख्यार्थ का मतलब यहाँ रस है।

“रसरस मुख्य”

इसलिए मुख्यार्थ विपणक रसविपणिणी जो प्रतीति, उस प्रतीति के अपकर्षक कारण को दोष कहते हैं।

रस का आश्रय होने से वाच्य (वच्य) को भी मुख्यार्थ कहते हैं। इसलिए रस के साथ चमत्कारी वाच्य के अकर्षक को भी दोष कहते हैं। यह वच्य दोष है।

“तदाश्रयाद्वाच्य”

अर्थ रस का आश्रय है, इसलिए वह दोष अर्थगत भी होगा ।

उभयोपयोगिन स्यु शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स ।.१॥

शब्दादि रस तथा वाच्य (अर्थ) दोनों के बोधन में उपकारक (सहायक) होते हैं, इसलिए इनमें भी यह दोष रहता है ।

अत दोष पाँच प्रकार का होता है—

(१) पददोष (२) प्रदाशदोष (३) वाक्यदोष, (४) अर्थदोष, और (५) रसदोष,

विघ्नार के भय में समग्र दोषों का वर्णन लक्षण उदाहरण द्वारा उनका विवेचन यहाँ अमम्भव है । अत मुख्य मुख्य काव्य दोषों का दिग्दर्शन कराया जाता है—

पददोष—

(१) श्रुतिकटु दोष—बठोर व कर्णकटु वर्णों में जो पद रस का अपकर्ण करें, उसे श्रुतिकटु दोष कहते हैं ।

उदाहरण—

“कार्ताय्यं लभते कदा”

यहाँ यह कृतायस्म भाव कार्ताय्यम् यह शब्द कर्णकटु है । प्राय रेफ घटितसयुक्त वर्ण कविता के माधुर्य का अपहरण करते हैं । अतएव किसी विद्वान ने कहा भी है—

“स्वायत्ते शब्दप्रयोगे कर्णोपतापकप्रयोगेण श्रोतुहृदवेगो रसापकर्णाय भवति” जैसे हिन्दी का यह पचाश —

“पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता” ।

यहाँ “विषयोत्कृष्टता और विचारोत्कृष्टता” इन पदों के अक्षरों का योग, सयोग व रेफ व कारण कानों व लिए कर्णकटु है ।

(२) च्युतसंस्कृति दोष—व्याकरण के संस्कार से हीन पद च्युतसंस्कृति दोष से दूष्ट होता है ।

उदाहरण—

“वीन त्वामनुनाथते कुचयुग पत्रावृत्त मा कृषा. ॥

याचनार्थक नाथ घातु परस्मैपदी है, “आज्ञिथिनाथ” इस सूत्र से केवल आशी अर्थ में ही आत्मनेपद का विधान है, अत अनुनाथते यह पद च्युतसंस्कृति दोष से दूष्ट है ।

(३) अप्रयुक्त दोष—कोपादि में उस अर्थ में होने पर भी कवियों के द्वारा उस अर्थ में प्रयुक्त न हो। जैसे “ईवत” शब्द कोप की दृष्टि से उभय लिङ्ग-पुलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग में पठित है, पर कवियों के द्वारा इसका प्रयोग पुलिङ्ग में नहीं किया जाता है अतः ‘दैवत’ यह पद अप्रयुक्त दोष से क्षुण्णित है।

(४) निहतार्थ दोष—दो अर्थ वाले पद को अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करना निहतार्थ दोष कहलाता है। जैसे “शोणित” पद का रक्षित रूप अर्थ ही प्रसिद्ध है, न कि रक्त या लाल रंग, अतः शोणित पद का लालरंग के अर्थ में प्रयोग दोष ही है।

(५) अनुचितार्थ—अनुचित अर्थ वाले पद,

(६) निरर्थक—जिसका पादपूर्ति के लिए प्रयोग किया जाए।

(७) अवाचक—कवि विपक्षित अर्थ का जो वाचक न हो जैसे भारवि के ‘अवन्ध्यकोपस्या’ इत्यादि पद में “जन्तु” पद का अदाता अर्थ में प्रयोग किया, परन्तु यह पद इस अर्थ का वाचक नहीं है। अपितु अमर्षशून्य व्यक्ति की तुच्छता का सूचक है।

(८) अश्लोत दोष—तीन प्रकार का होता है, बीडा, जुगुप्सा तथा अमङ्गल के भेद से, काव्य में हमेशा शिष्ट शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। बीडा व्यञ्जक या जुगुप्सा और अमङ्गल व्यञ्जक शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(९) ग्राम्य दोष—यह भी एक प्रकार का अशिष्ट या अशिक्षित प्रयुक्त दोष है, काव्य में नागरिक भाषा का ही अधिक प्रयोग होना चाहिए।

(१०) सद्विध दोष—ऐसे पद या वाक्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे उनके अर्थ में या प्रकृति पद में सन्देह हो, यह दोष पद, वाक्य तथा अर्थगत है।

(११) अविमृष्टविधेयाश—वाक्य में विधेय अश की प्रधानता होती है, पर कभी कभी ऐसा होता है कि विधेय अश का मुख्यरूप से प्रतिपादन नहीं होता है। तब एक गम्भीर दोष उत्पन्न हो जाता है, जिसका नाम है—अविमृष्टविधेयाश और “यत्तदोन्वित्यसम्बन्धः” इस नियमानुसार यत् पद यदि उद्देश्य हो तो बाद में तद् पद से उसका विधान करना चाहिए, ऐसा न करने से दोष होता है। जैसा कि काव्यप्रकाश की वागमती टीका में लिखा है—

“इदमन्वोद्देश्य विधेयभावविधेयसम्बन्धतया”

“यच्छब्दप्रतिपाद्य सिद्धत्वेन प्रतीयमानमनुवाद्यमुद्देश्यम्, तदादि शब्द प्रतिपाद्य-मुद्देश्यसम्बन्धितया अपूर्वबोधविधेयभूत विधेयम् यथा—“यः क्रियावान् स

पण्डित" इत्यादी क्रियावन्तमुद्दिश्यानेदेन पण्डितः स्वरूपसम्बन्धेन पण्डितत्व वा विधीयते ।

"जिसे हमने कल बुलाया था वही राम अब आया है ।" इस वाक्य में जिसे तथा वही का प्रयोग ठीक हुआ है । यदि यत् और तत् शब्द को पास रख दिया जाए तो वह विधेय अश की ठीक-ठीक प्रतीति नहीं करा सकता है ।

समास के अन्दर आ जाने से भी किसी पद का प्राधान्य मुप्त हो जाता है ऐसी स्थिति में विधेय अश को समास के भीतर प्रविष्ट कर देना नितान्त अनुचित है—

उदाहरण—पार्वती के समक्ष यह शिवजी का वर्णन है—“वपुर्विशपाक्षम-सद्व्यतन्मता” अर्थात् शरीर विरूप आँव (तीन आँख) वाला है तथा अदृष्ट जन्म भाव वर्तमान है । विवक्षित अर्थ है कि शिव जी का जन्म अतक्षित है । परन्तु समास के भीतर रख देने से उसका जोर चला गया, और प्राधान्य नष्ट हो गया, यह अनुचित है ।

वाक्यदोष

ऊपर जिन प्रधान पद दोषों का उल्लेख किया गया है इसमें से कतिपय दोष पदांश में भी विद्यमान रहते हैं । प्रायः समस्त पद दोष वाक्यों में भी रहते हैं । परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ त्रिषण्ड वाक्य दोष भी होते हैं, जिनकी स्थिति केवल वाक्य में होती है ।

(१) प्रतिकूलवर्णता—जहाँ वर्ण प्रकृत-रस के पोषक नहीं होते वहाँ प्रतिकूल वर्णता दोष होता है । जैसे—शृङ्गार रस में “अकुण्डोत्कण्ठया पूर्णमा-कण्ठ कलरुण्डि माम्” इत्यादि पद्य में कवि ने ट वर्ण का प्रयोग किया है, जब कि ट वर्ण शृङ्गार रस का परिपन्थी है ।

(२) न्यूनपदता—जहाँ पदों की कमी हो, वहाँ न्यून पदता नामक दोष होता है—जैसे—

नृप तिहारे खड्ग ते प्रकट भयो जस फूल ।

हे राजन् तुम्हारे तलवार से यश रूपी फूल प्रकट हुआ । यहाँ यश को फूल कहा गया है, अतः खड्ग को लता कहना चाहिए था, लता पद की कमी होने से न्यूनपदता दोष है ।

(३) अधिकपदता—अभीष्ट अर्थ से अधिक पद हो जाने से अधिकपदता दोष होता है, वैसे नियम तो यह है कि जितना अर्थ हो उतना ही शब्द प्रयोग भी होना चाहिए । जैसे—

इस तिहारे शत्रु को खड्गलता अहिराज - तुम्हारी तलवार लतारूपी सर्प शत्रुओ को डस रहा है । यहाँ लता पद िना किमी प्रयोजन के रखा गया है । अतः अधिकपदता दोष है ।

(४) अभवन्मत धोष—वाक्य में अभिमत अर्थात् इष्ट सम्बन्ध का न होना ।

वाक्य में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध होना नितान्त आवश्यक है, परन्तु कभी कभी यह अभीष्ट सम्बन्ध नहीं बनता, “गुणानाञ्च परार्थत्वासम्बन्धः समत्वात् स्यात्” अर्थात् प्रधान प्रधान के लिए होते हैं, दो या अधिक अप्रधानों का आपस में सम्बन्ध नहीं होता है । भीमाभा के इस नियम के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त अवान्तर पदों का सम्बन्ध मुख्य वाक्य से ही होना चाहिए ।

जैसे—“विद्यालय के जो अध्यक्ष गणित विद्या में पारङ्गत हैं, तथा जिनके ऊपर डम नगर को पूरा अभिमान है, आज उन्हीं की अभ्यर्चना है”

यहाँ आरम्भ में दो अवान्तर वाक्य हैं, तथा अन्त में हैं मुख्य वाक्य, इन तीनों वाक्यों में अध्यक्ष पद का सम्बन्ध अभीष्ट है, परन्तु उमें प्रथम अवान्तर वाक्य में ही अन्तर्निविष्ट होने के कारण अभिमत सम्बन्ध बनना नहीं है, अर्थात् उसका सम्बन्ध दो अन्य वाक्यों के साथ मिश्र नहीं होता है ।

(५) कथितपदता—बार-बार एक पद का प्रयोग करना, यह दोष कवि के शब्द दारिद्र्य को प्रकट करता है ।

उदाहरण—

रतिलीला श्रम मिते सलीलमनिलो वहन् ॥

रतिलीला श्रम को हरत लीला युत चलि पौन ॥

यहाँ लीला शब्द का प्रयोग दो बार किया है ।

(६) भ्रम प्रक्रमता—निबन्ध अथवा कविता जिन क्रम में प्रारम्भ की जाए उसी क्रम या तत्सम्बन्ध वाक्यों को उसी क्रम में समाप्त करना चाहिए, ऐसा जहाँ नहीं किया जाए वहाँ यह दोष होता है ।

उदाहरण—

नाथे निशाया निघतेनिघोनादस्त गते हन्त निशाऽपि याता ॥

देववक्ष निशा नायक चन्द्र के अस्त हो जाने पर निशा भी चली गयी । यहाँ प्रारम्भ गम् धातु से “अस्तङ्गते” कह कर “याता” या घातु से उपसहार किया, अतः यह प्रक्रम भङ्ग है । “गता निशाऽपि” यह पाठ उचित था ।

यहाँ एक ही पद का दो बार प्रयोग करने से कथितपदना दोष की गड़्ढा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह पुनश्चन या कथितपदना दोष तो उद्देश्य प्रतिनिद्देश्य से भिन्न स्थला म होता है ।

जहाँ उद्देश्य प्रतिनिद्देश्यभाव हो वहाँ तो पदान्तर से प्रतिपादित वह अर्थ प्रकृत प्रतीति का स्थगन कर देना है ।

उद्देश्य प्रतिनिद्देश्य का उदाहरण—

उदेति सविता ताप्रस्ताञ्च एवास्तमेति च ।

सम्पत्ती च विपत्ती च महतामेकरूपता ॥१॥

उदय होत रवि रक्त अरु रक्तहि होवत अस्त ।

सपत्ति और विपत्ति मे सज्जन होत न व्यस्त ॥१॥

अर्थ दोष—

अर्थ की दृष्टिगतता के लिए कनिषथ नियमों का पालन किया जाता है, जिसमें अर्थ की स्वच्छता व दृष्टिगतता बनी रहती है । यदि उन नियमों का उल्लंघन किया जाए तो अर्थ में अस्वच्छता आने लगती है यही अर्थगत-अस्वच्छता ही अर्थ दोष है । जिनमें मुख्यतः ये हैं—

(१) कष्टार्थता—अर्थ के समझने में जहाँ कष्ट हो जैसे—

तौ पर चारो चार मृग चारविहग फल चार

तुम पर मैं चार पशु निठावर करनी हूँ । नयन पर मृग घूँघुट पर हय, गति पर हाथी, तथा बटि पर सिंह, वचन पर कोकिला की, ग्रीवापर कपोल की, बैजपर मयूर की, तथा नाभिका पर शुक्ल शो, इस प्रकार चार पक्षियों को मैं निठावर करती हूँ । और चार फल को भी दन्त पर दाडिम की, कुच पर श्रीफल की, अजगर पर विम्बफल का, तथा कपोल पर मधुक को वारती हूँ । स्पष्ट ही इसका अर्थ करना अत्यन्त कठिन है ।

(२) व्याहृतता—जहाँ किसी वस्तु का महत्त्व दिखलाकर फिर हीनता दिखलाई जाए, या पहन हीनता दिखलाकर फिर महत्त्व दिखलाया जाय वहाँ व्याहृतत्व दोष होता है । जैसे—

ओरन के मनहरन को चन्द्रकलादि अनेक ।

मोहि सुखद दूगचन्द्रिका प्रिया वही है एक ॥१॥

यहाँ पूर्वार्ध में चन्द्र की निन्दा की और उत्तरार्ध में उमी चन्द्रकला को अपने लिए सुखद माना है ।

(३) प्रतिद्विविध—“कवि नमय स्याति” के विरुद्ध अर्थ का जहाँ वर्णन हो। जैसे—

उपपरिसर मोदावर्ष्या परित्यजताच्छवाः ?

सरणिमपरो भागंस्तावद् भवद्भिरवेक्ष्यताम् ।

इह हि विहितो रक्षाशोकः कयापि हनाशया,

धरमनलिनग्यासोवञ्चन्नवाङ्मु रकञ्चुकः ॥१॥

मूलि न जहयो पयिक ? तुम तिहि सरिता पथ घोरे ।

तदणि पदाहत अङ्कुरित नय अशोक उहि घोरे ॥१॥

पयिक को कोई उम नदी की ओर बढ़ने में रोक रहा है, जहाँ के नवीन अशोक वृक्ष तरुणी के पैरों के आघात में अङ्कुरित हो उठे हैं। यहाँ कवि समय का विरोध है। तरुणी के पैरों की चोट में अशोक क्लिप्त है, अङ्कुरित नहीं होता, अतः प्रसिद्ध विरुद्धि है।

(४) अनवीकृत्य—जहाँ अर्थों में नवीनता नहीं लाई गयी हो। वल्कि अर्थ एक सा हो वहाँ यह दोष होता है।

सदा करत नम गौन रवि, सदा चलत है गौन ।

सदा धरत मूवि दोष मिर, घोरे सदा रहे मौन ।

चारों चरणों में “सदा” के प्रयोग में अर्थ में नवीनता नहीं आई है, अतः यहाँ अनवीकृत दोष है।

(५) साकाङ्क्षता—जिस अर्थ की पूर्ति होने में कुछ शब्दों की आकाङ्क्षा बनी रहती है, वहाँ यह दोष होता है।

परम विरागी चित्त निज पुनि देवन को काम ।

जननी शचि पुनि पितु वचन, क्यों तजि हैं वन राम ॥

रामचन्द्र का चित्त तो स्वयं परम वैराग्य युक्त है। फिर देवताओं का काय भी करना है, जननी के कर्ण को इच्छा, और पिता दगरथ का वचन ठहरा, ऐसी स्थिति में राम वन को क्यों छोड़ेंगे? अभिप्राय यह है कि वन का जाना क्यों छोड़ेंगे। इस दोहे में तजिहें की जगह “जाय” इस पद की आकाङ्क्षा है। सब “क्यों न जाय वन राम” ऐसा भाव्य होगा।

(६) प्रकाशितविरुद्धता—जहाँ किसी विरुद्ध अर्थ का प्रकाशन हो, वहाँ यह दोष होता है।

कुमारस्ते नराधीन धिय समधिगच्छतु ।

राज्यलक्ष्मि को प्राप्त हो नृपतय जेष्ठ कुमार ॥

हे राजन् ! आपका ज्येष्ठ कुमार राजलक्ष्मी को प्राप्त करे इस वाक्य में राजा के मरने का अर्थ प्रकाशित होता है, क्योंकि जब राजा का देहान्त होगा तब ज्येष्ठ कुमार राजलक्ष्मी को प्राप्त करेगा ।

अतः प्रकाशित अर्थ से विरुद्ध अर्थ के प्रकाशन होने से यह दोष है ।

रस दोष—

रस दोष ही काव्य का मुख्य दोष है, रसोन्मीलन की प्रक्रिया में काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने कतिपय आधारभूत नियमों का निर्देश किया है । जिनके अनुपालन से काव्य सरस सुन्दर तथा सहृदयावर्जक होता है और इन नियमों का तिरस्कार करने से काव्य नितान्त दुष्ट तथा उपहास्यास्पद होता है । अतः आधारभूत इन नियमों का अनुशीलन अपेक्षित है—

(१) "व्यभिचारिरसस्याधिभावना शब्दवाच्यता"
दोषाय भवतीत्यर्थ ।

रस सर्वदा व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा उन्मीलित होता है । अभिधा के द्वारा उसका प्रकाशन कथमपि नहीं हो सकता है । यही नियम स्याधिभाव तथा व्यभिचारो भावों के लिए भी है, इस नियम का उल्लंघन करने से "स्वशब्द वाच्यता" नामक रस का उदय होता है ।

यथा—"तामुद्ब्रीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो न कोप्यजायत" इत्यादि शृङ्गार रस के प्रकरण में रस को रस शब्द से अभिहित कर देने से स्व शब्द वाच्यता दोष है । "उस योद्धा को देखकर हमारे हृदय में वीररस उमड़ पड़ा ।" इस वाक्य में वीररस स्व शब्द वाच्य होने से रस की सत्ता नितान्त अनुचिद है, किन्तु यहाँ वीररस की अभिव्यक्ति उसके विभाव व अनुभावों के द्वारा ही होनी चाहिए ।

(२) कष्ट कल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयो ।

किसी पद्य में अनुभाव तथा विभाव का उन्मीलन सरल स्वाभाविक ढंग से होना चाहिए । यदि इनकी अभिव्यक्ति कष्ट कल्पना से करनी पड़े तो रस दोष माना जाता है ।

यथा—"परिहरति रतिं मतिं सुनीते" इत्यादि पद्य में वर्णित नायिका की वेचनी आदि अनुभाव, न केवल शृङ्गार रस में अपि तु करुण रस में या भयानक वीभत्स आदि रसों में भी पाये जाते हैं अतः कामनी रूप प्रालम्बन विभाव यहाँ कठिनाई से प्रतीत होता है ।

(३) प्रतिकूलविभावादिग्रह ।

विरोधी रस के विभावादि का ग्रहण नहीं करना चाहिए । जैसे—शृङ्गार रस के प्रसङ्ग में प्रकृत के प्रतिकूल शान्त रस के विभाव का वर्णन करना—

“न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गत. कालहरिण.” इत्यादि ।

(४) पुन पुन दीप्ति.

पुन पुन उसी रस की दीप्ति दोष माना जाता है । जैसे—कुमारसम्भव में “रति विलाप” के समय कल्प की बार बार दीप्ति अनुचित है ।

(५) अकाण्डे प्रथमच्छेदौ

अवानक न तो रस का प्रस्तार करना चाहिए और न प्रानङ्गिक रस का सहसा उच्छेद ही करना चाहिए ।

(६) अङ्गस्थाप्यतिविस्तृति

अङ्गी मुख्य रस का ही काव्य में विशेष वर्णन उचित है, अङ्ग का अत्यन्त विस्तार कभी नहीं करना चाहिए । ऐसा करने से अङ्गानिविम्बुति नामक रस दोष होता है ।

(७) अङ्गिनोऽननुसन्धानम्

काव्य या नाटक में अङ्गी पदार्थ नायक का ही वर्णन तथा अनुसन्धान सदा आवश्यक रहता है । उसका निरस्तार कर उसे दिलकुल भुला देना नितान्त अनुचित है ।

(८) प्रकृतौ विपर्यय

नाटक में चित्रित पात्रों के कर्म तथा व्यवसाय उनके स्वल्प के अनुसार ही ही होना चाहिए, प्रकृति—अर्थात् पात्र तीन प्रकार के होते हैं । (१) दिव्य—स्वर्गीय देव अप्सर्यु आदि । (२) अदिव्य—पृथ्वीचारी जीव मर्त्यलोकम्य । (३) दिव्यादिव्य—दोनों गुणों में मिश्रित पात्र ।

इनके स्वस्वों के अनुसार ही इनके कर्म व व्यवहार का काव्य या नाटक में चित्रण करना कवि का परम धर्म है । तभी तो दर्शकों के मन में इनका यथार्थ प्रभाव पड़ता है, अन्यथा तो प्रकृति विपर्यय नामक दोष होता है ।

काव्य के दोषों में रस दोष ही अन्तरङ्ग दोष माना गया है, अन्य दोष तदपेक्षया बहिरङ्ग हैं । दोषों का विभाजन आचार्यों ने इस प्रकार भी किया है, कुछ दोष नित्य होते हैं, और कुछ अनित्य ।

(१) नित्य दोष—जो हमेशा दोष ही बने रहते हैं । वे नित्य दोष कहलाते हैं । जैसे च्युतप्रसृत्तत्वादि ।

(२) अनित्य दोष—जो किसी अवस्था विशेष में दोषत्व को छोड़कर गुण हो जाते हैं वे अनित्य दोष कहलाते हैं।

जैसे—श्रुतिकटुत्व दोष—यह शृङ्गार रस में ही दोष होगा, परन्तु वीर, वीभत्स व रौद्र रस में गुण बन जाता है। इसी तरह “अधिकपदता” यह भी दोष है, और कथितपदता, परन्तु भय तथा हृपं की स्थिति में यह वक्रता के मुख से अधिक पदों का प्रयोग उचित ही है।

दोषों का प्रतिप्रसव—

सञ्चायदिविद्वस्य वाध्यस्योक्तिगुणावहा ।

प्रकृत रस के विपरीत सञ्चारिभाव अनुभाव तथा विभाव आदि का वाध्यत्वेन कथन करना, दोष नहीं अपितु गुणाघायक ही है।

धया—

सत्य मनोरमा रामा सत्य रम्या विभूतयः ।

किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोत्त हि जीवितम् ॥१॥

यह सच है कि स्त्रियाँ बड़ी मनोरम होती हैं, और यह भी सच है कि सम्पत्ति भी बड़ी रमणीय होती है। परन्तु उन सबके भोग करने का साधनभूत यह जीवन तो मदमत्त म्त्री के बटाश के समान क्षणभङ्गुर है।

इस पद्य में शान्तरस मुख्य है, परन्तु मनोरमा रामाओं की चर्चा करके कवि ने शृङ्गार रस के आलम्बन विभावरूप अङ्ग का उसमें समावेश कर दिया है। फिर भी इन मनोरमाओं की चर्चा में पाठक के हृदय में शृङ्गाररस की अनुभूति नहीं होती है और मत्ताङ्गनापाङ्गरूप शृङ्गाररस का अनुभाव भी शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं है, बल्कि इससे जीवन की क्षणभङ्गुरता का प्रतिपादन बड़े सुन्दर ढंग से हो रहा है। इसलिए विषयो से विमुख होने की शिक्षा इस पद्य में सरलता से मिल जाती है, साथ ही साथ कोरे शान्तरस चर्चा में शृङ्गार का पुट भी सौन्दर्य ला देता है। इसलिए यहाँ दोष नहीं है, यह ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है—

दिनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभायमेव वा ।

तद्विहृदरसस्पर्शस्तदङ्गाना न दुष्यति ॥ (ध्वन्यालोक)

परन्तु यहाँ काव्यप्रकाशकार का समीक्षण सिद्धान्त इस प्रकार है—यहाँ विरोधी रसाङ्ग के बाध्यत्वेन कथन में दोष नहीं होता है। यह सिद्धान्त जब स्थिर हो चुका है तो उसी से यहाँ काम चल जायेगा। फिर मत्ताङ्गनापाङ्गरूप

अनुभाव को उपमान बनाकर जीवन की अस्थिरता को उपमेयरूप में प्रस्तुत किया है। अतः अधिक गुण वाले उपभूत मनाङ्गनापाङ्ग की अस्थिरता उपमेयभूत जीवन की अस्थिरता से अधिक है यह उचित ही है। अतः मनाङ्गनापाङ्ग के साथ जीवन की अस्थिरता का उपमानोपमेयभाव तदवत् जीवन की क्षणभङ्गुरता को प्रस्तुत करते हुए शान्तरस को ही पुण्ड कर रहा है। शृङ्गाररस को नहीं। इसलिए उक्त स्थल में विरोध परिहार के लिए किसी नये नियम की आवश्यकता नहीं है।

काव्यप्रकाश में दोष दर्शन नामक

॥ सप्तम उल्लास समाप्त ॥



अष्टम उल्लास

गुण निरूपण—

शारीरिक दोषों के कारण कोई व्यक्ति उतना ही हेय हो जाता है जितना मानसिक दोषों के कारण, उसी प्रकार शूरता, वीरता, सत्यवादिता आदि गुणों के कारण कोई भी व्यक्ति समाज में आदर पाता है।

काव्य जगत् की भी ठीक यही दशा है, दोषों के कारण यदि कोई काव्य हेय तथा निन्दनीय माना जाता है, तो वही माधुर्य या श्रवणपेशलता के कारण प्रशंसनीय होता है, तथा श्रोताओं के हृदय को आकृष्ट करता है।

इस प्रकार गुण काव्य की शोभा बढ़ाने वाले अन्तरङ्गधर्म होते हैं। अलंकार का स्वभाव इससे भिन्न होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि— काव्य में सदा विद्यमान रहने वाले, शोभा के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले रस के धर्म को गुण कहते हैं। जैसा कि आचार्य मम्मट का कथन है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्फुरत्त्वस्थितयो गुणा ॥१॥

अर्थात्—शूरता, वीरता, उदारता आदि गुण जैसे आत्मा के उत्कर्षाघायक होते हैं, उसी प्रकार अङ्गीरस नित्यधर्म, माधुर्य, ओज, प्रसाद गुण भी अङ्गीरस के उत्कर्षाघायक होते हैं।

गुण और अलंकार के भेद—

ग्रन्थकार के मत में गुणरस के उत्कर्षाघायक, रस के अव्यभिचारी (अचल नित्य) और रस मात्रनिष्ठ धर्म हैं, जबकि अलंकार उनसे भिन्न है। वे रस के बिना रह भी सकते हैं, और रसनिष्ठ होने पर कभी रस के पोषक भी हो सकते हैं, और कभी रस के पोषक नहीं भी हो सकते हैं।

एव च— रसोत्कर्षकत्वे सति, रसाव्यभिचारिस्थितित्वम्, अव्यभिचारेण रसोपकारकत्वञ्चेति गुणसामान्यलक्षणम् तथा च रसोत्कर्षकत्वे सति रसव्यभिचारीस्थितित्वम् । अनियमेन च रसोपकारकत्वमलङ्कारसामान्यलक्षणम् ॥

यही गुण और अलंकार में भेद है।

भामह विवरण के लेखक भट्टोद्भट्ट का मत—

भट्टोद्भट्ट के मत में गुण तथा अलंकारों में कोई भेद नहीं है। लौकिक गुण तथा अलंकारों में तो यह भेद किया जा सकता है कि हारादि अलंकारों का शरीर के साथ संयोग सम्बन्ध है, और शीर्षादि गुणों का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध है, इसलिए लौकिक गुण तथा अलंकार में भेद माना जा सकता है। परन्तु काव्य में तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार दोनों ही समवाय सम्बन्ध में रहते हैं, इसलिए काव्य में अनेक भेद का उपपादान नहीं किया जा सकता है।

वामन का मत—

दूसरा मत काव्यालङ्कारमूत्र के निर्माता वामन का है। यह भेदवादी मत है। वामन गुण और अलंकार में भेद मानते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ में इन दोनों का भेद इस प्रकार दिखाया है—

काव्यशोभाया क्तारो धर्मा गुणा, तदतिशयहेतवस्तलङ्काराः ।

अर्थात्—काव्य शोभा के उत्सादक धर्म गुण हैं, और विद्यमान उम शोभा के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले धर्म अलंकार हैं। जैसे युवती के अन्दर मौन्दर्यादि गुणों के रहने पर ही अलङ्कार उसकी शोभा के अभिवर्द्धक होते हैं। वास्तविक शरीर शौन्दर्य न होने पर धारण किसे हुए भी सुन्दर अलङ्कार व्यर्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार काव्य में प्रमादादि गुणों के रहने पर ही यमक, उपमा आदि अलंकार उनके शोभावर्धक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्य स्वदते शुद्धगुण तदप्यतीव ।

विहित प्रणय निरन्तराभि सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभि ॥

यदि भवति वचश्च्युत गुणेषुो वपुरिव यौवनवन्धमङ्गनाया ।

अपि जनदयितानि दुर्भगत्व तियतमलङ्करणानि सथयन्ते ॥२॥

वामन के अनुसार गुण काव्य के अपरिह्रायं धर्म हैं, जिनके बिना काव्य की निष्पत्ति ही नहीं होती है। वामन के इसी वाक्य से प्रभावित होकर मम्मट ने काव्य के लक्षण में “सगुणौ” कहकर गुणों की अपरिहार्यता का उल्लेख तथा “अनलकृती पुन ववापि” यह निरक्षर अलङ्कारों का वैकल्पिक विधान किया।

आनन्दवर्धनाचार्य का मत—

गुण तथा अलंकार के भेद के विषय में ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य का मत इस प्रकार है—इन्होंने इन दोनों का भेद इस प्रकार दिखाया है—

तमयंपवत्सम्बन्ते घेऽङ्गिन ते गुणा स्मृता ।

अङ्गाधितास्तत्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकदिवत् ॥१॥

अभिप्राय यह है कि काव्य के आत्मभूत रमादिरूपवृत्ति के आवृत्त रहने वाले धर्म गुण हैं और काव्य के अङ्गभूत शब्द व अर्थ के धर्म अलङ्कार हैं ।

मम्मटाचार्य का मत—

मम्मट ने वामन के शोभाजनकत्व के स्थान पर उत्कर्षाघायकत्व हेतु की ही गुण और अलकारों के लिए ग्रहण किया, दोष सारा सिद्धान्त छव्यालोक-कार का ग्रहण किया । जैसे गुणों की रम्यधर्मता व अलकारों की शब्दाय धर्मता आदि ।

इसी के आधार पर इन्होंने अलकार का भी नक्षण किया—

उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥३॥

गुणों की सख्या में मतभेद—

गुणों की सख्या क विषय में आचार्यों में बड़ा मतभेद है, आद्य आचार्य भरत मुनि ने गुणों की सख्या दस मानी है । उनका नाम इस प्रकार है—

(१) श्लेष (२) प्रसाद (३) समता (४) ममाधि (५) माधुर्य (६) ओज (७) सुकुमारता (८) अर्थव्यक्ति (९) उदारता (१०) कान्ति । दण्डी के मत में भी गुणों की सख्या दस ही है, और उनके नाम भी यही हैं, सिर्फ इतने स्वरूप के विषय में कुछ फरक है । वामन ने इन गुणों शब्दगत तथा अतंगत भेद में द्विगुणित कर दिया । फलतः वामन के मत में गुणों की सख्या बीस हो गई ।

श्लेष प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता ।

अर्थव्यक्तिरुदारत्वभोज कान्तिसमाधय ॥

इति वैदभमागंस्य प्राणा दश गुणा मता ।

इति वामनोक्ता दशशब्दगुणा दश अर्थगुणाश्च ॥

परन्तु मम्मट ने इस सभी गुणों का माधुर्य ओज और प्रसाद इन तीन ही गुणों में कर दिया । उन्होंने लिखा है—

केचिदन्तभवन्त्येषु दोषत्यागात्परेश्रिता ।

अग्ये भजन्ति दोषत्व कुत्रचिन्म ततो दश ॥

ये दश शब्द गुण व दश अर्थगुण जो वामन द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं, वे कुछ इन्हीं तीन गुणों में समा आते हैं, और कुछ दोषाभावरूप हैं । कुछ दोष

वक्ता द्वारा अन्य प्रकार में कहा हुआ वाक्य दूसरे श्रोता या बोद्धा के द्वारा श्लेष या काकु से अन्य अभिप्राय में लगाया जाय तो श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति होती है ।

उदाहरण—

काले पयोधराणामपतितया नैव शक्यते स्यातुम् ॥

उत्कण्ठितासि तरले नहि नहि सखि पिच्छल. पन्या ।

अत्र “अपतितया” इति पति विने-पमिप्रायक स्ववचन पतनाभादेनेत्यर्थे स्वेनैवान्यया कृतम् ।

हिन्दी में—

गौरवशालिनी प्यारी हमारी सदा तुमहीं इक इष्ट अहो ।

हौं न गऊ, नहि ही अवशा, अलिनी हौं नहि अस काहे कहो ।

इस पद्य में शिव पार्वती का सवाद है ।

पद्य का पूर्वार्ध शिव का वचन है, इसमें शिवजी ने पार्वती को गौरव-शालिनी प्रिया कहा है ।

उत्तरार्ध पार्वती का उत्तर है, “गौरवशालिनी” इसका पदच्छेद कर पार्वती ने इसका दूसरा ही अर्थ किया । पदच्छेद इस प्रकार है—गौ-+अवशा +अलिनी । अतः दूसरा अर्थ लेकर पार्वती कह रही हैं—न तो मैं गऊ हूँ और न अवशा ही हूँ तथा न मैं अलिनी ही हूँ ऐसा क्यों कह रहे हो ।

(२) अनुप्रास—

वर्ण साम्यमनुप्रास ।

स्वरो के भेद होने पर भी व्यञ्जन वर्णों की समानता (रमानुकूल प्रकृष्ट मग्निवेश) को अनुप्रास कहते हैं ।

छेकवृत्तिगतो द्विधा ।

वह अनुप्रास दो प्रकार का है । छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास ।

छेकानुप्रास—

अनेक व्यञ्जनो की एक वार साम्य (आवृत्ति) को छेकानुप्रास कहते हैं ।

उदाहरण—

“ततोऽरुण परिस्पन्द मन्दीकृत यपु शशी”

यहाँ पकार तथा न्द आदि अनेक वर्णों का एक वार साम्य है ।

हिन्दी में—

राधा बर के बैन सुनि, धोनी चकित सुभाय ।
दास दु खो मितरी भुरी, सुधा रही सकुचाय ॥

यहाँ अनेक व्यञ्जनो की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है ।

वृत्त्यनुप्रास—

“एकाह्याप्यसकृत् पर.”

एक वर्ण का या अनेक वर्णों का अनेक बार साम्य (आवृत्ति) होने पर वृत्त्यनुप्रास होता है ।

उदाहरण—

अपसारय धनतार कुछ हार दूर एव कि कमलं ।
अलमलमालि ! भृणालरिति वदति दिवानिश बाला ॥

इस पद्य में रकार, ककार, लकार और मकार की बार-बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास नामक अलंकार है ।

वृत्त्यनुप्रास में गुण, वृत्ति, रीति आदि का समन्वय—

वृत्त्यनुप्रास के प्रसङ्ग में वृत्ति शब्द की व्याख्या आवश्यक है । वृत्ति रीति मार्ग, सञ्घटना तथा शैली शब्द प्रायः समानार्थक हैं ।

उद्भट ने अपने “शब्दालङ्कारसारसंग्रह” नामक ग्रन्थ में उपनागरिका, परुषा, तथा कोमला तीन प्रकार की वृत्तियों का वर्णन किया है । इन तीन प्रकार की वृत्तियों को वामन ने तीन प्रकार की रीतियों के नाम से, कुन्तक तथा दण्डी ने तीन प्रकार के “मार्गों” के रूप में और आनन्दवर्धनाचार्य ने तीन प्रकार की “सञ्घटना” के रूप में माना है ।

उद्भट ने इन तीनों वृत्तियों में वर्ण के साम्य को वृत्त्यनुप्रास कहा है—

सरूपव्यञ्जनन्यास तिस्रुप्वेतासु वृत्तिषु †
पृथक्-पृथकानुप्रासमुशन्ति कथय सदा ॥ (उद्भट)

राजशेखर के अनुसार रीति, वृत्ति, तथा प्रवृत्ति में पर्याय है । इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

- (१) वेदविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, (२) विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः ।
(३) वचनविन्यासक्रमो रीतिः ।

अर्थात्—राजशेखर के अनुसार वेप का के विन्यास का प्रकार प्रवृत्ति है ।
विन्यास का विन्यास वृत्ति है, तथा वचनो का विन्यास क्रम रीति है ।

मम्मट यहां उद्भट के अनुसार वृत्तियों का वर्णन कर रहे हैं—

माधुर्यं व्यञ्जकं वर्णोरूपनापरिकोच्यते

माधुर्यं व्यञ्जक वर्णों से युक्त वृत्ति उपनागरिका है ।

श्लोक प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा

श्लोक के प्रकाशक वर्णों से युक्त वृत्ति परुषावृत्ति है ।

कोमला परः

श्लोक वर्णों से युक्त वृत्ति कोमला वृत्ति कहलाती है । कोई आचार्य इसी को
शाम्या वृत्ति भी कहते हैं । ये नीनो वृत्तियाँ वामन आदि के मत में क्रमशः
वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली नामक रीतियाँ मानी गई हैं ।

लाटानुप्रास—

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रत

शब्द गत यह अनुप्रास लाटानुप्रास कहलाता है । शब्द और अर्थ का अभेद
होने पर भी अन्वय (तात्पर्य) मात्र के भेद से और लाट देस के विदग्धों को
प्रिय होने से यह लाटानुप्रास कहलाता है ।

उदाहरण—

यस्य न सविधे दयिता दबदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।

यस्य च सविधे दयिता दबदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥

जिसके समीप में दयिता नहीं है, उसके लिए (तुहिनदीधिति) चन्द्रमा
दावानल के समान है, और जिसके समीप में दयिता है उसके लिए दवानल भी
चन्द्रमा के समान (शीतल) होता है ।

यहाँ अनेक पदों की आवृत्ति है, पूर्वार्ध में तुहिनदीधिति में दबदहनत्व
विधेय है, और उत्तरार्ध में तुहिनदीधितित्व विधेय है, इसलिए तात्पर्य भेद-
उद्देश्य-विधेय भाव के भेद होने से यह लाटानुप्रास है ।

(३) यमक—

अर्थे सत्यर्थभिन्नाना वर्णाना सा पुन श्रुति ॥

यमकम्

अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उभी क्रम से श्रवण, (पुनरावृत्ति) यमक
नामक प्रलङ्कार कहलाता है ।

उदाहरण—

नव पलाश पलाश वन पुर स्फुटपराग परागत-पङ्कजम् ।
मृदुलतान्त लतान्तमलोकयत् स सुरभि सुरभि सुमनोभरै ॥

यह पद्य मिश्रुपालवध महाकाव्य के छठे सर्ग का है—भगवान् श्रीकृष्ण ने सुन्दर सुमनो से भरे हुए वस्त्र को देला, जिसमें पलाश वन नूतन किसलयों से परिपूर्ण था, और कमल पराग से व्याप्त थे, कोमल लतायें फैली हुई थीं । यह पलाश-पलाश और सुरभि-सुरभि इन दोनों जगह पदों की सार्थक आवृत्ति है, और उत्तरार्ध में लतान्त-लतान्त में प्रथम निरर्थक और द्वितीय सार्थक है ।

(४) श्लेष—

वाच्यमेदेन भिन्ना षट् सुगपद्भाष्यस्फुट ।
श्लिष्यन्ति शब्दा यत्रोऽसौ श्लेष ॥

भिन्न भिन्न अर्थों के बोधक, भिन्न भिन्न शब्द एक साथ उच्चारण के कारण, जब परस्पर मिल जाते हैं तब वह श्लेष अलंकार होता है ।

उदाहरण—

विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वय के पुनरसौ ।

ममस्त देवताओं के मान्य गुरु शिवजी की भी (बाल) टेढ़े (चन्द्रमा) (या भाग्य) के मस्तक पर स्थित होने पर जब यह दुरावस्था है, तब (क्षुद्र अत्यन्त तुच्छ) हमारी तो गिनती ही क्या है ।

यहां "विधौ" इस शब्द में विधु शब्द चन्द्रमा का वाचक, और विधि शब्द भाग्य का वाचक, दोनों ही प्रविष्ट हैं, विधु और विधि दोनों शब्दों का सप्तमी के एवचन में विधौ यह रूप बनेगा वन यहां शब्द श्लेष है ।

(५) चित्रालंकार—

तच्चित्र यत्र वर्णानां लङ्गाद्याकृति हेतुता ।

जहां (जिस वस्त्र में) वर्णों की रचना छद्म आदि की आकृति का हेतु, बने वह चित्र नामक अलंकार है ।

उदाहरण—

भासते प्रतिभासार, रसा-भवा हता विभा ।

भावितारमा शुभा वादे देवाभावत ते समा ॥१॥

हे प्रतिभासार, (अत्यन्त प्रतिभावान् राजन् !) शृङ्गारादि वधवा प्रीति रूप रसों से आपकी रभा अत्यन्त शोभित है । जिसमें वारम्बिन्तन होता है,

या सयनपूर्वक तत्त्वकथा मे निपुण होने से आपकी सभा देव सभा की तरह है ।

(६) पुनरुक्तवदाभास (उभयालङ्कार)—

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकार शब्दगा, एकार्यतेव ।

विभिन्न स्वरूप के शब्दो मे रहनेवाली (समानार्थक न होने पर भी) समानार्थता सी जो प्रतीत होती है वह पुनरुक्तवदाभास नामक अलंकार है । यह अलंकार शब्द, अर्थ व शब्दार्थोभयनिष्ठ है—

उदाहरण—

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखटनखर ।

तेजो घाम मह पृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥१॥

कृश शरीर (तनुवपु) होने पर भी (अजघन्य) श्रेष्ठ, बड़े श्रेष्ठ हाथियो के रक्त से रगे हुए तीक्ष्ण नखोवाला तेज का घाम, यह उदार मनवालो का राजा और सिंह विजयशील है ।

इत्तमे (तनु कुञ्जर, रक्त) इत्यादि कुछ पदो के परिवर्तन कर देने पर यह अलंकार नहीं रहता है, उस अश मे शब्दाश्रित है, ओर वपु कटि रुधिर इत्यादि के परिवर्तन कर देने पर भी अलंकार हानि नहीं होती है । इसलिए उस अश मे अर्थनिष्ठ है ।

अतः यह उभयालंकार है ।

काव्य प्रकाश मे शब्दालंकार निरूपण नामक
नवम उल्लास समाप्त हुआ ।

दशम उल्लास

अर्थात्कार—

अर्थात्कारो का विभाजन कुछ विशेष आधारो पर किया जाता है। जैसा कि नीचे दियाया जाना है—

(१) सादृश्यमूलक (२) विरोधमूलक (३) शृङ्खलाबन्धमूलक (४) तर्कन्यायमूलक (५) लोकरन्यायमूलक (६) वाक्यन्यायमूलक (७) गूढार्थप्रतीतिमूलक। प्रत्येक वर्ग के मुख्य-मुख्य अलकारो की विशेषता दिखलाने का प्रयास यहाँ किया जायेगा।

(१) सादृश्यमूलक अलकार—

ये अलकार सादृश्य या समानता की कल्पना पर प्रतिष्ठित रहते हैं। किसी अज्ञान वस्तु को समझने या समझाने का सबसे सुन्दर साधन सादृश्य है। सादृश्य के द्वारा हम किसी अज्ञान विषय का ज्ञान किसी व्यक्ति को करा सकते हैं। इस वगैरे अलकारों में मुख्य है—उपमा, कविता व उदय के साथ साथ ही उपमा का भी उदय हो गया था।

भारतीय वाङ्मय के निचाने बेशे में या वेद मन्त्रों में उपमा अपनी भव्यता, सुन्दरता तथा रमणीयता में पाठकों को मुग्ध करती है।

कविता का तो प्राण ही उपमा है।

अप्ययदीक्षित ने उपमा की तुलना एक नदी (शैलूषी) के साथ की है। रगमञ्च के ऊपर नदी नाना बेशभूषा से सज्जित होकर नाना रूपा में आती है, कभी वह शकुन्तला के रूप में अकनीर्ण होती है तो कभी किसी अन्यरूप में उपस्थित होती है। उसके बाहरी रूप अनेक हैं, परन्तु आवरण को हटाकर देखा जाए तो एक ही रूप उसका सर्वत्र दिखाई देगा। ठीक यही दशा उपमा की भी है, वह काव्य के रगमञ्च पर कभी रूपक कभी दीपक, कभी दृष्टान्त के रूप में आकर पाठकों का मनोरञ्जन करती है।

उपमेका शैलूषी सप्राप्ता चित्रभूमिका भवान् ।

रञ्जयति फापरङ्गे तृप्तो तद्विदा चेत ॥ (चित्र मी०)

सादृश्य की कल्पना का विवर्तन अन्यान्य अलकारों का आभास है। जैसा कि चित्रमीमांसकार अप्ययदीक्षित का कहना है—

चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा ।

संदोक्तिभङ्गीभेदेनानेकालकारभाव भजते ॥

तथाहि—चन्द्रइव मुख मुखमिव चन्द्र. इत्युपमेयोपमा मुख मुखमिव इत्यन्वयः । मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपम् । मुखचन्द्रेण ताप शाम्यति, इति परिणाम । किमिव मुखमुताद्ये चन्द्र इति सन्देह, चन्द्र इति चकोरादनमुख-मनुद्यावन्ति, चन्द्रोऽयं न मुखम् इत्यपह्नयः, नून चन्द्र. इत्युत्प्रेक्षा चन्द्रोऽयम्, इत्यतिशयोक्ति, इत्यादि उक्तानेकालकारविबर्तवतीयमुपमा ।

तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात् ।

ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते मिश्रितभेदसहिता सा ॥

इस प्रकार सभी अलंकार विवर्तों की अधिष्ठानभूता यह उपमा है । जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान से विश्व ज्ञात हो जाता है, ज्ञान्य और कृच्छ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता है, इसी प्रकार एक उपमा के ज्ञान में सारा अलंकार वर्ग ज्ञात हो जाता है ।

शाचार्यं मम्मट के अनुसार उपमा अलंकार का लक्षण इस प्रकार है—

“साधर्म्यमुपमा भेदे”

भेदे (उपमानोपमेययो) भेदे सति साधर्म्यं उपमा । समान, एक, सुल्यो या धर्मो गुणक्रियादिरूपो ययो ॥

अर्थात्—उपमानोपमेययो, तो सधर्माणी तयोर्भावि साधर्म्यम् । उपमानोपमेययो समानधर्मण सह सम्बन्ध, उपमा इति सूत्रार्थ ।

उदाहरणम्—चन्द्रइव मनोज्ञं मुखम् ।

अर्थात्—उपमा अलंकार में (१) उपमान (२) उपमेय (३) साधारण धर्म (४) उपमा वाचक शब्द इन चार पदार्थों का उपयोग होता है, दो सदृश पदार्थों में प्रायः अधिक गुणवाला पदार्थ उपमान होता है, और न्यून गुणवाला पदार्थ उपमेय होता है । “मुख” चन्द्रमा के समान सुन्दर है । यहाँ अधिक गुणवत्तया सम्भावित चन्द्रमा उपमान है, और न्यून गुणवत्तया सम्भावित मुख उपमेय है ।

सौन्दर्यं या मनोज्ञत्वं उन दोनों में रहने वाला साधारण धर्म है और यथा इव इत्यादि शब्द उपमा के वाचक शब्द होने हैं । इस प्रकार उपमान और उपमेय के समान धर्म के सम्बन्ध का वर्णन ही उपमा अलंकार कहलाता है ।

परन्तु उपमा अलंकार में उपमान तथा उपमेय में भेद होता आवश्यक है । अन्यथा “राम रावणयोर्षुद्ध रामरावणयोरिव” इत्यादि अतन्वयालंकार में भी

सादृश्य का वर्णन होने से लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है। इसलिए उपमा के लक्षण में भेद पद देना आवश्यक है अनन्वय में उपमान और उपमेय भिन्न नहीं रहते हैं। अतः “भेदे सति उपमानोपमेययो साधर्म्यमुपमा”, ऐसा लक्षण करने से अनन्वयालकार में लक्षण की व्याप्ति नहीं होती है।

यह उपमा पूर्णोपमा और लुप्तोरमा के भेद से दो प्रकार की होती है।

उपमान, उपमेय, साधारण, और उपमावाचक इव'दि पद, इन चारों का ग्रहण होने पर पूर्ण उपमा होती है, और इन चारों में से एक या दो या तीन का लोप होने पर लुप्तोपमा कहलाती है।

पूर्णोपमा के छ भेद—

पूर्णोपमा—प्रथम श्रौती और आर्यो के भेद से दो प्रकार की होती है। यह दोनों श्रौती तथा आर्यो उपमा वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत होने से छः प्रकार की होती है—

श्रौती उपमा—जहाँ उपमान के बाद उपमा वाचक—यथा, इव वा इत्यादि शब्द आर्यो, वहाँ श्रौती उपमा होती है। यद्यपि ये उपमा वाचक शब्द यथा इव वा, उपमान के विशेषण बनकर आते हैं, परन्तु (शब्द शक्ति की महिमा में) मुनन ही श्रवणमात्र से साधारण घर्म के सम्बन्ध रूप सादृश्य का भी बोध करा दत है। श्रवणमात्र से सम्बन्ध का बोध करा देने से “श्रौती उपमा” कहते हैं “तत्र तस्यैव” इस सूत्र से इवार्य में विहित घति प्रत्यय में तद्धितगा श्रौती उपमा होती है।

आर्यो उपमा—जहाँ तुल्य, सदृश, सकाश आदि उपमावाचक शब्द कभी उपमान के साथ कभी उपमेय के साथ या कभी दोनों के साथ अन्विष्ट होते हैं, वहाँ आर्यो उपमा होती है ये उपमा वाचक तुल्य, सदृश, निम्न, इत्यादि शब्द यद्यपि साक्षात् सादृश्य के वाचक होते हैं न कि साधारण घर्म रूप सम्बन्ध विशेष साम्य या साधर्म्य के पर अर्थ के पर्यालोचन के बाद उक्त सम्बन्ध की भी प्रतीति कराते हैं, इसलिए इनके प्रयोग में आर्यो उपमा होती है, और “तेन तुल्यक्रियाचेद्वति” इस सूत्र में विहित घति प्रत्यय होने पर तद्धितगा आर्यो उपमा होती है।

यह उभयविध पूर्णोपमा—वाक्यगत, तद्धितगत तथा समासगत होने से छ प्रकार की होती है।

श्रौती वाक्यगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

स्वप्नेऽपि समरेषु विजयघ्नीस्थां न मुञ्चति ॥

प्रभावप्रभव कान्त स्वाधीनपतिका यथा ॥१॥

यहाँ स्वाधीनपतिका उपमान है, निजयथी उपमेय है, न युञ्जति (अपरित्याग) साधारण धर्म है, यथा—

यह उपमा प्रतिपादक शब्द है। असमस्त यह वाक्य यथा शब्द द्वारा उपमा का प्रतिपादन होने से यह वाक्यमा श्रौती उपमा है।

आर्यों वाक्यमा पूर्णोपमा का उदाहरण—

वक्रितहरिणालोललोचनाया ऋधि तरुणारुणतारहारिकान्ति ।

सरसिजमिदमानन च तस्या सममिति चेतसि क्षमदं विधत्ते ॥

यहाँ सरसिज उपमान है आनन उपमेय है, अरुणसदृश कान्तिमत्त्व साधारण धर्म है। सम शब्द उपमा प्रतिपादक है। यहाँ "सरसिजमानन च समम्" इस पर सर्व प्रथम 'सादनययदभिन्नमिद द्वय, यह बोध होता है, पदचात् अर्थ पर्यालोचन से या अञ्जना से परस्पर निरूपित साधारण धर्म सपद्ध की प्रतीति होती है। अतः यह वाक्यमा आर्यों पूर्णोपमा है।

श्रौती समासमा पूर्णोपमा का उदाहरण—

अत्याधर्तनिपमकारिनिच्छताना दिव्यं प्रधानिरनपाममर्षेणार्चं ।

शौरिभुंजेरिव चतुर्भरद सदा यो लक्ष्मीविलासभवनंभुवनं बभार ॥

श्रीकृष्ण जिम प्रकार (विष्णुरूप में अपनी) चार भुजाओं से सत्कार को धारण करते हैं, उसी प्रकार यह राजा भी (साम दान दण्ड भेद रूप) चार उपायों से सदा सत्कार का पालन करना था। यहाँ भुजें उपमान हैं, और उपायों उपमेय हैं।

आयतत्त्वादि साधारण धर्म तथा इव उपमा प्रतिपादक शब्द है। "इवेन नित्यसमाप्तो विमकयतोपदच पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च" इस वार्तिक से भुजें इस उपमान वाचक पद के साथ 'इव' इस उपमा वाचक पद का नित्य समास होने से यह समासमा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण है।

आर्यों समासमा पूर्णोपमा का उदाहरण—

अवितथमनोरयपयप्रथनेषु प्रगुणगरिमगोतथीः ।

सुरतरुसदृश स भवानभिलषणीय क्षितीश्वर न कस्य ॥

अव्यर्थ मनोरय मार्गों के विस्तार में प्रकृष्ट गुण गरिमा के कारण जिमकी समृद्धि प्रसिद्ध है, इसलिए कल्पवृक्ष के समान है।

हे राजन् ? आप किसकी अभिलाषा के विषय नहीं हैं ? इसमें सुरतरु उपमान, क्षितीश्वर उपमेय, प्रगुणगरिमगोतथीत्व साधारण धर्म है, सत्य

उपमावाचक शब्द है। मुरतरसदृश में उपमान तथा उपमावाचक पदों का समास होने से यह समासगा धार्यो पूर्णोपमा है।

तद्वितगा श्रौती तथा धार्यो पूर्णोपमा का उदाहरण—

गाम्भीर्यं गरिमा तस्य सत्य गङ्गाभुजङ्गवत् ।

दुरालोक स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ॥१॥

उम राजा के गाम्भीर्य की गरिमा मत्स्यमुच समुद्र के समान है। युद्ध भूमि में ग्रीष्मकाल के सूर्य के समान वह बड़ी कठिनाई में देखा जा सकता है।

यहां पूर्वाधं में गङ्गाभुजङ्ग धर्यान् समुद्र उपमान है, तस्य उपमेय है, गाम्भीर्यं गरिमा माधारण धर्म है, “गङ्गाभुजङ्गस्य इव इति गङ्गाभुजङ्गवत्” इस विग्रह में “तत्र तस्यैव” इस सूत्र द्वारा इवार्थ में वति प्रत्यय है। अतः यहा तद्वितगा श्रौति पूर्णोपमा है।

उत्तराधं में निदाघाम्बर रत्न उपमान है, स उपमेय है, दुरालोकत्व साधारण धर्म है तथा “निदाघाम्बर रत्नवत्” में निदाघाम्बर रत्नेन तुल्य इति निदाघाम्बर रत्नवत्” इस विग्रह में “तेन तुल्य क्रिया चैद्वति” इस सूत्र द्वारा तुल्यार्थ में वति प्रत्यय होने से तद्वितगा धार्यो पूर्णोपमा है।

लुप्तोपमा—

पूर्णोपमा में उपमान, उपमेय, माधारण धर्म तथा उपमावाचक शब्द चारो शब्दत उपात्त होते हैं, इस प्रकार उपमा की सारी सामग्री शब्दत उपस्थित होने के कारण ही इसको पूर्णोपमा कहते हैं।

लुप्तोपमा में यह सारी सामग्री शब्दत उपात्त नहीं होती है, उपमान आदि चारो में से किसी न किसी का लोप अवश्य रहता है, इसलिए इसे लुप्तोपमा कहा जाता है। काव्यप्रकाश में लुप्तोपमा के १६ भेद दिखलाये हैं, जो इस प्रकार हैं—

विभाजक हेतु

नाम

उदाहरण

धर्म लुप्ता	१ समासगता-श्रौती	वाच मुधा इव ।
साधारण धर्म के लोप होने पर	२ वाक्यगता- ,,	मुष्मिन्दुर्यथा ।
	३ तद्वितगता-धार्यो	मनोदमवत् ।
५	४ समासगता- ,,	ओष्ठस्ते विम्बतुल्य ।
	५ वाक्यगता- ,,	पल्लवेन समः पापि ।

वाचकलुप्ता ६	१. समासगा २. कर्मण क्यचि ३. आधारात् क्यचि ४. क्यङि कर्त्तरि ५. कर्मणि णमुलि ६. कर्त्तरि णमुलि	कामिनी गण्डपाण्डुना । सुतमिवाचरति सुतीयति । अन्तपुरे इवाचरति अन्तपुरीयति । नारी इव वाचरति नारीयते । निदाघधर्मास्तुदर्शं पश्यति पार्थं सञ्चार सञ्चरति ।
-----------------	--	---

उपमान लुप्ता २	१. वाक्यगा २. समासगता	तस्या मुखेन सञ्चा रम्य नास्ते । न वा नयनतुल्य रम्य- मास्ते ।
-------------------	--------------------------	---

साधारण घम व वाचक के लोप मे २	१. क्वप्प्रत्ययगा २. समासगता	द्विषवति मुखञ्जमस्या । मुखाञ्जमस्या ।
------------------------------------	---------------------------------	--

घर्म व उपमान के लोप मे २	१. समासगता २. वाक्यगा	लोकेन वा नयनतुल्य- मास्ते । तस्या मुखेन सदृश नास्ते ।
--------------------------------	--------------------------	---

वाचक तथा उपमेय के लोप मे १	१. कर्मण. क्यचि	सहस्रायुधीयति ।
-------------------------------	-----------------	-----------------

उपमान वाचक शब्द व सामान्य घर्म तीनों के लोप होने पर १	१. समासगता	राजते भृगुलोचना ।
---	------------	-------------------

इस प्रकार लुप्तोपमा के १६ भेद होते हैं,

दशम उल्लास

अनन्वयालङ्कार—

एक ही वाक्य में एक ही के उपमान तथा उपमेय के अन्वय नामक अलङ्कार होता है ।

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।

अनन्वय '... ' ।

उदाहरणम्—

राम रावणघोरपुंढ्र राम रावणयोरिव ।

उपमेयोपमा—

विपर्यास उपमेयोपमा तपो ॥

उन दोनों (अर्थात् उपमान और उपमेय) का परिवर्तन हो जाता (उपमान का उपमेय, और उपमेय का उपमान रूप में वर्णन) उपमेयोपमा नामक अलङ्कार होता है ।

उदाहरण—

“कमलेव मतिर्मतिरिव कमला”

यहाँ प्रथम कमला उपमान मति उपमेय है, द्वितीय वार मति उपमान और कमला उपमेय है ।

उत्प्रेक्षा—

सम्भावनामयोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

प्रकृत-वर्ण्य उपमेय की सम (उपमान) के साथ सम्भावना (अर्थात् उत्कट एक कोटिक मन्वेह) उत्प्रेक्षा कहलानी है ।

उदाहरण—

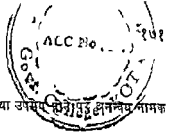
लिम्पतीव तमोङ्गानि धरतीवाञ्जन मन ।

धसत्पुरुष सेवेवदृष्टि विफलता गता ॥

इस पद्य में तम अन्धकार वा व्यापन आदि उपमेय की लेपनादि उपमान रूप से सम्भावना की गई है ।

ससम्बन्ध—

ससम्बन्धस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च सशय ।



उपमेय का उपमान के साथ समान कोटिक संशय होने पर सन्देह नामक धलकार होता है। यह एकत्र भेद कथन तथा अपरत्र भेद के अरूपन में दो प्रकार का होता है।

उदाहरण—

उपमान व उपमेय दोनों का भेद कथन—

ध्रुव मातृशब्द. कि ? त खलु तुरगं सप्तभिरित ।

यह (राजा) सूर्य है क्या ? (यह सगय हुआ,) परन्तु सूर्य तो सात घोड़ों से युक्त होता है, (यह भेद कथन है)।

भेद की अनुक्ति अकथन—

अस्या सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रद ।

इस (नायिका) के निर्माण में क्या कान्ति को देने वाला चन्द्रमा ही प्रजापति बना था, अर्थात् क्या स्वयं चन्द्रमा ने अपनी कान्ति में इसका निर्माण किया है।

इन पद्य में उर्वशी के निर्माण में प्रकृत प्रजापतिरूप उपमेय में चन्द्रमदन वसन्तादि नाना कोटिक अप्रकृत उपमाओं का सन्देह है, अतः यह सन्देहालङ्कार है।

रूपकालङ्कार—

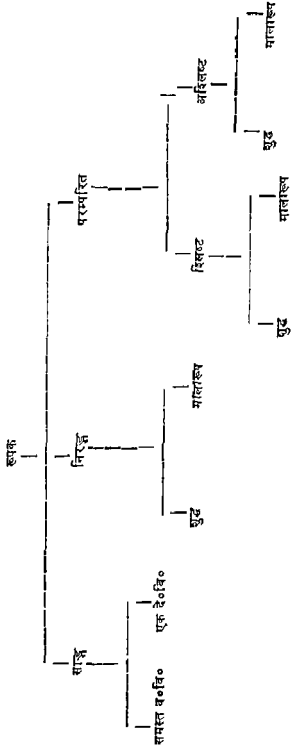
तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो ।

उपमान और उपमेय (जिसका भेद प्रसिद्ध है, उनका सादृश्यातिशय) का जो अभेद वर्णन है वह रूपक नामक अलङ्कार है।

उदाहरण—

“विद्वन्मानसहस्र”

हे राजन् आप विद्वानों के मनरूपी मानसरोवर के हस हैं। यहाँ मन में मानसरोवर का तथा राजा में हस का आरोप किया गया गया है। रूपक के भेद इस प्रकार हैं—



कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न वंश (रघुवंश) और कहीं क्षुद्रविषयो मे सचरणशील मेरी बुद्धि, इन दोनों मे महान् अन्तर है, अर्थात् इतने बड़े सूर्य वंश का वर्णन मेरी क्षुद्र नति के द्वारा असम्भव है। तथापि मेरा यह सूर्य वंश के वर्णन का साहस, अज्ञानवश छोटी सी नौका से दुस्तर समुद्र को पार करने की तरह है।

इस पद्य मे पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के वाक्यों का उपमानोपमेयभाव पर्यवसित होता है, इसलिए यह वाक्यार्थ निदर्शना है, यहाँ निदर्शना का आकार इस प्रकार है—“मेरी बुद्धि के द्वारा सूर्य वंश का वर्णन, छोटी सी नौका से मागर पार करने के समान है,” वाक्यार्थ इस उपमा मे पर्यवसित होता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा—

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा संव प्रस्तुताश्रया।

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा—

अप्राकरणिक अर्थ के कथन से जो प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप है वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है।

कही-कही वाच्यार्थ पर प्रतीयमान अर्थ के अध्यारोप से भी अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

कस्त्व भी ! कथयामि देववृत्तक मा विद्धि शाखोटकम् ।
 वैराग्यादिव वसि साधु विदित, कस्माद्विद कथ्यते ॥
 वामेनात्र वटस्तमध्यगजन- सर्वात्मना सेवते ।
 नच्छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥

अरे तू कौन है ? बतलाता हूँ कि मुझको अभागा शाखोटक (श्मशान की अग्नि से जले हुए पत्ते आदि से रहित सिहोरा का वृक्ष) समझो।

कुछ वैराग्य से यह बात कह रहे हो, (ऐसा प्रतीत होता है) आपने ठीक समझा।

प्रश्न—ऐसा क्यों कह रहे हो ?

उत्तर—यह बायी ओर बड़ का पेड़ है, पथिक लोग उसका ही सब तरह से आश्रय लेते हैं, और मैं मार्ग मे खड़ा हुआ हूँ, फिर भी मेरे पास परोपकार करने के लिए (फल आदि तो दूर रहे) छाया भी नहीं है, इसलिए मैं अपने को अभागा कहकर अपना परिचय दे रहा हूँ।

यहाँ इस अप्रस्तुत वाच्य से किसी ऐसे प्रस्तुत व्यक्ति की प्रतीति हो रही है, जो किसी न किसी प्रकार से दूसरों की सहायता करने के लिए उत्सुक है, परन्तु या तो वह धनादि में हीन हो गया है अथवा नीच जाति का है, जिसकी सेवा लोग पसन्द नहीं करते, इसलिए वह न सहायता कर पाता है, और न लोग उसकी सहायता ही स्वीकार करते हैं, इसलिए वह दुःखी है।

यहाँ शाब्दिक वृक्ष के साथ वार्तालाप सम्भव नहीं है, इसलिए उस वाच्यार्थ के ऊपर प्रतीयमान नीच जाति अथवा घनहीन दाना आदि प्रतीयमान अर्थ का आरोप करके ही अर्थ की सङ्गति होती है। इसलिए यह अध्यारोप-मूलक अप्रस्तुतप्रशसा है।

प्रतिशयोक्ति :-

निगीर्याप्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् ।

प्रस्तुतस्य पदन्यत्व द्यद्योक्तौ च कल्पनम् ॥

वायंकारणयोपंशच्च पौर्वापर्यविषयं ।

वित्तेयाऽतिशयोक्ति सा ।

प्रकृत (उपमेय) का (परेण) उपमान के द्वारा निगरण करके जो (आहाय अभेद निश्चय कल्पित) अभेद कथन रूप अध्यवसान है वह प्रथम प्रतिशयोक्ति है।

प्रस्तुत अथ वा अयस्य में वचन द्वितीय प्रतिशयोक्ति है। यदि वे समानार्थक शब्द द्वारा कल्पना करना तृतीय प्रकार की अतिशयोक्ति है और कार्यकारण का जो पौर्वापर्य विषय है वह चतुर्थ प्रकार की अतिशयोक्ति है।

उदाहरण—

कमलमनम्भसि कमले च फुल्लये तानि कानकलतिकायाम् ।

सा च सुकुमारसुभगेस्त्युत्पातपरम्परा केयम् ॥

किसी सुन्दरी को देखकर भिन्नी का कथन है—

विना जल के कमल (नायिका का मुख) कमल में दो नील कमल (नेत्र) और वे सोने की लता में लगे हुए हैं और वह सोने की लता (नायिका का शरीर) सुकुमार तथा सुन्दर है यह कैसी अनन्य परम्परा है।

यहाँ उपमान रूप कमल आदि के द्वारा उपमेयभूत मुख, नेत्र, शरीर का निगरण करके, कमल आदि से अभेद निश्चय (अध्यवसान) किया गया है, इसलिए यह प्रथम अतिशयोक्ति या अतिशयोक्ति सामान्य का उदाहरण है।

प्रतिवस्तूपमा—

प्रतिवस्तूपमा तु सा ।

सामान्यस्य द्विरैकस्य यत्र वाक्य द्वये स्थितिः ।

जहाँ एक ही नाधारण धर्म को दो वाक्यों में दो बार (भिन्न-भिन्न शब्दों से) कहा जाय वह प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

देवीभावगमिता परिवारपद कथ भजत्वेषा ।

न खलु परिभोगयोग्य दंबतरूपाद्भित रत्नम् ॥

इस पद्य में उत्तरार्ध का श्रावणार्थ उपमानरूप है तथा पूर्वार्ध का वाक्यार्थ उपमेयरूप है । इसलिए वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ के उपमान उपमेय होने से, उनके एक ही अनौचित्य रूप धर्म को पूर्वार्ध में “कथ भजतु” पदों से तथा उत्तरार्ध में “न खलु परिभोगयोग्यम्” इन पदों से कहा गया है । अन यह प्रतिवस्तूपमा अलंकार है ।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तः पुनरेतेषा सर्वेषा प्रतिबिम्बनम् ॥

इन उपमान उपमेय और उनके विशेषण व साधारण धर्म आदि का भिन्न होते हुए भी औपम्य प्रतिपादनार्थ उपमानवाक्य तथा उपमेयवाक्य में पृथक् उपादानरूप (विम्बप्रतिबिम्बभाव) होने से दृष्टान्तालङ्कार होता है ।

उदाहरण—

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् ।

आसोके हि हिमाशोविकसति कुसुम कुमुद्वत्या ॥

यहाँ नायक तथा चन्द्रमा का नायिका तथा कुमुदिनी का और मन तथा कुसुम का मनोभव सन्तपन तथा मूर्यसन्तपन का निर्वाण तथा विकास का विम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्तालंकार है ।

दीपकालङ्कार—

सकृद् वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।

सैव क्रियामु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥

प्रकृत उपमेय प्राकरणिक तथा अप्रकृत उपमान अप्राकरणिक के क्रियादि रूप धर्मों का एक ही बार ग्रहण किया जाय, या बहुत सी क्रियाओं में एक ही कारक का ग्रहण किया जाय तो दीपकालङ्कार होता है ।

उदाहरण—

कृपणानां धन नागानां फणमणि केशरा सिंहानाम् ।

कुलबालिकानां स्तनां पुत्र स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥

कृपणों के धन, सर्पों के फणकी मणि, सिंहों के केशर और कुलीन बालिकाओं के स्तनों को उनके जीते जी कौने छुआ जा सकता है ।

यहाँ “स्पृश्यन्ते” यह एक क्रियापद है, इसी के साथ धन, फणमणि, केशर और स्तन आदि अनेक कारकों का सम्बन्ध होने से यह क्रिया दीपक का उदाहरण है ।

तुल्ययोगिता—

नियताना सकृद् धर्मं सा पुनस्तुल्ययोगिता ।

नियत (केवल) प्रकृत या अप्रकृत का एक धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर तुल्ययोगिता नामक अलंकार होता है ।

उदाहरण—

पाण्डु क्षाम बदन हृदय सरस तवालस च वपु ।

आवेदयति नितान्त क्षेत्रियरोग सखि ! हृदन्त ॥

हे सखि ! तेरा पीला पट जाना, सूखा चेह्ना, रनेह से भरा हुआ हृदय और अलसाया हुआ शरीर तेरे हृदय के असाध्य रोग को सूचित करना है । -

यहाँ बिरह के अनुभावरूप मे मुख की पाण्डुता तथा क्षामता, हृदय की सरसता तथा शरीर की अलसता आदि ये सभी वर्ण्य या प्रवृत्त अर्थ हैं । उनके साथ आवेदयति, रूप एक क्रिया का सम्बन्ध है, इसलिए यह तुल्ययोगिता अलंकार है ।

व्यतिरेक—

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेक स एव सः ।

उपमान मे अन्य उपमेय का जो आधिक्य (का वर्णन) वह ही व्यतिरेक अलंकार होता है ।

उदाहरण—

जन्मसिन्धु पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलक ।

सिय मुख समता पाव किमि च्चद वापुरो रक ॥

क्षीरसागर मे समुत्पन्न, वृमुदबन्धु, दिन मे मलीन रहने वाला सकलकू वेचारा चाँद, क्या सीता जी के मुख की तुलना कर सकता है ?

यहाँ उपमान चन्द्र मे सीता जी के मुख का आधिक्य वर्णन होने से व्यतिरेकालंकार है ।

अर्थान्तरन्यास—

सामान्य वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।

यत्तु सोऽर्थान्तरन्यास साधर्म्येणैतरेण वा ॥

सामान्य अथवा विशेष का उसमे भिन्न (अर्थात् सामान्य का विशेष के द्वारा या विशेष का सामान्य) के द्वारा जो समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलंकार, साधर्म्य तथा वैधर्म्य स होता है ।

उदाहरण—

मित्रदोषावृत्तमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरोतम् ।

पश्यति पित्तोपहत शशि शुभ्र शङ्खमपि पीतम् ॥

अपने ही दोष से जिनका मन व्याप्त हो रहा है, उसको अत्यन्त सुन्दर वस्तु भी (विपरीत) बुरी जान पड़ती है, पित्त से पीड़ित (पाण्डु या कामला रोग से ग्रस्त पुरुष) को चन्द्रमा के समान शुभ्र सङ्घ भी पीला दिखलाई देता है यहाँ अपने मन में दोष होने पर अच्छी बात भी बुरी मालूम होती है—इस सामान्य सिद्धान्त का समर्थन “पीलिया के रोगी को शङ्ख भी पीला दिखलाई देता है” इस विशेष उदाहरण के द्वारा किया गया है, यह साधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण है।

वैधर्म्य द्वारा विशेष का समर्थन—

अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदप्रिय वाच्यमिदं मयेदुषम् ।

त एव धन्या सुहृद पराभव जगत्य दृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः ॥

अरे मेरी लम्बी आयु ने यह बड़ा अपराध किया है कि जिससे मुझे इस प्रकार का (सुहृद विनाश का) अप्रिय समाचार कहना पड़ रहा है, वे ही वास्तव में धन्य हैं जो सत्कार में सुहृद के पराभव को देखे बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ सामान्य से विशेष का वैधर्म्य से समर्थन किया गया है।

विरोधमूलक अलङ्कार

विरोध या विरोधाभास—

विरोध सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

वास्तव में विरोध न होने पर भी, जो दो विरुद्धों का कथन करना है, वह विरोध या विरोधाभास नामक अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

इयं विशालाऽपि च भूरिशाला विराजते मस्कृतपाठशाला ।

यहाँ ‘विगता. शाला यस्या सा’ इत्यादि विग्रह में जहाँ शाला ही नहीं, यहाँ भूरि बहुत शालायें भवन कैसे होंगे, इस आपातन प्रतीयमान विरोध का परिहार विशाला बहुत बड़ी इस अर्थ में हो जाता है।

अथवा

“वा मुखं को मधुराई कहा कहौ, सीठी लंग अखियान लुनाई”,

यहाँ आँखों की लुनाई (नमकीनपना) को सीठा बताया है, विरोध स्पष्ट है, परन्तु यहाँ लुनाई का दूसरा अर्थ है लावण्य—सुन्दरता, इससे इसका परिहार हो जाता है।

विभावना—

क्रियाया प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिविभावना ।

क्रियतेऽनयेति क्रिया इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ क्रिया शब्द का अर्थ हेतु या कारण है।

हेतु रूप क्रिया का निषेध होने पर भी फल (कार्य) की उत्पत्ति विभावना नामक अलंकार है ।

उदाहरण—

कुमुभित सताभिरहताऽप्यघत्तएजमलिकुलैरवष्टाऽपि ।
परिवर्त्तते स्म नलिनी तहरोभिरलोनिताऽप्यघूषंत सा ॥

खिली हुई सताओ ग लाडित न होने पर भी (वह नायिका) पीडा को प्राप्त हो रही थी, भ्रमर कुल में न काटे जाने पर भी तटप रही थी, और कमलिनियों में युक्त तहरो के चक्कर में पड़े बिना भी वह चक्कर खा रही है ।

यहां सताओ का ताडनादि पीडादि न हेतु हो सकता है, परन्तु उन कारणों के निषेध करने पर भी कार्य का प्रकाशन किया गया है, इसलिए यह विभावना नामक अलंकार है ।

विशेषोक्ति—

विशेषोक्तिरऽण्डेषु कारणेषु फलायव ।

अपूर्ण कारणों के होने पर भी फल का (कार्य का) न कहना विशेषोक्ति अलंकार होता है ।

उदाहरण—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमोऽस्तु च वार्यं वीर्याय तस्मै मकर केतवे ॥

जो (कामदेव) कर्पूर के समान भस्म हो जाने पर भी जन जन में शक्तिमान् हो गया है, उस अप्रत्याहत पराक्रम वाले कामदेव को नमस्कार है ।

यहां भस्म हो जाना शक्ति के क्षय में कारण है, परन्तु इस कारण के रहते हुए भी शक्तिशय रूप कार्य का अभाव होने से यह विशेषोक्ति अलंकार है ।

असङ्गति—

भिन्नवेशतयाद्यन्त कार्यकारणभूतयो ।
युगपद्वर्मयोर्वत्र ख्याति सा स्यादसङ्गति ॥

जहां कार्यकारण वस्तुभूत दो धर्मों की किसी विशेषण के कारण भिन्न देश में एक साथ प्रतीति होती है उन दोषों में स्वभाव अन्य परस्पर असङ्गति के त्याग देने में असङ्गति अलंकार होता है ।

उदाहरण—

घस्यंध वणस्तस्यैव वेदना भवति तन्जनोऽर्त्ताकम् ।
दन्तक्षत कपोले यथा वेदना सपत्नीनाम् ।

जिसके घाव होना है उसी की वेदना होती है, (यह बात जो लोग कहते हैं) यह मव झूठ है। क्योंकि पति के द्वारा दन्तक्षत वधू के गाल में है, और सपत्नियों के हृदय में वेदना होती है।

यहां कारणभूत दन्तक्षत तथा कार्यभूत वेदना भिन्नाविकरण में होने से असङ्गति है, क्योंकि कार्यकारण का एकाधिकरण ही प्रसिद्ध है, इसी भिन्नाधिकरणरूप असंगति में ही चमत्कार भी है वत यह असङ्गति अलंकार है।

विषमालंकार—

एवञ्चित् यदति वैधर्म्यान् न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुं क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥
गुणक्रियान्या कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मत ॥

कही सम्बन्धियों के अत्यन्त वैधर्म्य के कारण उनका परम्पर सम्बन्ध न बनना प्रतीत हो, वह एक प्रकार का विषमालंकार होता है।

उदाहरण—

शिरीषादपि मृद्वङ्गी केयभाषतलोचना ।
अथ एव च कुपूलाग्नि ककंशो मदनानल ॥

शिरीष के फूल में भी अधिक कोमल अङ्गी वाली कहा यह दीर्घलोचना, और कहा तुपाग्नि के समान असह्य यह कामाग्नि ।

यहां मदनानल व नायिका दोनों के अत्यन्त विलक्षण होने में उनका सम्बन्ध अनुपपन्न ना प्रतीत होता है, इसलिए यह विषमालंकार है।

शृङ्खलाबन्ध मूलक अलंकार

मालादीपक—

मालादीपकमाद्य चेद् द्योत्तरगुणावहम् ॥

पूर्व पूर्व की वस्तु द्वारा यदि उत्तरोत्तर वस्तु का उपकार (गुणादान) किया जाए तो वह मालादीपक अलंकार होता है,

उदाहरण—

सग्रामाङ्गणमागनेन भवता चापे समारोपिते ।
वेशाकर्णय येन येन सहसा यद्यत् समासादितम् ।
कोदण्डेन शरा शरैररिशिरस्तेनाऽपि भ्रूमण्डलम्,
तेन त्व भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥

हे राजन् ? संग्राम भूमि में आये हुए आपके धनुष की प्रत्यङ्चा की चढ़ाने पर, जिम जिस ने जो सहसा प्राप्त किया सो मुनी, (सबने प्रथम) आपके

घनुप ने वाण को प्राप्त किया, वाणो ने शत्रुओं के शिर को प्राप्त किया, और शत्रु के शिर ने भूखण्डल पृथ्वी प्राप्त की, पृथ्वी ने आपको प्राप्त किया आपने अतुल कीर्ति प्राप्त की और कीर्ति ने तीनों लोगों को प्राप्त किया ।

यहाँ पूर्व पूर्व वस्तु द्वारा उत्तरोत्तर वस्तु का उपकार होता है और एक ही असादन क्रिया का सर्वत्र सम्बन्ध होने से मालादीपक है ।

कारणमाला—

‘ यथोत्तर चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यायंस्य हेतुता ।

तदा कारणमाला स्यात् ॥

जहाँ अगले अगले अर्थ के प्रति पहिले पहिले अर्थ हेतु (रूप में वर्णित) हो तो वहाँ कारणमाला नामक अलकार होता है ।

उदाहरण—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।

गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पद ॥

जितेन्द्रियत्व विनय का कारण है, और विनय से गुणों का प्रकर्ष प्राप्त होता है, गुणों के प्रकर्ष में लोगो का अनुराग होता है, और जनानुराग से सम्पत्ति की प्राप्ति होती है ।

यहाँ उत्तर उत्तर के प्रति पूर्व पूर्व की हेतुता मानकर कारणमाला अलकार होगा है, यद्यपि यहाँ अनेक कार्यों का वर्णन होने में कार्यमाला भी हो सकती है, परन्तु कारण के ऊपर ही कवि का विशेष सरम्भ होने के कारण इसे कारण माला अलकार कहते हैं ।

एकावली—

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं पर परम् ।

विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥

जहाँ पूर्व पूर्व वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर वस्तु विशेषण रूप रखी जाए, अथवा हटायी जाय वह दो प्रकार का एकावली नामक अलकार होता है ।

उदाहरण—

पुराणि यस्या सवराङ्गनाति वराङ्गना ह्यपुरस्कृताङ्ग्य ।

रूपं समुन्मीलितरद्विलासम् अस्थं विलासा कुसुमायुधस्य ॥

जिम (उज्जयिनी नगरी) में घर वराङ्गनाओं से युक्त है, और वराङ्गनायें रूप से युक्त हैं, और रूप में हाव भाव प्रकट हो रहे हैं, और वे विलास काम के अस्थ का काम कर रहे हैं ।

यहाँ पूर्वं पूर्वं के प्रति विदोषण रूप में उत्तर उत्तर के स्थापित किये जाने से पहिले प्रकार के एकावली का उदाहरण है ।

सार—

उत्तरोत्तरमुत्तर्यो भवेत् सारः परावधि ।

जहाँ पराकाष्ठा पर्यन्त उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन किया जाय वह सार नामक अलकार होता है ।

उदाहरण—

मखमल से कोमल महा, कदलि-गरभ को पान ।

ताहू से कोमल अधिक, राम तिहारे गान ॥१॥

यहाँ मखमल, केला-गर्भ का पान, और राम के गान एक दूसरे में (उत्तरोत्तर) कोमलता में बढ़कर बतलाये गये हैं ।

इसलिए यहाँ सार नामक अलकार है ।

तर्क न्याय मूलक अलकार

काव्यलिङ्ग—

काव्यलिङ्ग हेतोर्वाक्यपदार्थता ।

हेतु का वाक्यार्थ अथवा पदार्थ रूप में कथन करना काव्यलिङ्ग नामक अलकार होता है ।

उदाहरण—

वपु प्रादुर्भावादनुमिममिद जन्मनि पुरा ।

पुरारे न प्राय क्वचिदपि भवन्त प्रणतवान् ।

मममुक्त. सम्प्रत्यहमननुरप्रेष्यनतिभाक् ।

महेश ! क्षन्तव्य तददिसपराधद्वयमपि ॥

हे शिवजी महाज ? इस शरीर के उत्पन्न होने से यह अनुमान होता है कि पूर्वजन्म में मैंने आपको प्राय कभी नमस्कार नहीं किया, अब इस जन्म में नमस्कार करना हुआ मैं भुवन हो जाऊँगा, इसलिए शरीर न रहने में जागे भी आपने नमस्कार नहीं कर सकूँगा, सो मेरे इन दोनो अपराधों को क्षमा करना ।

इस पद्य में “पुरा जन्मनि भवन्तं न प्रणतवान्” और “अप्रेष्यनतिभाक्” इन वाक्यों का अर्थ अपराधद्वय का हेतु है । यद्यपि अनमन स्वयं अपराध है, इसलिए उसमें साधारणरूप हेतु हेतुमद्भाव नहीं है, परन्तु अनमन को हेतु और उसमें उत्पन्न दुरित या बद्दृष्ट को हेतुमान कहा जा सकता है ।

अनुमान—

अनुमान तदुक्त यत् साध्यसाधनयोर्वच

जहाँ साध्य साधन का कथन (कुछ चमत्कार पूर्ण) हो वह अनुमानालकार कहलाता है ।

अनुमान में—पदाधर्मत्व (पक्षगत्व) अन्वयित्व (सपक्षसत्व) तथा व्यतिरेकित्व (विपक्ष व्यावृत्तत्व) रूप में तीन धर्मों में युक्त निरूप हनु, साधन कहलाता है । और धर्मों अर्थात्-पक्ष में व्यापन वल्लि आदि के अभाव का निषेध अयोग व्यवच्छेद—अर्थात्—अभाव का अभाव—अवश्य सत्ता ही उसका साध्यत्व है । (आयोग व्यवच्छेद का अर्थ यहाँ अन्यूनातिरिक्त विषयत्व भी है) ।

उदाहरण—

यत्रता लहरीचलाचलदृशो, व्यापारयन्ति मूढ ।

यत्तत्रैव पतन्ति सन्ततममी मर्मस्पृशो भार्गवा ॥

तच्चक्रीकृतचापमञ्चित्तारप्रेङ्खत्कर श्लोघनो ।

धावत्यत्रत एव शासनधर सत्य सदाऽऽसा स्मर ॥

जलतरङ्गों के समान अत्यन्त चञ्चल मत्तों वाली ये (प्रसिद्ध तरुणियाँ) जहाँ जिस पर अपनी आँख चला देती हैं, वही ये (कामदेव) मर्मवेधी वाण जो निरन्तर गिरने लगते हैं, इसमें विदित हाता है कि घनुप को चढ़ाये हुए और वाण के ऊपर ही हाथ रखे हुए, उनका आत्मनारी श्लोघ युक्त कामदेव सचमुच सदा इनके आगे आगे ही दौड़ता रहता है ।

यहाँ पूर्वार्ध में कहा हुआ अर्थ साधनरूप है, और उत्तरार्ध में कहा हुआ अर्थ साध्यरूप है, इसलिए यहाँ अनुमान अलंकार है, यत् और तत् शब्दों से उन दोनों धर्मों की ध्याप्ति सूचित की जाती है ।

कहीं कहीं पहले साध्य तथा बाद में साधन का भी कथन होता है, जैसे भतृहरि का निम्नाङ्कित पद्य इसका उदाहरण है—

मधु तिष्ठति चात्रि योषिता हृदि हाताहलमेद केवलम् ।

अतएव निषीयतेऽथरो हृदय मुष्टिभिरैव ताद्यते ॥

वाक्य न्याय मूलक अलंकार

समुच्चय—

तत्सिद्धि हेतावेकास्मिन् यत्रान्यत् सत्कर भवेत्

समुच्चयोऽसौ

उस (प्रकृत) कार्य की सिद्धि का एक हेतु विद्यमान रहने पर भी जहाँ अन्य हेतु भी उसका साधन हो जाय, वह समुच्चय अलंकार कहलाता है ।

उदाहरण—

दुर्वारा स्मर मार्गणा प्रियतमो द्वारे मनोऽत्युत्सुकः
गाढ प्रेम नव वयोऽतिकठिना प्राणा कुल निर्मलम् ।
स्त्रीत्व धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् काल कृतांतोऽक्षमो,
नो सख्यश्चतुरा कथन्तु विरह सोढव्य इत्य शठ ॥

कामदेव के बाणों से बचना ही कठिन है, उस पर भी पति दूर परदेश गये हुए हैं, मन अत्यन्त उत्सुक हो रहा है, प्रेम अत्यन्त प्रगाढ़ हो रहा है, नया यौवन है, प्राण बड़े कठोर हैं, (निकलते नहीं), कुल निर्मल है, स्त्रीत्व धैर्य का विरोधी है, काम का परम मित्र वसन्त ममथ है, यमराज भी इस विषय में कुछ नहीं कर सकते, सखिया भी चतुर नहीं हैं, ऐसी दशा में इस दुष्ट विरह को कैसे सहन किया जाय ।

यहाँ केवल कामवाण ही जब अमह्य हैं, तब फिर ऊपर से प्रिय विरहादि का युगपत् समापन का वर्णन ममुच्चयालङ्कार है ।

पर्याय—

एक क्रमेणानेकस्मिन् पर्याय ।

एक वस्तु क्रम से अनेक में हो या की जाय तो वह पर्याय अलंकार होता है ।

उदाहरण—

मन्वाथ्रय स्थितिरिय तव कालकूट ? केनोत्तरोत्तर विशिष्ट पदोपदिष्ट ।
प्रागर्णथस्य हृदये वृषसदमणोऽय कण्ठेऽधुना घृशसि वाचि पुन खसानाम् ।

हे कालकूट ! (विप) तुमको उत्तरोत्तर विशिष्ट पद वाले आथ्रय में रहने की स्थिति किमने बतलायी है, पहले तुम समुद्र के (हृदय) भीतर रहते थे, फिर शिवजी के कण्ठ में आये, और अब दुष्टों की वाणी में रहते हो ।

यहाँ कालकूट के अनेक स्थानों पर रहने का वर्णन किया गया, इसलिए पर्याय अलंकार का उदाहरण है ।

परिसर्या—

किञ्चित् पृष्ठमपृष्ठ वा कथित यत् प्रकल्पते ।

तादृगन्वयपोहाय परिसर्या तु सा स्मृता ॥

कोई पूछी गयी या बिना पूछी गई, कही गयी बात जो उसी प्रकार की अन्य वस्तु के निषेध में पर्यवसित होती है, वह परिसर्या कहलाया है ।

अन्य प्रमाण में ज्ञात वस्तु भी जब (अनुवादरूप में) शब्द से प्रतिपादित होकर, (उम प्रतिपादन का) अन्य प्रयोजन न होने से अपने सदृश अन्य वस्तु के निषेध में परिणत हो जाता है, वह परिसर्या अलंकार होता है ।

उदाहरण—

किमासेव्य पुसा ? सविधमनवद्य द्युसरित ।
 किमेकान्ते ध्येय ? चरणयुगल कौस्तुभमृत ॥
 किमाराध्य ? पुण्य, किममिलपणीप ? च करुणा ।
 यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥

मनुष्या को किसका सेवन करना चाहिए ? (उत्तर) गङ्गा के उत्तम तट का । एकान्त में किसका ध्यान करना चाहिए ? (उत्तर) कौस्तुभ घाटी भगवान् विष्णु के चरण युगल का । किसकी आराधना करनी चाहिए ? (उत्तर) पुण्य की । किसकी कामना करनी चाहिए ? (उत्तर) करुणा की । जिन गङ्गातटादि की सेवा से हित नदा के लिए मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है ।

यहाँ गङ्गातट विष्णु के चरणयुगल आदि का सेव्यत्व तो पुराणादि में प्रसिद्ध ही है, अतः उनके सेव्यत्व का प्रतिपादन करने में इस पद्य का प्रयोजन नहीं है, अपितु इन उक्त पदार्थों का अनुवाद कर, उनमें भिन्न भिन्न मुक्ति के प्रतिकूल स्त्रीनितम्बादि हिंसादि अथ सामारिक विषयो की सेव्यता के निषेध में ही इस पद्य का तात्पर्य है, इसलिए यह परिमत्या का उदाहरण है ।

यथासह्य—

यथासह्य क्रमेणैव क्रमिकाणा समन्वय ।

क्रम में कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम में समन्वय होने पर यथासह्य अलंकार होता है ।

उदाहरण—

एकस्त्रिधा वसति चेतसि चित्रमत् ।
 देवद्विधा च विदुषा च मृगीदृशा च ॥
 ताप च सम्मदरस च रति च पुष्पन ।
 शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥

हे देव ! आप अनेक ही शत्रुओं, विद्वानों तथा मगनयनाओं के मन में शौर्य की गरमी में सन्ताप को उत्पन्न करते हुए, (विद्वानों के मन में) विनय में आनन्द रस को बढ़ाते हुए, और मूर्खों के मन में रति को उत्पन्न करते हुए तीन रूपों में रहने हैं, यह आश्चर्य की बात है ।

इस पद्य में द्वितीय चरण में कहे हुए क्रम से ताप सम्मदरस और रति के साथ तथा तृतीय चरण में कहे हुए शौर्योष्मणा, विनयेन और लीलया का उसी क्रम से अन्वय होता है, इसलिए यह यथासह्य अलंकार का उदाहरण है ।

लोक-न्याय-मूलक अलंकार

सामान्य—

प्रस्तुतस्य धरूपेण गुणसामान्यविचक्षणता ।

ऐकात्म्यं व्यथते योगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥

प्रस्तुत वर्णनीय वस्तु के अन्य अप्रस्तुत के साथ सम्बन्ध से दोनों के गुणों की समानता प्रतिपादन करने की इच्छा से जो उन दोनों के एकात्म्य-अभेद का वर्णन है, वह सामान्य नामक अलंकार कहलाता है ।

अर्थात्—सदृश गुणों के कारण प्रकृत का अप्रकृत के साथ जो तादात्म्य है, वह सामान्यालंकार है, जैसा कि विश्वनाथ का कथन है—

सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः ॥

उदाहरण—

मल्लिकाञ्चितधम्मिलादचारुचन्दनचञ्चिता ।

अभिभाष्या सुखं यान्ति चन्द्रिकास्वभि सारिका ॥

मल्लिका पुष्पी से केशपाश को सजाकर, सुन्दर चन्दन से चञ्चित अभि-सारिकायें चादनी में अलक्षित होती हुईं सुखपूर्वक जाती हैं ।

यहां वर्णनीय मल्लिका के सुभ्रगुण और चादनी के एकाकार प्रतीत होने से सामान्य अलंकार है ।

तद्गुण—

स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्रुज्वलगुणस्य यत् ।

वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुण ॥

जब न्यून गुणवाली प्रस्तुत वस्तु अति उत्कृष्ट गुणवाली अप्रस्तुत वस्तु के सम्बन्ध से अपने स्वहून या गुण को छोड़कर उस अप्रस्तुत वस्तु के रूप को प्राप्त हो जाती है, उसको तद्गुण अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण—

विमिम्नवर्णां गरुडाप्रजेन सूर्यस्य रय्या परितः स्फुरन्त्या ।

रत्नं पुनर्यत्र हवा रघु स्वामानिन्यिरे वशकरो रनीलं ॥

सूर्य के अश्वों का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि गरुड के अग्रज अर्थात् सूर्य के सारथि अरुण की रत्न वर्ण के आधिक्य से भिन्न रंग को प्राप्त किये हुए सूर्य के घोड़े जहां वान के अक्षुरों के समान हरिद्वर्ण भरकत मणियों की चारों ओर फैलनी हुई कान्ति से फिर अपनी कान्ति को प्राप्त कराये गये ।

यहां सूर्य के घोड़ों की अपेक्षा अरुण के वर्ण का उत्कर्ष है, उसकी भी अपेक्षा मरकत् मणियों के वर्ण की उत्कृष्टता है। अरुण के द्वारा घोड़ों का जो रंग बदल गया था वह फिर रंबतक पर्वत के समीप आने पर मरकत् मणियों के सम्पर्क में फिर घोड़ों का रंग हरा हो गया। अत्युत्कृष्ट गुण का पुनः ग्रहण कर लेने से यह तद्गुणालंकार है।

अतद्गुण—

तद्स्वप्नानुहारश्चेदस्य ततः स्वादत्तद्गुणः ।

समीपस्थ वस्तु का योग होने पर भी इसमें द्वारा उस प्रकार के गुण का अनुसरण न किये जाने पर अतद्गुण होता है। अर्थात् समीपस्थ होने पर भी न्यून गुणवाला अप्रस्तुत उस प्रस्तुत गुण या वर्ण को ग्रहण नहीं करे तो अतद्गुण नाम का अलंकार होता है।

उदाहरण—

धवलोजसि यद्यपि सुन्दर ! तथापि त्वया मम रञ्जित हृदयम् ।

रागभरितेऽपि हृदये सुगम ! निहितो न रक्तोजसि ॥

ह सुन्दर ! तू यद्यपि धवल (गौरवर्ण) के हो फिर भी तुमने मेरे हृदय को रंग दिया, और मैंने तुमको रागयुक्त हृदय में रक्खा, फिर भी हे सुगम ! तुम अनुरक्त नहीं हुए।

यहां अत्यन्त अनुरक्त हृदय में समुक्त होने पर भी नायक अनुरक्त नहीं हुआ इसलिए अतद्गुण अलंकार है।

सूदार्थप्रतीति मूलक अलंकार

स्वभावोक्ति—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादे स्वक्रियारूपवर्णनम् ।

बालक आदि की अपनी (स्वाभाविक) क्रिया अथवा रूप अर्थात् वर्ण एवं अवयव संस्थान का वर्णन, स्वभावोक्ति अलंकार है।

उदाहरण—

श्रीवाभङ्गाभिराम मूहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः ।

इत्यादि अभिज्ञान शाकुतल के इस पद्य में मय से भागते हुए मूग के स्वभाव का सूक्ष्म वर्णन होने से यह स्वभावोक्ति अलंकार का उदाहरण है।

भाविक—

प्रत्यक्षा इव यद्भावा क्रियन्ते भूतभाविनः ।

तद् भाविकम्

अतीत और अनागत पदार्थ जब (भावनावश कवि के द्वारा) प्रत्यक्ष से कराये जाते हैं, भाविक नामक अलंकार कहते हैं।

उदाहरण—

प्रासीदञ्जनमश्रेति पश्यामि तव लोचने ।

भाविभूषणसम्भारा साक्षात् कुर्वेत्तवाकृतिम् ॥

प्रिये ! जिनमे अञ्जन लगा हुआ था इस प्रकार के तुम्हारे नेत्रों को देख रहा हूँ, और आगे होने वाले आभूषणों से अलंकृत तुम्हारी (अनागत) आकृति को (भावनावश) साक्षात् देख रहा हूँ ।

इस पद्य के पूर्वार्ध में अतीत का और उत्तरार्ध में अनागत का दर्शन है ।

व्याजोक्ति—

व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।

एकट हुए वस्तु के स्वरूप को किसी बहाने में छिपाने (के प्रयत्न या वर्णन) को व्याजोक्ति अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण—

शैलेन्द्र प्रतिपाद्यमानगिरिजा हस्तोपगूढोत्तलसत्,

रोमाञ्चादि विसृष्टलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुल ।

हा शैत्य तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान सस्मित,

शैलान्त पुरमानृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद् व शिव ॥

(शिव पार्वती के विवाह में कन्यादान के अवसर पर) हिमालय के द्वारा समर्पित की जाती हुई पार्वती के हाथ के स्पर्श ने ममुद्भूत रोमाञ्चादि के कारण, सारे क्रियाकलाप के गड़बड़ा जाने में धवराये हुए, हाथ हिमालय के हाथ बड़े जोतन हैं, कहने वाले हिमालय के अन्तपुर की स्त्रियों के, मातृमण्डल (ब्राह्मी आदि) एव (नन्दी आदि) गणों के द्वारा मुस्कराते हुए देखे गये शिव तुम्हारी रक्षा करे ।

यहां पार्वती के हाथ के स्पर्श से उत्पन्न मात्त्विक भावरूप-रोमाञ्च, तथा कम्प प्रकट हो गये, परन्तु (हिमालय के हाथ स्पर्श से) शैत्य के कारण हुए हैं, इस प्रकार प्रकाशित करते हुए (उनकी सात्त्विकरूपता को) छिपाया गया है, इसलिए यह व्याजोक्ति अलंकार है ।

सूक्ष्म—

कुतोऽपि लक्षित सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽप्यस्यै प्रकाशयते ।

धर्मण केनचिद् यत्र तत्सूक्ष्म परिचक्षते ॥

दुर्ज्ञेय (सूक्ष्म) भी अर्थ किसी भी प्रकार से जान लिया गया है, यह बात (अथवा जाना हुआ सूक्ष्म अर्थ भी) जहां किसी (वाक्य आदि) धर्म से दूसरे को बतलायी जाती है उसको सूक्ष्म अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण—

विनय प्रेम वस भई भवानी ।
लखी माल सुरति मुसकानी ॥

यहाँ विनय से भवानी जो सीतानी के मन का अभिप्राय समझ गई और मुसकार कर अपना तात्पर्य भी बता दिया । सकेन से मकेति अर्थ का प्रकटीकरण होने से सूक्ष्म अलंकार है ।

ससृष्टि—

सेष्या ससृष्टिरेतेषा भेदेन यदिह स्थिति ।

इत (दो या अधिक) अलंकारों को यथा (काव्य या वाक्य में) भेद से (परस्पर निरपेक्ष रूप में) जो स्थिति है, वह ससृष्टि (नामक अलंकार) मानी जाती है ।

शब्दालंकार की ससृष्टि—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरमम्भ्रमसम्भ्रतशोभदा ।
चलितया विदधे कलमैललाकलकलोत्लकलोलदृशाऽन्यथा ॥

माघ काव्य के छठे सर्ग का ऋतु वर्णन के प्रसङ्ग का यह पद्य है—

अपने मुख की मुगन्धि के लोभ से (मुख के ऊपर) मँडराते हुए भ्रमर के आतङ्क से घबराकर, और भी अधिक जोषा को धारण करने वाली, भ्रमर भय से भागती हुई, केशपात्र के गिरने में और भी अधिक चञ्चल नेत्रों वाली के भागने से सुन्दर मेखला का सुन्दर अलंकार हीन लगा ।

यहाँ पूर्वार्ध में "महार" के तथा तृतीय चरण में लकार के अनेक बार प्रयोग होने से अनुप्रास अलंकार है ।

चतुर्थ चरण में "लकला लकलो" की आवृत्ति होने से यमशालंकार है, ये दोनों शब्दालंकार एक श्लोक में परस्पर निरपेक्ष रूप में स्थित हैं । इन यहाँ शब्दालंकारों की ससृष्टि है ।

अर्थालङ्कारों की ससृष्टि—

लिम्पतीव तमोऽज्ञानि वपनं तीबाञ्जनभ ।
असतपुरुषसेवेव दृष्टिविफलता गता ॥

अन्धकार अज्ञो का लेपन सा कर रहा है, और आकाश में अञ्जन बरस सा रहा है । असत पुरुष की सेवा के समान दृष्टि विफल हो गयी है ।

इस पद्य के पूर्वार्ध में तम अन्धकार के व्यापन में लेपन विषयक तथा वर्णन विषयक उत्प्रेक्षा की गई है ।

उत्तरार्ध में "असत्पुरुष सेवेव" में उपमा अलंकार है । इन दोनों अर्थालङ्कारों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति है ।

विषयः	पत्राङ्काः	विषयः	पत्रा
लक्ष्यप्रत्यक्षध्वनिः	९१	पद्योद्भासे	
रसभावाधिक्यनम्	९३	शब्दार्थवित्तिरूपणम्	३
रसस्वरूपम्	९४		
रसभेदाः .. .	१२२	सप्तमोद्भासे [दोषाः]	
स्थापिभावाः	१३७	दोषलक्षणम्	३
व्यभिचारिणः	१३८	पद्योपविभाषोद्देशः	३
शान्तल्यापि रसत्वनिरूपणम्	१४३	[पद्योपविभागः]	
भावस्वरूपम् .. .	१४४	श्रुतिकटुता	३
रसाभासभावाभासौ .. .	१४८	च्युतसंस्काराः .. .	३
भावशान्त्यादिकथनम् .. .	१५०	अप्रयुक्तत्वम् .. .	३
भावशान्त्यादीनां रसाङ्गित्वम्	१५३	असमर्थत्वम् .. .	३
ध्वनिभेदाः	१५४	निहतार्थत्वम् .. .	३
शब्दशक्त्युत्पन्नध्वनिभेदाः .. .	१५५	अनुचितार्थत्वम् .. .	३
अर्पणशक्त्युत्पन्नध्वनिभेदाः...	१५८	निरर्थकत्वम् .. .	३
अभयशक्त्युत्पन्नध्वनिः .. .	१५०	अवाचकत्वम् .. .	३
ध्वनिभेदपरिगणनम् .. .	१५१	अधीनत्वम् .. .	३
रसादिध्वनेर्भेदाभावप्रदर्शनम् .. .	१५२	सन्दिग्धत्वम् .. .	३
वाक्ये अभयशक्त्युत्पन्नध्वनि	१५२	अप्रतीतत्वम्	३
पदे शब्दार्थशक्त्युत्पन्नध्वनय	१५२	प्राप्तत्वम् .. .	३
प्रबन्धेऽभ्यर्थशक्त्युत्पन्नध्वनि	१८८	नेयार्थत्वम् .. .	३
पदैकदेशादिष्वपि रसाङ्गीना प्रसक्ति	१९०	क्लिष्टत्वम् .. .	३
उक्तध्वनिभेदसङ्ख्यानम्	२०४	अविगृह्यविधेयान्दत्वम् .. .	३
संकीर्णभेदप्रदर्शनम् .. .	२०८	विरुद्धमतिकारिता .. .	३
ध्वनिममष्टि .. .	२११	समासे श्रुतिकटुत्वम् .. .	३
		[पद्यगतदोषाणां चान्यपत्रांशपोष्यविदेश	
पञ्चमोद्भासे		श्रुतिकटुता .. .	३
गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदा .. .	२१६	अप्रयुक्तम् .. .	३
ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यभेदप्रदर्शनम्	२३४	निहतार्थम् .. .	३
ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यभेदप्रदर्शनम्	२३५	अनुचितार्थम् .. .	३

विषय	पत्राङ्का	विषय	पत्राङ्का
अश्लीलत्वम्	३०६	[अर्थदोषा]	
सन्दिग्धत्वम्	३१०	अपुण्यत्वम्	३६१
अप्रतीतत्वम्	३११	कष्टत्वम्	"
प्राग्व्यत्वम्	"	न्यायत्वम्	३६२
भेदार्थत्वम्	"	पुनरुक्तत्वम्	३६३
द्विष्टत्वम्	३१३	दुष्कर्मत्वम्	३६४
अविष्टद्विषेयाशक्तत्वम्	"	प्राग्भ्यत्वम्	"
यत्तदो साकाङ्क्षत्वविचार	३१७	सन्दिग्धत्वम्	"
वाक्यदोषाणामुपदेश	३२६	निर्दोषत्वम्	३६५
[यावद्भाषा]		प्रसिद्धिविरुद्धत्वम्	३६६
प्रतिकूलवर्गत्वम्	"	विद्याविरुद्धत्वम्	
उपहतलुप्तविमर्गत्वम्	३३१	धर्मशास्त्रविरुद्धत्वम्	३६७
विमन्थित्वम्	"	अर्थशास्त्रविरुद्धत्वम्	३६८
इणवृत्तत्वम्	३३३	कामशास्त्रविरुद्धत्वम्	"
न्यूनपदत्वम्	३३६	योगशास्त्रविरुद्धत्वम्	"
अधिकपदत्वम्	"	अनवीकृतत्वम्	३६९
कथितपदत्वम्	३३८	सनियमपरिवृत्तत्वम्	"
पतदप्रकर्षत्वम्	"	अनियमपरिवृत्तत्वम्	३७०
समासपुनराकृतत्वम्	३३९	त्रिशेषपरिवृत्तत्वम्	३७१
अद्वान्तरैकवाचकत्वम्	"	पविशेषपरिवृत्तत्वम्	३७२
अभवन्नतयोगत्वम्	३४७	साकाङ्क्षत्वम्	"
अनभिहितवाच्यत्वम्	३४६	अपदपुन्यत्वम्	३७३
अभ्यासभ्यवृत्तत्वम्	३४८	सङ्घरभित्तत्वम्	३७४
अभ्यासस्थगमासत्वम्	३५०	प्रकाशितविरुद्धत्वम्	"
सङ्कीर्णत्वम्	"	विध्ययुक्तत्वम्	३७५
वर्धितत्वम्	३५१	अनुवादीपुन्यत्वम्	३७६
प्रसिद्धिविरुद्धत्वम्	३५२	त्यक्तपुन स्वीकृतत्वम्	३७७
अप्रप्रक्रमत्वम्	३५३	अश्लीलत्वम्	"
अक्रमत्वम्	३५८	अपुण्यत्वस्य पुनरुक्तत्वस्य वा	
अमनप्राप्तत्वम्	३६०	कविदोषत्वम्	"
अर्थदोषाणामुपदेश	"	निर्दोषत्वस्य रूपान्तेऽर्थदोषत्वम्	३८१

विषय	पत्राङ्का	विषयः	पत्राङ्का
अनुकरणे सर्वेषामद्रोषत्वम्	३०१	समाधि स्वपदवाच्यत्वस्य	
कहाचीचिन्याद् दोषत्वापि गुणत्वम्	३०२	शेषाभावः	४०४
कचिदोपगुणाभावः	३०४	विल्लरनसञ्चारिभावदीर्घां	
अप्रबुद्धनिवृत्तार्थत्वयोरुद्वेष्टत्वम्	३०५	वाच्यत्वयोक्तुगुणत्वम्	४०५
अधीलत्वस्य गुणत्वम्	३०६	विद्वत्सयोरप्येकत्र त्रिवेदानप्रकार	४०७
सन्दिग्धत्वस्य गुणत्वम्	३०८	अष्टमोऽङ्कात्से [गुणा]	
अप्रतीतत्वस्य गुणत्वम्	३०९	गुणलक्षणम्	४१४
धाम्यत्वस्य गुणत्वम्	३११	अलङ्कारत्वस्यम्	४१६
स्मृत्पदत्वस्य गुणत्वम्	३१२	गुणानां भेदा	४२१
अधिकपदत्वस्य गुणत्वम्	३१२	मातृपर्यलक्षणम्	४२२
कथितपदत्वस्य गुणत्वम्	३१३	करणादौ मातृपर्यादीनामाधिक्यम्	४२२
पतत्रप्रकर्षत्वस्य गुणत्वम्	३१४	ओजोलक्षणम्	४२३
समाप्तपुनरात्तत्वस्य गुणत्वोपाभाव	३१५	रौद्रवीमर्लसरोज्ज्वल आभिरुच्यम्	४२३
अपदत्वसमाप्तत्वस्य गुणत्वम्	३१५	प्रसादलक्षणम्	४२३
भूमितत्वस्य गुणत्वम्	३१५	गुणानां शब्दार्थयो स्थितिकथनम्	४२३
रससोपागामुद्देशे	३१५	एतदेव शब्दार्थयो प्रचीनोक्तृसाराब्दगुण-	
[रससोपा]		निराकरणम्	४२३
व्यभिचारिण स्वशब्दवाच्यत्वम्	३१६	वर्णादीना गुणत्वसङ्कता	४२९
रसस्य स्वशब्दवाच्यत्वम्	३१६	गुणानां व्यञ्जका	४२९
स्वाधिन स्वशब्दवाच्यत्वम्	३१८	मातृपर्यलक्षणवर्णादयः	४३०
अनुभावस्य कश्चिद्व्यपना	३१९	ओजोव्यञ्जकवर्णादयः	४३०
विभावस्य कश्चिद्व्यपना	३१९	प्रसादव्यञ्जकशब्दविकल्पणम्	४३१
प्रतिबुद्धविभावादिप्रद	३१९	कचिद्व्यपनादिव्यपनादीना	४३२
पुन पुनर्दीप्ति	३०१	मन्वशात्वम्	४३२
अकाण्डे प्रथमम्	३०१	नवमोऽङ्कात्से [शब्दालङ्कारा]	
अकाण्डे द्वे	३०१	सकोचिलक्षणम्	४३५
अङ्गव्यातिविसृतिः	३०२	अनुप्रासः	४३६
अङ्गिनोऽननुसन्धानम्	३०२	अनुप्रासभेदा	४३६
प्रकृतिविर्यम्	३०३	छेकानुप्रास	४३६
अव्यङ्ग्यविधानम्	३०४	सुन्दरानुप्रास	४३७

विषय	पत्राङ्कः	विषय	पत्राङ्कः
उपनागसिका	४७०	धर्मोपमानुसामेदा	४९१
पक्ष्या	"	वाचुपमेयलुप्तोपमा	४९२
कोमला	"	त्रिलुप्तोपमा	"
प्रासा नृचीर्ना नामान्तराणि	४७१	उपभोग्महार	४९३
छादानुप्रासलक्षणम्	"	भनन्वय	४९५
भनेकपदगतछादानुप्रास	"	उपमेयोपमा	"
एकपदगतछादानुप्रास	४७२	उत्प्रेक्षा	४९६
नामागतस्य प्रकारप्रयनिरूपणम्	"	समन्देश	४९७
छादानुप्रासोपसंहार	४७३	(टी०) रक्षा	४९८
यमकलक्षणम्	"	रूपकम्	४९९
यमकस्य भेदा	४७४	समस्तवस्तुविवयरूपकम्	५००
श्लेषस्वरूपं तद्वेदाश्च	४७५	एकदेशविवर्तिरूपकम्	५०१
अमङ्गलश्लेषनिरूपणम्	४७६	साद्वरूपकम्	५०२
श्लेषविचार	४७८	निरङ्गरूपकम्	"
चित्रालङ्कारलक्षणम्	४७९	मान्यरूपकम्	५०३
पुनरुक्तवदाभास	४८२	परम्परितरूपकम् तद्वेदश्च	५०४
शब्दगतपुनरुक्तवदाभास	"	अपह्नुति	५१०
शब्दार्थगतपुनरुक्तवदाभास	४८३	अर्थश्लेष	५१२
		समासोक्ति	५१३
दशमोद्घासे [अर्थालङ्कारा]		निर्दाना	५१४
उपमा	४७६	निर्दानान्तरम्	५१६
पूर्णोपमा	४७८	अप्रस्तुतप्रशंसा	"
लुप्तोपमा	"	अप्रस्तुतप्रशंसाभेदा	५१७
श्रीती उपमा	"	अतिशयोक्ति	५२३
आर्षी उपमा	"	प्रतिबन्धोपमा	५२५
श्रील्यार्थविचार	"	दृष्टान्त	५२७
धर्मलुप्तोपमाभेदनिरूपणम्	४८६	दोषकम्	५२८
उपमानुसामनिरूपण तद्वेदश्च	४८८	नालादीपकम्	५२९
वाङ्मूलोपमा तद्वेदाश्च	४८९	तुल्ययोयिता	"
धर्मवाङ्मूलोपमाभेदनिरूपणम्	४९०	व्यतिरेक	५३०

काव्यप्रकाशग्रन्थे प्रतिपादिताणां विषयाणाम् उल्लासानुसारिणी सूची

विषय	पत्राङ्क	विषय	पत्राङ्क
व्यतिरेकभेदा	५३१	अधिकम्	५८६
भाष्ये	५३६	प्रत्यनीकम्	५८८
विभावना	५३७	मौलिकम्	५८९
विशेषोक्ति	५३८	एकान्तली	५९०
व्यासलयम्	५४०	स्मरणम्	५९१
अर्थान्तरव्यास	५४१	आन्तिमान्	५९३
विरोध	५४२	प्रतीपम्	५९५
विरोधभेदा	५४३	सामान्यम्	५९८
स्वभावोक्ति	५४७	विशेष	५९९
व्याजस्तुति	५४८	तद्गुण	६०२
यदोक्ति	५५०	अतद्गुण	६०३
चिनोक्ति	५५१	व्याजगत	६०५
परितृप्ति	५५२	सृष्टि	५०५
भाषिकम्	५५३	अङ्गाङ्गिभग्नसङ्कर	६०७
काव्यलिङ्गम्	५५४	सन्देहसङ्कर	६१२
वर्णयोक्तम्	५५६	द्वितीय सङ्कर	६१६
उदात्तम्	५५८	सङ्करोपमहार	६१७
द्वितीयनुदात्तम्	५५९	अलङ्कारदोषाणामुक्तदोषेष्वन्तर्भाव	६१९
समुच्चय	५६०	अनुदात्तदोषस्यापुष्टार्थतायामन्तर्भाव	६२१
अन्यविध समुच्चय	५६१	धमकदोषस्याप्रयुक्तत्वेऽन्तर्भाव	५६१
वर्णय	५६३	उपमादोषाणामनुचितार्थत्वेऽन्तर्भाव	६२२
अन्यविध वर्णय	५६७	उपमायां कृषिदिग्गादिभेदेष्वनुष्ठिता	६२६
अनुभाषम्	५६९	उपमाया काव्यदिभेदस्य अग्रप्रक्रम-	
परिक्रम	५७१	तायामन्तर्भाव	५६९
व्याजोक्ति	५७२	उपमाया असादृश्यादेरनुचितार्थ-	
परिसिद्ध्या	५७३	तायामन्तर्भाव	६२९
कारणमाला	५७५	उत्प्रेक्षादोषस्तस्यावच्छेदनेऽन्तर्भावश्च	६३०
अन्योन्यम्	५७६	अर्थान्तरव्यासदोषस्तस्यपुचितार्थ-	
उत्तरम्	५७७	त्वेऽन्तर्भावश्च	६३१
सूक्ष्मम्	५७९	समासोक्तिदोषस्तस्यापुष्टार्थत्वेऽ-	
साद	५८०	न्तर्भावश्च	६३२
असङ्गति	५८१	अप्रत्युत्तरतादोषस्तस्य	५८१
समाधि	५८२	पुनरुक्तत्वेऽन्तर्भावश्च	६३३
समम्	५८३	अन्वोपसंहार	६३४
विषय-	५८४		

विषयभेदानुसंधानं प्रत्यक्षे कृतविभाषानामगृहीतस्वरूपाणां
काव्यप्रकाशीयकारिकाणां स्वरूपम्

[प्रथम उद्घास]

- नियतिकृतेनियमरहितां ह्यदिकमयोमनन्यपरतन्त्राम् ।
नररसरुचिरां निर्मितिमाद्घती भारती कवेर्ज्ञयति ॥ १ ॥
काव्यं यशसेऽर्षकृते व्यवहारनिदे शिक्तेरक्षतये ।
सद्य परनिर्दृतये कान्तासम्मितनयोपदेशयुजे ॥ २ ॥
शक्तिनिपुणता लोरुशाम्प्रकाव्याद्यवेक्षणान् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ ३ ॥
* (१) तद्दापौ शम्भार्यौ सगुणावनलङ्कृती पुन वापि ।
(२) इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्गेच वाच्यासुविबुधै कथित ॥ ४ ॥
(३) अतादशि गुणीभूतव्यङ्ग्य व्यङ्गेच तु मध्यमम् ।
(४) शब्दत्रिच वाच्यत्रिचमव्यङ्ग्य त्वत्र स्मृतम् ॥ ५ ॥

[द्वितीय उद्घास]

- (५) स्याद् वाचको लक्षणिक शब्दोऽत्र व्यङ्ग्यस्त्रिधा ।
(६) वाच्यद्वयस्तदर्था स्यु (७) स्तान्पर्यायोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥
(८) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यङ्ग्यत्वमपोष्यते ।
(९) साक्षात् सद्भूतित योऽर्थमभिपद्यते स वाचक ॥ ७ ॥
(१०) सद्भूतितधनुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।
(११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोष्यते ॥ ८ ॥
(१२) मुख्यार्थबाधे तदुयोगे रुदितोऽय प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ ९ ॥
(१३) स्वसिद्धये पराक्षेप परार्थे स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणञ्चेत्युक्ता शुद्धैव सा त्रिधा ॥ १० ॥

(*) एतादृशविश्वभयवर्तिनी सख्या विश्वभेदसत्त्वि र्ति येनम् ।

- (१४) सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।
 (१५) चिद्यन्त-कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥ ११ ॥
 (१६) भेदादिमौ च साहचर्यात् सम्बन्धान्तरस्तथा ।
 गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ (१७) लक्षणा तेन षड्विधा ॥ १२ ॥
 (१८) न्यङ्गेऽपि रहिता रुदौ सहिता तु प्रयोजने ।
 (१९) तच्च गूढमगूढं वा (२०) तदेव कथिता त्रिधा ॥ १३ ॥
 (२१) तदुमूर्त्तान्तिकं (२२) स्तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।
 (२३) यस्य प्रतीतिमाधानुं लक्षणा समुपास्यते ॥ १४ ॥
 फले शब्दैक्यम्येऽत व्यञ्जनाश्रयता क्रिया ।
 (२४) नाभिधा समयाभावाद् (२५) हेत्वभावात् लक्षणा ॥ १५ ॥
 (२६) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।
 न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्वलक्षणात् ॥ १६ ॥
 (२७) षडमप्यनवस्था स्याद् या मूललक्षितकारिणी ।
 (२८) प्रयोजनेन सहित लक्षणीय न युज्यते ॥ १७ ॥
 (२९) हानस्य विषयो हान्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।
 (३०) विशिष्टे लक्षणा नैवं (३१) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥ १८ ॥
 (३२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्तते ।
 संयोगादैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥ १९ ॥
 (३३) तदुपुक्तो व्यञ्जकः शब्दो (३४) यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।
 अर्थोऽपि व्यञ्जकस्त्वन सहकारितया मतः ॥ २० ॥

[तृतीय ब्रह्म]

- (३५) अथो मोक्षा पुरा तेषाम् (३६) अर्थव्यञ्जकतोच्यते ।
 (३७) वक्तृबाह्यव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधौ ॥ २१ ॥
 प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाशुभाम् ।
 योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्वापारो व्यक्तिरेव सा ॥ २३ ॥
 (३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यक्तवर्णान्तरं यत् ।
 अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥ २३ ॥

[चतुर्थ ब्रह्म]

- (३९) अविवाहितवाच्यो यस्तत्र वाच्य भवेत् ध्वनौ ।
 अर्थान्तरे संकमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ २४ ॥

- (४०) विप्रतिनं चान्यपरं याच्य यत्रापरस्तु म ।
 (४१) कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्या लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम पर ॥ २४ ॥
 (४२) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरकम् ।
 मित्रा रसापलङ्कारावलङ्कार्यतया स्थित ॥ २६ ॥
 (४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
 रत्यादे स्यायिना लोके तानि चेनाद्वयकाव्ययो ॥ २७ ॥
 विभागा अनुभागान्तं कथ्यन्ते व्यभिचारिण ।
 व्यक्तं स तैर्मिमावाद्ये स्यादी भावा रस स्मृत ॥ २८ ॥
 (४४) शृङ्गारहास्यकृष्णरौद्रवीरमयानका ।
 बीमनृसाद्रुतमक्षौ चेत्यष्टौ नाट्ये रत्ना स्मृता ॥ २९ ॥
 (४५) रतिर्हासिश्च शोकश्च माधा माही भय तथा ।
 अगुप्सा विस्मयश्चेति स्यायिभागा प्रकीर्तिता ॥ ३० ॥
 (४६) निर्देहानिगङ्गाख्यास्तथाऽसूयामदधमा ।
 बालश्च चैव दैन्यञ्च चिन्ता माह स्मृतिर्धृति ॥ ३१ ॥
 मीढा चपलता हर्ष आवेगा जडता तथा ।
 गर्वो विषाद भौतमुह्य निद्राऽपन्मार एव च ॥ ३२ ॥
 सुप्त विबाधोऽमर्षश्चाप्यवहित्यमयोप्रता ।
 मतिर्व्याधिस्तयो मादस्तथा मरणमेव च ॥ ३३ ॥
 दासश्चैव पितर्कश्च मित्रया व्यभिचारिण ।
 प्रयस्त्रिशदमी भावा समाख्याततनु नामत ॥ ३४ ॥
 (४७) निर्देहस्यापिभावोऽस्ति शान्ताऽपि नवमो रस ।
 (४८) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जित ॥ ३५ ॥
 भाव शोक (४६) स्तदाभासा अनौचित्यप्रशंसिता ।
 (४९) भावस्य शान्तिरुदय सन्धि सबलता तथा ॥ ३६ ॥
 (५०) मुह्ये रसेऽपि तेऽङ्गिश्च प्राप्नुयन्ति कदाचन ।
 (५१) अनुस्वानामसलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिरनु च ॥ ३७ ॥
 शब्दार्थोभयशक्तयुत्यमित्रया स कथिता ध्वनि ।
 (५२) अलङ्कारोऽथ वरत्वेन शब्दाद् यत्रानभासते ॥ ३८ ॥
 प्रधानत्वेन स होय शब्दशक्तयुद्भवो द्विधा ।
 (५३) मर्षशक्तयुद्भवोऽप्यर्था व्यङ्ग्यक समवी स्वत ॥ ३९ ॥

प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धो वा कयेस्तेनोभिमतस्य वा ।
 यस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥ ४० ॥
 यस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः ।

- (४४) शब्दार्थोभयभूरेको (४६) भेदा अष्टादशास्य तत् ॥ ४१ ॥
 (४७) रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते ।
 (४८) वाक्ये ह्युच्यते (४६) पदेऽप्यन्ये (६०) प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ ४२ ॥
 (६१) पदेकदेश रचना वर्णेष्वपि रसादयः ।
 (६२) भेदास्तदैकपञ्चाशत् (६३) तेषां चान्योन्ययोजने ॥ ४३ ॥
 सङ्घरेण प्रिरूपेण ससृष्ट्या चैकरूपया ।
 (६४) वेद्वलाग्धिवियञ्चन्द्रा (६४) शरेषुयुगलेन्द्व ॥ ४४ ॥

[पञ्चम उहास]

- (६६) भगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धचङ्गमस्फुटम् ।
 सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काकाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥ ४५ ॥
 व्यङ्ग्यचनेव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याथौ भिदा, स्मृता ।
 (६७) एषां भेदा यथायोग वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥ ४६ ॥
 (६८) सालङ्कारैर्ध्वनेस्त्रीश्च योग सत्पृथिसङ्करैः ।
 (६९) अन्योन्ययोगादेव स्याद्भेदसख्याऽतिभूयसी ॥ ४७ ॥

[षष्ठ उहास]

- (७०) शब्दार्थचित्र यत् पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
 गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिः शब्दार्थचित्रयो ॥ ४८ ॥

[सप्तम उहास]

- (७१) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाध्याद्वाच्यः ।
 उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाघास्तेन तेष्वपि स ॥ ४९ ॥
 (७२) दुष्ट पद श्रुतिकट्टु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
 निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽस्तीलम् ॥ ५० ॥
 सन्दिग्धमप्रतीतं प्राप्य नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम् ।
 भविमृष्टविधेषांश्च विरुद्धमतिकृत् समासगतमेव ॥ ५१ ॥
 (७३) अयास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
 वाक्येषुऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेषुऽपि केचन ॥ ५२ ॥

- (७४) प्रतिकूलदर्शानुपहतस्तुतविसर्गं विसन्धिं हस्तवृत्तम् ।
न्यूननाधिककथितपदं पतन्प्रकारं समाप्तपुनरात्तम् ॥ ४३ ॥
अभ्रान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमगमिहितशाब्दयम् ।
वपदस्थपदसमान सकोणं गर्भितं प्रसिद्धिधुतम् ॥ ४४ ॥
भग्नप्रकममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।
- (७५) अर्थोऽपुष्ट कथो व्याहृतपुनरुक्तदुष्कमप्राप्त्या ॥ ४५ ॥
सन्दिग्धो निर्हेतु प्रसिद्धिविधाविरुद्धश्च ।
अनवोक्त सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ता ॥ ४६ ॥
साकाङ्क्षोऽपदयुक्त सहचरभिन्न प्रकाशितविरुद्ध ।
विष्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुन स्वीकृतोऽर्शाल ॥ ४७ ॥
- (७६) कर्णावतसादिपदे कर्णादिभ्रन्निर्मिति ।
सन्निवतानादिबाधार्थं (७७) स्थितेष्वेतन् समर्थयन् ॥ ४८ ॥
- (७८) कथतेऽर्थं निर्हेतोरदुष्टत्वं (७९) मनुकरणे तु सर्वेषाम् ।
- (८०) यक्ताद्यौचित्यवशात्सर्वोऽपि गुण क्वचिन् क्वचिन्नामौ ॥ ४९ ॥
- (८१) व्यभिचारि रस स्थायिभावानां शब्दवाचप्रता ।
कथकल्पनया व्यक्तिरनुभाय विभावयो ॥ ६० ॥
प्रतिकूलविभावान्निग्रहो वीप्ति पुन पुन ।
अकापडे प्रथमरुद्धेदावद्गुणप्रतिविस्तृति ॥ ६१ ॥
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतानां विपर्यय ।
अनङ्गस्याभिधानं च रमे दोषा स्युरीदृशा ॥ ६२ ॥
- (८२) न दोष स्वपदेनोक्तावपि सवार्णि क्वचिन् ।
- (८३) सञ्जायदिविरुद्धस्य बाधप्रत्योक्तिर्गुणावहा ॥ ६३ ॥
- (८४) आश्रयेन्ने विरुद्धा य स कार्यो भिन्नसंभव ।
रमान्तरणान्तरिता नैरन्तर्येण यो रस ॥ ६४ ॥
- (८५) स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षित ।
भङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥ ६५ ॥

[अष्टम उदाहरण]

- (८६) ये रसस्याङ्गिनां धर्मां शौर्यादय इवाऽऽत्मन ।
उत्कर्षं हेतवस्ते स्युरधलस्थितयो गुणा ॥ ६६ ॥

- (८७) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जानुचित् ।
हारदिवद्वलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ ६७ ॥
- (८८) माधुर्यौजप्रसादाख्याल्यस्ते न पुनर्दश ।
- (८९) आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गरे द्रुतिकारणम् ॥ ६८ ॥
- (९०) करुणे विप्रलम्भे तच्छ्रान्ते चातिशयान्वितम् ।
- (९१) दोष्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः ॥ ६९ ॥
- (९२) बोधत्सरोद्वरसयोस्तस्याऽऽधिक्यं क्रमेण च ।
- (९३) शुष्केन्धनाद्रिवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः ॥ ७० ॥
व्याप्तोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।
- (९४) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥ ७१ ॥
- (९५) केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे धिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्व कुत्रचिन्न ततो दश ॥ ७१ ॥
- (९६) तेन नार्थगुणा वाच्या (९७) प्राक्का शब्दगुणाश्च ये ।
वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिता ॥ ७३ ॥
- (९८) मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अ-श्रवणा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्ना माधुर्यं घटना तथा ॥ ७४ ॥
- (९९) योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययो ।
टादिः शसौ वृत्तिद्वैर्ष्यं गुण उद्धत ओजसि ॥ ७५ ॥
- (१००) श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारण समप्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥ ७६ ॥
- (१०१) वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् ।
रचना-वृत्ति-वर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ ७७ ॥

[नवम ब्रह्मसं.]

- (१०२) षडुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काका वा होया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥ ७८ ॥
- (१०३) वर्णसाम्यमनुप्रास (१०४) श्लेषवृत्तिगतो द्विधा ।
- (१०५) सोऽनेकस्य सङ्घटपूर्व (१०६) एकस्याप्यसङ्घट पर ॥ ७९ ॥
- (१०७) माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैर्यनागरिकोच्यते ।
- (१०८) ओजप्रकाशकैस्तैस्तु पक्ष्या (१०९) कोमला परैः ॥ ८० ॥

- (११०) केवाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मता ।
 (१११) शब्दस्तु लाक्षण्यमासा भेदे तात्पर्यमात्रत ॥ ८२ ॥
 (११२) पदानां स (११३) पदस्यापि (११४) वृत्ताप्यत्र तत्र वा ।
 नाम्न स वृत्तवृत्त्याश्च (११५) तदेव पञ्चधा मत ॥ ८२ ॥
 (११६) अर्थे सत्यर्थभिन्नाता वर्णानां सा पुन श्रुति ।
 यमक (११७) पादतद्भागवृत्ति तद् याल्यनेकताम् ॥ ८३ ॥
 (११८) वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृश ।
 विद्वन्पन्ति शब्दा श्लेषाऽऽसान्तरादिभिरध्या ॥ ८४ ॥
 (११९) भेदभावात् प्रवृत्त्यादेर्भेदाऽपि नमो भवेत् ।
 (१२०) तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याहृतिहेतुता ॥ ८५ ॥
 (१२१) पुनरुक्तव्याभासा विभिन्नाकारशब्दा ।
 एकार्थतेऽ (१२२) शब्दस्य (१२३) तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ ८६ ॥

[दशम उद्भाग]

- (१२४) साधर्म्यमुपमा भेदे (१२५) पूर्णां लुप्ता च (१२६) साऽग्निमा ।
 धौत्वार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥ ८७ ॥
 (१२७) तद्वद्वर्मस्य लापे स्यात्त ध्रौती तद्धिते पुन ।
 (१२८) उपमानानुपादाने वाक्यगाऽथ समामगा ॥ ८८ ॥
 (१२९) वादेलोपि समामे सा कर्माधारक्यवि क्यदि ।
 कर्मकर्तृषोर्णमुल्लेख (१३०) द्विलोपे क्विप्समासगा ॥ ८९ ॥
 (१३१) धर्मोपमानवल्लोपि वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।
 (१३२) क्वचि वायुपमेयासे (१३३) त्रिलापे च समामगा ॥ ९० ॥
 (१३४) उपमानोपमेयत्वे एकस्त्वैकवाक्ययो ।
 अनन्वयो (१३५) विपर्यास उपमेयोपमा तयो ॥ ९१ ॥
 (१३६) सम्भावनमथावृत्ता प्रवृत्तस्य समेन यत् ।
 (१३७) तसन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च सशय ॥ ९२ ॥
 (१३८) तद्गुणकमभेदो य उपमानोपमेययो ।
 (१३९) समस्तपस्तुविषय धौता आरोपिता यदा ॥ ९३ ॥
 (१४०) धौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नो कदेशविर्षि तत् ।
 (१४१) साङ्गमेतद् (१४२) निरङ्गं तु शुद्ध (१४३) माला तु पूर्ववत् ॥ ९४ ॥

- (१४४) नियतारोपणापाय स्यादारोप' परस्य य' ।
तत् परम्परित त्रिष्टुप्ते वाचके मेदमाजि वा ॥ ६५ ॥
- (१४५) प्रकृत यन्निविध्यान्यन् साध्यने सा त्वपहुति ।
- (१४६) श्लेष' स वाक्य एकस्मिन् यत्रानेकार्यता भवेत् ॥ ६६ ॥
- (१४७) परोक्तिर्भेदकै श्लिष्टि समासोक्ति (१४८) निर्दर्शना ।
अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक' ॥ ६७ ॥
- (१४८) स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्ति क्रियैव च साऽपरा ।
- (१५०) अस्तुतप्रशसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥ ६८ ॥
- (१५१) कार्यं निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुदप्रस्येति च पञ्चधा ॥ ६९ ॥
- (१५२) निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्व यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥ १०० ॥
कार्यकारणयोर्थाश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विधेयाऽतिगयोक्ति' सा (१५३) प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ १०१ ॥
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।
- (१५४) द्वाधान्त' पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥ १०२ ॥
- (१५५) सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्विषु कारकस्येति दीपकम् ॥ १०३ ॥
- (१५६) मालादीपकमाद्यं चेद्दु ययोत्तरगुणावहम् ।
- (१५७) नियतानां सकृद्धर्म- सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥ १०४ ॥
- (१५८) उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेक स एव स ।
- (१५९) हेत्वाद्यकाव्यनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ॥ १०५ ॥
शब्दाध्याभ्यामथाऽऽक्षिते श्लेषे तद्वत् त्रिरष्ट तत् ।
- (१६०) निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्तया ॥ १०६ ॥
वक्ष्यमाणोक्तविषय' स आक्षेपो द्विधा मत' ।
- (१६१) क्रियाया' प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥ १०७ ॥
- (१६२) विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावच' ।
- (१६३) यथासख्यं क्रमैणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥ १०८ ॥
- (१६४) सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु साऽर्धान्तरन्यास' साधर्म्येतेतरेण वा ॥ १०९ ॥

- (१६५) विरोध सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वच ।
 (१६६) ज्ञातिश्चतुर्भिर्जात्यादीर्विच्छेदा स्याद् गुणस्त्रिभि ॥ ११० ॥
 क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्य द्रव्येणैवेति ते दश ।
 (१६७) स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादे स्वक्रियारूपवचनम् ॥ १११ ॥
 (१६८) व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रुदिरन्यथा ।
 (१६९) सा महाक्ति सहार्थस्य बलादेक द्विवाचकम् ॥ ११२ ॥
 (१७०) त्रिनोक्ति सा त्रिनाऽन्येन यत्रान्य मग्न नेतर ।
 (१७१) परिवृत्तिर्त्रिनिमया याऽर्थाणा स्यात् समासमे ॥ ११३ ॥
 (१७२) प्रत्यक्षा इव यद् भावा क्रियन्ते भूतभाविन ।
 तद् भाविक (१७३) कायलिङ्ग हेतुर्गान्धपदार्थता ॥ ११४ ॥
 (१७४) पर्यायात् त्रिना वाच्यवाचकत्वेन यद् वच ।
 (१७५) उदात्त वस्तुन मग्नपद् (१७६) महतां चापलक्षणम् ॥ ११५ ॥
 (१७७) तत्त्वसिद्धिहतावकस्मिन् यत्रान्यत् तन्कर भवेत् ।
 समुच्चयाऽसौ (१७८) म त्वन्यो युगपद् या गुणक्रिया ११६ ॥
 (१७९) एक क्रमेणानेकस्मिन् पर्याया (१८०) अन्यस्तदाऽन्यथा ।
 (१८१) अनुमान तदुक्त यत् स्वाध्यसाधनयार्थव ॥ ११७ ॥
 (१८२) विशेषणैर्यत् साकृतेऽस्ति परिकरस्तु म ।
 (१८३) व्याजाक्तिश्चप्रनाद्विभ्रनस्तुरूपनिगूहनम् ॥ ११८ ॥
 (१८४) किञ्चित् पृष्टमपृष्ट वा कश्चित् यत् प्रकाशत ।
 तादृगन्यव्यपाहाय परिसरुया तु सा स्मृता ॥ ११९ ॥
 (१८५) यथोत्तर चेत् पूर्वस्य पूर्वस्याथस्य हेतुता ।
 तदा कारणमाला स्यात् (१८६) क्रियया तु परस्परम् ॥ १२० ॥
 वस्तुनोर्जननेऽन्यान्यम् (१८७) उत्तरधृतिमात्रत ।
 प्रश्नस्योत्तरयन यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥ १२१ ॥
 असकृद् यद्मग्नभायमुत्तर स्यात्तदुत्तरम् ।
 (१८८) कुतोऽपि क्वचित् सःसाऽन्यथोऽन्यस्मै प्रकाशयते ॥ १२२ ॥
 धर्मेण केनचिद् यत्र तत् सूक्ष्म परिचक्षत ।
 (१८९) उत्तरात्तरमुन्मुखो भवेत् नार परावधि ॥ १२३ ॥
 (१९०) भिन्नदेशतयाऽत्यन्त कार्यकारणभूतयो ।
 युगपद् धर्मयार्थं स्याति सा स्यादसङ्गति ॥ १२४ ॥
 (१९१) समाधि सुकर कार्य कारणान्तरयोगत ।
 (१९२) सम योग्यतया योगो यदि मग्नावित कश्चिद् ॥ १२५ ॥

- (१६३) क्वचिद् यदतिर्विभर्थाश्च श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुं क्रियाफलादातिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत् ॥ १२६ ॥
गुणक्रियाभ्यां कार्गस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एव त्रिपदो मत ॥ १२७ ॥
- (१६४) महत्तोर्यन्महोयांसावाश्रिताश्रययो क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥ १२८ ॥
- (१६५) प्रतिपत्तमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।
या तदीपस्य ननुस्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥ १२९ ॥
- (१६६) समेन लक्षणा वस्तु वस्तुना यस्मिन्नुदते ।
निजेनाऽऽगन्तुना वाऽपि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥ १३० ॥
- (१६७) स्यात्पदेऽपोऽदते वाऽपि यथापृथं पर परम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥ १३१ ॥
- (१६८) यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृति ।
स्मरणं (१६६) भ्रान्तिमानन्यसविन् तत्तन्व्यदर्शने ॥ १३२ ॥
- (२००) आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्या तिरस्कारनिवन्धनम् ॥ १३३ ॥
- (२०१) प्रस्तुतस्य यद्गुणेन गुणसाम्यनिवृत्तया ।
पेकात्म्यं कथने योगान् तत् सामान्यमिति स्मृतम् ॥ १३४ ॥
- (२०२) विना प्रसिद्धमाधारमाश्रयस्य व्यवस्थिति ।
पेकात्मा युगपद्भ्रान्तिकस्यानेकगोचरा ॥ १३५ ॥
अन्यत् प्रकुर्यत कार्यामशक्यम्यान्यवस्तुन ।
तथैव करणं चेति विशेषतन्निविध स्मृत ॥ १३६ ॥
- (२०३) समुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुण ॥ १३७ ॥
- (२०४) तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत् स्यादतद्गुण ।
- (२०५) यद् यथा साधित केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥ १३८ ॥
तथैव यद् विधीयते स व्याघात इति स्मृत ।
- (२०६) सैवा ससृष्टिरेतेषा भेदेन यद्विह स्थिति ॥ १३९ ॥
- (२०७) अविभ्रान्तिजुषामात्मन्यद्गाङ्गित्वं तु सङ्कर ।
- (२०८) एकस्य च प्रदे न्यायदोषाभावाद्निश्चय ॥ १४० ॥
- (२०९) स्फुटमेकत त्रिपदे शब्दार्थालकृतिद्वयम् ।
व्यवस्थितं च (२१०) तेनासौ त्रिरूप परिकीर्तित ॥ १४१ ॥
- (२११) एषां दोषा यथायोग सम्भवन्तोऽपि केचन ।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिता ॥ १४२ ॥

ॐ नम. शिवाय

काव्यप्रकाशः

प्रथम उल्लासः

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय 'समुचितामिष्टदेवतां मन्थकृत्
परामृशति—

महेश्वरन्वायात् द्वारभशचाप्यं कृतादरांल्यटीका

सुखैश्चतुर्भिः स्तुयते विघ्नान्ते स्तोत्रे श्रुतीनाञ्च चतुष्टयाय ।

भुजैश्चतुर्भिश्चतुरोऽर्थवर्गान् नमो वदानाय चतुर्भुजाय ॥ १ ॥ (A)

दुर्व्याख्याजनितप्रमोहशामनी वैषम्यविधासिनी

वैशद्यादतिरोचनी रसस्वनी कान्यागालोद्घाटिनी ।

टीका विघ्नजनप्रमोदजननी भावार्थचिन्तामणी

महान्कार्यमहेश्वरेण रचिता काव्यप्रकाशोपरि ॥ २ ॥ (B)

काव्यप्रकाशाख्यविशुद्धकाञ्चने वैषम्यदोषार्पितकालिकाञ्चने ।

'अस्त्रायमानाऽपि ममास्तु टीका माधुर्य्यधुर्य्यैकमुधाघटीका ॥ ३ ॥ (C)

(A) सुखैरिति । अत्र विकीर्षितप्रत्यस्य काव्यदोषादिरुपणपरतया कविसम्प्रदायाकुली-
भावनाशङ्क्य प्रथममादिक्वेत्रं ह्यणस्तत्त शब्दात्मकमया तदप्रधानभूतया श्रुतिदेव्यास्तत्तत्र
साभ्यामपि स्तूयमानस्य सकलपुरुषार्थदत्तुर्नारायणस्य नमस्कार । नमस्कारबाहुल्यमपि
सति विघ्नबाहुल्ये तद्विघातो बहुमदुहावरणसाध्य इति निष्पत्तिरुक्तार्थमेव । 'स्तोत्रे' इति
चतुर्ध्वज शब्दं स्तोत्राख्यस्य नाशितपूर्वकतया सिद्धम् । महण्यं श्रुतिभिश्च कृतो नारायणस्यैव-
श्रीमदभगावतादी प्रसिद्ध ।

(B) खनीमणीशब्दौ स्त्रियामीकन्तौ कोपप्रसिद्धौ ।

(C). वैषम्यदोषार्पितकालिकाञ्चने काव्यप्रकाशाख्यविशुद्धकाञ्चने मम टीका मन्थयमानाऽपि
माधुर्य्यधुर्य्यैकमुधाघटीका अस्मिन्पञ्चव्य । अत्र शोभनवर्णशान्तिर्द्वै काव्यप्रकाशाकाञ्चनयो

1 'समुचिनेष्ट' इति मुद्रितपत्रकपाठ । 2, 'काञ्चने' क । 3. 'शायय' क ।

दोषो विचारसुलभो यदि दूष्यतां तद्
 दूष्ये न तत्र शृणुतेकमिदन्तु धीराः ।
 ग्रन्थान्यथार्थमतिसंस्कृतमानसत्वाद् (A)
 व्याख्या मम प्रथममेव न दूषणीया ॥ ४ ॥

सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने 'शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितु-
 मग्निपुराणादिभ्य उद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभि संक्षिप्य
 भरतमुनि प्रणीतवान् । तदुक्तम्—

स्वादुकाव्यरसोन्मिथं शास्त्रमप्युपभुञ्जते ।
 प्रथमालीढमध्वः पिबन्ति कदु भेषजम् ॥ इति ।

मम्मटमद्वस्तु तां कारिका सोदाहरण व्याख्यातुं कारिकाग्रन्थादिभूतां नियतिकृते-
 त्यात्रिकारिकां मुत्थापयति—ग्रन्थारम्भ इत्यादि । ग्रन्थो महावाक्यविशेष, स
 च मङ्गलानां ग्रन्थेन व्यवहारमात्रपरिचेय । न च विभिन्नदोषगुणालङ्कारबोधकानां
 विभिन्नवाक्यानामेक्याक्यत्वाभावात् कथं कारिकासमुच्चयरूपस्यास्य ग्रन्थस्य महा-
 वाक्यत्वमिति वाच्यम्, 'तद्दोषो शब्दार्थावि'त्यादिवक्ष्यमाणकाव्यलक्षणवाच्यो-

साधर्म्यम् । अत्र वर्णपदं हिष्टम् । वैषम्यं दुस्साहसं तदेव दोषः । असम्यग्बुद्धेः कृतदोषप्र-
 क्षेपेन अर्पितां क्षापितां निष्पापित्वाच्च कालिका काव्यं कलङ्कमिति यावत्, अत्रति प्राप्नोतीति सादृश्ये ।
 शल्यार्थवानोनां नार्थकतायामविवादेन गितन्ताद् क्षपातो निष्पन्नस्य अर्पितपदस्य क्षापनार्थत्वम् ।
 अत्रान इति नग्यादित्वादन । टीकाया अमृत्यमानत्व गानिराहित्यमदुष्टत्वमिति यावत् । काञ्चन-
 पक्षे—अमृत्यमानत्वममृत्यमानत्वम्, अमृत्यमानं च सुवर्णशोधकत्वं प्रसिद्धम् । अत्र शानवृत्तस्य
 'आत्मनेपदमिच्छन्ति परस्मैपदिनां क्वचि'दिदि न्यायेन 'शीघ्रदासिन काञ्चि परिमुपयते' इतिवदुप-
 पादनीय, अन्तर्भावविजितार्थतया कर्मणि वाच्यं प्रयोगः । अमृत्यमान्येन प्राज्ञं दुरास्त्वदित्यस्य
 सपाकरोति—साधुत्वेति । अत्र विज्ञेयविज्ञेयगनादव्यत्यासेन सपाकरोत्यस्य घटीसम्मितसुखेत्वं ।
 तथाच माधुर्यं दुष्यं एका सपाकरी कन्या इति टीकाविज्ञेयणम् । एवञ्च मदीयटीकाया माधुर्यं
 प्रवृत्तस्य गत्यामेव लभ्यते नान्यत्रेति भावः । कथाश्रुते सभाषण्यं माधुर्यं धरत्वं परम्परासम्बन्धेन ।
 'अमृत्यमाने'त्यत्र 'आद्यामाने'ति पाठे अन्यन्यमानेत्यर्थः । 'कालिकाक्षणे' इत्यत्र 'कालिकाज्ञाने'
 इति पाठे कालिका अज्ञानमित्यर्थः । अन्य आर्षं पादद्वयमिन्द्रचराच्छन्दसा निबद्धम्, अन्तिमं
 तद्द्वयान्तु इन्द्रचराच्छन्दसेति उपजातिवृत्तम् । "अनन्तरोरीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीपावुपजाव-
 यन्ता । इत्य किलान्याम्बपि मिथितसु खदन्ति जातिध्वदमेव नाम ॥" इति तल्लक्षणम् ।

(A) ग्रन्थस्य अन्वयार्थमन्या अक्षयाभूतार्थज्ञानेन संस्कृतमाहितदुष्टसंस्कारं मानस येषां
 तद्वाच्यमित्यर्थः ।

स्थापिताकाङ्क्षयैव समस्तदासगुणालङ्कारबाधककारिकाणामुत्थापनात् तदाकाङ्क्षा
 पूरणरूपैकप्रयोजनरत्नेन समस्तदास्यानामैकदास्यत्याम् । तदुक्तम्—

“अर्थैक्यादेक धान्य साकाङ्क्ष चङ्घिभागे स्यात्” इति । (A)

जै सू ४६, पा १, अ २,

तत्र च अर्थैक्यादित्यस्य प्रयोजनैक्यादित्यर्थः । परमानन्दचक्रवर्ती तु प्रथम
 लक्षणमन्यदेवाह । यथा—प्रेक्षाग्रप्रवृत्तयेऽभिधीयमानसम्बन्धप्रयोजनक सन्दर्भो
 प्रथम इति, तत्र ; अस्त्युत्तरस्या विशीत्यादिहुमारसम्भयकान्यादिरूपप्रयुक्तं
 सम्बन्धप्रयोजनपारेकस्याप्यनभिधानादध्यात, तदुपान्यतायाश्च प्रथमत्वं विना अन्यस्या
 दुर्बलत्वात् । सुखबोधार्थममुकस्य लक्षणवाक्यस्य व्याख्या मया क्रियत इत्युक्ति-
 पूत्रके तद्वृत्तग्यारयानेऽप्रन्यरूपेऽतिव्याप्त्यापत्तेः । तस्य प्रवृत्तकारिका
 प्रथमस्य, “आरम्भे” आद्यरुतिप्रकृत्कारूपेऽधिकरणे, समुचिनामिष्टदेवनां
 भारतीम्, ग्रन्थकृत् कारिकाकृत् परामृशतीत्यन्वयः । यदि चारम्भपदस्याद्य-
 रतावेव शक्या तन्नाकालपरत्वे लक्षणापरशऽसन्तापस्तदा आरम्भ भाविनाति पूरणा
 दन्वयः अनुमान इत्यत्र निरूपणीय इति पूरणवत्(B) । तदा च सति सप्तम्येवमम्,
 आद्यप्रयत्ने भाविनि सतीत्यर्थः । चक्रवर्ती तु निमित्तसप्तम्यपय, आरम्भनिमित्त
 परामृशतीत्यर्थ इत्याह तत्र ; निमित्तस्येऽदेयतापरामृशस्य फले आरम्भ प्रवृत्ति
 विन्नविघातरूपकलान्तरप्रदर्शने चकार पत्र तदा निर्दिष्टं स्यात् () तद्विनिर्देशाद्य
 तत्र तात्पर्याभावनिषेधाय । आरम्भस्तामाये व्यभिचारात्कारणस्य तन्परामृश

(A) ‘पकारप्रतिपादकयोजनेऽस्ति कल्पमाश्रयीत्यादिवाक्यशारकवाक्यतावारणाय साकाङ्क्षत्व
 निवृत्तं तदुत्थान्याकाङ्क्षानिवारकत्वं-तत्रिवृत्तनीयाकाङ्क्षायापकृत्वा यतरूपवत्त्वमेव तन्माकाङ्क्ष
 त्वम्, पान्नामहकारेण विशिष्टैकाग्रप्रतिपादकत्वं दन्दवार्थं इति गणाधर । विनाग’ रूप
 पठने विच्छिद्यं पत्र इति केचित् ।

(B) तत्र व्याप्तिविशिष्टप्रसङ्गताग्रतया ज्ञानमनुमितिरेत्यनुमानचित्तामणियन्थम्य
 व्याख्यानानामरे तत्र लक्ष्यगन्धरूपग्रामाण्यानिभिरनुमान निरूपणीय इति दीधितानुग्रहम् । तत्र
 मूल्यम्यस्य तत्रति पन्थम्य अनुमानपरत्वं निरूपणीये इत्यम्य च पुरितन्वमिति व्याख्यानम् केचितु’
 ह-पाविना गदाधरणोक्तिविलम् ।

(C) तथाच वृत्ती प्रथमरम्भ विन्नविघाताय चेति पाठेऽभविष्यदित्यर्थः ।

१ अन्वयवत्त्वं श्रीकाल्या च । २ ‘सप्तम्यपयस्येव च, सप्तम्यपयस्येव च ।
 ३ ‘यन्तनायवदिवमाच च ।

स्वारम्भविशेषे कारणताप्रदर्शनस्य प्रवृत्त्यनुपयोगित्वेन तत्प्रदर्शनानुपयोगाच्च^१ ।
 परामृशनीति विलक्षणरूपेण शाब्दबोधविषयीकरोतीत्यर्थः, शानार्थकस्य पर-
 पूर्वमृशधातोस्तात्पर्यदर्शनादीदृग्ज्ञानविशेषपरत्वात् न्यायशास्त्रे व्याप्यवत्साक्षान-
 परत्ववत्(A), तथाच विलक्षणरूपेण तद्विषयकज्ञानप्रयोग(B) एवात्र स्तुतिरूप मङ्गलम् ।
 तत्फलमाह—विघ्नविघातायेति । यत्रपि निर्घ्नस्य समाप्यतामिति शिष्याना
 कामनादर्शनाधिर्विघ्नसमाप्तिरेव मङ्गलफलं सेद्धुमुचितं तथाऽपि 'मङ्गलं विनाऽपि
 प्रमत्तानुष्ठितसमाप्तिदर्शनाद्वचनभिवारेण निर्घ्न-[त्व]विशेषणांश्च एवासाँ कामना
 अहं सुखी स्यामित्यत्र सुखरूपविशेषणात् इत्येततो विघ्नविघातांश्च एव मङ्गल-
 फलं २ * समाप्तिस्तु स्वकारणादेवेत्यन्यत्र विस्तरः । चक्रवर्ती तु व्याप्यवत्साक्षानरूपो
 नैवाधिकव्यवहियमाणः परामर्श एवात्र परामूर्ध्वमृशधातोर्त्यः, तथाच—उत्कर्षव्याप्य-
 निर्मित्वाधानस्य श्लोकार्थत्वेन तद्वत्तया जानातीत्यर्थ इत्याह,—तत्र; श्लोके जय-
 व्याप्यताया अर्शदित्वात् निर्मित्वाधानवत्तया जानातीति भवद् (तद् ?) व्याख्यानं
 आधानस्य विशेषत्वोक्त्याख्यानव्याख्येययोर्विसवादाच्च । अन्ये तु नमस्यता-
 व्यायोत्कर्षवत्तया परामृशतीत्यर्थः, जयतीत्यनेन नमस्यताव्याप्योत्कर्षबोधनात् ।
 अत एव "जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यते" इति वृत्तौ नमस्यतारूपनमस्कारानुमानं

(A) तथाच विघ्ननाथ —'व्याप्यस्य फलवृत्तित्वगी परामर्श उच्यते' इति ।

(B) शाब्दप्रयोगस्य तद्विषयकत्वमत्र तेन रूपेण वाग्देवताविषयकशाब्दबोधजनकत्व-
 मिति ध्येयम् ।

१ अत एव पुनरुक्तं—निमित्तसद्वत्त्वादि विविधीष्यं, अथकृतार्थव्यपदायं कारणत्वस्य निमित्तत्वनिमित्तं,
 यथा चर्कसि रीपिण चर्कौतय प्रकृतार्थं चर्कसि चदनविशेषस्य कारणत्वं न तु चदनसागण्यस्य, चर्कं विनाऽपि
 तदुत्पत्तेः । अथ प्रकृतं न सञ्चरति नङ्गत्वं विनाऽपि चतुष्पदभावनदारभमाणान् प्रति मङ्गलव्याप्यनिमित्तत्वात्
 चारुविशेष प्रति निमित्तत्वस्य तु प्रकृतानुपयोगित्वेन वक्तुमुचितत्वात् । सप्रकृतार्थं प्रति चन्दस्य निमित्तत्व-
 मित्यापेक्षं, यथा—उपसर्गादिवाही नाभ्योमुखमितयत्वं सप्रकृतार्थं विवाह प्रति नाभ्योमुखस्य चारुत्वम्,
 स चान्न न सञ्चरति, चारुत्वस्य नङ्गत्वात्प्रकृतत्वात् । यदि च चारुत्वस्यैतत्वं चतुष्पदं सप्तमीगुणने तद्यथापि
 चारुत्वे विघ्नविघातायेति चकाराप्रयोगस्य वक्तुमत्वं तदुत्पत्तिवत्त्वात् विलम्बः । इत्यधिकं वा ।

२ मङ्गलं 'अहं सुखी स्यामिति कामनाया (-नाया) ? आकाश इव विशिष्यमानाया मे तदुत्पत्तलावादि-
 विघातांश्च एव तदुत्पत्तलं विजित्वातीति विघ्नविघातायेतुक्तम्, विशेषसमानाया मे वाचसु मङ्गलं विनाऽपि प्रमत्तानु-
 स्थितसमाप्तिऽपत्तेयः' । इति यावत् ।

३. 'साहित्य' इति ।

देशविषयत इत्याहुः, तत्र; उद्भवार्थकस्य त्रिधाताननस्यतावशात्प्राथम्यमायनं
 बाधितस्य तादृशार्थस्य श्याएशानावोचि यान् 1* नमस्कार व्यतिष्यत इत्यस्य तु नम
 स्कारा व्यस्यत इत्येवार्थः । नमस्कारपदस्य नमस्यतापरत्ये (A) लक्षणानुपादेय
 एव तादृशाऽर्थः । घागामकस्य प्रथम्यारम्भे वाग्देवताया एवेत्यन्वयं परामर्शुं
 मौचि यादृह—समुचितेति । जीवेष्वल्लक्षणात्प्रथमं समुचितत्वम् । तादृश्या अपि
 वैरिदेवतात्वं तन्मङ्गलानादाह 2*—हृष्टेति । प्रथमं ह्यत्र कारिकाहृष्टं भरतमुनिरेव
 तत्रायमहितायामासा कारिकाणा दगनात् न तु वृत्तिरुदेव कारिकाहृष्टं परामृगनी
 त्यादिषु सत्यत्र नामयागाचि अथमपुननिहृगम्यरम्भं, अथयाऽस्मन्त्यागागितात्तम
 पुन्य एव निर्दिश्यत । किञ्च—

“समस्तस्मृतिप्रियं श्रौता धारापिता यग

इति षष्ठ्यमाणसमस्तस्मृतिप्रियरूपकृत्तणे धारापिता इत्यादिपदं न रूपरूपको
 भयमात्रकथनाद् बहुवचनानुपपत्त्या ‘अत्र बहुवचनमपि क्वचित् मिति यद् वृत्तिरुता
 लिखिते तावताऽपि वृत्तिरुत कारिकाहृष्टित्वमयमायनं स्यात्कारिका व श्रौता
 धारापितौ यदेवेन’ नियतं मुनिकारिकात्वेन बहुवचनारिदाकथनात् ३* । यत्तु
 श्रितापे व समासगे ‘त्यन्तामि’ कारिकाभिष्यमाप्रये समापिन—

‘अन्यत्र राजश्रीदेवयत्र मनस्विता ।

मम्लौ सा च त्रिपादनं पद्मिनीयं हिमाम्भस्ता ॥’

इयं मालापमा तु न लक्षितति वृत्तपेसाके ‘माग तु पूर्ववदिति रूपप्रये
 मालापमानुष्यतया मालारूपकं सूत्र एवाह, सूत्रं वृत्तिरुतामेदे तदनुपपन्नमि याहु
 स्तत्रापि नानुपपत्तिं त्रिधाप च समासात्प्रथमं चकारस्यानुकमालोपमासमुष्य
 परत्वेन सूत्र एव मालापमाया उक्तत्वेन तनुत्यतया मालारूपककथनेऽनुपपत्तयमायात् ।
 माग तु न लक्षितत्वस्य तु विशिष्य न लक्षिता चकारणं तु लक्षितेऽन्यभिप्रायः ।

(A) स्वावधिकारवचनया श्रावणरूपस्य समस्कारस्य नमस्कारं निरुत्तमं नमस्यतासाश्च
 नमस्कारार्थनिष्ठत्वं तादृशार्थं लक्षणां विनाऽनुपपन्न इति भाष ।

1 भावनं तत्र तत्र कतावा प्रथमं नमः पराशर्योत्तरेन वक्तुं यथावर्थात्, न ।

2 अनिष्टेऽवतात् तन् प्रथमं न लक्षितत्वं यादृ क ।

3 ‘विदेह’ इत्यत्र बहुवचनवचनं आशानावोचितान् परश्वीयकारिकायात्तु य उपायवचनानोचिपदाद्
 बुध्यत एव बहुवचनवचनमिति वचुः न ।

4 ‘कारिकाश्च ख । 5 अत्र कारिकाकृता माधीपनाया पूर्ववदनुपपत्त्यात्’ इति ध ।

नियतिकृतनियमरहितां ^१हृद्दैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।

परामर्शनीयमर्थमाह—नियतीति । तथाच इत्थ परामृशतीति बोध्यम् । श्लोकार्थस्तु भारती वागधिष्ठात्री देवता जपति उत्कृष्टा । 'यतो नियतिकृतेत्यादि विशेषणश्लेषेचन ब्रह्मनिर्मितिनो क्लृप्त्यां कवेः काव्यरूपां निर्मितम् आदधती जनयन्ती, भारतीप्रसादादेव कविना काव्यकरणाद्वारत्या अपि काव्य-कत्त्वंत्वात् । ब्रह्मनिर्मितिवैलक्षण्यमेवाह—नियतिकृतेति । नियतिः अदृष्ट तत्कृतः तन्निरूप्य नियमः जन्यतारूप तद्रहिताम् अदृष्ट्याजन्या-मिन्यर्थ, शब्दार्थोभयात्मन काव्यस्यालीकमुखाद्यात्मककमलाद्यर्थोऽदृष्ट्याजन्यत्वान्, शब्दार्थो तु तज्जन्यत्वमस्त्वेषेति बोध्यम् । न चैवमर्थोऽंशो भारत्या अन्यजन्य एवेति कथं तदाधानात्तदा उन्कर्ष इति वाच्यम्, यस्तुतोऽनाधानेऽपि तज्जन्यत्वमेवोपनिबन्ध-स्यैव तदाधानत्वंशेषवारात् तावतीत्रोन्कर्षत्वत्वात् । यद्वा नियम्यत इति नियति ससारस्तत्र कृता नियम उल एव एव नाङ्गनाथामित्येवरूपसन्द्रहिताम्, कविनिर्मितावङ्गनाथामपि मुख्याद्यत्मककमलाद्युपलम्भात् । चक्रवर्ती तु नियति-रदृष्ट तत्कृतो नियम नियमविशेष चन्द्र एव चन्द्रपदप्रयोगादाह्लादकत्वाद्यवगम इत्येषरूप तद्रहितामित्यर्थ । कविनिर्मितौ मुखेऽपि चन्द्रपदप्रयोगेणाह्लादकत्वाद्यवगमा-दितिहाह,—तत्र । कविनिर्मितायपि चन्द्रे चन्द्रपदप्रयोगादाह्लादकत्वाद्यवगमात् तद्रहितत्वमाश्नात् । अथ चन्द्र एवेति नियम कविनिर्मितौ नास्तीति चेत् तत् किमवश्ये चन्द्रपदप्रयोगादाह्लादकत्वानवगम इत्येव नियम, स च ब्रह्मनिर्मितावेवार्तित न कविनिर्मितादितिहाह । तर्हि तस्यानवगमस्यात्यन्ताभावरूपत्वेन तत्र नियतिकृतत्व-वाधितमेव । यदि च भवन्द्वयभावप्रतियोग्याह्लादकत्वाद्यवगम एव नियमपदार्थ-स्तदापि नियतिकृतत्वविशेषण तत्र व्यर्थमेव जन्यभावमात्रस्यैव नियतिकृतत्वेना-व्यवर्तकत्वान् । किञ्च ब्रह्मनिर्मिताय चन्द्रे लक्षणया चन्द्रपदप्रयोगा-दाह्लादकत्व-रूपप्रयोजनत्ववगम (ख १) तत्रेत्यतस्तादृशनियमस्तत्रापि नास्त्येव । हृद्दैकेति । हृद् मुख स एव एक केवल दुःखासम्भिन्नो यतस्तन्मयी तन्म्वरूपाम्, स्वार्थं मयद् । अनन्येति अन्यन् स्वमिन्नं स्वीयसमजाद्यदिकारण तदपरतन्त्रां तदनेधीनां, परतन्त्र-पदस्य पराधीनार्थकत्वेऽपि पदान्तरोत्तरार्थत्वेऽधीनमात्रार्थकत्वात्, एतद्व्यतीतार्थोऽंश-

(A) हृद्दैक एकमयीम् आनन्दैकम्वभावामिन्यर्थ ।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जघति ॥ १ ॥

नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वा-
धुपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा पङ्क्ता न च ह्यथैव तैः

मात्रे बोध्यं न तु जन्ये शब्दाद्ये । यद्यप्येतावतीत्ये नियतीत्यादेरपि गतापता, तथाऽपि
गोत्रुपन्यायात् पृथगुपादानं समवाय्यादिकारणानधीनाप्रियत्यधीनाद्य ध्वसतोऽपि
वैलक्षण्यलाभायम् । चक्रवर्ती तु (A) साङ्ख्यमते कार्यकारणयोरभेदेन प्रतिभा-
जन्यात् काश्यादन्या प्रतिभा तत्परतन्त्रामिति व्याचष्टे, तन्न ; अनन्ये-पन्यपदार्थं एव
नप्रधान्यये परमाण्वाधुपादानपरतन्त्रा ब्रह्मनिर्मितिस्त्रिलक्षणया तु कविवाङ्निर्मिति-
रिति वृत्तिविरोधापत्ते तत्र परतन्त्रपदार्थ एव नप्रधान्ययभानात् । नवरसेति ।
नवसङ्ख्या रसा शृङ्गारादयो यत्रेति बहुमीहि, ततश्च सा चासौ रुचिरा चेति
कर्माधारय, तेन नवरसत्वं रुचिरत्वमेवेति द्वयमत्र विधेयम् ; तेन विशेषणद्वयेनैव
ब्रह्मनिर्मितितो वैलक्षण्य बोध्यम्, रसपदस्य त्रिष्टत्वेन ब्रह्मनिर्मितेर्मधुरादिपद-
रमत्वाद् रुचिरमात्रत्वाभावात् । अत्र एव नवरसै रुचिरामिति न तत्पुनरस्तदा
नव[रस]त्वस्य विधेयत्वाप्रतीते, नरभी रसै रुचिरामित्येव तत्पुरुषे त्रिपदतद्वद्गी-
कारोऽपि दोषः । दर्शितबहुमीहौ तु ध्रुविरूपात्तमित्यत्राङ्गोर्ध्वरूपमिव पूर्वपदार्थो
नवत्वं विधेयतयैव प्रतीयते ; व्यक्तीभविष्यति चापे वृत्तौ बहुमीहिरेव ।

कविनिर्मितौ ब्रह्मनिर्मितितो वैलक्षण्य व्याख्यातुमाद्गौ नियतिरुतेत्यादि-
विशेषणैराक्षिप्तानि ब्रह्मनिर्मितिविशेषणानि वृत्तिरुदर्शयति—नियतिशक्त्येति ।
नियतरूपा ब्रह्मणो निर्मितिरित्येपेणान्वयः । एवमुत्तरत्रापि । “नियते” रदृष्टस्य
“शक्त्या” कारणत्वरूपसामर्थ्येन “नियतरूपा” तज्जन्यरूपेत्वर्थं, कविनिर्मिति-
स्वरथाद्ये तदजन्येति वैलक्षण्यम् । “सुखदुःखेति” इदं मोहान्त तज्जनकपरं(B)
सुखादिजनकस्वभावेत्यर्थः । (C) “परमाण्वाधी”ति उपादानकारण समवायि-

(A) अत्रेदं चिन्तनीयम् साङ्ख्यैः एतादृशानुपादेयभावस्यल एव कार्यं कारणभेदानुपागमेन अत्र
विमितभूतार्थां प्रतिभायां तन्त्रापर्यायं काव्यादभेदोपि कथं सङ्गच्छत इति ।

(B) यद्यपि साङ्ख्यमतानुसारेण निर्मिते क्षण्णुभि एषदुःखमोहस्वभावा इति वधाधुतमेव
सङ्गच्छते तथाऽपि वृत्तौ परमाण्वाधुपादानेत्यादिदर्शानात् न्यायमतानुसारेण व्याचष्टे तज्जनकपर-
मिति ।

(C) जाला-उरगते भानौ यत् सुखं ह्ययते रज ।
तस्य षडैकमागो य परमाणु स कीर्तित ॥

तादृशी ब्रह्मणो निर्मितनिर्मोणम् एतद्विलक्षणा तु कचिवाङ्-
निर्मितिः, अत एव जयति ; जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति
तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते ।

कारणम् ; सर्वत्र कारणपदार्थान्वयः (A) । “कर्म” कुम्भकारादिक्रिया । रसपदस्य
त्रिदशत्यादाह—“पट्टरेति” मधुरादिरसपदकवतीत्यर्थः, अनेन नवरसेत्यत्र
बहुव्रीहिव्यकीकृत । तथाच रसाधिक्यादपि कविनिर्मितौ वैलक्षण्यं दर्शितम् ।
वैलक्षण्यान्तरमपि दर्शयति—न चेति । ब्रह्मनिर्मितौ रसेर्न ह्येति घट्टमशस्य
मधुराद्यैर्दृष्टत्वादतो रुचिरामित्यत्र रुचिरमात्रामित्यर्थमभिप्रेत्य ब्रह्मनिर्मितौ
तन्मात्रत्वाभावमेव दर्शयति—“न चेति” । “तै” रसै, तिकादिनाऽदृष्टत्वादित्यर्थः ।
हेत्वाकाङ्क्षासत्त्वादेव तैरित्याक्षिप्य दर्शितं, न तु नवरसरुचिरामित्यत्र तत्पुरुष-
लभ्यत्वादिदमुक्तमिति भ्रमः कार्यः, तत्र बहुव्रीहरेवोक्तयुक्त्या दर्शितत्वात् । न च
रुचिरामित्यत्र रुचिरमात्रामित्यर्थे ह्यद्वैक्यनेन पौनरुक्त्यं ह्यद्वैकजनकत्वरुचिरमात्रत्वयो
सुखमात्रजनकत्वरूपत्वादिति वाच्यम्, पूर्वत्रालङ्काराधीनहादस्य इह तु रसाधीनहादस्य
विषयित्वात्वेन भेदात् । “निर्माणमिति” आक्षिप्तनिर्मितिपदार्थं एव व्याख्यात-
व्यमिहितभावत्वेन (B) निर्मितमित्यत्र तस्याप्यर्थः । इत्थं ब्रह्मनिर्मितिविशेषणा-
न्येव दर्शयित्वा नियतिकृतेत्यादिभिः कविनिर्मितिविशेषणानि श्लोकोक्तानि
तद्वैलक्षण्यबोधकानीत्याह—एतद्विलक्षणा त्विति । “वाचा” कण्ठताल्या-
द्यभिधानेन “निर्मितिः” वाङ्निर्मितिः, कण्ठताल्याद्यभिवातजन्यशब्देनार्थस्या-
प्युपनिषन्नादर्धस्यापि वाङ्निर्मितिस्त्वेनाथांशे वैलक्षण्यस्यापि वाङ्निर्मितिवैल-
क्षण्यत् । अत एवेति विलक्षणकार्यकारित्वादेवेत्यर्थः । स्तुतिरूपमङ्गलस्या-
प्यस्य मानसनमस्कार (C) व्यञ्जनरुत्वमपीत्याह—जयत्यर्थेनेति । स च नमस्कार-
स्तादृशस्तुतिकृतेवेत्याह—तां प्रत्यस्मीति । लभ्यते स्तुतिधोतृभिः ।

(A) इन्द्रात् परं पूर्वं वा य ध्रुवते स प्रत्येकमभिप्रेष्यते इति न्यायादिति भावः ।

(B) निर्मितपदस्य भावप्रत्ययात्तत्परा क्रियामात्रवाचित्वे तत्र मधुरादिपदसत्त्वमनुप-
पन्नमित्यतो जगत्परतया व्याचष्टे—निर्मितमिति ।

(C) अथ भावः । जयत्यर्थं उत्कर्षः, स च विशेषानुपादानान् सर्वप्रतियोगिक इति लभ्यते
नारत्या सर्वोक्तदृष्टत्वज्ञाने तुल्यवित्तिवेद्यतान्वायेन प्रकारान्तरेण वा भारत्यपेक्षया सर्वव्याप-
दृष्टत्वज्ञाने सर्वान्तपानिनि स्वल्पिन्नपि धाराभ्यापेक्षयाऽप्यदृष्टत्वज्ञानं ध्यत्तया इत्तमेवेति
बालशेषिणी ।

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहागविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

कालिदासादीनामिव यज्ञः, श्रीहर्षादेर्घावकादीनामिव धनम्, राजादिगतोचिताऽऽचारपरिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवाऽनर्थनिवारणम्, सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव

विचारणीयकाव्यस्य प्रयाजनमस्य एव तद्विचारकालद्वाराशास्त्रे जव प्रसूते, अत्र काव्यस्य प्रयाजनदर्शिका कारिकामुन्यापयति—इहाभिधेयमिति । इह अत्रद्वाराशास्त्रे यद् अभिधेय ध्वनिगुणाभूतव्यङ्ग्यचित्रान्मरु त्रिविधं काव्यं तत् सप्रयाजनम् इति कारिकावृत्त आहृत्यर्थं । 'सप्रयाजनमाह' इति पाठं काव्यमुद्देश्यत्वेन प्रयोजनञ्च निरेयत्वेन सहैवाहृत्यर्थः ।

अर्थकृते इति, अर्था धनं तस्य कृत् करणमुपायजनं तर्म्म इत्यर्थः । एव विदुष्वदनं ज्ञानम् युक् योजनं प्रातिस्तस्य इत्यर्थः । सर्वत्र सम्पदादित्याह भावे क्विप । यश-आदिषु चतुर्थ्यर्थं करोतिना विभृण्वप्राह—कालिदासादीनामिति । अत्र कवीनामित्युपमेयं बोध्यम् । एवमुत्तरत्वापि । 'यज्ञ' करतीत्यग्रेणाम्बय । 'काव्य' कर्त्तुं । कालिदासादीनामिन्वेत्यनेन समादप्रवदनाद् यश करणे बाधं परिहृतं । एवमुत्तरत्वापि । 'श्रीहर्षो' राजा, घावकेन कविना रत्नापली नाम नाटिकां तन्नाम्ना कृत्वा ततो धनं लब्धम् । व्यग्रहार व्याचष्टे—राजादीति । भाविना धमात्यादिगतराजाचारपरिग्रह, काव्येन तदुभयस्यैव वर्णनान् ततस्तज्ज्ञानम् । शिवेतरस्यानर्थहेतुत्वेन तन्ततिमाह—आदित्यादेरिति । आदित्यस्तुतिरूपात् (A) काव्यान्मयूरमदृश्य कुष्ठिन्यनिवृत्ते । सद्य परंत्यादिक व्याचष्टे—सकलेति । 'मौलिभूत' (B) प्रधान

(A) काव्यामिति । मूर्ध्वगतनकाह ।

(B) प्रधानभूतमिति । प्रयोजनं हि गुण्ययोग्यभेदेन द्विविधम्, तत्र कीर्त्तियनदेहराजपता योगत्वमानन्दस्य तु कष्टद्वान्मुन्यन्वमिति तस्य प्रधान्यम् ।

1 'स्वानयनपरिवृत्तेन' ख, ग ।

(A) रसास्वादन-समुद्भूतं विगलितवेद्याऽन्तरमानन्दम्, प्रभुसम्मित-
शब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मिनार्थतात्पर्यवत्पुराणादीति-

भूतम्; इयं परपदव्याख्या^१। 'समन्तर' काव्यार्थबोधानन्तरम्; इयं सध-
पदव्याख्या^२। निर्वृतिपद रसरूपानन्दपरतया व्याचष्टे—रसास्वादेति।
रमरूपं यदास्वादन तद्रूपं सन् 'समुद्भूत' सम्भूत वा पाठभेदात्; उभयथाऽप्युत्-
पन्नमित्यर्थः, रसस्य स्वप्रकाशानन्दरूपतया उत्पद्यमानत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्; (B) स
ध म कार्य इत्यनेन तु 'कार्यज्ञानान्तरचैलक्षण्यमेव साधयिष्यते, न तु कार्यत्वा-
भावे इति तत्रैव व्याख्यास्यते। तन्काले विषयान्तरबोधो नास्तीत्याह—
विगलितेति ज्ञानाविषयीभूतेत्यर्थः। विलक्षणं काव्यमेवैतन् करोतीत्यतः काव्यपदं
विलक्षणकाव्यपरतया व्याख्यानुमाह—प्रभुसम्मितेति^(C)। प्रभुत्वं प्रमोदादेशः,
'तत्समित' तत्सुर्यं यत् 'शब्दप्रधान वेदादिशास्त्रम्,' आदिपदात् 'वैदिकमन्त्रश्च^(D)
ततो विलक्षणमित्यर्थः। रणसिंह इति कस्यचिन्नाम्नि प्रभुणाऽऽदिष्टे 'यथा
समामर्निह इति न व्यरुद्धियते प्रमोदादेशस्य जन्मप्रधानत्वात्, तथा वेदोक्तशब्दस्यापि
परिवृत्त्यन्तमत्वान्^(E) शब्दप्रधानत्वम्। सुहृदिति। अत्रापि सुहृत् सुहृदुपदेशः,

(A) रसास्वादनपदम् आस्वादनपरस्य करणव्युत्पत्त्या रसानामास्वादनं धम्मदिति
बहुव्रीहिणा वा विधावादिस्वयौगपरम्, उत समुद्भूतमुत्पन्नमित्यर्थः। अनेन परपदव्याख्यापरतया
लौकिकानाम्प्रकारणवैलक्षण्योक्त्या फलीभूतानन्वयं वैलक्षण्यं लभ्यते विगलितेत्प्रादिविधेयान्तर-
मध्यप्रोपपत्त्यते भाष्याच्च निर्वृते परत्वमुपरघते इति ध्येयम्।

(B) प्रतीकोऽर्थं वतुर्घोडात्से अभिनवगुहात्कार्यमतोऽहेसाधनरे वृत्त्यं ।

(C) वेद पुराणं काव्यञ्च प्रभुमित्रं प्रियावच' इति प्रचामाभाणकोऽत्र उपरीकृत्याशु-
सन्धेयः ।

(D) अत्र 'अवैदिकमन्त्र' इति युष्म पाठः, वैदिकमन्त्रस्य वेदान्तगतत्वादेव आदिपदेन
सदुपपन्नस्थानौचित्यात् ।

(E) परितृप्त्यन्तमत्वादिति । स्वाभावोऽन्वयेत्यत्र इत्यादिना वेदाणां सत्त्वानुपूर्व्यां एव पाठस्य
फलवत्त्वं बोधितम्, न तु 'अग्निमीडे' इत्यदि समानार्थकस्य वद्धिं स्तौमीत्यादेः, न वा इदे अग्नि-
मित्यादिव्युत्क्रमेण पाठस्य इति तेषां शब्दप्रधानता। प्रशिक्षितमेतन्निरुक्ते "नियतवाचोयुक्तयो
नियतानुपूर्व्यां भवति" "अर्षवन्तः शब्दसामान्यान्" (अ १ पा ९) इत्यादिभिः । एवमवैदिक-
मन्त्रेष्वपि ।

१. 'परपदव्याख्या' क-ख। २. 'परपदव्याख्या' क-ख। ३. 'कार्यवर्तव्यव्य' ख। ४. 'वैदिकमन्त्र-
परिपद' ख। ५. 'यथा इत्यपराधपदेन' ख-ग।

हासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन (A) रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं
पत् काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसताऽऽ-
पादनेनाऽभिमुखीकृत्य रामादिवद्वतितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं
च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ।

तच्चुच्य यद्व्यंतात्पर्ययुक्त पुराणादिरूपमितिहासशास्त्रम् । आविपवाद्गुणपुण-
परिग्रह, ततोऽपि विलक्षणमित्यर्थः । सुहृदुपदेशपुण्ययोर्द्वयारपि भयंस्वैव
प्राज्ञान्च न तु शब्दपरिवृत्तमन्वमताऽऽर्पणात्पर्ययत्वम् । तेभ्यो विलक्षण्ये
हेतुमाह—शब्दार्थयोरिति अर्थोऽत्र वाच्या लक्ष्यश्च । तयार्गुणभावे हेतुमाह—
रसाङ्गेति । रसाङ्गभूत रसबाधक व्यापारा व्यञ्जनात्मक यस्मि व्यङ्ग्याय,
तत्प्रवणतया व्यङ्ग्यप्रधानतयेत्यर्थः ; व्यङ्ग्यार्थस्यैवास्वाद्यत्वेन तत्प्रधानता ।
यद्यपि रसस्य साक्षात्कार एव वक्ष्यते, तथापि प्रथम व्यञ्जना, तत एव साक्षात्कार इति
सिद्धान्तविष्णुभाणत्याद्वचननाया रसाङ्गत्वम् । भट्टलोलुभते तु रसस्य व्यञ्ज-
नैवेति तन्मते स्पष्टमिदम् । तादृश काव्य न सामान्यकविसाध्यमित्यत आह—
लोकोत्तरेति, अन्यलोकविलक्षणवर्णनाया निपुणस्य कवे कर्मेत्यर्थः । कान्ता-
सम्मिततयेति व्याचष्टे—तत् कान्तेवेति । “तन्” काव्य कर्तुं ।
सरसता शृङ्गारोन्मुखता, काव्येनापि प्रथम शृङ्गारादिरसबाधन ततो
वर्णितार्थं प्रवृत्तिनिवृत्ती उपदिश्येते । उपदेशस्याकारमाह—रामादीति ।
रामस्य पित्राज्ञाविपालनकृत्य इव प्रवृत्त्युपदेशः ; शयणस्य परदारहरणादिकृत्य
इव निवृत्त्युपदेशः । ‘उपदेशश्चेति’ चकार पूर्वोक्तयशाभादिकम्मसमुच्चये ।
यथायोगमिति यथासम्भबमित्यर्थः । तेन यशाऽर्थो कवेरेव, व्यवहारोपदेशपर-
निवृत्तय सहृदयस्यैव शेषमुभयो । सर्वथा तत्रेति । ‘तत्र’ काये
काव्यार्थबोधे च । तत्तत्कलायं कविना सहृदयेन च सर्वथा यतनीयमित्यर्थः ।

(A) रसाङ्गेति । रसानामङ्गभूत बोधस्त्वेनोपकारको यो व्यापार साधारणीकरणक्यो
भोक्तृत्वात्थो वा तत्प्रवणतया तत्रपरतयेत्यर्थः । एवञ्च—सति करणव्यापारे तदवस्थस्य रसा-
न्वयात्प्रावच्यमनावाप तत्रैव वरमतात्पर्येण शब्दार्थयोरेव गुणत्वमिति ज्ञेयम् ।

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह—

शक्तिर्निपुणता^A लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणत् ।

काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ ३ ॥

अस्येति काव्यस्य काव्यार्थबोधस्य च कारणमाहेत्यर्थः । एतेन 'काव्यतदर्थ-
बोधयो कारणकथनमुपक्रान्तामिति बोध्यम् । तद्व्यकरणमाह^१ शक्ति-
रित्यादि । लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणत् । काव्यशब्द काव्यकर्तृत्वद्विवेचको-
भयपरतया स्वयमेव व्याख्यास्यते, एवमुद्भवपदमप्युत्पत्तिनप्युभयपरतया । तत्र

A निपुणतेति । इह प्रसङ्गात् सायुशब्दप्रथमाद्युपयोगमन्तरेणापि व्याकरणशिक्षा-
वेक्षणहितनैपुण्यस्य काव्यनिर्माणे तदवबोधे च उपयोग उदाहरणे प्रदर्शितः ।

तत्र व्याकरणनैपुण्यं यथा—

उभयी प्रवृत्ति कामे सञ्जेतेति मुनेर्नतम् ।

अपवर्गे तृतीयेति भगव पाणिनेरपि ॥

लिङ्गानुशासननैपुण्यं यथा—

नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः ।

मनस्सत्रैश्च रमते चयं पाणिनिना हता ॥

उपनिषद्नैपुण्यं यथा—

अणोरणीयान् महतो महोपान् योगे त्रियोगे त्रिभ्योऽङ्गनाया ।

स्फुट्टा सत्वे सत्यमिदं दधीमि यज्ञोपवीतं परमं पविशम् ॥

अन्वय—

महोश्च सर्वमपरं न तु किञ्चिदस्ति तन्मात्रं मे सति परापरभेदज्ञेहि ।

जग्रे यदा गृह्यन्ती च तथा रतिसौ मूढा किमर्थममतीनि कर्षयन्ति ॥

साङ्ख्यनैपुण्यं यथा—

प्रतिशुद्धं सन्निहितां हृत्यपरां विविधकरणकोपधितां ।

बहुलायं प्राहिण्य प्रकृतय इव दुर्गं हा गणिकाः ॥

बैद्यिकशास्त्रनैपुण्यं यथा—

अविदितस्य लुद्धं निर्गुणं धन्तु किञ्चिन्-

जडमपिरिह कश्चिन्मोक्ष इत्याचक्षते ।

1. 'काव्यकर्तृकाव्यरोद्देशेरेव यतनौपस्थोक्तवान्, अत एव इत्येव कारणवचनात्' क ।

शक्तिः कवित्वयीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न

शक्तिद्वयम् । तदुभयकारणद्वय व्याचष्टे—शक्तिः कवित्वयीजेति जनिका बोधिका च शक्तिरित्यर्थः । एवञ्च कवित्वयीजेत्यत्रापि कश्चित्तदर्थबोधनीजेत्यर्थः । उभयोर्भेदेऽपि सस्कारत्वेनैकत्यादेकपक्षनम् । सस्कारश्चात्र भतीन्द्रियात्मगुणरूप- तथा पुण्यप्रियेण एव ; तथाच तदुभयजनको पुण्यप्रियेणैवावित्यर्थः । चमवर्ती तु भावनाख्यसंस्कारमेवाह, तत्र, स्मृति विना तस्यान्यथाज्ञतकत्यात् पदार्थस्मारक- भावनायाश्च सर्वसाधारणत्वेनान्यापत्तकत्यात् काव्याकर्षुं काव्याबोद्धव्यापत्तनाय पुण्यप्रियेणस्याप्यकत्याच्च । तादृशशक्तिद्वयस्य तादृश फलद्वय प्रति कारणताप्राहक तदुद्वयव्यतिरेकेण तत्तत्फलद्वयव्यतिरेकमाह—यां विनेति प्रसृतं वेति च ।

भम तु भगवन्तस्मेरताप्यवूर्ज-
न्मदकलमरिदाक्षीनीविमोक्षो दि मोक्ष ॥

पूर्वमीमांसानैपुण्यं यथा—

तमो द्रव्य नेत्याद घटवदिनि माने समुदिते
यदीदं क्वचि स्यात् कथमिष न हि स्वर्गागुणवत् ।
इतीवामत्तकं शिथिलयिमुमन्तव्यं वसिता
तमोदृब्धं धत्ते कथमभरमिपेणेन्दुवदना ॥

न्यायशास्त्रनैपुण्यं यथा—

भाषादभाषाद यदि नातिरिक्त सम्बन्धिभि स्वीक्रियते पदार्थं ।
जन्वाविनाशि प्रतियोगिशून्य श्रीलक्ष्मणशौगिपतेयंता किम् ॥

योगशास्त्रनैपुण्यं यथा—

आहारो विरति समन्तविषयपामे मितृप्ति परा
नामापे सदनं सदेतदपरं यद्येकमानं मन ।
सौत्रध्वेदमिदञ्च शून्यमधुना यद्विषमाभाति ते
तद् मया सन्नि योगिनी किमपि भो किं वा विपोगित्यपि ॥

शास्त्रमूर्त्तनैपुण्यं यथा—

पृष्टोदन्तं किञ्चिच्छृणु कथयतो मत्त उदितं
न विश्वासो न्याये कथमपि तत्र स्यात्यति यत ।
अमृतौ काठिन्यं ममसि मिष्ठितम्राप्यणुतया
महामानं मोक्षप्रचयपरिणाम विमुदात ॥

तत्र काव्यस्य जनकताप्राहक 'या विनेति' यां शक्ति विनेत्यर्थः । तस्या बोधरुताया प्राहक प्रवृत्त वेति, अत्रापि या विनेत्यस्यान्वयः । वाकार-अव्यर्थे, तथा च जनिकया शक्त्या प्रवृत्त जातमपि काव्यं यां बोधिकां शक्तिं विना उपहसनीय स्यादित्यर्थः । सत्काव्योपहासादेव च तदर्थबोधव्यतिरेकलाभः । एतेन जनक-शक्तिव्यतिरेकेण प्रवृत्तत्वात्मभवो नाशङ्कनीय जनकशक्तिव्यतिरेकेण प्रवृत्तत्व-स्यानुक्तत्वात् । मैथिलस्तु अनुपहसनीयकाव्यकारणकथनमेवात्रोपनान्तमित्यभि-प्रायेण अनुपहसनीयकवित्वबीजरूप सस्कारविशेष इत्यर्थः, तथाच अनुपहसनीय काव्य यां विना न प्रसरेत् प्रवृत्तञ्च यत् काव्यं तदुपहसनीयमेव न त्वनुपहसनीयमित्यर्थे इत्याहुः, तत्र ; काव्यपदस्यात्र अनुपहसनीयकाव्यपरत्वे प्रवृत्त वेति वाकारेण तत्रैव प्रवृत्तत्वान्त्रयबोधतात्पर्यस्य ग्राहणीयत्वनियमात् न तूपहसनीयकाव्यरूपधर्म्यन्तरे (A), उपहसनीयकाव्यरूपधर्म्यन्तरस्य शब्दात्प्रतीते (B) बोधकशतपकथने 'इति प्रयस्तस्य काव्यस्य उद्गमे निर्माणे समुल्लासे च हेतु'रिति वृत्त्यनुपपत्तेश्च ।

अन्ये तु तर्कपरमेवेदम्, तथाच यां विना यदि प्रवृत्त स्यात् तदा अकाव्यत्वमेवोप-हसनीय स्यादित्यर्थे इत्याहुः, तदपि न, 'यथाभूतस्यास्य तर्कस्य घटादावेव व्यभि-चारेण मूलबौधिल्यात् (C) यां विना प्रवृत्त काव्यं स्यादित्यापादकद्वयार्थकरणे तु काव्यपदस्यास्तत्काव्यसाधारणपरत्वे इष्टापत्तिः, अनुपहसनीयकाव्यपरत्वे तु तस्य शक्ति विना प्रवृत्तत्वाप्रसिद्ध्या आपादकाप्रसिद्धिः, अनुपहसनीयत्वोपहसनीयत्वयो-

(A). धर्म्यन्तर इति । सादृशबोधतात्पर्यग्रह सम्भवतीत्यर्थः ।

(B). सादृशप्रतीतेरिति । तथाच शक्तिं विना अनुपहसनीयकाव्यस्य प्रवृत्तत्वमेव नोपगच्छते सादृशव्योपहसनीयत्वन्तु नितरामिति भावः । अत्रानुपहसनीयकाव्यमित्तकाव्यमित्यव्याहारेण तत्रैव प्रवृत्तत्वान्वय सम्भवति नष्टरूपोपादानाच्च नोदेश्यतादृक्छेदकविधेययोरेक्यमित्यन्तरसा-दाह—बोधकेति ।

(C) मूलबौधिल्यादिति । व्याप्तिग्रहासम्भवारिति भावः ।

1. 'रूपपदेन, अथान्यताया शब्देर्बोधकारणतादृक्ती तादृशोपहासात्प्रवृत्तः', क । अयम् अर्थिकोऽयं पूर्वभागस्य टिप्पणीति प्रतिभाति ।

2 'यथायुपहासस्य तत्रैव शक्तिं विना प्रवृत्तेऽनुपहसनीयं घट एव व्यभिचारेण मूलबौधिल्यात् । यदि च यां विना यदि प्रवृत्त काव्यं स्यादित्यापादकद्वयार्थग्रह काव्यपदस्यास्तत्काव्यसाधारणत्वे इष्टापत्तिरुप-हसनीयकाव्यपरत्वे तु शक्तिं विना यदनुपहसनीयसाधारणत्वात् आपादकाप्रसिद्धिरनुपहसनीयत्वोपहसनीयत्वयोरेवोपा-पत्तौलमेवित्यर्थः । अथ काव्यं यदि इतरकाव्यकारणैव प्रवृत्त स्यात्तदा उपहसनीय स्यादिति तर्कादेव वाच्यं उपहसनीयकाव्य एव तद्व्यतिरेकित्वेन शक्तिं विना अत्रासन्निरुपहासादित्येव नन्वेव व्यभिचारेण अनुपहसनीय

प्रसरत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्, लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मक-
लोकवृत्तस्य शास्त्राणां छन्दो-व्याकरणा-भिमानकोप-कला^(A)चतुर्वर्ग-
गजतुरग-खड्गादिलक्षणग्रन्थानां काव्यानां च महाकविसन्धिनाम्

विराधा मूलजीविन्यञ्च । अथानुपहसनीय काव्य पदं, तथाच अनुपहसनीय काव्य
यदि शक्ति विना प्रसृत काव्य स्यात्तदा उपहसनीय स्यादसन् काव्यरदिति तर्क-
परिष्कार इति चेत्तथाऽपि धृतिविराध एवात्र प्रागुक्त^२ ।

लोकशास्त्रेत्यादिक व्याचष्टे—लोकस्येति । लोकवृत्तस्यैव वर्णनीयत्वेन लोक-
मात्रावेक्षणं तत्रानुपयुक्तमता स्वरूपं तद्वृत्तपरत्वात् व्याचष्टे—लोकवृत्तस्येति ।
अत्रज्ञानादित्यस्य विवरणं विमर्शनादिति अत्रैव च सकल्पयन्त्यन्तपदार्थान्वय ।

(A) कृष्ण गीतास्यश्रुतु पठिभेदा यथा—गीतं (१) वाद्यं (२) कृष्यम् (३) आलेख्यम्
(४) विगोपल्लेख्यम् (५) सङ्कुलकम्बुमन्त्रविद्याया (६) पुष्पाभरणम् (७) दशानवसनाङ्गराग
(८) मणिभूमिकाङ्गम् (९) दायनरचनम् (१०) उन्मत्तवाचम् (११) उद्दकापात (१२) चित्रात्र
योगा (१३) माल्यप्रयनविकल्पा (१४) गणरासीदधोवन (१५) देवपत्रयोगा (१६)
कर्णपत्रनङ्गा (१७) गणपुक्ति (१८) भूगणयानम् (१९) पेत्रजाला (२०) कौषुमारत्र
योगा (२१) इक्ष्वाकव्य (२२) विचित्रताकृत्यनन्धविकारत्रिया (२३) पानकसरागासप
योजनम् (२४) सूचीदानकर्मणि (२५) सूत्रनीडा (२६) वीणादमरकटाघाति (२७) प्रौढिका
(२८) प्रतिमाला (२९) दुर्वाचकयोगा (३०) पुष्पकवाचनं (३१) मातृकराभ्यायिकान्तानं
(३२) काव्यममम्यापूर्णं (३३) पट्टिकात्रयानविकल्पा (३४) तन्कुक्कर्मणि (३५) तक्षर्ण (३६)
वाप्तुविद्या (३७) स्य्यरअपरीक्षा (३८) घातुवद (३९) मणिसागकरज्ञानं (४०) वृत्तापुञ्जद
योगा (४१) मणिकुट्टावकपुञ्जविनि (४२) गुरुमार्गिकप्रणयनम् (४३) उन्मत्तान संवाहन
केशमर्दिनं च कौशुम् (४४) अक्षमुष्टिकाकथनम् (४५) मुच्छिन्नविकल्पा (४६) देशभाषा
विज्ञान (४७) पुष्पशकटिका (४८) निमित्तज्ञानम् (४९) यन्त्रमानुका (५०) धारणमानुका
(५१) सपात्र (५२) मानमी काव्यक्रिया (५३) जभिमानकोप (५४) छन्दोपात (५५)
क्रियाकल्प (५६) छलितक्रयोगा (५७) घञ्गापनानि (५८) हनुविद्येया (५९) आकरंकीदा
(६०) आलक्षीद्वनज्ञानि (६१) धैर्यविहीना (६२) धैर्यविहीना (६३) व्यापामिकीनास
धिधाना (६४) ज्ञानम् इति चतुःपट्टिविद्या कामसूत्रम्यावयविन्य । कामसूत्रम् ३ अ० १६ सू० ।
आमां विवरणमन्त्रे च कलाभण्डान्तर टीकायां द्रष्टव्यानि ।

काव्यं धर्मिभारत् । अथ तत्रापि पुष्पविषयका शक्तिर्हेतुरिति सिद्धहसनीयकाव्यस्यापि भीदवत्सजन
कलेन (१) पुष्पविषयकत्वादादाकाशविहितवितानमधिकेन न ।

आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः, कार्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तानस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ।

स्थावरवृक्षञ्च लतालास्यकुसुमविकसनादि । 'भूमिधानकोर' नामलिङ्गानुशासनम् । एषां ज्ञानोपयोग स्पष्ट एव । 'कला' हेलालीलादयः स्त्रीभावा । 'चतुर्वर्ग', धर्म्मार्थकाममोक्षा (A) । कलादिखड्गग्रान्तेषु सर्वत्र लक्षणाग्रन्थान्वयः, एषां मध्येषामेव 'काव्ये वर्णनीयत्वात्' 'तजज्ञानापेक्षा । इतिहासादीनामित्यत्र आदि-पदाग्रन्थाङ्गपट्टिह । व्युत्पत्तिः सम्कारः, स चावेक्षणार्थविषय' । काव्यप्रपञ्च काव्यकर्तृ तद्विवेचकरूपकाव्यार्थबोधुभयपरतया व्याचष्टे—काव्यं कर्तुमिति । काव्यकर्तृपदेशात् काव्यकरणे तद्विवेचकापदेशाच्च अन्वयबोधरूपे योजने प्रवृत्तिर्बोधा । एतावताऽप्युभयकारणकथनमुपक्रान्तमिति बोध्यम् । प्रवृत्तिरत्र 'प्रवृत्तिविषयज्ञानजन्य' सम्कारः प्रवृत्ते' लणिकत्वात् । इति हेतुरित्यत्र हेतुत्रयार्थकहेतुपदोत्तरैकवचनलब्ध-भावाव्यर्थाह—इति त्रयः समुदिता इति । समुदायाश्रयैकवचनात् समुदायत्वमिति भावः । तदुद्भवपद तन्निर्माणतद्वर्धबोधोभयपरतया व्याचष्टे—तस्य काव्यस्येति । उल्लास तदर्थज्ञानम् । एवञ्च त्रयान्तर्गतायाः शक्रेरप्युभयकारणत्वमुक्तम् । तथाच शक्तिपदं न जनकशक्तिमात्रपरम् । हेतु फलोपधायकः । न तु हेतव इति न तु प्रत्येक फलोपधायका इत्यर्थः । अत्र च न तु व्यस्ता इत्यस्य हेतव इत्यत्रान्वये न तु हेतव इत्यत्र हेतुपदमधिकं स्यादतो न तु व्यस्ता इत्यत्र कारिकास्येन "इति" शब्देन परामृष्ट इत्यभ्याहृतान्वयेन वाक्यभेदः कार्यं, तथाच समुदिता एव "इति" शब्देन परामृष्टा न तु व्यस्ता प्रत्येक परामृष्टा इत्यर्थः । एतादृशपरामर्शफलमाह—हेतुर्न तु हेतव इति । तथाच दण्डचक्रादिवन्मिलितानामेव फलोपधायकत्वमुक्तम्, स्वल्पयोग्यता तु प्रत्येकमस्त्येव । मिलितानां तथात्वन्तु मन्त्रायनधीतकाव्यं प्रत्येव

(A) धर्म्मग्रन्था —मन्वादिप्रणीता मनुमहितादयः । अर्थग्रन्था —चाणक्यादिप्रणीता अर्थ-शास्त्रादयः । कामग्रन्था —वाल्मीक्यायनादिप्रणीता कामसूत्रादयः । मोक्षग्रन्था —उपनिषद्स्तदुप-कारकाश्च व्यासादिप्रणीता ब्रह्मसूत्रादयः ।

विषयज्ञानेन 'व्यासज्यवृत्तिधर्माविषयीकरणत्वात् ; विशिष्टस्य काव्यत्वे च यत्र शाब्दी व्यञ्जना शब्दालङ्कारो वा तत्रार्थविशिष्ट' शब्द काव्यम्, यत्र त्वार्था व्यञ्जना अर्थालङ्कारो वा तत्र शब्दविशिष्टोऽर्थः काव्यमिति विनिगमना ; न त्वेकत्रैव पद्ये द्विविधं काव्यत्वं वैपर्यात् । दोषविशेषतः काव्यत्वानङ्गीकारादाह—अदोषाविति । न्युतससृष्ट्य-भवनतयोगाङ्गिप्रत्वाद्योः^१ ये शाब्दबोधविघटका दोषा, ये च 'प्रतिभूलवर्णत्वाद्यो रसबोधविघटका दोषा तन्सामान्याभाववन्तावित्यर्थः', एषु सन्सु रसबोधानुदयात् । दोषान्तरं तु काव्यापकर्षकमेव न तु काव्यत्वविघातकम् ; अत "तयामूर्ता दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयामि"^२त्यादौ न्यूनपददोषोदाहरणतया वक्ष्यमाणोऽपि काकुसह-कृतवाक्यार्थव्यङ्ग्यभ्यनुदाहरणत्वम्, 'कृतमनुमत दृष्टं वा यैरिदं गुणपातरु'-मित्यादौ पुनरुक्तदोषोदाहरणतया वक्ष्यमाणोऽपि रौद्ररसभ्यनुदाहरणत्वञ्च वक्ष्यमाण 'नानुपपन्नम् । केचित्तु एकत्रैव 'काव्ये दोषवद्वयवाचच्छेदेनाकाव्यत्वम् अन्यान्च्छेदेन तु काव्यत्वमतो दोषसामान्याभाववन्तावित्येवार्थाभाहुः', तच्च एकत्रोभयव्यङ्ग्यहाराभाषा-वनुपादेयमेव^३ । सर्वथा नीरसस्य—

“गोरपत्यं बलीवर्हो घासमत्ति मुखेन स”

इत्यादेः

“अद्रावन्न प्रज्वलत्यग्निरुद्धं प्राज्य प्रोचद्गुह्यस्त्येन^४ धूम”

इत्यादेश्च काव्यत्वानङ्गीकारादाह—सगुणाविति । गुणा हि माधुर्य्योज प्रसादाख्या रसधर्मा एव वक्ष्यन्ते, काव्यस्य च गुणाश्रयरसवत्येनैव सगुणत्वम्^५ । अत एव वक्ष्यति—

“गुणवृत्त्या पुनस्तेषा वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता” इति ।

(८म उल्लासे)

तेषां गुणानां गुणवृत्त्या परम्परावृत्त्या इति तदर्थान् । भावतद्भासासमायजान्ति-भावाद्यभावसबलत्वानि यानि व्यङ्ग्यानि असलक्ष्यकमतया रसतुल्यकृताणि वक्ष्यन्ते तेष्वपि गुणाङ्गीकारान् न भावादिकाव्येष्वव्याप्ति (A) । अत एव "नियतिवृत्तानियम-

तथाच एकस्यानवच्छिन्नानुयोजितारूपपर्याप्तिकत्वमिति व्यासज्यवृत्तेर्लक्षणम् । एवञ्च काव्यत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वे अर्थनिरपत्त्येण शब्दे शब्दनैरपेक्षेणार्थे च काव्यत्वप्रत्ययोऽनुपपन्न इति भावः ।

(A) तथाच ये रसम्याङ्गिन इत्यत्र रसपद भावादेरन्युपलक्षकमिति भावः ।

१ 'व्यासज्यवृत्तिधर्मन यानदाश्रयविशेषितनियनात्' २ 'रिद्राख्या' क.ग. ३ 'प्रतिकूलवर्षादयो' क.ग. ४ 'न विद्वदम्' छ-ग. ५ 'पद्ये' छ-ग. ६ अत पर—'रस्यप्यत्रनिवाया प्रतीतिभाव-साचिकत्वादि'ति न-उल्लेखिकेण पाठः । ७ 'रासा' क. ८ 'यत्र' क-ग. ९ अत पर—'अत सरसाविति एवमिति नीरसम्याङ्गिति'ति छ-उल्लेखिकेण; पाठः ।

दापगुणालङ्कारा वच्यन्ते । कापीत्यन्तेनेनदाह यत् सर्वत्र

रहितामि' त्यादिभ्यः भारतादिभ्यश्चात्रापि कायमेव दृश्यादिभ्यस्तत्तन्मात्रे शृङ्गा
 रोयासूयादिभ्यश्चात्रापि च मापुष्यस्य कापमृत्परिवादादिभ्यश्च अत्र
 गुणस्य सत्त्वात् । व्यक्ताभिव्यक्ति चदम् अत्रापि यवफणानाहरणतया वक्ष्यमाण
 मूत्रामुदृत्तवृत्तयादौ रात्रणविराद्विभक्त्याप्यत्रापि । वैचित्र्यमद्वयम् (A) इत्य
 लङ्कारमामान्यलक्षणम्, वैचित्र्यञ्च भर्तृविशेष प्रतीतिमात्रिक तदभावे हि
 कान्त कामयमान मा न त्व कामयस कथम्) 'इत्यम्यासायत्यमेव शृङ्गार
 रसत्रयसि तत्र अत्रियानिगारणाय साङ्गुतागिति तद्विषयण एषाव्यतिमाह—
 अनलङ्करी पुनरिति । अत्र इत्यर्थे 'नत्र, अपत्र च पुन' इत्यत्र । तथाच
 वापुषाहरणत्रिगुण इत्यलङ्कृता अपी यथ, नत्र प्रौढाङ्गुती तु मुनरगमि यायाति ।
 तथाच सालङ्कृता इति पश्यमितम् । 'अङ्गुता इति पदस्य अङ्गुताङ्गुति (C)-
 परत्वन्नमनिरामाभिमित्यमुक्ति * । नामना निर्दिष्टानामलङ्काराणामभ्युप्युक्ति
 भर्तृसाय सालङ्कारत्वमेव वैचित्र्यमात्रस्यैवालङ्कारान्वित्यता वक्ष्यमाणेषु विगुण
 च्युतचन्दनमित्यादिषु नाशानि (D) । कापीत्यन्तेनेति अनलङ्कृता इत्यन्ति यथ

(A) सौन्दर्यमलङ्कार इति वामनमुत्रम् । वैचित्र्यम्यैवालङ्काराणां चानि तद्व्यक्त्याप्युक्तम् ।
 तथाच वामनमुत्रस्य सौन्दर्यमलङ्कारव वैचित्र्यापत्तया व्याख्यायन्मुक्तिमिति प्रतिभाति ।

(B) कस्य कामयमान मा न त्वं कामयस कथम् । इति शास्त्राश्रयसमा वक्ष्याद्य
 प्रकल्पन ॥ इति काव्यालङ्कार—१३ श्लोः १ प० ।

(C) अङ्गीकृतत्वम् प्रौढाङ्गुतिरूपत्वम् एवञ्च काव्यलङ्कारस्य तद्व्यक्त्याप्युक्ति-
 प्रौढाङ्गुतिरुक्तस्य शब्दाद्युक्तस्य सत्यत्वं न स्यादिति ज्ञासि सत्यवाङ्गुताङ्गुप चानि
 व्याप्तिरिति तद्व्यक्त्यापत्तया पुन कापीत्यन्त इति भावः ।

(D) इह पाठानामालङ्कारान्तराद्यस्य अन्यानि प्राचीनान्यन्वाचीनानि च काव्य
 लङ्कारान्युद्धिन्त । तत्र शरीर तावन्निशब्दव्यङ्गिणा पत्रवर्गी इति शब्दौ । काव्यालङ्कार
 श्व गुणाङ्कारमन्वृतयो शब्दाद्युक्तस्य इति वामन । गुणाङ्कारानिगमात्त मापुष्याद्य
 मन्त्र काव्यमिति वाच्य । ध्वन्यामकं वाच्य काव्यमिति सतिममममम् । निगम
 गुणालङ्कारान्तरानिगमिन् वाच्य काव्यमिति पीयूषवप (पदव) मन्त्रम् । अत्रापि मगुणौ
 सालङ्कारौ शब्दाद्यौ काव्यमिति इत्यत्र । रमाङ्काराद्युक्तं एवविगणमात्रेण वा शब्दव काव्य

१ इति इत्यत्र चोक्तस्य काव्यस्य कस्य २ प्रौढाङ्गुती इत्यत्र सत्यत्वं ३ सालङ्करी इति
 करण इत्यत्र चोक्तस्य काव्यस्य काव्यमिति वा ।

सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः । यथा—
 यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
 स्ते चोन्मीलितमालनीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः^१ ।

कापीत्यन्तस्य तस्यैव यत् सर्वत्रेत्याद्यर्थकत्वात् । कापीत्यनेनेति तु 'प्रामादिक' पाठः,
 तस्य तादृगर्थबोधकत्वाभावात् । सर्वत्र सालङ्कारत्वलाभश्च ईपदर्थकनञ्जा अर्थक-
 पुनःशब्देन चेत्युक्तमेव । क्वचित्त्विति अलङ्कारस्फुटत्वस्याधिकृतत्वादिति भावः ।

यः कौमार इति । रेवानदीतीरे वेतसीनामतकूले कृतसङ्केताया नायिकाया गृहे
 स्वयं परामशोऽयम् । तादृगस्थले सुरतार्थं ममांतकृष्टानिर्वर्तिका सामग्री मम गृह
 एवास्ति तथाऽपि कृतसङ्केते (B) तत्र रेवाया रोधसि तीरे वेतसीनामतकूले सुरत-
 व्यापारलौलाविधाननिमित्त(C) चेत समुत्कृष्टते । विलक्षणरतिज्ञमनायकप्राप्त्यर्थं
 विलक्षणरात्र्यादिप्राप्त्यर्थंश्च तत्रांतकृष्टा युज्यते, तत् सर्वंश्च मम गृह एवास्तीत्याह—
 यः कौमार इति । कौमार कुमारीत्वम् अनूढात्वम्, त्रिधाहेन यस्तद्धरः पतिरित्यर्थः
 स एव वरः श्रेष्ठ विलक्षणरतिज्ञम एवेत्यर्थः । हिरवधारणे । चक्रवर्त्ती तु कौमार-
 मभिनवयौवनम् उपभोगेन यस्तद्धरः पतिरित्यर्थः इत्याह, तत्तु न क्वचिं कुलटोकौ
 तावता फललाभान्, अन्यस्याप्युपभोगकृतसम्भवात् । एव विलक्षणरात्र्यादयोऽप्यत्रैव
 सन्तीत्याह—ता एवेति । कदम्बानिला कदम्बवनानिला, वनानिलाना प्रौढ-
 त्वेऽपि वनबहिर्भावे मान्योपलम्भादाह—प्रौढा इति, न तु कदम्बपुष्पानिला इत्यर्थं
 चैत्रे कदम्बपुष्पमावात् प्रौढा इत्यर्थानुपपत्तेश्च । अत एव कदम्बपदमत्र (H) घृलि-
 कदम्बपर तस्यैव चैत्रे सम्भवादिति चक्रवर्त्तिभ्याख्यानमयुक्तं तदनिलाना प्रौढाना-

मिति केदावमिधमसम् । रसाद्रिमद्राक्य काव्यमिति शौद्धोदनिमतम् । रसात्मक वाक्य
 काव्यमिति विश्वनाथमतम् । रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यमिति जगन्नाथपण्डितराजमतम् ।

(A) मालती वामन्तिकलता । कश्चनो घृलिसमूह । अत्र प्रौढा युवान इति छिद्यविशेषण-
 बलाद्रनिलमालत्पोनायकतादिकाभावः प्रतीयते इत्युदात्ते स्पष्टम् ।

(H) स-ग-कुन्तकयो 'तत्रे पि क्व' 'तत्राणे' इत्यन्तरं योजितम्, तदुत्तरं 'पूर्वात्तुभूत'
 इत्यधिक व्याख्यानञ्च दृश्यते । तन्मते त्रिधावित्यन्तस्य विशेषणमितम् ।

(I) निमित्तमिति । तथाच लोलाविनाविन्मत्र निमित्तार्थं सप्तमी 'तत्र स्थितौ यत्रोऽभ्यास'
 इतिवदिति बोध्यम् ।

(D) घृलिकदम्ब पुष्पविशेषः । अत्र चक्रवर्त्तिव्याख्यानमेव समीचीनं मालतीसुरभय
 इत्यनेन सौमन्ध्यालाभेऽपि विशिष्टसौमन्ध्यालाभाय तदुपादानाभ्यं सार्थक्यसम्भवात्, टीकाकृन्मते
 कदम्बपदसार्थक्यस्य दुरवस्थात्वाद् वनानिलत्वाभ्यं अरण्यानिला इत्येतावनाऽपि सम्भवात् ।

सा चैवास्मि तथाऽपि तत्र सुरतन्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतल्ले चेतः समुत्कण्ठते ॥ १ ॥

अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः, रसस्य हि' प्राधान्यान्नालङ्कारता ।

मप्यनुदीपकत्वात्, सौरमलामस्तु मालतीसुरमय इत्यनेनैव । ममावस्थायैलक्षण्यमपि
तत्र(?)नास्तीत्याह—सा चैवेति ; तदवस्थैवास्मीत्यर्थः । एवञ्च चित्तं स्वभाववैलक्षण्य-
विषयेण विस्मयेनोदीपितः शृङ्गारमासोऽत्र* व्यङ्ग्यः । अत्रेति । अस्फुटे तु
विभावनाविशेषोक्तौ अलङ्कारौ स्त एवेति बोध्यम् । तथाहि—उत्कण्ठाकारणानां रति-
समर्थनायकाद्यभावानामभावेऽपि उत्कण्ठारूपफलकथनाद् विभावना 'क्रियाया' प्रति-
पेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावने'ति तदुक्तत्वात् ; क्रियापदस्य च तत्र कारणमात्रपरत्वात् ।
तथा अनुत्कण्ठाकारणानां रतिसमर्थनायकादीनां सत्त्वेऽपि अनुत्कण्ठारूपफलस्य
उत्कण्ठारूपामावकथनाद् विशेषोक्तिः "विशेषोक्तिरस्फुटेषु कारणेषु फलावच" इति
तदुक्तत्वात्, तत्र च फलावच इत्यस्य फलाभावकथनमित्यर्थात् । अन्योरस्फुटत्वञ्च
कारणामावफल्यभावयोर्वाचकेन नत्राऽनिर्देशाद्दुस्मिन्प्रतीतिरुच्यते* । यद्य हरो वर
इत्यनुप्रासः सोऽपि न स्फुटः रसोपकारकत्वे सति 'जीघ्रप्रतीयमानस्यैव स्फुटतयाऽभि-
प्रेतत्वात् ; सतिसर्गंतया गुरुणा रेफेण घटितस्यास्य अनुप्रासस्य तु शृङ्गारानुप-
कारकत्वात्, "रपौ लवू" इति शृङ्गारोपमाधुर्यव्यञ्जकतया वक्ष्यमाणत्वात्(४) । नन्वत्र

(A) अत्र प्रदीपकता—अत्र रूपकादीनामममम एव । अस्मीत्यस्य विभक्ति-
प्रतिष्ठायाद्गुणो दीपकमिति चेन्न अस्मीत्यस्याऽसमर्थकाव्यवत्त्वात् 'अत्रान्मि करोमी'तिवत्, क्रिया-
पदत्वेऽपि न दीपकत्व (-क ?) (एतद्-?) तदन्वयिना सर्वोपायेषु प्राकरणिकत्वात् दीपक्य तु
प्राकरणीकाप्राकरणीकविषयत्वान् । (अत्र प्राकरणीकाप्राकरणीकानामेकधर्मसम्बन्ध एव दीपकं न तु
धर्मस्यैकशब्दोपस्थाप्यत्वमपि तत्रावश्यकमित्यभिप्रायेणात्र दीपकालङ्काराशङ्क इति बोध्यम्) ।
सादृश्यप्रतीतिश्च न तुल्ययोगिता । समुच्चयोऽपि वक्ष्यमाणलक्षणो न सम्भवत्येव यतादृशश्च
न चास्त्वद्वेत् । विशेषोक्तिर्विभावने विद्यमाने अपि न स्फुटे । कथमिति चेदित्यम्—
विशेषोक्तिस्तत्राप्य कारणत्वेऽपि काव्योभाववचनम्, अत्र चानुत्कण्ठप्रकारेण वरोपकरणयो-
रमुक्तता, तत्राप्येव यद्यप्यनुत्कण्ठभाव उदङ्ग्यारूपो निरिच्छ एव तथाऽपि नानुत्कण्ठभावत्वेन
किन्तुत्कण्ठत्वेनैव, सास्मात्स्फुटत्वमस्या । यदि चेद्योऽनुत्कण्ठत्वं नेत्यभिधीयते तदा स्फुटत्वं
मेवेत् । एव कारणभावेऽपि काव्योत्पत्तिवचन विभावना । अत्र चोदङ्ग्यकारण वरोपकरणयो-
रतदा, तदभावश्च यद्यप्युक्त एव तथाऽपि नातदाविरहत्वेन किन्तु तदारूपेणैव अभावभावव्य

१ 'रसम च' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । २ 'ममावस्थैलक्षण्यमपि विचारिभावोऽत्र' छ,
'ममावस्थैलक्षण्यमपि विचारिभावोऽत्र' छ । ३ 'अत्रानुत्कण्ठत्वं तदभावभावव्य'
छ । ४ 'शृङ्गारोपमाधुर्यव्यञ्जकतया वक्ष्यमाणत्वात्' छ ।

‘उपनायकविरयट्टङ्कारानास एवास्ति व्यङ्ग्यस्तस्य चोर्जस्विनामा’* लङ्कारत्वेन गुणी-
भूतव्यङ्ग्ये च वक्ष्यमाणत्वात् स एवात्र स्फुटोऽलङ्कारोऽस्तीत्यत आह ‘रसस्य हि’
रसाभासस्य(Δ) हीत्यर्थः, उपनायकविरयत्वेन रसस्याभासत्वादेव प्राधान्याद्रसा-
न्तरानङ्गत्वात्, अपरस्याङ्गत्वं पच रसस्यालङ्कारतया वक्ष्यमाणत्वादिति भावः ।

तत्त्वात् अतोऽन्या अस्फुटत्वमेव । न च स णेत्येवकारेणानत्वाभावप्रतीति (अतच्चाभावस्य ?)
अतच्चाभावत्वं प्रतीती कथमस्फुटत्वमिति वाच्यम्, विशेषणसङ्गतैवकारेण विशेष्ये विशेषणावोगम्य
व्यवच्छेदो हि प्रत्याप्यते न तु विशेषणाभावाभाव एवाहृत्य, फल्यमानान्नु तत्रेण्यस्फुटत्वमेव ।
एव विशेष्यसङ्गतेनाप्येवकारेण विशेष्यभिन्ने विशेषणाभाव एव नाहृत्य प्रत्याप्यते किन्तु विशेषण-
योगाभाव इति द्रष्टव्यम् । अत एव “शङ्ख पाण्डुर एव” इत्यादौ नापाण्डुर “पार्थ एव धनुर्धर”
इत्यादौ च नान्यो धनुर्धर इत्यादि कदाचित् स्फुटत्वात् प्रयुज्यते । इण्डव्याह—त्वन्मुन
त्वन्मुनेनैव तुल्य नान्येन केनचिदिति, अन्यथा पुनरस्तिस्तत्र स्यादिति । अनयोस्फुटत्वं
च सन्देहरूपमङ्गुराऽन्यनयोस्फुट इति विभावनीयम् इति ।

(Δ) रसाभासस्येति । अत्रेदमत्रेयम्—श्लोकेऽस्मिन् व्यङ्ग्यभावेनोपपत्त्यलामात्
टीकाङ्कुरो रसाभास कथं सङ्गच्छत इति । तथाहि ण्कम्भिन् वाच्ये अवधारणव्यव-
दुरपवादतया अव्ययानाञ्चानेकार्थतया ‘हि’शब्दस्य यद्यपीत्यर्थ उतरत्र तथाऽपीत्यनेन
साकांक्षः । एवं वरशब्दस्यार्थं पति । तथाच य कौमारहर स एव हि वा
इत्यनेन विवाहान् पूर्वमन्यत्र बहानुरागाया पश्चादपि प्रथमप्रणयिनोऽप्यभस्फुटङ्ग-
कारण नास्तीति सूच्यते । एवंमुत्तरवाच्येऽपि कालादीनामुदीपनेकारणाना सत्त्वमवगम्यते ।
इत्थं लिप्येव्यनुत्कण्ठाकारेणु उद्वप्यमाना उतकण्ठा ‘ते हि नो विवस्मा गता’ इतिवत् सकल-
मातुर्व्यसाससम्भारोपादानभूत भवयोवनमेवातीततया पुनश्चुलभ ज्ञ्यापयन्ती विषादमेव व्यभि-
चारिणं सूचयितुमर्हति, दर्पणकारोऽन्य कालशेषासहिष्णुत्वलक्षणस्यौत्सुक्यस्याप्राप्तुमयेना-
विपयीकरणान् स्वशब्दवाच्यतापक्षेऽत्र, नापि शृङ्गाररसम्, सम्भोगस्यात्रानुभवात् विप्रलम्भस्य च
मायकालाभङ्गनाम्यमम्भवात्, तदज्यतिरिक्तस्य प्रकारान्तस्स्याप्रतिद्वेःरिति कस्यचिदाशय ।
पङ्कीशान-विधनाथ-रामतर्कवागीशान्नु “तत्र हरत्प्यापारलीलाविधौ रेचरोधमि वेतनीनस्तत्रे”
इत्यनेन उक्कण्ठाया विरयलाभादत्र विशिष्टशानाविरणकत्तरतविरयमौत्सुक्यमेव व्यभचारिण
वर्णयन्ति । उक्तं हि विधनाथेन “अत्र यत् काव्यप्रकाशकारेण रसस्य प्राधान्यमित्युक्तं तत्
रसनपमंयोगिन्वाद् व्यभचारिभिरयस्यापि रसशब्दवाच्यत्वेन गतायं मन्तव्य”मिति । ‘अनुभावादि-
कृत्परिषोपादन्येन रते सम्पूर्णरसत्व न सम्भवति वर्णनीयत्वेन चमतकारित्वेन औत्सुक्य-
स्यैव प्राधान्यम्’ इति च तत्र टीकाया रामतर्कवागीश । वस्तुनन्वत्र दर्पणकृतस्य कालशेषा-

तद्भेदान् क्रमेणाह—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्धनिर्वुधैः कथितः ॥४॥

इदमिति काव्यम्, बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्ज-
कस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः, ततस्तन्मनानुसारिभि-

‘तद्भेदान्’ काव्यभेदान् । ‘क्रमेण’ कारिकावृत्तयेण । इदमिति । ‘वाच्या दतिशयिनि’ वाच्यापेतयाऽधिकवचनकारिणि, ‘व्यङ्ग्ये’ सति ‘इद’ काव्य ‘ध्वनि’ तदेव ‘उत्तम’ काव्यमित्यर्थः । अत्र कारिकास्थस्य बुधपदस्य आलङ्कारिकबुध-परत्वेऽपि ध्वनिव्यवहारस्यैव दर्शनायं तदात्तमबुधपदार्थानां वैयाकरणरूपबुधानां मत दर्शयति—बुधैर्वैयाकरणैरिति । आशुपिनाशिना कमिहाणा मेलकामावा दनेऋवर्णघटितकलसादिपदस्य क्षानासम्भवात् ‘पृथ्वी’ र्गणानुभयजन्यसंस्कार सचिवस्यानुभूयमानवरमवर्णस्य पदव्यवक्तव्य तैरुच्यते पदस्य स्वरपरिभाषा वरमवर्णस्य(A) ध्वनिपरिभाषा च तै र्कृता । अर्थवाचकत्वाद्बुधवर्णपेक्षया पद प्रधान

सङ्घिष्णुत्वस्याप्रतीतावपि “अधुनैवात्य शभो ममान्तु इतीच्छा औत्तुक्क्यमि”नि रसगङ्गापतेक-
लक्षणे औत्तुक्क्ये तेषामभिप्रायकल्पने न काचिदुपपत्ति । समुत्क्राण्ते इत्यनेन औत्तुक्क्य-
स्वशब्दव्यवहारापत्तिश्च तत्पदस्य स्मरति दु र्व्याज भवतीत्याद्यर्थकल्पनया निराकरणीया । वेतसी
सहस्र बद्धदेशीयवेदमवत् सनमशाखाविशिष्ट काश्मीराणौ वेतपनाम्ना प्रसिद्धस्वरुचिनेर एव तेन
वेतमन्त्रायास्तत्त्ववार्तापुस्तकप्रतिष्ठितो वा सरित्वादिऋकल्पनया भावसर इति ध्येयम् । शिल्पाशास्त्री
काचिन् काश्मीरदेशीया कवयित्री राजमय्यन्धाद भद्ररिका इति शिल्पाभारिका, तस्या
पद्यनिर्दिष्टि शार्ङ्गध्यापद्वहौ स्पष्टम् ।

(A) अत्र वरमवर्णम्यति कलितकथनम्, स्फोटात्मरूपदस्य व्यञ्जनाकाले तस्यैव श्रूयमाणत्वात्
वर्णान्तराणाञ्च तदानीं सम्कारमत्रावगेरुत्वात् न तु श्रूयमाणतादशाया प्रथमादिवर्णानामपि
ध्वनित्वे नैष्यते । उक्तपरिभाषाया प्रमाणन्तु महाभाष्ये—एव तर्हि स्फोट शब्द, ध्वनि
शब्दगुण ध्वनिहृता बुद्धि । ध्वनि स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिन्तु मत्तु लभ्यते । अल्पो
महाश्च केषाञ्चिदुभयं तत्त्वभावत ॥ अस्य व्याख्याया कैष्ट —इत्यस्य गुण उपकारक
व्यञ्जकत्वेनेत्यर्थं तत् कथा षट पुन पुनर्दृश्यमानोऽपि न भ्रमकल्प्यते तथा विलम्बिताया
वृत्तावकार एव पुन पुनरुपलभ्यते इति वृत्तिभेदेऽपि वणस्य भदो न गृह्यत इति सर्वान्ग वृत्तित्
तत्कालत्वम् । ध्वनि स्फोटश्चेति व्यङ्ग्यो व्यञ्जकत्वर्थः । शब्दानां व्यञ्जयानां सम्बन्धी
व्यञ्जकत्वं यो ध्वनि स महानल्पश्च लभ्यते व्यञ्जयस्त्वभिन्नकाल द्वेतेत्यर्थः ।

1. 'वधरोधानुपपत्त्या पुञ्ज' च ।

रन्यैरपि न्यग्भाविनवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ।

यथा—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो

नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी 'तथेयं तनुः ।

मिथ्यावादिनि दूति वान्धवजनस्याज्ञातपीडागमा ।

वार्षीं स्नातुमिनो गताऽसि न पुनस्तस्याऽधमस्यान्तिकम् ॥ २ ॥

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति प्राधान्येन व्यज्यते ।

तस्य स्तोत्रस्य व्यङ्ग्यमेव, तद्व्यञ्जनस्य शब्दस्येति चरमवर्णरूपशब्दस्तेत्यर्थं । तत इति, शब्दस्यै ध्वनिव्यवहार एव मतानुसरणम् ; न तु काव्य इत्यवशेयम् । अन्यैरिति कारिकास्थबुधपदव्याख्या । न्यग्भाविनेति । न्यग्भावितं स्वात्त्रियायेन निरुद्धं वाच्यं येन तादृशव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षममित्यर्थं, व्यङ्ग्यस्य वाच्यावतिश्राप्तित्वे तेन वाच्यस्य न्यग्भावितत्वात् । शब्दार्थयुगलस्येति काव्यस्तेत्यर्थं, तद्व्युगलस्य काव्यत्वेनेतत्त्वात् ; तस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृत इत्यन्वयः ।

निःशेषेति । उपनायकमानेतुं श्रेयितां तदुपभोगलुप्तचन्दनादीन् वार्षी-
ज्ञानव्याजेन 'गोपयन्तीं दूतीं प्रति नायिकाया' सोऽन्वुष्टनोक्तिरियम् । भ्रष्टेष्टयाऽसौ
वापात इत्येवं मिथ्यावादिनि हे दूति ! वान्धवजनस्य मम अज्ञातक्षमपीडागमा त्वम्
इतः मत्सकाशात् स्नातुं वार्षीं गताऽसि न तु तस्याधमस्य बन्तिकम्, यतस्ते स्तनतटं
निःशेषच्युतचन्दनम्, अधरश्च निर्मृष्टरागः, नेत्रे च दूरम् व्यतिशयम् मनञ्जने, तथा
इयं तन्वीं स्त्रीणां तनुः पुलकिता, तथाशब्दः समुच्चये । ज्ञानकार्यमेवेतत् सर्वमिति
सोऽन्वुष्टनोक्तिः । अत्र 'व्यङ्ग्यमाह—अत्रेति । ईदृशं व्यङ्ग्यं वाच्यावतिश्राया
प्राधान्येन विशिष्टम् एतत्काव्यस्यरूपेण शब्दार्थयुगलेन व्यज्यत इत्यर्थः ; 'वाच्याया-
पेतया' प्राधान्यञ्च विप्रलम्भातिशयव्यञ्जनात् ; 'विप्रलम्भो हि दुस्तसम्मिश्रा रतिः,
दुःखाधिक्याच्च तदतिशयः' ।

1. 'देष' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 2. 'पीडागमे' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 3. 'प्राधान्येनापमपदेन व्यज्यते' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 4. 'व्यङ्ग्यमाह' स-न । 5. 'वाच्यावमाह' स-न । 6. 'वैश्याया' स-न । 7. 'तथादि' तदन्तिकमनन वाच्यात्, 'रन्तुं' तदन्तिकमनन व्यङ्ग्यत्, एतदपि भाविकप्रति-
विरोधेन नायिकायाश्चातिशयव्यञ्जनम्, किन्तु विप्रलम्भपरकेऽसिध्वनेन दुःखातिशयत्वप्रकाशार्थं
व्यङ्ग्यं वादवनात्वावपि च्या प्रथमम्, नायिकायै दूत्या चरनेन नायिकाया वादव दुःखं नायिकया
रूपेण कृतुं प्रमाणेन ततोऽपि च दूत्यातिशयव्यञ्जनम् ।

तदुक्तम्—

सम्भोग सुखसम्भिन्ना विप्रलम्भस्तु दुःखयुक्त ।

रतिस्तयोः प्रकर्षं स्यादाधिक्यात् सुखदुःखयोः ॥ इति (A)

कचित्तु प्राधान्येनाधमपदेनेति पाठस्तिष्ठति, तच्च (B) न रुचिरम्, वाच्यापेक्षया व्यङ्ग्यप्राधाये उदाहर्तव्ये व्यञ्जकप्राधान्यकथनस्यानुपपत्त्यात् 'किन्तु पञ्चमोऽल्लासे "अधमपदसंहायानामेरां व्यञ्जकत्व"मिति ग्रन्थकृता (यद् ?) वक्ष्यते तद्दर्शनादथ तथा पाठ केचिद् उच्यन्ति, तत्पदस्य प्राधान्यञ्च तदन्तिके दूत्या भगमने वाच्यार्थं तस्यापराधाभावात् तस्याधमत्वोक्त्यनुपपत्त्या दूतीरमणरूपव्यङ्ग्यार्थेनैवाधमत्वोपपत्तेः (C), तत्र, अधमपदप्राधान्यस्य ग्रन्थकृतसम्मतत्वेऽपि प्ररुतेऽनुपपत्तस्य कथनानौघित्यात् । घस्तुतस्तु अधमपदप्राधान्यमपि नास्ति दूतीरमणसापेक्षत्वादेव तस्याधमत्वोक्त्युपपत्तेः, तथा * अधमपदस्येऽन्येऽपि पदानां दूतीरमणव्यञ्जकत्वमस्त्येव, (D) तथाहि छाने स्तनचन्द्रनाधररागयो जालनमेव न तु च्युतिनिर्मात्रज्ञेन, तयोः सम्भोगवर्षणादेव सम्भवात् अतश्च्युतनिर्मुहपदे अपि तस्य व्यञ्जके प्रधाने एव, तथा छाने समस्तस्तनस्यैव

(A) अत पर दृश्यमान 'स्वप्रतिदूत्या स्वनायकोऽभोगेन च व्यङ्ग्येन वाच्यतदन्तिकामनापक्षया दुःखाधिक्या' दित्यस्य पूर्ववाक्यस्यैव दुःखाधिक्यादित्यस्योपपादिका दिव्यनीति प्रतिभाति ।

(B) तत् तादृशप्राधायस्थानमित्यर्थः ।

(C) अधमत्वोपपत्तिरिति । अत्र वाच्यस्याधमत्वस्य व्यङ्ग्येन दूतीरमणेनोपपादने वाच्यसिद्धयङ्गाध्यगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेवाम्य स्यान्न तु ध्वनित्वमिति चिन्तनीयम् ।

(D) अर्द्धं चिन्तनीयम्, टीकाहृत्वा तथादीत्यादिना च्युततदविम्बृष्टाधरादिरदाना छानध्यापत्तेन दूतीरमणव्यञ्जकताया सदसाधारण्यं प्रदर्शितं तत्र ' तथा नि शेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्द्रनच्यवनादीन्युपात्तानि तानि कारणान्तातोऽपि भवन्ति अतश्चात्रैव छानकार्यत्वेनोपात्तानीति नेपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तानीति पञ्चमोऽल्लासग्रन्थचिरोपो दुःखपरिहर इति सर्वेषामेव तादृशपदानामुभयसाधारणार्थकृत्यैव व्याख्यानमुचितमिति । तथाच रसगङ्गाधरे—अयि बान्धव

चन्दनलोपो न तु तदमात्रस्य, अतः सम्भोगघृष्टत्वेन तदपदमपि तथैव । एवमधर-
पदमपि उत्तानत्वेन चुम्बनघृष्टत्वव्यञ्जनया तथैव, क्लाने तु न्युञ्जस्य ओष्ठस्वारि राग-
लोपः स्यात् । तथा इयम् पतत्तणवर्तिनी तन्वी त्तु पुलकिता, पूर्व्यसभयरतौ
भावानुद्धोषेन पुलको नासीद्विद्वान्ति निराबाधरतिनिर्व्वोहिन भावोद्धोधात् पुलकः,
क्लाने तु वत्तमधमेण पुलकलोपः स्यादतः 'इय'मिति पदमपि तद्वचनकम्, अतः कथमधम-
पदस्य प्राधान्यम्, अधमपदनहायानामिति प्रत्यङ्गलिखितस्य तु अधमादिपद-
सहायानामित्यर्थः । अत्र (A) केचित्—तदन्तिक न गताऽसीति वाच्यार्थस्य रतिचिह्न-
दर्शनेन बाधान् न गताऽसीत्यत्र विरोधलक्षणया गताऽसीति लक्ष्यम्, तथाच तदंश-
स्याव्यङ्ग्यत्वाद् गताऽसीत्यनन्तरं लक्ष्यमिति पूरणीयम्, व्यज्यते इत्यस्य तु
रन्तुमित्यवैधान्यथाद् रन्तुमिति व्यज्यते इत्येवमेव प्रत्यङ्गलिखनं व्याचक्षते, तन्न,
न गताऽसीत्यस्य वाक्यत्वेन लक्षणया (B) एवानायात्, वार्त्ता क्लानु न गताऽसि
तदन्तिकमेव गताऽसीत्येवमन्वये^१ तदन्तिकगमनस्य शक्यैव बाधनसम्भवाच्च (C) ।

जनल्पाशातपीडागमे स्वार्थपरत्वणे ध्यानकालातिप्रक्रमणवशेन मरीमदीवप्रिययोरन्तिकमगत्यैव
वार्त्ता क्लानुमितो ममान्तिकाद् गताऽसि, न पुनस्तस्य परपेदानामिज्ञतया दुःखदातृत्वेनाध-
मस्यान्तिकम्, यतो नि शेषच्छुतचन्दनं स्तनयोस्तदमेव नोर स्थल वापीगतवदुल्लयुञ्जनप्रवापा-
पदयादम्बद्वयप्रामस्यस्तिकीकृतपुजलतापुगलेन तदन्त्यैवोन्नततया मुद्गरामशात् । एवं स्वग्या सम्य-
गक्षालनेन उत्तरोष्ठो न निर्म्मिष्टरागोऽभरन्तु तदन्त्येव गच्छुपजल-वदनशोधनाङ्गुल्यादीनामभिक-
सम्मर्द्भावावहतीति तथा । किञ्च सम्यगक्षालनेन नेत्रे जलमात्रसस्साद् दूरमुपरिभाग एवानुज्ञे ।
शीतवशात्तानवाच्च तव तनुः पुलकितेति । एवं साधारणेष्वप्येव वाक्यार्थेषु मुख्यायै बाधाभावाद्
सात्पर्यार्थस्य शक्तिरनाकलनाद् कुतोऽत्र लक्षणावकाशोऽनन्तरञ्च वाच्यार्थप्रतिपत्तेर्वृत्तव्य-
भावकादीनां वैशिष्ट्यस्य प्रतीतौ सत्त्वामधमपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दुःखदातृत्वरूपो धम्मं
साधारणात्मा वाच्यार्थदशायामपरायामपराधान्तरनिमित्तकदुःखदातृत्वरूपेण स्थितो व्यञ्जनाव्यापारेण
दृष्टीसम्भोगनिमित्तकदुःखदातृत्वाकारेण पर्यवस्यतीति ।

(A) केचिदिति साहित्यदर्पणकारा इत्यर्थः, तथाच दर्पणे—“अत्र तदन्तिकमेव रन्तु
गताऽसीति विपरीतलक्षणया लक्ष्यं सम्यं च रन्तुमिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्यं दृष्टीवैशिष्ट्याद्भोज्यते” इति ।

(B) तन्मतेऽपि वाक्ये न लक्षणा, किन्तु मन्त्रपदस्यैव एवायं लक्षणेति न दोष
इत्यवश्यम् ।

(C) इदन्तु न सम्यक् 'त्वर्थेन पुनःशब्देन पूर्वान्त्वव्यवच्छेदात्' इति तर्कवागीशः ।

(३) अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये च तु मध्यमम् ।

अतादृशि वाच्यादनतिशापिनि । यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।

पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥ ३ ॥

अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तासङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतम्,
तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ।

किञ्च निशेपेत्यादौ (A) पञ्चमोऽह्लासे गमनविधेर्व्यङ्ग्यत्वमेव प्रत्यकृता वक्ष्यते,
विधेर्लक्ष्यत्वव्याख्याने तद्विरोधः स्यात् । न च बाधाहृत्तणां विना धनुषपत्तिरिति
वाच्यं वाच्यार्थबोधानन्तरं बाधावतारे वाच्यमानेन तेन यथोक्तव्यञ्जनेऽनुपपत्त्यभावात् ।
अतः पराक्तम्—

कचिद्वाच्यतया ख्यातिं क्वचित् श्यातस्य नाधनम् ।

एकत्र लक्षणैर स्यादव्यत्र व्यञ्जनेव तु^१ ॥ इति

अतादृशीति । व्यङ्ग्ये वाच्यादनतिशापिनि मति काव्य गुणीभूतव्यङ्ग्यम्, तद्य
मध्यममित्यर्थः । वाच्यादनतिशयं वाच्यतुल्यचमत्कारित्वे वाच्यन्यूनचमत्कारित्वे
च भवति, तत्र वाच्यन्यूनचमत्कारित्वेऽसुन्दराख्य गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहरति—
ग्रामतरुणमिति । नवया वञ्जुलस्य (B) भगोकस्य मञ्जूर्यां सनाथकरं विशिष्ट-
पाणिं ग्रामतरुणं मुहुः पश्यन्त्यास्तरुण्या मुखच्छायां नितरां मलिना भवतीत्यर्थः,
मुहुर्दर्शने अन्यशङ्कानिरासार्थं ग्रामतरुणत्वोपादानम्, ग्राम्यस्य परिचितत्वेन
मुहुर्दर्शनेऽपि शङ्काऽनुवयात् । चक्रवर्ती तु—ग्रामस्य मध्ये स एव तरुण
एतनेकनापीप्रार्थ्यमानत्वसूचनं मुखमालिन्योपपादकमित्याह, तत्र, तादृशनिर्दिष्ट-
प्रपञ्चाभावात् । उभयत्र तरुणत्वोपादानं परस्परानुरागसूचकम् । मञ्जूर्यां
नरत्वेनाकालीनत्वप्राप्त्या लोकेषु तत्प्रदर्शनौचित्येन कोरे तत्करणाच्छङ्कानुराय ।
अत्रेति । गृहव्यापाराहृतागृहेऽगमनं व्यङ्ग्यं लतागृहविहङ्गदर्शानामुत्तमालिन्येन वाच्येन

(A) “वाच्यव्यङ्ग्ययो निशेपेत्यादौ निषेधविध्यात्मना” इति पञ्चमोऽह्लासप्रत्ययः ।

(B) “वञ्जुलो वञ्जुलोऽश्लोके” इति “वञ्जुलं पुंसि विनिशे वेत्तसाधोःकपोरणि” इति

च कोरः ।

1. 'पूर्वत्र च' इति छादकत्वाभिप्रायेण 'त' इति दर्शयति । 2. 'नवय' ख १ ।

(४) शब्दचितं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं च त्ववरं स्मृतम् ॥ ५ ॥

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम् । अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीय-
मानार्थरहितम् । अवरमधमम् । यथा—

सामाजिके प्रतीयत इत्यर्थ, तच्च व्यङ्ग्यं वाच्यमुखमालिन्यापेक्षया न्यूनचमत्कारि
इत्याह—(A) गुणीभूतमिति । वाच्यन्तु मुखमालिन्यमधिकचमत्कारीत्याह—तद्-
पेक्षयेति । अयम्भाव—चमत्कारस्तावदत्र विप्रलम्भव्यञ्जनयैव वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य च,
'तत्र सङ्केतस्थलचिह्नहस्तनायकदर्शनात् मुखमालिन्यमनन्यथासिद्ध विप्रलम्भादेव भवतीति
व्यङ्ग्यनिरपेक्षमेव वाच्य विप्रलम्भव्यञ्जकम् ; व्यङ्ग्यन्तु वाच्यमालिन्योपपादकमेव,
न तु वाच्यसाहाय्यं विना स्वतो विप्रलम्भव्यञ्जकं नायिकाया अकार्य्यत्यागेन गृहकर्म-
समाप्तानन्तरमन्यदाऽपि नायकप्राप्त्या स्वहृदयाभ्यासनेन वा विप्रलम्भानुदयात् ;
अतो लतागृहेऽगता सङ्केतस्थलचिह्नहस्तोपनायकदर्शनात् मलिनमुखीत्येव वाच्यसह-
स्रमेव व्यङ्ग्यं विप्रलम्भव्यञ्जकमिति वाच्यमुखनिरीक्षकतया व्यङ्ग्यं न्यूनचमत्-
कारीति* । न च अकार्य्यहेतोरेपनायकस्य दर्शनात् क्रोधेनापि मुखमालिन्यं भवतीति
वाच्यमपि कथं व्यङ्ग्यनिरपेक्षं विप्रलम्भव्यञ्जकमिति वाच्यम्, स्वयं कृतसङ्केताया-
स्तस्यास्तदर्शनेन क्रोधानुदयात् 'क्रोधे सति मुहुर्दर्शनाभावाच्च' । निशेपेत्यादौ तु
वाच्यविरुद्धं व्यङ्ग्यं न वाच्यमुखनिरीक्षकमिति मन्तव्यम् ।

शब्दचित्रमिति । वाच्यचित्रम् अर्थचित्रमित्यर्थ । उभयसाधारणं
चित्रत्वमाक्षिप्तमेयोत्कीर्तयति—चित्रमितीति । सर्वथा नीरसस्य काव्यत्वा-

(A) इदमत्रापेक्षम्—गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमत्र वाच्यमुखमालिन्यापेक्षया न्यूनचमत्कारिणं
दत्तसङ्केता नागतेत्यर्थमभिप्रेत्यैवौ* मुखमालिन्येन व्यज्यमानमन्य विपादस्य तु पर्यवसाने
प्रधानतयैवावस्थानात्तदभिप्राये असरस्यक्रमव्यनित्वमेवास्य युक्तमिति ।

1. 'वराहमिहोः तादृशनायकमुद्दिष्टं नाम मुखमालिन्येन वाच्येन व्यङ्ग्यनिरपेक्षमेव शक्यते (कर्तुम्)',
इत्येवमप्यास्ताया नायकदर्शनात् मलिनमुख्या विप्रलम्भस्य सन्तानुभवसिद्धत्वात् । व्यङ्ग्येन तु सङ्केतस्थलगतमन-
देष विप्रलम्भं स्वतो व्यङ्ग्येन न शक्यते अकार्य्यत्यागेनापि सङ्केतस्थलगतमनसश्चात् मुहुष्वाहशनायकदर्श-
नाधीनमुखमालिन्यहस्तनेन शक्यते एव विप्रलम्भो व्यङ्ग्यित्वात् तौ वाच्यमुखनिरीक्षकत्वादिदं व्यङ्ग्यं न्यून
चमत्कारि व्यङ्ग्यमुखनिरीक्षकं वाच्यं लक्षिकचमत्कारि' इति ।

2. 'न च तद्दर्शनेनाकार्य्यरूपपादु लोदशैवापि मुखमालिन्यं सम्भवतीति वाच्यतदा मुहुर्दर्शनाभावात्' इति ।

3. अत एव 'तत्र इ' धाविभ्यश्चक व्यङ्ग्येन चमत्कारीतावदिवम्, ख र पुष्कवोरित्वापिक' पाठः ।

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहपिहर्षविहितस्नानाह्निकाऽह्वाय च ।

भिद्यादुच्यद्दुदार'दुर्दुरदरीदैर्घ्याऽदरिद्रु म-

द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दाताम् ॥ ४ ॥

(A) विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यद्वच्छयाऽपि यम् ।

नङ्गीकारादपरिस्फुटस्त्वृत्तिगुणवत्तया गुणयुक्तत्व बोध्यम् । स्फुटप्रतीयमानेति ।
'प्रतीयमान' व्यङ्ग्यः । न च वाच्यमिदं नङ्गीकृतमिति (B) यदस्फुटव्यङ्ग्यगुणीभूत-
व्यङ्ग्यकाव्य वक्ष्यते तत्रमेवापत्तिरिति वाच्यं स्फुटालङ्कारत्वे विश्वम्, 'अस्फुटालङ्कारत्वे
तु गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति मेवात् । सत्यं वा वैचित्र्यानायासिरेलङ्कारन्तु अत्राव्यमेव
सालङ्कारत्वव्यतिक्तकाव्यलक्षणाभावात्(C) । अधममिति । पूर्वद्वयापेक्षया न्यूनमित्यर्थः,
न त्वसत्काव्यमित्यवयेयम् । स्वच्छन्देति । मन्दाकिनी गङ्गा अत्राय मरुतिरिति य
युष्माकं मन्दातां पापेनापकृष्टां मिथ्यात् नाशयतु इत्याशी, 'मिथ्या'दिति पाठे तु
विषां सप्तमी । कीदृशी? स्वच्छन्द यथा स्यात् तथा उच्छ्वस्त उदुगच्छत
अच्छस्य निर्मलस्य कच्छकुहरे स्वसमीपवर्तिपर्यन्तगुहाया ह्यतेनरस्य दुर्बलमिन्द्रस्य
वेगवतोऽभ्युन कृत्या कान्त्या मूर्च्छन्त' नभ्यन्त' मोहा मशानानि येषां तादृशीर्महर्षिभि
हर्षेण विहितं ज्ञानाचारिक यस्यां तादृशी । उच्छलदिति शल गतौ । अतेति, 'अमांसो
दुर्बलं द्वातः' इति कोषः । तथा, उद्यत् प्रकाशमानम् उदारं दुर्दुरदरीणां मण्डकमार्त्तानां
दैर्घ्यं यस्यां तादृशी, धर्मास्तु जलप्रवेगेन उपरिमायमद्वात् तदुगच्छानां दैर्घ्यप्रकाशात् ।
तथा, मरुदिद्राणां मरुतां दुमाणा द्रोहोद्रेकेण 'उत्स्रातोदयेन ये महोर्मयं ते' मेदुर-
मदा निविडप्रवाहवापत्या । अत्र हकारवकारानुप्रासो वैचित्र्यम् । मन्दाकिनीविषय-
मावस्य सतोऽपि तदननुगुणौजोगुणव्यञ्जकवर्णानुप्रासेन दीर्घसमासेन उदारदुर्दुर-
दरीत्याद्युपलक्ष्यैकविशेषणेन च अणकर्मणादस्फुटत्वम् । अर्थविश्रमाह- विनिर्गत-

- (A). काशमोरक-मेरुलकविप्रणीतइयप्रौवक्थस्य पद्यमिदमिति प्राञ्ज ।
- (B). अस्फुटव्यङ्ग्यत्वात्वं गुणीभूतव्यङ्ग्यमित्यर्थः ।
- (C). सालङ्कारत्वव्यतिक्तं यत् काव्यलक्षणं सत्यं तादृशमप्येवोत्सर्वात्त्वित्यर्थः ।

1—'दुर्दुरदरी' दोषोऽदरिद्र-इति मुद्रितपत्रक-कठ ।
2. 'दुर्दुरदरी' इ' ३ 'महोदयेन' स-न ।

ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥५॥

इति काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजनकारणस्वरूप-
विशेषवर्णनो नाम प्रथम उल्लासः ।

मिति । य ह्यप्रीवन्तुं मानद अत्रोर्मानखण्डक मित्रस्य मानदायकञ्च आत्म-
मन्दिराद् यदृच्छयाऽपि विनिर्गतमुपश्रुत्य परम्परया ध्रुत्वा ससम्भ्रमेण समयेन इन्द्रेण
द्रुत पातितार्गला पातिनद्वारपिधाना सती अमरावती भिया निमीलिताक्षीव भवतीत्य-
न्वयः । उपश्रुत्येत्यत्र पातितक्रिययैककर्तृकत्वं (A) बोध्यम् । अत्र समापकनिराकाङ्क्ष-
वाक्यबोध्यत्वेन प्रधानभूतस्य उत्प्रेक्षारूपार्थालङ्कारस्य चमत्कारेण सतोऽपि राज-
विषयस्य भावस्य तिरोधानादस्फुटत्वम् । न च पातितार्गला भवतीत्यन्वये राजविषयभाव
एव निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यप्रधानतया स्फुट इति वाच्यम्, तदा 'निमीलिताक्षीव' इत्यत्रापि
भवतीत्यस्यानुपद्वापत्तेः, अतोऽननुपद्गेण निराकाङ्क्षवाक्यबोध्यतया च चमत्कारिण्या
भावप्रतीतेर्विलम्बनमेव भावास्फुटत्वबीजमित्यभिप्रायेणेदमुदाहृतम् । यस्तु तस्तु
उत्प्रेक्षयापि परपुरीरूपपरस्त्रीभीतिजननाद् राजविषयभावप्रकर्षणमेवेत्तदिति ध्यातव्यं
पवेदमुदाहरणमुक्तम् । पद्योल्लासे "ते दृष्टिमान्नपतिता" इत्यादिकं यदर्थचित्रोदाहरण
वक्ष्यते तदेतद्दाहरणं बोध्यम् ।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्यकृतकाव्यप्रकाशादर्शे काव्यप्रयोजनादि-
निर्णयस्य प्रथमः प्रतिबिम्बः ।

(A). अत्रैककर्तृकत्वकालेन अगंलपातने मृत्याह्वानावसरालामन्विन्धनो भयातिशयो
भ्यस्त्यमावोऽपि न चमत्कारातिशयं पुञ्जातीति इदं च ।

द्वितीय उद्घासः

२४००७२

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

(५) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽल व्यञ्जकस्त्रिधा ।

अत्र काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

(६) वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः—

वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः ।

(७) तात्पर्यार्थोऽपि केपुचित् ॥ ६ ॥

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्ब्रह्मण्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां

विशिष्टयो शब्दार्थयो काव्यत्वेनोत्त्वाद् बोध्यबोधकभावस्यैव च तयोर्विशिष्टत्वेन कया कया वृत्त्या तयोर्विशिष्ट्यमित्याकाङ्क्षाया तत्तद्वृत्त्या तयोर्विशिष्ट्य विवक्षुराह—
क्रमेणेति । 'स्वरूप' तत्तद्वृत्त्या बाध्यबाधकस्वरूपम् । तथाच बाधकबोध्यता-सम्पादकवृत्ति-स्वरूपकथनमेव 'स्याद्वाचक' इत्यादिना उपक्रान्तम्, न तु वाचकादि सङ्काथनम्, तथा सति 'साक्षात् सङ्केतित याऽयं' मित्यादिवक्ष्यमाणवाचकलक्षणे बहुविशेषणापादानवैयर्थ्यं स्यादिति तदवसरे दर्शयिष्यामः । एतच्च स्याद्वाचक इत्यादे शक्त्या प्रतिपादको लक्षणया प्रतिपादका व्यञ्जनया प्रतिपादकश्चेत्यर्थः ।

अत्र काव्य इति । यद्यप्यकाव्यस्याऽपि शब्द आलङ्कारिकैर्बन्धक उच्यते इत्यतः काव्य इत्यव्यावर्तक तथापि काव्यविवेककालद्वारात्पारमेवात्र काव्यपद बाध्यम्^१ । 'स्वरूप' लक्षणम् ।

केपुचिदिति । प्राचीननैयायिकमनश्चित्यर्थः । तन्मते पदापस्थापिताना पदार्थाना लसर्गा वाक्याद्भासमानस्तात्पर्याख्या वृत्तिमपेक्षते तात्पर्यविशेषलसर्गस्यैव वाक्यज्ञानात् । 'इयमेवाधुनिकैः ससर्गमर्थ्यादाच्यते'^२ । तदाह (६) आकाङ्क्षेति ।

A आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरह, स च श्रोतुर्ज्ञानासास्वरूप, योग्यता पदार्थानां

१ 'बोधकवृत्तिभूय इ य । २ 'काव्यम्, तत्र जघनकान्द्रीकृपु शब्दानागव्यावृत्तकम्, न ।

३ स पञ्चके नामि ।

सङ्केतस्यानमेनदिति कयाचित् कञ्चित् प्रत्युच्यते । अथवा मिथ्या
वदसि न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते ।

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

सङ्केतस्थल दर्शयन्त्या दूत्या उक्तिरियम् । ऊहेति पश्येत्यर्थः । निश्चलेति
सम्बोधनम्, तस्य च निरुपमेत्यर्थः । शङ्खशुक्ति शङ्खकपालम् । चक्रवर्ती तु निश्चला
पृथिवी सेव निष्पन्देत्यर्थः इत्याह, तत्र , पृथिवीवाचकस्य अचलाशत्रुस्य परिवृत्य-
क्षमतायाः “निष्कम्बा रचिता नेत्रपुद्गल(A) वेद्य साम्प्रतम्” इत्यत्र दोषोऽस्ति
प्रत्युच्यते इव दृश्यमाणत्वात् , अन्यथा निश्चलनिष्पन्दत्वेनेत्येव वृत्तौ लिखितं स्यात्,
न निष्पन्दत्वेनेति । अतः सङ्केतेति ‘उच्यते’ व्यज्यते इत्यर्थः । अत्रैव विकल्पेन
व्यङ्ग्यान्तरमाह अथवेति, तथाच अत्र तत्र गत्या त्यागनासाद्य आगतोऽस्मीत्येव
यद्वदसि तन्मिथ्येत्यर्थः । मिथ्यात्वं विवृणाति न त्वनिति, यदि त्वं तत्र गतः
स्यास्तत्र बलाका आभ्यस्ता न स्यादिति भावः ।

वाचकादीनामिति शक्यादिना प्रतिपादकादीनामित्यर्थः, ‘स्याद्बालक’ इत्यादौ
तौव उपक्रमस्य प्रदर्शितत्वात् । ‘स्वरूप’ लक्षणम् । ‘शक्या प्रतिपादकत्वञ्च शक्यधीन-

बलं शरीरक्रिया स्थानान्तरप्रायिका स्पन्दस्त्ववयवक्रिया सद्राप्रयिका, यदि किञ्चिद्वले
इति वास्वदुसारात् । निर्मले स्वच्छे मरकतस्थ नीलमणेर्मांजने स्थिता वाङ्मय्य शुक्तिः
शङ्खशुक्तिः शुक्तिःसदृशं चन्दनादिनिधानपात्रम्, न तु मुक्ताशुक्तिः तस्या बलाकार्णसदृशवर्णत्वा-
भावात् शङ्खशुक्तिवत्स्य सप्रासामध्याह । एतन्न अचेतनोपमया आत्यन्तिकक्षोभाभावः सूच्यते ।
पर्यायान्तकवमत्कारन्धानन्तु सम्भोगविप्रलम्भभेदेन व्यङ्ग्यद्वय प्रकारे स्पष्टमिति सङ्क्षेपः ।
अपरत्यादिनोक्तस्य व्यङ्ग्यस्य तु विप्रलम्भपरतया माधुर्यातिशय इति केचित् । “बलाका-
चरपङ्क्ति स्याद्बलाका विपरकण्ठिका । वन्द्या कामुकी प्रोक्ता बलाकन्तु वको मतः ” इति कोषः ।

(A) अत्र सर्वोपवादानुपुस्तकेषु नेत्रद्वन्द्व बोधयेति पाठो लिपिद्वयमादकृत एव दोष-
परिच्छेदे तथाऽदर्शनात् ।

I शक्येति । इत इति ‘व्याचष्ट’ (१० पंक्ति-३८ पृष्ठे) इति पर्यन्त कारिकाव्याख्यान ष-म-विहित-
पुस्तकचोरालय विभिन्नम्—तथाच शक्या प्रतिपादकत्व दृष्टवातावच्छेदके तदयावत् लक्षणमाहेतव्यं ।
सायादित्यादि । यदि तु वाचकमशक्यत्वेन सायाचक इत्यादिना लक्षणावच्छेदकमुक्तं सायाद्यधीयमयंभिर्यते
अभिधया प्रतिपादयति स तदा वाचक इत्येतावन्नेव सामञ्जसे श्रेयै रेशये साया, इत्या प्रतिपादकत्वस्य
लक्षणावच्छेदकत्वे तु तत्र षट्ते लक्षणावच्छेदकत्वचणोर्दोषोऽपि शक्या प्रतिपादकत्वस्यलक्षणावच्छेदकत्वात्
वाचकभावानुपपत्तेः । एतच्च अभिधने इत्यादिनाभिधया प्रतिपादयतीत्याहेतव्यतादवच्छेदात्, किन्तु प्रति-

(६) साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः (A) ॥ ७ ॥

प्रतिपत्तिजनकत्वं तच्च परम्परया लाक्षणिकशब्दोऽप्यस्तीत्यतस्तद्वारणार्थं (B) साक्षात्त्व-
 धर्मात् तद्ग्राहक (C) लक्षणमाह—साक्षादित्यादि । अत्र सङ्केतितमिति सङ्केत
 शब्दासदुग्रहार्थं कारितम् (D), ततः कर्मणि च । तथाच सङ्केतप्रहरिष्यमित्यर्थः, प्रहे
 च साक्षात्त्व विशेषणम् सङ्केतश्च तच्छब्दो वाच्य न तु शब्दान्तरीय तदा लक्ष्यार्थ
 वाचकशब्दान्तरमादाय लाक्षणिकाव्यावर्तनात्, तथाच “साक्षाद् गृहीतस्वसङ्केत यमर्थं
 य शब्दाऽभिधत्ते स शब्दस्तस्यार्थस्य वाचक इत्यस्य, वाचक इत्यस्य शक्त्या प्रति
 पादक इत्यर्थं उपक्रमवाचि व्याख्यात एव, अतोऽत्र वाचकसङ्केत इति नार्थः, तथात्वे
 यो यमर्थं साक्षादभिधत्ते साक्षादभिधया प्रतिपाद्यतीत्येतावतैव सामञ्जस्ये शेषय
 र्थापत्तौ, पूर्वदृशिताकाङ्क्षया तु शक्त्या प्रतिपादकत्वमेव लक्ष्यतावच्छेदकम्, तथात्वे
 च शक्त्या प्रतिपादकत्वं न लक्षण सम्भवति लक्ष्यतावच्छेदकलक्षणयारैः नयेनात्मभ्रया-
 पत्तौ अतोऽत्र अभिधत्त इत्यस्य अभिधया प्रतिपाद्यतीति नार्थः किन्तु प्रतिपाद्यतीत्ये
 वार्थः । तथाच यो यमर्थं प्रतिपाद्यतीत्येतावन्मात्रकरणे व्यञ्जनया (E) अशक्त्यार्थप्रति

(A) अत्र प्रदीप — न च साक्षात् सङ्केतवान् वाचक इत्यनावर्तैव स्वल्पान् अभिधत्ते इत्यस्य
 वैदुष्यं संयोगादिनाऽभिधया नियमिताया वाच्यव्यञ्जकताऽशक्यामिति व्यासर्वाणीयत्वात् । न च
 तथाऽपि तत्रातिव्याप्तिरिति वाच्य यस्य शब्दस्य यत्राव्यवहितसङ्केतपदो यद्व्यञ्ज उपयुज्यते स
 तदर्थं वाचक इति हि लक्षणार्थः । इदं च यत्राव्यवधानं सङ्केतो गृह्यते इत्यादि वृत्तिदर्शनात्
 सङ्केतविशेषणतया साक्षात् पदं व्याख्यातम् । वस्तुतस्तु सयोगादिनाऽभिधया नियमिताया यत्र
 शक्त्यान्तरत्वनं तत्र वाचकत्व मा प्रमादक्षीणित्वमिषानक्रियाविशेषण साक्षादिति । तत्र तु
 वाच्यार्थप्रतीतिव्यवधानं तत्र प्रतीतित्वप्रसङ्ग इति । एतन्मतं माधुष्यादिव्यञ्जकवर्गस्य
 माधुष्यादिवाचकतावाराण्य सङ्केतितपदमिति प्रमाकारः ।

(B) लाक्षणिकशब्दमाधारणस्य शक्त्या प्रतिपादकत्वस्य लक्ष्यतावच्छेदकत्ववाराण्यमित्यर्थः ।

(C) लाक्षणिकशब्दावृत्तमर्थैव लक्ष्यतावच्छेदकत्वमाहकमित्यर्थः । तथाच शक्त्या प्रतिपाद
 कत्वं लक्ष्यतावच्छेदक साक्षाद् गृहीतस्ववृत्तिकार्यप्रतिपादकत्वञ्च लक्षणमिति न काऽप्यनुपपत्तिरिति
 ज्ञेयम् ।

(D) कारितमिति कलापमते गिवप्रत्यय इत्यर्थः ।

(E) व्यञ्जनया शक्त्याप्रतिपादकं दुरालहित इत्यादाविष्टापत्तिमन्त्रवादाह अतश्चेति ।

प इत्यतीत्याद्यः । तथाच या समर्थ प्रतिपद्यतीत्यादावन्वाक्यकरणं लक्ष्यतावच्छेदकत्वमित्यर्थः ।
 च शब्दं शब्दं व्यञ्ज सच प्रति वाचकत्वं स्यादतः चतः—सङ्केतितमिति । सङ्केतितमिति तदं गृह्यतीत्यर्थं प्रत्यय-
 क्तवत् कारितं ततः कर्मादि च तथाच गृहीतसङ्केतमित्यत्र सङ्केत स्वस्य परस्परव्यञ्जकत्व परंपरावशात् ।
 सङ्केतप्रार इतिवाच्यं न तु शक्तिः । यदा यो वाक्यार्थं गृहीतमिति च तस्य शक्त्या प्रतिपादक इत्याद्य

इहागृहीतसङ्केतस्य (A) शब्दस्यार्थप्रतीतिरभावात् सङ्केतसङ्घाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यथाव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते स तस्य वाचकः ।

पाठेऽपि तत्रावकतापत्तिरित्यतः सङ्केतनिमित्तं गृहीतस्यसङ्केतमित्यर्थः । सङ्केतो हि वृत्तिर्यद्ग्राह्यं न तादात्म्यं अगृहीताया एव व्यञ्जनाया बोधकत्वात् (B) । तथाच (C) गृहीतवृत्तग्राहकवृत्तिकार्यप्रतिपादके लाक्षणिकशब्देऽपि लक्ष्यार्थवाचकतापत्तिरित्यतः (D) मात्राद् गृहीतस्यसङ्केतमिति ; लक्षणग्राहकवृत्तमुक्त्याप्यर्थसाम्यादिप्रह्वयव्यानेनैव प्रमाणात्त्वान् । न च सङ्केतस्य शक्तिरगमेश्च न वृत्तिरगम् ; तथाच लक्ष्यार्थेऽपि शक्तिप्रह्वमावादेव न तत्रातिव्याप्तिरित्यतः किं मात्रात्प्रयोगेनेति वाच्यम्, अर्थे गृहीतस्यशक्तिरन्वयस्य लक्षणवाक्याद् ग्रहणायां तुल्यवृत्तिरेव तत्रागमेश्च शब्देऽपि शक्त्या तदर्थप्रतिपादकत्वप्रदेष लक्ष्यतावच्छेदकलक्षणार्थप्रतिपादकभावानुरसताः । केचित्तु सङ्केतित्वमर्थं यं मात्राशक्तिरिति इत्यन्वयमाहुः, तत्र ; व्यव्यानेन गृहीतस्यवृत्तिकेन लाक्षणिकशब्देनापि मात्राशक्तिरिति तत्रातिव्याप्तिरिति वृत्तिप्रह्वोऽपि प्रमाणा एव बोध्यं, तेन शक्तिरगमगृहीतार्थं प्रति न वाचकतापत्तिः ।

एतन् गृहीतसङ्केतार्थेव शब्दार्थो प्रतिपादकप्रतिपादाविव्यक्तिरेव लक्षणे लोके मयाग्रहं प्रति सङ्केतग्रहस्य आशङ्क्यत्वे प्रमाणं दर्शयन् लक्षणं वाच्ये'—इति । 'सङ्केतसङ्घाय' गृहीतसङ्केतसङ्घाय ।

(A) शब्दस्यार्थप्रतीतिरभावादिति । अत्र शब्दस्येति पदस्यैव गृही । तथाच शब्दस्य श्रुतीति स्मृतिरूपेण सा च त्रयविवक्षितानुभवजन्यसम्बन्धात् भवति । सम्बन्धश्चातुद्वयस्य च कारणमिति सङ्केतज्ञान सम्बन्धादोषकतया अर्थस्युत्पादकस्युत्पत्तेरिति सङ्केतस्यसङ्केतं वैदल्यसङ्केतविनिश्चयान्तरादि अर्थप्रतीतिर्न भवतीति ह्यतस्मित्यर्थः ।

(B) अथ नाथ, सङ्केतनिमित्तं मूले गृहीतस्यसङ्केतमिति वृत्तिवर्णने बोधयत्तत्र सङ्केतस्य वृत्तिवर्णने रूपेण लक्षणस्य अभिवाच्यतामभ्यस्य । एवञ्च पदस्यार्थस्य सम्बन्धो ज्ञात सङ्केतस्य मात्राको भवति तस्यैव वृत्तिवर्णनादौ स्वरूपस्यैव गृह्यार्थस्यैव व्यञ्जनाया वृत्तिवर्णनादेव व्यञ्जकत्वस्य सङ्केतनिमित्तभावात् व्यञ्जकत्वस्यैव व्यञ्जकत्वार्थवाचकतापत्तिरिति ।

(C) सङ्केतस्य अभिवाच्यतामभ्यस्येति ।

(D) अत्र लाक्षणिकशब्दस्य लक्ष्यार्थवाचकत्ववार्तास्य सङ्केतस्यसङ्केतस्युत्पत्तेरिति च वृत्तिविशेषणवदेव लक्षणवृत्तित्वेनैव तत्र मात्राद् गृहीतमिति । अर्थाद्ये सङ्केतस्यैव व्यञ्जकत्वस्यैव प्रमाणमिति सङ्केतस्य ।

पर्यायी शब्दस्यैव दशमस्यैव शक्तिरिति तत्रातिव्याप्तिरिति । अथ इयं शक्तिरिति शक्तिरिति तत्रातिव्याप्तिरिति । अथ इयं शक्तिरिति शक्तिरिति तत्रातिव्याप्तिरिति ।

(१०) संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

पद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव

सङ्केतितश्चतुरिति । सङ्केतितः साक्षाद् गृहीतस्वमङ्केत । चतुर्भेदः
चतुःप्रकारः । प्रकारचतुष्टयमाह—जात्यादिरिति, जातिगुण/^A क्रियायदङ्गोपाधि-

(A) अत्रेदमवगन्तव्यम्, बालद्वारिकैर्जातिव्यक्रियाभिन्नवस्तुमाश्रम्यैव गुणमध्येऽन्तर्भाव
इष्यते, तेन 'गिरयोऽय्यतुन्नतिगुण' इत्यादौ वक्ष्यमाणविरोधालद्वारोदाहरणे अभावविरोधस्यापि
गुणविरोधतया न विभागव्यापत्त इति । स्पष्टमिदं बालबोधिन्याम् (पृ ३५) ।

तथाऽप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्तुं^(A), न युज्यत इति गौः

रूप इत्यर्थः । अत्रैव सङ्केतित्वमुचितमित्याशङ्कते— यद्यपीति । 'अर्थः' प्रयोजनं 'हलवाहनादि, तस्मि 'क्रिया' गवादे'^१ऽनयनादिः तत्कारित्वा^(B)दित्यर्थः । 'व्यक्तिः' गवादिः, तथाच तत्रैव सङ्केतप्रहां वक्तुमुचित इति पूरणीयम् । अत्र समाधत्ते— तथापीति । ननु नानन्तव्यक्तिषु सङ्केतप्रहं किन्तु दृष्टव्यत्वावेव इत्यत आह— व्यभिचाराच्चेति । सङ्केतप्रहकालाद्दृष्टव्यत्वावपि बोधस्य कार्यस्य तद्व्यक्तिसङ्केतप्रहरूपकारणव्यभिचारादित्यर्थः । कर्तुंमिति व्यक्तव्यं बालकेन सङ्केतो गृहीत इत्ययमर्थोऽस्माभिर्वाग्विषयं कर्तुमित्यर्थः ; न तु बालकेन ज्ञातुमिति बहुभिव्याख्यातोऽर्थः, तद्व्यक्तिसङ्केतप्रहकाले व्यक्त्यन्तरे बालकस्य व्यभिचारानुपस्थिते, तद्व्यक्तिशक्तिप्रहे तदुपस्थितेवाप्रकत्वाच्च । नन्वेकव्यक्तिशक्तिप्रहोऽपि व्यक्त्यन्तरबोधं जग्यति अतो न व्यभिचारः, न चातिप्रसङ्गं शक्तिप्रहप्रकारीमवडमंश्रयस्यैव यस्य कस्यचिद्वोधनियमादित्यत आह— गौरिति । अयं भारः, यदि सप्रकारक एव त्वन्मते शक्तिप्रहं स्यात् तदैव त्वन्मते व्यभिचारधारणं स्यात्, किन्तु सप्रकारक-

(A) कर्तुमिति स्वोक्तंमितिर्लक्ष्यं बालस्य व्यक्तौ सङ्केतप्रहे जातेऽपि उक्तदोषेण तत्र प्रमात्वस्वीकारात्मन्मवादिति भावः ।

(B) अत्रैवं चिन्तनीयम्, गवादेरानयनादिक्रियाकारित्वस्य आनयनकर्तृपुरुषनिश्चयवा गोपिण्ड-निष्ठत्वाभावात् निष्ठत्वात्क्रियाकारित्वनिबन्धना गवि प्रवृत्तिनिवृत्तिर्वा न सम्भवति, गवादिकर्म्म-कास्त्वन्तिरेकेन आनयनाद्यनुपपत्त्या तत्कारित्वादित्यस्य तत्रिवाद्दृक्त्वादित्ययं तदुपपादनेऽपि अर्थाय क्रिया इति तादृश्यं चतुर्थ्यां समामोहं पठते 'विकृते प्रकृत्या तादृश्यं' इत्यनेन प्रकृतिविवृति-भावस्यैव एव तद्विधानादिति । अत्र केचित्— अर्थक्रिया कार्यं, तत्र प्रकृतं हलवाहनादि शब्दप्रहृतादि च, तत्कारित्वञ्च गोपिण्डस्यैव न गोत्वजातेरिति तत्रियत्तं प्रवृत्तिनिवृत्तियोरपत्त्वमपि गोपिण्डस्यैवेति व्यवहाराधीनमङ्केतपदन्तर्बोधित इति । अर्थक्रियास्तद्व्यक्त्यं कार्यपरत्वञ्च "अर्थक्रिया कार्यं तत्र समर्थम्" इति गौडप्रहानन्तीयादौ तमिदिदौकाप्रबन्धव्याख्यानावमरे "अर्थस्य पदार्थस्य क्रिया व्यापार इति नार्थं अर्थोपपत्तापत्ते किन्त्वर्थरूपा क्रिया कार्यं"मित्येव वदन् विद्वलेद्येनोपपादितम् । अन्ये तु अर्थस्य पुत्रादे क्रिया अर्थक्रिया तद्व्यक्तिरित्यादित्यर्थः । अत एव न्यायमञ्जुष्यां "सत्त्वं तावदर्थक्रियाकारित्वमुच्यते सत्यपि पुत्रे तद्व्यक्त्याऽवशात्पुत्रा वयमिति व्यस्तितान्ति लौकिका" पुत्रादन्वस्मिन्नपि तत्कार्यकारिणि सति सपुत्रा वयमिति सुबन्दीत्युक्तम् ।

शुक्लश्रलो डित्थ इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव सङ्केतः ।

उपाधिश्च द्विविधः—वस्तुधर्मो वक्तृपट्टच्छासन्निवेशितश्च ।
वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः—सिद्धः साध्यश्च । सिद्धोऽपि द्विविधः—

शक्तिप्रहाङ्गीकारे न ल्याधवम् । प्रकारंशे शक्तिग्रहेणैव आक्षेपलव्यव्यक्तिग्रहोपपत्ता-
यस्मिन्मतानुपवेशे स्यादतो व्यक्तिशक्तिघादिना त्वया निष्प्रकारक एष व्यक्तौ शक्तिग्रहो
घात्य, तथाच एकस्यां व्यक्तौ गौरित्यादिपदवनुपयस्य प्रकारकृतद्विविधविभागो न
स्यात् पदानां प्रकारोपस्थापनासामर्थ्यादित्यर्थः । इदमुपलक्षणम्, निष्प्रकारकशक्ति-
प्रहाङ्गुणामे उक्तव्यभिचारानुद्धाराऽपि स्यादिति बोध्यम् । 'विषयविभाग' प्रकार-
कृत 'न प्राप्नोति' स्वसत्तामिति शेषः । भवत्यर्थो वाऽत्र प्राप्नोति । तदुपाधा-
वेवेति, 'तस्या' व्यक्ते 'उपाधौ' प्रकारीभूते धर्मे इत्यर्थः । सङ्केत इत्यत्र गृह्यत
इति शेषः । तथाच उपाधिगतात् पदान् स्वशक्यस्यापाधे' स्वाशक्याया व्यक्तेश्च
स्मृतिविशिष्टानुभवश्च ; अगस्याया व्यक्ते स्मरणमेव' चाक्षेपः । न च व्यक्ते-
रनुभवमात्रमेवास्तु किं स्मरणाङ्गीकारेणैति वाच्यम्, गोत्वप्रकारकस्मरणाभावे गोत्व-
निशेषणकशाब्दबोधानुपपत्तौ, गोपदाद् गोत्वैनाम्बुध्रमानुपपत्तेश्च गोत्वान्यत्वयो-
रविनाभावाभावेन अनुभावन(मान?)रूपाक्षेपासम्भवात् गोत्व्याधिनाभावाद्
गोस्मरणाङ्गीकारे तु भवत्येवाश्वे तदभेदारोपः । तदुक्तम्—“जातिशक पद व्यक्तिमप्यनु-
भावयति स्मारयति चे”ति । तत्र च जातिपदमुपाधिमात्रपरमेव* ।

जात्याधुपाधिबन्तुष्यं विभक्तविभागेन दर्शयति—उपाधिश्चेति । 'वस्तुधर्म'
वस्तुनि श्यक्तौ अजातोपितो धर्मः स च व्यक्तिवृत्तिजातिगुणत्रिवारूपः । वक्तृ-
पट्टच्छेति । स्यारसिकी इच्छापट्टच्छा तथा सन्निवेशित अगस्तवोऽपि पुत्रादौ नामरूपः ।

१ 'यति भव' य । २. 'नैव न तु छे' न तु चा(चे)पक्षेन तथा प्राप्नोतिभूत तदुक्तम्—जातिशक पद
व्यक्तिमप्यनुभावयति स्मारयति न तः(यदी)दुमान् तव व्यावर्तित्तिगतत्वानविषयत्वं न विलम्बान् । न चाति
प्रसङ्गकारणाय वाऽऽविनाभावादानमेवावश्यं वाच्यम्, तथाच गोत्वादी पदादविनाभावादानमेवावश्यं तथाच तद्वि-
व्यक्तिप्रामाण्यतो विनाभावमात्रं वेदति वाच्यम् अक्षेपसत् एवाविनाभावात् उच्यते । तद्विं विप्यादपक्षेमात्र
धर्मो न श्यात् (च) विनाभावाभावात् इति विद्य तव कारणात् एव न तु भवः । न चैव व्यक्तैरनुभवमात्रविनास्तु
किं अक्षेपेति वाच्यम् अक्षेपकारकयोऽवस्थाभावे नामानयितादौ गौविशेषणकशाब्दोपानुपपत्तौ* य ।

पदार्थस्य प्राणप्रदो^(A) विशेषाधानहेतुश्च । तत्रायो जातिः । उक्तं

वस्तुधर्ममैर द्विधा विभजति सिद्धः साध्यश्चेति । 'सिद्धः' नित्य, स च जातिगुणरूप तन्मते^(B) गुणा अपि नित्या एव आविर्भावतिरोमायावेव<sup>उत्पत्तिदिनाश-
प्रतीतिप्रियाविति । 'साध्य' जन्य^(C) क्रियारूप । सिद्धमेव पुनर्विभजति—
सिद्धोऽपीति । 'पदार्थस्य' व्यक्तेः, प्राणो हानोपादान^{व्यवहार}, स्वप्रकारक-
मानेन तत्प्रद इत्यर्थ, स च जात्याद्यखण्डधर्मितावच्छेदकरूप, गोत्वेदन्त्वादि-
धर्मिनावच्छेदकग्रहं विना गवादिधर्मिणो हानोपादानव्यवहारमावात् ।
'विशेषाधानम्' अतःप्रज्ञा^(D) व्यावृत्तिबुद्धि, तद्धेतु शुक्लदिगुणरूप इत्यर्थ । यद्यपि
गोत्वादेरपि अस्यादिव्यावृत्तिबुद्धिजनकत्वमस्ति, तथाऽपि तत्र प्राणप्रदत्वमधिकम् ;
शुक्लद्वौ विशेषाधानमात्रम्, अतो विशेषाधानहेतुरित्यर्थ । न च शुक्लदिव्यच्छेर्हानो-
पादाने धर्मिनावच्छेदकतया शुक्लत्वादिकमपि प्राणप्रदमेवेति वाच्यम्, तत्त्वेदन्त्वाद्य-
विषयकशुक्लदिकानेन शुक्लदेर्हानोपादानानभ्युपगमात् । अस्तु वा शुक्लमानयेत्यत्र
तथा, तथापि प्रार्थामकशुक्लव्यवहारे इदन्त्वादिर्यामितावच्छेदकमेव प्राणप्रदम्, शुक्लत्वन्तु
तत्र विशेषाधायकमेव, गोत्वाप्यत्वादिकन्तु नैवमित्यनिश्चाय । आद्यो जाति-</sup>

(A) प्राणप्रद इति । प्राणप्रदत्व च तावत्स्थिति सम्बन्धित्वम् । यद्यपि शुक्लत्वादे-
नित्यन्वाभ्युपगमे गोत्वादिना समकालमेव सम्बन्धित्वम्, तथाऽपि तस्य सम्बन्ध कदाचिदपैत्यपि
न तु गोत्वादेरिति विशेष । तत्र "प्राणप्रदो जाति" इति प्रदीय । प्राण स्वापिनाभावेन
व्यवहारान्तत्प्रदन्तत्रिष्वहक इति क्वचिदृष्टम् ।

(B) यद्यन्तेका एव हि नीलाद्यादिव्यक्त्य इति तन्मतेऽपि महाप्रत्ये जलपरमाणुवृत्ति-
तया शुक्लरूपस्यैव नित्यत्वं न कृप्यादे संयोगादेभ्यानित्यत्वं वैरप्यङ्गीक्रियते, तथाऽपि इत्यान्य-
नित्यवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिभानित्यर्थ इति क्वचिदृष्टम् ।

(C) तस्यापि नित्यावृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिभानित्यर्थ, तेनानित्यगुणव्यावृत्तिरिति
क्वचिदृष्टम् ।

(D) अत्र "अतादृशत" इत्यस्य स्वाध्यायसत्रादीयत् इत्यर्थकल्पने गोत्वादीनां विजातीय-
व्यावर्तकानां न विशेषाधानहेतुत्वं सम्भवतीति चिन्तनीयम् ।

हि वाक्यपदीये—(A) “न हि गोः स्वरूपेण गार्नाप्यगाः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गो”रिति । द्वितीयो गुण, शुक्लादिना हि लब्धसत्तार्कं वस्तु विशिष्यते । साध्य पूर्वापरीभूनायवयव क्रियारूप, ।

डित्यादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं () संहृतममं स्वरूप वक्तु

रिति अत्रण्डोपाधिरित्यर्थ । ‘वाक्यपदीय वाक्यपदीयेनमा प्रथमविशेष (0) स्वरूपेणेति गात्वानिययीभावेनेत्यर्थ । नाप्यगोरिति अगाव्यवहारोपपि, इदन्त्वादिना उपस्थित एव धर्मिणीत्यर्थ । गोत्वाभिसम्बन्धात्तु इति गाशदि धर्मितागच्छेदकविशिष्टज्ञानादित्यर्थ । गोरिति अव्यवहार इति शेष । शुक्लादिना हीति, प्राण्यदेन ‘लब्धसत्तार्क लब्धयवहाय्यताक(D) वस्तु अशुक्लादित शुक्त्वादिना व्यावर्त्यते(E) इत्यर्थ । साध्यस्वरूपमाह— साध्य इति । प्रत्यापरीभूत अवयव एकदेशो यस्य तादृशक्रियासमुदायरूप इत्यथ पूर्वापरीभूतक्रियाप्रकाराद्यमेव पाकादिपदप्रयोगात् । वक्तुवदच्छासन्निवेशितरूपमुपाधि दशयति—डित्यादीति । वक्तु पित्रादिना । डित्यादिरूपेण अर्थेणु डित्यादिज्ञानाना स्वरूपमुपाधित्वेन वदृच्छया सन्निवेश्यते आरोप्यते इत्यर्थ । तादृशस्वरूपस्य च आशुनिनाशिकमिरानेकवर्णघणित त्वेन तद्वाधोपाय पूर्वोक्त स्मारयति अन्त्यबुद्धीति अन्त्यगणबुद्धियद्गममित्यर्थ । ननु तेनापि वर्णक्रमेण व्यञ्जने संबन्धुपपत्तिरित्यत आह—संहृतमममिति तत्तद्वर्ण क्रमिकज्ञानभिन्नैकज्ञानेन विषयीकृतमित्यर्थ । चक्रवर्त्ता तु अन्त्यबुद्धि’ पद

(A) अस्मदुपलब्धवाक्यपदीये नायमत्र उपलभ्यते । अस्य प्रदीपकारित्वेन व्याख्यात तु— न हीति अस्यार्थं गौ स्वरूपेण न गोव्यवहारस्य नाप्यगाव्यवहारस्य विषय गोत्वाभि सम्बन्धात्तु गोव्यवहारस्य विषय इति ।

(B) अन्त्यबुद्धीति । “डित्यादिशब्दाना प्रथमवर्णप्रतीत्या किञ्चित् प्रकाशितमन्त्यवर्णबुद्धिः । नि शेषतो ग्राह्यम्” इति प्रथीप ।

(C) भक्तुं हरिप्रणीत इति बोध्यम् ।

(D) एतेन जन्मेष्टुपत्तिकाल एव जातीना सम्बन्ध गुणानान्तु द्वितीयगुण इति लभ्यते तथाच केषाञ्चिदपि गुणानामुत्पत्तौ जातिवैधर्म्यसिद्धौ तज्जातीयत्वनान्यपामपि जातिनो वैलक्षण्यं छगममिति तयोभवेन निर्देशो युक्त इति स्पष्ट बालबोधिन्त्याम् ।

(E) तथाच वृत्तौ शुक्लादिनेत्यस्य विशिष्यते इत्यत्रैवान्वयो न तु लब्धसत्तार्कमित्यत्रति भाव ।

यदृच्छया दित्यादिष्वर्थेऽपूपाधित्वेन सन्निवेद्यत इति सोऽयं संज्ञा-
रूपो यदृच्छात्मक इति । गौः शुक्लश्वलो दित्य इत्यादौ चतुष्टयी
शब्दानां प्रवृत्तिरिति (A) महाभाष्यकारः । परमाण्वादीनान्तु गुण-
मध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम् । गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत
एकरूपाणां (B) मध्याश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते, यथैकस्य मुखस्य खड्ग-
मुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात् ।

प्रत्यक्षान्तरोत्पन्ना पदार्थस्मृतिरूपा बुद्धिः, तथा निर्वाहा विषयीकृतम्, पदस्यैवात्र
पदार्थत्वादित्यर्थः, तथा 'सद्वृत्तकर्मम्' ईश्वरप्रयोगाद्याधुनिकप्रयोगरूपकमरहितम्
आधुनिकप्रयोगरूपत्वादिति व्याचष्टे, तत्र, तत्कथनस्य प्रकृतानुपयोगित्वात् । संज्ञारूप
इति । तथाच तादृशी सज्ञा शक्ता शक्या चेत्पुनरिति, धर्मिणस्त्वात्तेपादेव लाम इति
भावः । यद्यपि समवायिसमवेतयोरेवाविनाभावः स एव वाच्येपदेतु, तथाऽपि अविना-
भावोऽप्यसन्नेव यत्कू यदृच्छयाऽऽरोपितो धर्म्यान्नेपहेतुरिति बोध्यम् । यदृच्छात्मक
इति, यदृच्छया भात्मा यस्तेति विग्रहः, सज्ञाया यदृच्छारूपत्वाभावात् । प्रवृत्तिः
(C) प्रवृत्तिविषयः । परमाण्वादिशब्दानां प्रवृत्तिविषयसशयं निरस्यति—परमाण्वादी-
नामिति परमाणुत्वादीनामित्यर्थः । अणु दीर्घं महद् इत्स्वञ्चेति (D) परिमाणरूपगुणमथे
पठितत्वात् तत्परिभाषासिद्धमेव तेषां गुणत्वं प्रमाणान्तरं नापेक्षते इत्याह—पारि-
भाषिकमिति । ननु गुणक्रियायदृच्छोपाधिषु शक्तिग्रहाभ्युपगमेऽपि तेषामपि प्रति-
व्यक्ति नानात्वेन तावेवानन्त्यव्यभिचारवित्यत आह—गुणक्रियेति, जातिवदेतेऽपि
अनेकाश्रया एकीक एवेत्यर्थः । यद्यप्येवं सिद्धान्ते क्रियाया अपि नित्यत्वमेव सेद्गुचितम्,
तथाऽपि महाप्रलये परमाणूनामपि निश्चित्यत्वेन श्रानिन्यत्यम् । 'यदृच्छा' यदृच्छोपाधिः ।
आलम्बनभेदादिति आश्रयत्वेन ज्ञातभेदादित्यर्थः, खड्गादेर्यस्तुतो मुख्याद्या-

(A) "शुक्लः" इति सूत्रस्य भाष्ये 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इत्येतादृश्याप्रमुपलभ्यते ।

(B) एकरूपाणामिति । गुणक्रियादीनामाश्रयभेदेन भेद एव प्रसिद्धः "भेद इव" इत्यनेन
प्राप्तोऽभेदस्तु अन्येन केनाप्युक्तो न वेत्यनुमन्वेयम् ।

(C) ननु महाभाष्यकारेण प्रवृत्तौष चानुर्विध्यमुक्तं सत्तु सद्भूतित्वाद्यनुर्विध्ये प्रमाणतया
अपन्यासानर्हमतो व्याचष्टे—प्रवृत्तिविषय इति । इदं प्रवृत्तिवत्स्य पर्यायसिद्धांशप्रदानमेवेति
बोध्यम् ।

(D) "अणु दीर्घं महद् इत्स्वमिति तत्रेदं इति" इति कारिकावली (सो. ११०) ।

हिमपयःशब्दाद्याश्रयेषु परमार्थतो मित्रेषु शुक्लादिषु पदशेन शुक्लः
शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यम्,
गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव 'पाकादित्वम्, बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु
द्वित्यादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु द्वित्याद्यर्थेषु वा द्वित्यत्वा-
द्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये । तद्वान्

अथत्वाभावात्(A) । जातिरेवेत्यादि मत व्याचष्टे— हिमपय इति । 'अभिन्नाभिधानम्'
एकाकारशब्दप्रयोग, अभिन्नप्रत्यय' एकाकारप्रत्ययतम । 'पाकादित्व' पाषत्यादि ।
एव द्वित्यादिशब्दनिष्ठामेव जातिमादावुपपादयति बालवृद्धेति । उच्चारयित्-
स्वरभेदेन द्वित्यादिशब्दानामनेकत्व बालवृद्धेत्यादिना दशयित्वा द्वित्यत्वादि
जातेनेकव्यतिवृत्तित्वमुपपादितम् । शब्दवृत्तिजात्या तन्समवायिन' शब्दस्यैवाक्षेप-
सम्भवा न पुरुषस्येत्यत' पुरुषवृत्तिमैर(B) द्वित्यत्वादिजातिमुपपादयति प्रतिक्षण-
मिति । नानापुरुषेषु द्वित्यत्वानुपलम्भेऽपि(C) एरुस्यैव पुरुषस्यायम्याभेदेनानेकत्व
मुपपादितमनेन । (D)द्वित्यत्वमिति त्रिशब्दशब्देन शब्दतदर्थवृत्तिजातिद्वयमुक्तम् ।
इत्थ सर्वत्रैव जातिमुपपाद्य सर्वेषां शब्दानां तत्रैव जातिरित्याह—सर्वेषामिति ।
'जातिरेव' इत्यत्र जातिपदमलण्डापाधिपरम्, तेनाकारत्वाभावादित्यदिपरिग्रहः । एवञ्च

(A) अयमनाथ, खड्गमुकुटादीं मुष्मादिवन्तुन प्रतिविम्ब एव गृह्यते तच्च वस्तुगत्या
विम्बमूलस्य मुष्मादेरेव प्रत्ययस्यम्, विम्बत्र स्वभ्यान्तस्तिष्ठ एतति न खड्गादस्तदाश्रयत्वमम्भ्रव ।
तथाच शरीररक्तामीमासाभाष्यव्याख्याने श्रीमद्वाचस्पतिमिश्रा "एष विशानृष्याभिमुष्मत्प्रादशोदका-
दियु स्वच्छेषु धातुषु तेजा छन्नमपि बलीयसा सौष्येण तत्रसा प्रतिबोधेन प्रवर्तितं मुखममुष्मं
मुखं प्रादयद्द रोपवरात्तद्वरावामनभिमुलताद्य मुखन्याग्राहयन् पूर्वदृष्टाभिमुष्मादशोदकदशतामामि
मुष्मञ्च मुखन्यारोपयतीति प्रतिविम्बविभ्रमोऽपि लक्षितो भवति"इति (अध्यात्मभाष्यभाष्यमती) ।

(B) एषकार अर्थः ।

(C) 'ययामरूपोयुवा विद्वान् छन्दर प्रियभाषक । सर्वशास्त्रार्थेषु च द्वित्य इत्यभिधीयते ॥'
इति प्राचीनात्तद्विषयलक्षणस्य नानापुरुषेषु सम्भ्रवात् 'अर्थो नि । तादृशद्वित्यर्थस्य प्रादण्यत्वादिमा
साङ्ख्येयं जातित्व मोपपद्यते अत्रअत्रत्वादिवदेकस्यैवावगम्याभेदानुमरणम् । अन्ये तु 'द्वित्य काठ
मयो इन्वी इदित्यस्तन्मया श्रुतः', इति वदन्तो द्वित्यत्वस्य पुरुषवृत्तित्वमेव नाङ्गीकुर्वन्ति ।

(D) अयमंश स-गुस्तके भास्वि, किन्तु तत्र 'क्षणभङ्गवाद् क्षणरूपविशिष्टभङ्गाद्द मतान्तरे
तु प्रत्ययस्यमित्येवार्थः इति पाठो ह्ययते, स च द्विष्यतीति प्रतिमिति ।

अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात्प्रकृतानुप-
योगाच्च न दर्शितम् ।

(११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥

स इति साक्षात्सङ्केतितः । अस्येति शब्दस्य ।

(१२) मुख्यार्थवाधे तद्योगे रुद्धितोऽथ प्रयोजनात् ।

शुद्धपदात् शुद्धत्वादिजात्याश्रयस्य शुद्धादिगुणस्यैवात्तेषु पदादिपरत्वे तु लक्षणैवेति (A)
मन्तव्यम् । 'प्रवृत्तिनिमित्त' प्रवृत्तिप्रियम् । 'तद्वानिति' नैयायिकमतम्, प्रकारी-
भूतधर्मवानित्यर्थः, 'अपोह' इति बौद्धमतम्, 'अपोह' अतद्व्यावृत्ति (B) । 'न दर्शित'
कारिकायामेव, वृत्तौ तु दर्शितमेव ।

मुख्यार्थवाध इति लक्षणात्लक्षणं वक्तुं मुख्यार्थं दर्शयति—स मुख्योऽर्थ इति ।
व्यापारो वृत्तिः । मुख्यार्थेऽपि अज्ञहन्स्यार्थात्मकोपादानलक्षणासत्त्वात् तद्व्यवसाय
व्यापारे मुख्यत्वात्पादानम्, मुख्यत्वञ्च व्यापारान्तरवाध विनैव (C) कल्प्यमानत्वम्,
व्यापारान्तरस्य तु शक्तिवाधेनेव कल्पना ।

लक्षणिकशब्दं निरूपयितुं लक्षणा निरूपयति—मुख्यार्थवाध इत्यादि ।
'अत्र ग्राहककथनेन प्राह्याया लक्षणाया वक्तृतानुपपत्त्यपरत्व (D) सिद्धिरवधेया' १, यत्

(A) लक्षणैवेति । न चैवं 'गुणे शुद्धादयः पुनि गुणिल्लिङ्गास्तु तद्वती'त्यादेस्तद्वृत्तिः, कोपान्ता
शक्तिनिरुद्धलक्षणात्परतयाद्वक्तृतानुपपत्त्यात् । गुण इत्यस्य च गुणत्वव्यवसायशुद्धत्वात्तद्वित्यर्थः ।

(B) अत्र प्रकीर्ण — "सौगतान्पु व्यक्तावानन्त्यादिदोषाद्भावस्य च देशकालानुगमाभावा-
त्तदनुगततायामसद्व्यावृत्तौ सङ्केतः" इति ।

(C) व्यापारान्तरवाधं विनेत्यन्य व्यापारान्तराव्यवधानेनेत्यर्थं तेनाभिधामूलव्यञ्जनाया
शक्तिवाधाभावेऽपि नातिप्रसङ्ग इति ध्येयम् ।

(D) अत्र वक्तृतानुपपत्त्यं 'अस्माच्छब्दान्मुख्यार्थसम्बन्धी बोद्धव्य' इति वक्तुरिच्छावियपत्वम्,
एवञ्च 'तानुपपत्त्यार्थोऽपि केपुचि'दित्यनेन प्रासादेकदेशिन्यममत्ववृत्तिभावान् पदार्थद्वयसमर्थाभासक-

१ 'मन्तव्यं न तु तद्व्यापारं, गवादिपदाकदवयवस्यापि सत्त्वमवायिसत्त्वमवायिनाच्चेपापने' श्व ।

२ 'अर्थे शब्दसम्बन्ध एव लक्षणा, सा तु परस्परतैव शब्दवृत्तिः, तानुपपत्त्येन तदवाहकमिति नैयायिका ।
शक्यसम्बन्धमुख्यार्थावयवाधीना लक्षणावर्षोपस्थितिरिव लक्षणा, सा चाशुभदिकैर् न लक्षिता तथा अपि
पदवृत्तित् परस्परवृत्ति तु अस्तीति शक्याः । तस्मात्तदवयवस्य तानुपपत्त्यविक्रान्तिव लक्षणा तदवाहककथनेन
पर्यायपदाश्च—मुख्यार्थवाध' छ ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥ ६ ॥

परुसार्थावाहित्वकृन्तित्वादिनैवान्यस्य तात्पर्यविषयत्वाद् तादृशान्यस्य मुख्यार्थता-
 वच्छेदकच्छेदित्वकृन्तित्वादिनाऽनिव्याहान् भतस्तात्पर्यविषयेति मुख्यतावच्छेदकेति
 चोपलम् । ईदममुख्यार्थबाधक्षानेऽपि यत्र लक्ष्यार्थं मुख्यार्थसम्बन्धानुपस्थिति-
 स्तत्र सतोऽपि यत्तात्पर्यस्य न कश्चिप्रयोगार्हलक्षणत्वम्, किन्तु यत्प्रसामर्थ्य-
 सूचिका नैयार्थलक्षणैर सा, तथात्वञ्च क्षीर एव वक्ष्यते ; तद्वारणाय तदुपयोग इत्युपात्तम् ।
 अनेन मुख्यार्थयोगस्य लक्षणाशापकत्वकथनेन शक्यसम्बन्धस्य लक्षणात्वं नैयायिक-
 मतसिद्धमुपेक्षितमिति मन्तव्यम् । तदुपेक्षावीजञ्च 'शुक्लं पट इत्यत्र शुक्लगुणसमवायस्य
 लक्षणात्वे तथा पट पदोपस्थाप्येत, न तु शुक्लगुणसमवायानाश्रयं शुक्लगुण इति'^१ ।
 रुदिप्रयोजनान्यतरक्षान विना ज्ञातमपि यत्तात्पर्यं नैयार्थलक्षणवेति
 तद्वारणाय रूढित इत्यादिद्वयम् । लक्षणाक्षाने त्वय क्रम,—प्रथमं तात्पर्यघटित-
 निरुक्तमुख्याद्यंवाधग्रहं, तान्तात्पर्यग्रह एव च तद्विषयतीरादेरुपस्थितिः, ततस्तास्मिन्नेवार्थे
 मुख्यार्थसम्बन्धोपस्थितिः, ततस्तस्मिन्नेवार्थे भूषियोगरूपाया रूढेर्ज्ञानात् सामान्यतः
 सप्रयोजनकत्वज्ञानाद्वा यत्तात्पर्यरूपा लक्षणा ज्ञायते इति । अन्योऽर्थ
 इति । अत्रापि मुख्यतावच्छेदकधर्मभिन्नधर्मावच्छिन्न इत्येवार्थं, तेन सामान्यशब्दस्य
 विशेषपरत्वे विशेषस्याभ्यत्यमुपपद्यते । ननु कारिकायां घटित्येवास्ति, वृक्षावपि
 यदित्येव वक्ष्यते, अतो लक्ष्यते स्मर्यते यत् तादृशी स्मृतिरेव लक्षणा सा चानुभाविकैश्च
 न स्मारिकेति कस्यचिन्मतेन^२ किं न व्याख्यायते, अलमव्यय "यत्"पदानुसरणेनेति ।
 'अत एव जनप्रवृत्तयोपस्थितिलक्षणेति जरन्मीमांसका अपि इति'^३चेन्न ; लक्ष्यार्थोप-
 स्थितेरेव लक्षणात्वे तस्या अज्ञाताया एवानुभावकत्वं वाच्यम्, तज्ज्ञानकारणत्वस्यानुभाव-
 बाधितत्वात्, तथाच ज्ञातिरेव ज्ञाता वृत्ति प्रत्यायिका इति स्थिते साक्षात्-
 सङ्घे तितमित्यादिनाचकलक्षणे साक्षात्पदवैयर्थ्यापाताद् असाक्षाद्गृहीतवृत्त्यन्तराभावाद्
 व्यञ्जनाया अव्यगृहीताया एव बाधकत्वात्, शक्यार्थसाधारणस्य पदार्थापस्थिति-
 माश्रयेव शान्दबोधजनकत्वेन फलादेशेवाजिनिकायास्तस्या उपस्थितेर्लक्षणात्वेन

१. 'प्रकार्यस्य लक्ष्यार्थं य सम्बन्ध लक्ष्यतावच्छेदके तदभावात्प्रवृत्तया तद्विषय-
 लक्ष्यार्थोपस्थितिरेव। सोमत्या तदुपस्थिते च लक्ष्यार्थं तद्विषयं भावस्यापि बोधापत्तिः । यदि च
 यद्विषयतया उपस्थितेरेवार्थं प्रत्यसम्बन्धानं तद्विषयत्वेन लक्ष्यार्थं च बोधापत्तयपि एतः पट इत्यात्
 एतद्विषयतया भावस्य यत्तात्पर्यस्य बोधापत्तयपि, एतं कुसन्निवृत्तितयोक्तव्यं कस्य च
 बोधापत्तयपिरेव । २. 'मत' क ।

बाधे, विवेचकत्वादां सामीप्ये च सम्बन्धे, रुद्धितः प्रसिद्धेः, तथा गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगाद् येषां तथा न प्रतिपत्तिस्तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथाप्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येना-मुख्योर्था लक्ष्यते यतः स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा ।

रूपेणायोगादित्यर्थः, एव गंगाद्यधिकरणत्वायोगादित्यत्र निरुक्तरूपेणायोगादित्यर्थः । मुख्यार्थस्य बाधे इत्यन्तेन द्वयोर्निहतमुख्यार्थवाच्यं दर्शयित्वा द्वयोर्मुख्यार्थयोगं दर्शयति—विवेचकत्वादां सामीप्ये चेति । यथासङ्ख्यमुच्यते सम्बन्ध-द्वयमित्यम् । कुशोत्पादनादि-स्वस्वकार्ये भद्राभद्रविवेचकत्वाद्येकधर्मवत्त्वं कुशाप्राहि-दक्षयो सम्बन्धः, तीरे तु गङ्गासामीप्य सम्बन्धः, सामीप्यन्तु स्वसयुक्तसयोग-परम्पर्य । कुशलपदे रुद्धिहेतुत्वमाह—रुद्धित इति । तद्विवरणं प्रसिद्धेरिति । भूतिप्रयोग एव प्रसिद्धिः । गङ्गाया घोष इत्यत्र प्रयोजनहेतुकत्वमाह—गङ्गेति । 'तथा न प्रतिपत्ति' उत्तरकाले न प्रतिपत्ति । 'तथाप्रतिपादनात्मन' उत्तरकाले प्रतिपादनात्मनः । प्रयोजनादित्यत्र जातादिति शेषः । तथाच मादिन प्रयोजनस्य ज्ञानमेव हेतुर्बोध 'सविशेषणे ही'ति न्यायात् । तज्ज्ञानञ्च इदं सप्रयोजनमित्येव सामान्यत एव, 'पावनत्वादिरूपेण तज्ज्ञानन्तु लक्ष्यार्थज्ञानोत्तरमेव, श्रुत्यादेस्तदानीं विशिष्यानुपस्थिते पश्चादेव तदज्ञानात्' । प्रयोजनसम्भावनाभावे तु सामान्यतोऽपि ज्ञानमित्यवधेयम् (A) । रुद्धिहेतुकायान्तु रुद्धिमत्त्वादेव न सप्रयोजनकत्वज्ञानम् । नैयार्थलक्षणायास्तु प्रयोजनबोधोपस्थितेरेव न तज्ज्ञानम् । मुख्येनेति बाधसम्बन्धयोः प्रतियोगितया उपस्थितेन मुख्यार्थेन 'करणभूतेन (B) 'शब्देनैव लक्ष्यत इत्यर्थः । 'आरोपित' वक्तृपुरुषेणेति शेषः । 'व्यापार' वृत्तिः । सान्तरेति, मुख्यार्थबाधाद्युप-स्थितिव्यवधानेन उपस्थिते लक्ष्यार्थं विरथतासम्बन्धेन स्थित इत्यर्थः ।

(A) अप्येवमिति । वस्तुगत्या प्रयोजनाभावेऽपि भ्रमात्मकं तज्ज्ञानं सम्भवतीति भावः ।

(B) अत्र मुख्यार्थस्य कारणत्वं स्वबाधद्वारा स्वसम्बन्धज्ञानद्वारा वेति बोध्यम् । इदन्तु चिन्तनीयम्—अत्र "मुख्येन" स्वाध्याय-बाधात् पूर्वमभिधेयैवायौपन्यासत्वेन शब्देन 'अमुख्य' अभिप्रेत्याज्जुपस्थाप्य अर्थं दानि ज्ञानं व्याख्यानं कथं परित्यक्तमिति ।

1 'पावनत्वादिनिष्ठेषु लक्षणेनामेव यानात्' क । 2 'तद्विवरणं प्रसिद्धे'ति भावः । 3 'स-पुरुषके' इत्ये-ति भावः ।

(१३) स्वसिद्धये पराक्षेपः 'परार्थे स्वसमर्पणम्(A) ।

उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा(B) ॥१० ॥

इत्थं लक्षणासामान्यलक्षणमुक्त्या तद्विशेषानाह—स्वसिद्धये इति । स्वं स्वोय-
मुख्यार्थस्य रिशक्तिरूपेणान्वय, तस्य 'सिद्धये' बोधाय 'परस्य' मुख्यतानवच्छेदक
धर्माद्यच्छिन्नस्य, 'आक्षेप' प्रत्यायन ययेति शेष, 'सा उपादान' नाम लक्षणा इति
यथासङ्गमन्वय । मुख्यार्थ उपादीयते भन्वयप्रतियोगितया स्वजन्यानुभवविषयीक्रियते
अनयेति करणव्युत्पत्त्या अनहत्स्वार्थस्य लक्षणेत्यर्थः । इयमेवाथान्तरसंक्रमित-

(A) परस्यान्वयप्रवृत्तिसिद्धयर्थं स्वार्थपरित्याग इति प्रदीप ।

(B) स्वसिद्धय इति । तात्पर्योपपत्तये यथा लक्षणया कृत परामेव अशक्यार्थबोध
स्वसिद्धये शक्यार्थज्ञानाय भवति, आक्षेपवैदित्यात् शक्यार्थमपि वाक्यार्थबोधविषयतामापादयति सा
लक्षणा उपादान नाम एव यथा लक्षणया परार्थे परार्थम् अशक्यार्थस्य वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धयर्थमिति
यावत्, स्वसमर्पणं भवति अमुख्यार्थस्यैव वाक्यार्थबोधविषयीभावाय कृत शक्यार्थस्य त्याग
एव भवति सा लक्षणा लक्षण नाम, इत्येवमुपादानलक्षणाभ्यां द्विधा उक्ता सा लक्षणा शुद्धैव
न तु गौण्यादिरपीति करिकाऽथ । एतेनमतं गौण्यादिषु उपादानत्वादिदृष्टो विभागो नास्तीति
'लक्षणा तेन पदविधा' इत्यत्र टिप्पण्यां लक्षणीभविष्यति । एतेन शक्यार्थस्य अभिधयेव
वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धिसम्भवे तदर्थं पराक्षेपो न युक्त इत्याशङ्क्या नावसर । एवञ्च उपादानलक्षणे
शक्यार्थस्य लक्षणलक्षणागोऽविशेषगतया अन्वयसिद्धिर्बन्ध्या, तेन 'गङ्गाया घोष' 'आयुष्टं'
मित्यादौ क्षीर-जनकाद्यथे विशेषणतया प्रवाहायु पत्न्यवर्गभनेऽपि सत्र सत्र नातिज्यासि । कुन्ता
प्रविशन्तीत्यादौ च कुन्तादिमयोगिनिरूपकत्वं कृतकुन्तिसाधात्वं लक्ष्यताचच्छेदकमिति कार्त्तिकेभ्यो
दृष्टि रस्यतामित्यादाविष कुन्तकुन्त्यादेर्विशेष्यविशेषणभावाभावन सत्रापि नाभ्यासि । न च
तथाऽपि चेतनागतस्य प्रवेशकृतृत्वस्य कुन्ते साधात्वं नान्वयसम्भव इति धार्यं सत्र तिडोऽपि
अचेतनसाधारणव्यापारं लाक्षणिकत्वाभ्युपगमात् ।

एतेन श्वेतो धावतीत्यादेरुत्पत्तौदाहरणत्वानुपपत्ति तस्यालक्ष्यत्वाभ्युपगमादिदृष्टेति व्यक्तम् ।
रूढाउपादानलक्षणोदाहरणन्तु देशपुत्रयोभयतान्प्यक 'कलिङ्ग क्षोभते' इत्यादिकमेव । लक्षणया
शक्यार्थस्य यथाकथञ्चिद् वाक्यार्थेऽन्वयमात्रेण उपादानत्वस्वाकारे 'गङ्गाया घोष', 'आयुष्टं तम्'
'कलिङ्ग साहसिक' इत्यानै सर्वसम्मतलक्षणलक्षणोदाहरणभावे शक्यार्थस्य लक्षणा
विशेषणविधया मानात् उपादानत्व प्रसज्येत । एतेन श्वेत क्षोभते इत्यादाहरणमपि प्रत्युक्तम्,

‘गौरनुबन्ध्यः’ इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते ।

(A) ‘विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे’

इति न्यायात्, इत्युपादानलक्षणा(B) तु नोदाहर्त्तव्या । न ह्यत्र प्रयोजन-

मित्यत्र करणो युद् । तनु धर्मो कुन्ते’ शक्तस्य कुन्तशब्दस्य यदि धर्मिणि कुन्तिनि लक्षणा तदा गौत्वे शक्तस्य गौशब्दस्य गौत्वनिशिर्धर्मिणि लक्षणा स्यात्, तथाच सामर्थ्यात् ‘गौरनुबन्ध्यः’ इति श्रुतियाक्रमेण उपादानलक्षणादाहरणमस्तु* इत्याशङ्क्य निषेधति—गौरनुबन्ध्य इत्यादिना नोदाहर्त्तव्या इत्यन्तेन । अत्र व्यक्तिराक्षिप्यते इत्यन्तं लक्षणाप्रसञ्जनम् । कथं मे स्यादिति, प्राणित्वेना’व्यासिताया गौत्वजातेरर्थं भावनाकार । जात्येति बाधितान्वयप्रतियोगित्वेन उपस्थितया जात्या करणभूतया शब्देनैव लक्ष्यत इत्यर्थः । इत्य लक्षणाशाङ्क्य अन्तरं तत्र शक्तिप्रसक्ति निरस्यति—न त्विति । प्रथमं गौशब्देन गौत्वमुपस्थाप्य ततस्तथैव शक्त्या गौरप्युपस्थाप्यते इत्येव शक्तिप्रसक्ति, तन्निरासे हेतुमाह—विशेष्यमिति । ‘अभिधा’ शक्ति विशेष्य’ गद्यादिधर्मिण ‘न गच्छेत् उपस्थापनाय न प्राप्नोति । तत्र हेतुमाह—ज्ञातेति । यतो ‘विशेषणे’ गौत्वादावुपस्थापित ‘क्षीणशक्ति’ क्षीण सामर्थ्यां, शब्दबुद्धिकर्मणा निरस्य व्यापारभावेन सहदुश्चरितशब्दाद’सहद्वेषा भावात् । चिन्तिते शक्तिस्तु ‘वैशिष्ट्यादेऽपि शक्त्यभ्युपगमे गौरत्वादेव न वाच्येति भावः । इत्युपादानेति ‘इति’ एव रीत्या प्रसञ्जिता ‘गौरनुबन्ध्यः’ इत्यत्र उपादान लक्षणा नोदाहर्त्तव्या इत्यर्थः । अत्र हेतु—न ह्यत्रेति न वेति । ननु गौरशब्दस्य

(A) विशेष्यमिति । नागृहीतविशेषणा बुद्धिविशेष्ये चोपजायते इति न्यायेन सम्भवत् पूर्व विशङ्कोपस्थितरावयकत्वेन नात्र विभिन्नानाविरहः शङ्कनीय इति ज्ञेयम् ।

(B) इदं विन्तनीयम्—गौरनुबन्ध्य इत्यत्र व्यक्ती लक्षणात्वीकाराऽपि मुख्यार्थस्य जातेनुबन्धनविधायकत्वान्वायामन्वयान्वायेन नैदमुपादानलक्षणादाहरणं सम्भवतीति ।

1 ‘शक्तपदस्य धर्मिणि कुन्तिनि लक्षणेनात्रम्, तन् किं हीनवाते शुक गौरनुबन्ध्य इत्यादि नोपद तदुपादाने नोत्र जातिशक्तिवात् गौत्वमत्रस्य नोपस्थ धर्मिणि गति लक्षणासम्भवात्’ ख-न ।
 2 यत् परं उपादाने ‘नामावनेत्यादि’ नोक्तिरुपादाने तया वैतिकाशब्दपर्येनामुपादाने शक्त्युपादाने कर्तव्यं तदाच व्यक्ति इति शक्ति । 3 ‘अत्रसिद्धे यत् न । 4 विरहीकरोति’ ख-न । 5 ‘शक्त्यावयवतायनादिति भावः’ ख । 6 ‘विशेष्यतासम्भवादि’ ख ।

मस्ति, न वा रुदिरियम् । व्यक्त्यधिनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्ति-
राक्षिप्यते; यथा (१)क्रियतामित्यत्र कर्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश

गवि मूर्त्तियोगरूपा रुदिरस्त्येव, तत् कथमिदमुक्तम्? अत्र चक्रवर्ती—आधुनिक-
देवदत्तादिपदे रुदिर्नास्तीत्याह । तत्र; गवादिपदे रुदिमत्त्वानिरासात् । अत्रोच्यते,
न वा रुदिरित्येत्यनुक्ता न वा रुदिरियमित्युक्तेरयमभिप्राय—लक्षणाहेतु रुदिर्न भूरि-
प्रयोगमात्रम्, किन्तु लक्ष्यार्थविनिर्मुक्तकेवलशस्यार्थे प्रयुक्तस्य शब्दस्य लक्ष्यार्थे भूरिप्रयोग
एव लक्षणाहेतु रुदि; यथा—केवले देशे शस्यार्थे प्रयुक्तस्य कलिङ्गशब्दस्य कलिङ्गत्वेन
पुरुषे, गोशब्दस्य तु केवलगोत्वेऽप्रयुक्तत्वात् न तादृशी रुदि । तर्हि कथं गो
प्रतीतिरित्यत आह—व्यक्त्यधिनेति । उपस्थितया जात्या करणभूतया गोशब्देनैव
व्यक्तिराक्षिप्यते स्वाशब्दाऽपि स्मार्यते अनुभाव्यते चेत्यर्थः । जातेः करणता च
(४)तत्स्मरणं विना व्यक्त्यात्तेषामभावात् ।

नन्वेवमुपात्तशब्दस्याशस्यार्थोऽपि (८) शब्दबोधविषय इत्युक्तम्, तत्र क
दृष्टमित्यत्राह—यथेति । क्रियतामित्यत्र प्रत्ययार्थं कर्म, कृता तु अध्याहारलभ्य
एव, एवं कुर्वित्यत्र कर्तृविहितप्रत्ययान्ते कर्म अध्याहारलभ्यम्, यथा तद्व्य-
मुपात्तशब्दाशक्यमपि शब्दबोधविषयस्तथा गवादिव्यक्तिरपीत्यर्थः । कर्मत्वादि-
सामान्यरूपेणाध्याहारं दर्शयित्वा कर्मविशेषत्वादिनाऽपि अध्याहार दर्शयति—प्रवि-

(१) इदन्तु शोध्यम् क्रियतामित्यत्र कर्ता कुर्वित्यत्र कर्मन्त्युभयत्र कर्तृकर्मगोर्वस्तुगोर्वा-
क्षेप तस्यैव 'जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते' इत्यत्र दृष्टान्तत्वसङ्गते । अयमेव भीमभक्तैर्याघ्याहार
इत्युच्यते । तद्वद्वृत्तिकारे शब्दाध्याहारपक्षमाश्रित्य दृष्टान्तमाह—प्रविशेत्यादि ।

(४) तत्स्मरणं विनेति । तथाच स्मरणात्मकव्यापारद्वारा शब्दबोधरूपरजजनकत्वेन जाती
'व्यापारवत् कारणमिति काल'लक्ष्यस्य सम्भव इति भावः । अत्र स्मृतिं प्रत्यपि जातेर्न साक्षात्-
कारणत्वम्, किन्तु परस्परयैवेति शोध्यम् । इदन्तु विभाव्यते अधिनाभावमन्वयेन जात्या
स्मारिताया अपि वृत्तेः पदवृत्त्या स्मरणाभावाद् न शब्दबोधे प्रवेश सम्भवति, शाब्दी ह्याकाङ्क्षा
शब्देनैव प्रपूर्यत इति न्यायात् । उद्गोतद्वारास्तु—आशेषोऽनुमानम्, व्यक्ति विनेत्यनेन व्याप्ति-
दर्शिता । अनुमानसङ्कल्पदेनैव व्यक्त्यबोधः, पदजन्यपदार्थोपस्थितिहेतुहेतुमन्नावे नृत्येत्यस्य
गौरवेणाप्रवेश इति भावः । प्रकृत्यर्थान्वितशब्दार्थबोधस्तच्चानुपपत्तिरपि प्रकृतिनाऽप्यविषयान्वितत्व-
विषयेति न विमलकथान्वयानुपपत्तिरिति प्राहुः ।

(८) मशक्त्यर्थोऽपीति । नृत्वा अनुपस्थापितार्थोऽपीत्यर्थः, यथावृत्ते लक्ष्यार्थस्य तादृशस्य
लक्ष्यत्वेन दृष्टान्तार्थं क्रियतामित्यादिपद्व्यन्तानुवाचनवैध्वमिति ध्येयम् ।

भेदरूपं तादृश्यम् तदादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्व-
प्रतिपत्तो हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः, गङ्गासम्बन्धमात्र-
प्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को
भेदः ।

(१४) (A) सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।

रिति । लक्ष्यस्य लक्षकस्य च भेदरूपमित्यत्र तयोर्भेदाऽभेदातिरिक्त सम्बन्ध
सयोगादि, तस्य मात्रगर्भता बोध्या, तथाच तन्मात्रेण रूपं स्वस्य निर्वाह्य
यस्य तादृश्यम् । 'तादृश्य' लक्षणात्वम्, उदासीनार्थप्रत्यायकत्वेन लक्षणा तदस्यो-
च्यते तदभावास्तादृश्यम् । तथाच अन्याल्लक्षणाप्रमेदयाल्लक्षणात्व लक्ष्यस्य कुन्ति-
तोपदे लक्षकस्य च कुन्तगङ्गादे अभेदातिरिक्तसम्बन्धमात्रेण न निराहामित्यर्थः,
किन्तु प्रयोजनेनापि । तस्मिन्नाहक प्रयोजनमेवाह—तदादीनामिति । 'प्रतिपादने'
प्रतिपादनदशायाम्, 'तत्त्वप्रतिपत्तौ' सामान्यतः प्रयोजनतत्त्वप्रतिपत्तौ सत्याम् ।
'प्रतिपिपादयिषितस्य' लक्षणाया लक्ष्याश्रावणनेन प्रतिपादयितुमिष्टस्य तदादा
पावनत्वादे कुन्ताद्यत्रिरलन्वादेश्च प्रयोजनस्य, 'सम्प्रत्यय' इत्यर्थः । प्रयोजनीभूतज्ञान
विषयत्वात् पावनत्वादेरपि प्रयोजनत्वेनास्ति । एतमुत्तरोत्तरमपि बाध्यम् । भेद
पदस्याभेदातिरिक्तसम्बन्धमात्रपरतां मात्रगर्भताश्च 'व्यक्तीबुद्ध्याह—गङ्गा-
सम्बन्धमात्रेति, गङ्गादिसम्बन्धेत्यर्थः, तेन कुन्तादेरपि सम्बन्धपरिग्रहः । 'का
भेद' को विशेषः ।

एतल्लक्षणाद्वयभिन्नां चतुर्विधां लक्षणांमाह—सारोपाऽन्येति । यदि शक्य-
धावका लक्ष्यभावकश्च शब्दः समानविभक्तिकतया निर्दिश्यते, तत्र समानविभक्ति-
दर्शनान् प्रथम लक्ष्यार्थं शक्यायाभेदारोपो भवति, यथा गौर्गौहीक आयुर्घृतमिति ।
अत्र हि हलशाहकारमनि गौहीके गा घृते चायुष प्रथमभेदारोपो भवति पश्चादेव
बाधाद् वासहशे आयुर्जनके च लक्षणा, तादृशे प्राथमिकारापे च शक्यार्थं धारोप्य-
माणा विषयी लक्ष्यार्थान्धारापाधिकरण विषय, तादृश विषयी विषयश्च यत्र

(A) "अन्या अर्थादु गौणी आरोपाध्यवयानान्या भिद्यते न त्प्राप्तलक्षणाभ्यामिति तु-
शब्दार्थः" इति प्रदीपः ।

आरोप्यमाण आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा ।

(१५) विषयन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥११॥

लक्षणायाम् उक्तौ सामानाधिकरण्यविभक्त्या निर्दिष्टौ, सा लक्षणा सारोपा प्रायमिकाभेदारोपवतीत्यर्थः । एवमेव व्याचष्टे—आरोप्यमाण इति । अनपह्नुत-भेदौ इति । रूपक एव भेदापह्वय, अत्र तु गोसदृशायुर्जनरुल्लक्षणावशादेव भेद-भानात् न तदपह्वय इत्यर्थः । 'न च रूपकेऽपि सारोपा लक्षणैवेति वाच्यम्, तत्राहार्यस्य मुखे चन्द्राभेदबोधस्यानुवर्त्तमानत्वात् । न चैव गौर्वाहीक इत्यादिरुमपि रूपकमेवेति वाच्यम्, अत्र गोसदृशबोधस्यानुवर्त्तित्वात् । न चानयोर्विनिगमनाविरेहेण वैप-रीत्यमेव किं न स्यादिति वाच्यम्, आरोप्यमाणस्य प्राडनिर्देशे सारोपा, यथा गौर्वाहीक इत्यादौ ; आरोपविषयस्य प्राडनिर्देशे तु रूपकम् (A), यथा मुख चन्द्र इत्यादौ, अत्र हि सादृश्यबोधानन्तरम् अभेदारोप, गौर्वाहीक इत्यादौ तु अभेदारोपादनन्तरं शब्दादेव लक्षणया सादृश्यबोध, तस्य इयमेव विनिगमना । अत एव रूपसादायुक्तम्—

अनुवाचमनुक्तवैव न विवेयमुदीरयेत् । इति

एवञ्च चन्द्रो मुखमिति प्रयोगे सारोपा लक्षणा, बाहीकां गौरिति प्रयोगे च रूपक-मिति बोध्यम् । सामानाधिकरण्येनेति, सामानाधिकरण्यविभक्तिकृतयेत्यर्थः (B) ।

यदि च बाहीकादर्लक्ष्यस्य सामान्यसर्चनानामपदेनैव निर्दिष्टो न बाहीकत्वादि-तद्विशेषवाचकपदेन तदा भेदकधर्मबाहीकत्वादेऽनुपस्थित्या आरोपे उत्कटत्वरूपा-द्व्यवसानात् सैव साध्यवसानोऽयुच्यते इत्याह—विषयन्तरिति । व्याचष्टे—

(A) इदमत्र विन्तनीयम्, रूपकमारोपाख्यलक्षणवीरनया रीत्या दिवित्तविषयज्ञान्युपगमे "सौन्दर्यस्य साङ्गिणी तरुणिमोत्कचस्य हर्षोद्गम" इत्यादावारोप्यमाणस्य प्राडनिर्देशेऽपि रूपकालङ्कारस्यावश्यमङ्गीकरणीयतया ग्रन्थविरोधो तुब्बां एवेति ।

(B) समानविभक्तितपेति तु क्लृप्तार्थः ।

विषयिणाऽऽरोप्यमाणेनान्त, कृते निगीणं अन्यस्मिन्नारोपविषये सति सा साध्यवसाना स्यात् ।

(१६) भेदाधिमात्रौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा ।

गौणौ शुद्धौ च रिज्ञेयौ—

इमाचारोपाध्यवसानरूपा सादृश्यहेतु भेदो गर्वाहीक^{१)} इत्यत्र

विषयिणाति, गौण्यम् वायुरिदमिष्यत्र गत्र वायुना च आरोपविषये बाह्यके घृत च निगीण सतात्तथ । निगाणता च रिगिण्य(४) वाचकशब्दानुपादानम् । न च तत्र विषयिण कथं तुनायथा करणत्व्य दर्शिनमिति वाच्यम्, विषयितादात्म्यनैरापातता विषयस्य प्रतीया रिगिण्य विषयाभावन विषयिष्यत्र तन्कारणत्वारापात् ।

भेदाधिमायिति । सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा शुद्धाप्रिति यवासङ्घमन्यय । भेदाधिमायित्युक्त्या समानाधिकरणप्रिमितिनिर्देशाभावात् सादृश्य हेतुकापीय न गौणाति दर्शितम्, तथा विषेयक्यरूपैरुपमरत्वरूपात् सादृश्यावपि न कम्मणि कुञ्ठ इत्यत्र गौणीति(८) वाच्यम् ।

सादृश्यहेतु भेदाधित्यस्य कारिकास्थे गौणाधित्यत्वान्वय । आरोपाध्यवसान-

(A) वाहीका नाम दगविषय पद्माव इति प्रसिद्ध, सत्रत्य गुणो वाहीक इति वेचित् । अत्र तु बहिर्भवो वाहीक इति व्युत्पत्त्या शास्त्रीयाचाराद्विभूत इत्यथ । बहिर्पष्ठिलोरो यज्ञ ' ईकश्च इति चार्तिकद्वयन बहि शब्दस्य टिगप इच्छन्त्यये च कृत व्यवहारभणत् वाहीक इति ह्यमित्याहु इति बाष्पाधिनी । शास्त्रीयाचाराद्विभूतचञ्च तिष्ठन्मुद्रत्वादिना इत्यथय दृश्यम् । वाहीको दगभेत् अष्टक इति तत्पण्याय इति ह्यमच द्र । वस्तुमन्तु वाहीक चार्तिक-जातीय जाठ इति प्रसिद्ध । तथाच महाभारत पञ्चाना मित्युपष्टाना नगीना यऽन्तराश्रिता । तान् धम्मशास्त्रानुवीन् वाहीकान् परिवर्जयेत् ॥ शाकल नाम मगरमाणा नाम निम्नगा । चार्तिका नाम वाहीकान्तगा कृत् छविन्दितम् ॥ (इति कर्णवच २०० अ० इति शब्दकल्पदुने) ।

(B) विगिण्यति । आयुरिदम् इत्यरदौ सञ्चनान्न इत्युपदस्य घृतवाचकत्वमपि न रिगिण्य तद्वाचकत्वं वस्तुद्विविषयतावच्छेदकत्वाग्नि अनुगमनाभावत्पथ एव तथात्वम्वीकारान् । एतन्मत साध्यवसानान्म्यक सञ्चनैव विषयागा सर्वनाश्र निर्देग भावम्यक इति तुक्तमेव । एवञ्च सादृश्यदर्पणतोऽन्य मतवैलक्षण्यमन्तीत्युक्तनीयम् ।

(C) वस्तुन सादृश्यत्वेन सादृश्याप्रतीतिरवात्र गौणीत्वाभावे बीजम् तत्र कम्मणि कुञ्ठो

गौरय^(A)मित्यत्र च । अत्र हि स्वार्थसहचारिणो जाड्यमान्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्ततामुपयान्ति इति केचित्^(B) । स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते,

रूपादित्यत्र आरोपाध्यमानाभ्या रूप ययोरिति विग्रह । इत्थं गवादिशब्दस्य गवादि-सदृशे लक्षणेति प्रतिपादिते जाड्यमान्यादिरूपे गवादिसादृश्य एव लक्षणा, ततस्तेनैव जाड्यमान्यादिना प्रकारेण शक्तैव गोसदृशनाहीकप्रतीतिरिति केपाञ्चिन्मतमाह--अत्र हीति, अर्थवैत्यर्थ । जातिशक्तिवादे स्वार्थो गान्धम्, 'परार्थस्य' बाहीकस्य 'अभिधाने' अभिधया शस्त्या प्रतिपादने ; 'प्रवृत्तिनिमित्तता' शस्त्यावच्छेदकताम् । तथाच—गोशब्देन प्रथमं जाड्यमान्यादिरूप गोसादृश्यं लक्षणया प्रत्याख्यते, तेनैव जाड्यमान्यादिना शक्यतावच्छेदकेन जडमन्दो बाहीक शक्यता प्रत्याख्यते इत्यर्थः^१ । न च शक्तिप्राहकक्रोपाद्यभावात् कथं तत्र शक्तिग्रह इति वाच्यम्, धर्मं लक्षणाग्रहस्यैव धर्मिर्भणि शक्तिप्राहकत्वस्य तत्सिद्धान्तत्वात् । अत्र मते धर्मिण आक्षेपादेव लाभसम्भवे तत्र शक्तिकल्पनमन्याय्यम्, बाहीकवृत्तिजाड्यमान्यव्यक्तिविशेषे स्वार्थगोत्वसहचाराभावश्चेति दूषणद्वयमभिप्रेत्य तन् परिहरतां मतमाह—स्वार्थेति । 'गुणाभेदेन' गुणसाजात्येन । तेन लक्षणीयेषु बाहीकवृत्तिगुणेषु स्वार्थगोत्वसहचारिगुणसाजात्यमेव शक्यसम्बन्ध इत्युक्तम्, धर्मिणस्त्याक्षेपे इति भावः^२ । एतन्मते जाड्यमान्यादिरूपे सादृश्ये यदि सादृश्यत्वेन रूपेण लक्षणा, तदा विशिष्टलक्षणावादप्रवेश एव । यदि तु शुद्धसादृश्य एव लक्षणा, तदा गोसादृश्यवानिति विशिष्टवैशिष्ट्यप्रतीति-

व्यमित्यादौ समावधानिकपदपत्त्वेऽपि न तत्प्रसङ्गस्तत्र विवेकत्वधर्ममात्रस्य सादृश्यत्वाभावा-दिति ध्येयम् ।

(A) "यद्यपि बाहीकस्य बाहीकत्वेनेदन्तया बोधस्थितौ सारोपात्वमेवोक्तिम्, तथापि इदन्त्वस्यारोप्यविशेषणतया तदुदाहरण द्रष्टव्य"मिति प्रदीप ।

(B) केचित्तित्यस्यैव, तद्गीमन्तु गोवृत्तिजाड्यमान्यव्यक्तिशक्यतया शक्यत्वे सति शक्य-वृत्तित्वे सति स्वभिन्नशक्त्यान्धिकराशक्यरूपस्य प्रवृत्तिनिमित्तलक्षणास्य तत्रासम्भव इति प्रदीपे स्पष्टम् ।

१ 'गोसादृश्योपाद्यारोप्येव गोसदृशो गोशब्देन प्रतिपादने इत्यर्थः' क ।

२ 'बाहीकविशेषणान्तरात् स्वार्थसहचाराभावेऽपि शक्यसम्बन्ध उपपादित । तथा एतौपा-काराद् धर्मिणः सत्त्वावच्छेदः । तत्र शक्तिमपि अवच्छिन्नमिति—न त्विति । एवञ्च धर्मिण आक्षेपादेन प्रतीतिविहीनं तत्र लक्षणा न वा शक्तिविताकम्' ख-न ।

न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये । साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे । उक्तं चान्यत्र—

अभिधेयाविनामृतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।

लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गोणता ^{A)} ॥ इति

गोशब्दाद्य स्यादिति दूषणमभिप्रेत्य स्वपक्षपातिना मतमाह—साधारणेति । चक्रवर्ती तु—गोसादृश्यस्य गापदार्थत्वे गोसादृश्य बाह्यीक इत्येव बाधपक्षि समानाधिकरण विभक्तिकार्यमेदान्वयबाधनियमादिति दूषणमाह, तत्र, गौ शुद्ध इत्यत्रैव जातिशक्तिं वादरीत्या आक्षिप्तपक्षयोरेवान्मेदान्वयबाधस्य तै स्वीकाणत् । 'साधारणेति' साक्षात्त्वेन साध्य रणता । 'परार्थ' बाह्यीकादिरूप, सद्भा एवेत्यर्थः । न परे अपरे स्वपक्षपातिन इत्यर्थः । इत्य सादृश्यसम्बन्धाद् गौणी, सम्बन्धान्तरतस्त्व शुद्धेत्युक्त्वा सम्बन्धादेव लक्षणा, तस्य सम्बन्धस्य सादृश्यरूपत्वे सा लक्षणा गौणीत्युभयत्र संवादात्माह—उक्तञ्चेति । अभिधेयस्य शक्यस्य योऽविनामृत सम्बन्धस्तस्य प्रतीतिर्यथा वृत्त सा वृत्तिलक्षणाच्यते इत्यर्थः । सम्बन्धेव लक्षणेत्यत्र अथ संवाद ।

(A) अभिधेयेति—

अभिधेयाविनामृते प्रवृत्तिलक्षणेच्यते । लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गोणता ॥

इति मुद्रिततन्त्रवार्तिकपाठ (अ १० पा २० सू० १२)

अत्र न्यायज्ञा—“अभिधेयसम्बन्धित्वरूपापरित्यागाप्रदानार्थोऽभिधेयाविनामृतशब्द गौण्यान्तु वृत्तावभिधेयसिद्धादिमन्वन्धित्वरूपानादरेण तद्विशिष्टप्रसङ्गाकारित्वादिगुणयोगमात्रादसुवनाया अभिधेयस्य गुणलक्षणाया व्यापारेऽन्युपादानम् । ननु लक्षणायामविनाभावपक्षे यथादे पुरयाविना भावाभावाद् न यच्छादिशब्दे लक्षणा स्यादित्यादाह्याह—तत्रति । अयमाशय—नात्र लक्षणा हेतुत्वेनाविनाभावोपादानम् तस्या सम्बन्धमात्रेण सात्त्विकवस्तुपक्षे । न चात्र लक्षकस्याभिधेयस्य लक्ष्येणामिभयोऽग्निदेव धूमस्योक्त विपरीताभिधानात् किन्त्वभिधेयसम्बन्धित्वरूपादर प्रदानार्थं यच्छादिसादानाम्, अपि च अभिधेयपक्ष्यादिसम्बन्धित्वानादरेण पुल्यस्वरूप प्रवृत्त्य भावेन अभिधेयाविनामृतप्रवृत्तित्वाभावाद् सम्बन्धमात्रस्य च लक्षणाहेतोर्भावाद् युक्तैव लक्षणाया प्रवृत्तिरिति” ।

एतत्पक्षपूर्ववर्चित्तया प्रदीपे चतम् “मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिधे” इति, तथैव बाल-
बोधिनीशतम् 'मानान्तरविषदे तु मुख्यार्थस्य परिधे' इति वा एवाहं नाप्रोक्तम्यते इति ।

लक्ष्यमाणेति । अत्र प्रदीप—“लक्ष्यमाणा ये गुणा जात्यादयस्त्रैरेव यदि योग शक्यसम्बन्ध-

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम्, न तु नान्तरीयकत्वम् । तस्ये हि मन्वाः क्रोशन्तीत्यादौ न लक्षणा स्यात् । अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणायानोपयोग इत्युक्तम् ।

आयुर्घृतम् आयुरवेदमित्यादौ च सादृश्यादन्यत् कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम् । एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्व आरोपाध्यवसाने । अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाऽभेदावगमश्च प्रयोजनम् । शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्याना-

तस्य सम्बन्धस्य सादृश्यरूपत्वे सा वृत्तिर्गौणीत्यत्र समादमाह—लक्ष्यमाणोति । गुणा शक्यगुणा, लक्ष्यमाणश्च ते चेति द्वन्द्वः, तं परस्पर योगादित्यर्थः । तथाच शक्यवृत्तिधर्मरूपात् सादृश्यादित्युक्तम् । केचित्तु—गुणैः शक्यगुणैः लक्ष्यमाणस्य योगादिति समासगान्यार्थं व्याचक्षते, तत्र ; लक्ष्यमाणस्य गुणैः सह समासः, अन्वयस्तु योगादित्यत्र इत्ययुत्पत्तेः, युक्तार्थत्वाभावे समासाभावात् ।

अविनाभूतेत्यत्र 'अविनाभावश्च व्याचष्टे—अविनाभावोऽत्रेति । 'नान्तरीयकत्व' व्याप्तिः, सा च यत्र धर्मस्तत्र तादात्म्येन धर्मोत्पत्तेरुपाययोगोत्पत्तिरिति । मञ्जा इति, मञ्जमञ्जस्ययोरेविनाभागभावात् । इत्युक्तमिति गौरनुबन्ध इत्यादावुक्तमित्यर्थः ।

सम्बन्धान्तरतस्तथेत्यस्य विषय दर्शयति—आयुर्घृतमिति । आयुरवेत्यत्र एवकारः समासापात एव, प्रकृते त्वनुपपुक्तः । क्वचित् पुस्तके तु तच्छून्य एव पाठः । अत्रायुर्जनके लक्षणा, सम्बन्धोऽप्यत्र जनकत्वमेव । अनयोरोपाध्यवसानपूर्वकत्वमाह—एवमादाविति । कार्यकारणभावस्य लक्षणा 'ज्ञानं ततः पूर्वमारोपाध्यवसाने इत्यर्थः । ते च समानाधिकरणविभक्तिकत्वदर्शनादिति बोध्यम् । गौर्वाहीक इत्यत्र गौरयमित्यत्र च लक्षणाद्वयस्य प्रयोजनं दर्शयति—अत्रेति । वाहीकादौ गवादेर्भेदे प्रतीतेऽपि एकत्र गोस्ताद्रूप्यप्रतीतिराहार्या, अन्यत्र तु तादृशी

स्वदा गौणी वृत्तिरिति" इति । व्याख्यातत्रोदयोत्कर्तृ "लक्ष्यमाणगुणैरिति लक्ष्यतावच्छेदकगुणैरित्यर्थः, गुणलक्ष्यतावच्छेदकिका लक्षणा गौणीति भावः" इति ।

व्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि । क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः, यथा इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः । क्वचित् स्वस्वामिभावात्, यथा राजकीयः पुरुषो राजा । क्वचिदवयवावयविभावात्, यथा अग्रहस्त इत्यत्राग्र-मात्रेऽवयवे हस्तः । क्वचित् तात्कर्म्यात्, यथा अतक्षा तक्षा ।

(१७) लक्षणा तेन पङ्क्तिः^(*) ॥ १२ ॥

प्रतीतिरेव 'सर्वथात्वग्रन्था उत्कटेत्यर्थः' । गौणभेदयोः प्रयोजनमित्यन्वयः । वायुर्घृ तम् वायुरिदमित्यन्वयो प्रयोजनमाह—शुद्धभेदयोस्त्विति । काव्यकारित्व लक्षणामभ्येते, तत्र अन्यथैलक्षण्यमव्यभिचारित्वञ्च 'व्यासद्वय प्रयोजनद्वय मित्यर्थः' । सम्बन्धान्तर पल्लयति—क्वचिदिति । उपचार इति । 'उपचार पूर्विका लक्षणा'^१ । 'स्थूणा स्तम्भ । इन्द्र स्थूणा इन्द्राव्यमित्यादिरीत्या दृश्यमाण सर्वत्रैव सारोपासाध्यवसाने वाच्ये । इन्द्रत्वन् पूर्वत्व तद्वदवश्य पूर्वमानत्वञ्च द्वयो प्रयोजनम् । राजेत्यत्रापि राजत्त्वं सेव्यमानत्वम् अत्रत्य सेव्यमानत्वञ्च द्वया प्रयोजनम् । अग्रहस्त इत्यत्र समासनिर्देशो लाक्षणिकत्वप्रदर्शनमात्रपरः । स्वतु हस्तोऽत्र हस्त इदमित्येव । 'अत्रयथाऽयत्सिम्बन्धेन निर्देशो रूपकासम्भवादत्र हस्तस्यैव विधेयस्य पश्चात्निर्देशोऽपि न रूपकमतोऽत्र लक्षणैव'^२ । हस्तत्त्वं कार्यकारित्व 'सव्यथा हस्त' 'कार्यकारित्वञ्च द्वयो प्रयोजनम् । 'तात्कर्म्य' तत्कर्मकारित्वम्, 'अतक्षा' प्राहणादि । तत्रत्वन् 'काव्यकारित्व'^३ तदतिरायश्च द्वया प्रयोजनम् ।

(*) इदं पुनरिहावधेयम्—मूलोक्त लक्षणाया पादविषय तावद उपान्तलक्षणा (१) लक्षणलक्षणा (२) शुद्धा सारोपा (३) शुद्धा साध्यवसाना (४) गौणी सारोपा (५) गौणी साध्यवसाना (६) इत्यत्र विभागान्मुपगमे उपपद्यते । इत्यञ्च—'रुद्रिप्रयोजनान्या भेदे सम्भवत्यपि न ते विभाजकत्वेनाप्ये, किन्तु हेतुत्वेन इति नत्कर्मो भेदे त गणित । अत एव च पञ्चाद व्यङ्ग्येन रहिता' इत्यादिना तत्कर्म भेद द्वाविष्यति । (यत्र) 'पञ्चविधेति रुद्रिप्रयोजनोपादानलक्षणा रोपाध्यवसानरूपै वन्मित्वापिभि कल्पिता विधा प्रकारा यस्यामिति पङ्क्तिः इति चण्डीनाम व्याख्यानम् सन् 'शुद्धैव सा विधा । सारोपाध्या तु' इति एव-तु'शब्दश्रीरनालोचन

१ 'सव्यथा दृष्ट्या' क । २ 'व्यासद्वय' ख । ३ 'उपचार सारोपासाध्यवसानाद्यन्वयं तत् पूर्व सम्भवनमितिक्रमोपपत्तौ' ख ग । ४ 'अत एव सारोपासाध्यवसाने वाच्ये पुनरुपनिपातनिवृत्तौ' ख ग । ५ 'रुद्रिप्रयोजनान्या भेदे सम्भवत्यपि न ते विभाजकत्वेनाप्ये' ख ग । ६ 'वर्णकोटय' ख ।

आद्यभेदाभ्यां सह । सा च—

(१८) व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।

प्रयोजनं हि व्यञ्जनत्रयापारगम्यमेव ।

आद्यभेदाभ्यामिति उपादान-लक्षणलक्षणभ्यामित्यर्थः ।

विवृम्भितत्वादानेयम्” इति प्रदीपकारोक्तेरप्यनाकुलमवसीयते । तथाच इदमत्राद्यते—
 लक्षणायास्तावद् विभाजकौ उपादानत्वलक्षणत्वधर्माँ, तयोर्विभाजकौ सारोपात्वमाध्यवसानात्व-
 धर्माँ, तयोरेपि विभाजकौ शुद्धात्वगौणीत्वधर्माँविति विभाजकतद्विभाजकसाधारणसङ्ख्या-
 परिघेण लक्षणाया षड्विधत्वकथन कथं युज्यते, न हि कदाचिदन्तरेतदवान्तरधर्माणां सङ्ख्या-
 भुपादाय व्यापकधर्माणां विभागे दृष्टव, न खलु केनापि शुद्धादिभेदेन रूपानां मधुरादिभेदेन
 रसानां वा पाद्विध्यसुपादाय गुणानाम्, साधारणत्वादिभेदेन वा सञ्चमिचारस्य त्रैविध्यमादाय
 हेत्वानासानाञ्च सख्याविक्रियमन्युपगम्यते । तदभ्युपगमे भेदाभ्यामितिदित्यस्य प्राचां विभाग-
 लक्षणान्यानुपपत्ति, सर्वत्र कृतानां विभागानां संख्याविक्रियापातेन व्याघातश्चेति । समाधानञ्चात्र—
 विभागस्य विभागकर्तृपुरस्वद्वयस्यैविध्यसहकृततद्विच्छाद्याधीनताभ्युपगमेन विभाग-
 लक्षणान्यादतोऽन्यथाकारेण च कथञ्चिद् करणीयम् । तथाच टीकाकृता मधुसूदनेण सारोपायां
 विषयस्य स्वताप्रेनोहेन साध्यवसानायाञ्च सर्वनाम्नेषि षडता तदुभयज्वतिरिक्तोपादाय-
 लक्षणात्वं ‘कुन्ता प्रविशन्ति’ ‘कावेभ्यो ण्ये रश्यता’मित्यादौ, तथा तदुभयज्वतिरिक्तोपादाय-
 गङ्गायां घोष इत्यादौ समानविभक्तिरूपद्वयमभिव्याहारस्यै अङ्गीकृतमिति तन्मते तयोरेव
 नामान्तरविशेषेण उपादानत्वं लक्षणत्वन्वेत्यनाकुलमवसीयते । एवं कारिकोक्तप्रमातुरोपेन
 उपादानलक्षणमाध्यक एव प्रथमं सारोपासाध्यवसानोदाहरणयो प्रदर्शनस्योचितत्वेऽपि तत्परी-
 हारेण लक्षणलक्षणाभ्यामेव ‘आयुर्धृतम्’ ‘आयुरिदम्’ इत्युदाहरणात्, तत्रापि परे साध्यवसानाया
 उदाहरणत्वेन स्वीकृतस्य ‘कुन्ता प्रविशन्ति’ ‘गङ्गायां घोष’ इत्युभयस्य स्वयमपि प्राप्तस्य
 परीहाराच्च सारोपादायुपादानाद्विद्वत्विभागविशेषो नास्तीति मूलकृतामप्यस्ति तत्रैव स्वरस इत्यव-
 गम्यते । पुत्रमेव च ‘एतल्लक्षणाद्वयमिषां चतुर्विधां लक्षणामाह’ इति टीकाकृतुनि सङ्गच्छते ।
 इत्युपादानलक्षणसारोपायाध्यवसानाभेदाल्लक्षणायाश्चतुर्विधत्वे नास्त्यनुपपत्ति । गौणी तु
 यधमि क्वचित् सारोपात्मिका क्वचिच्च साध्यवसानात्मिका तथाऽपि कैश्चिद्वृत्त्यन्तरेनैवा-
 न्युपगतेति तत्राप्यस्ति कश्चिद् विशेष इति तस्या अपि सारोपादिज्यापकत्वतया निर्देश
 प्राधान्यसूचनायेति लक्षणाया षड्विधत्वमन्युपपन्नमिति सर्व्वं चतुरसम् ।

सारोपादीनानुपादानत्वादिद्वत्विभागारे तु अष्टौ भेदा लक्षणाया भवन्ति । तानां नामा-
 न्युदाहरणानि च—

(१६) तच्च गूढमगूढं वा—

तच्चेति व्यङ्ग्यम् । गूढं यथा—

मुखं विकसितस्मितं वरिणवक्रिम प्रेक्षितं

समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।

उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसत्रन्धोद्दुरं

वतेन्दुवदनाननौ तरुणिमोद्गमो मोदते १ ॥ ९ ॥

गूढं सहृदयैकसवेद्यम् । अगूढं चाप्ययत् सर्वजनसवेद्यम् । गूढत्वे ध्वनिः, अगूढत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यम् । मुखमित्यादि । वत हरे । इन्दुवदनापास्तनौ षण्णुपि तरुणिमाद्रम उदृत तरुण्यं मोदते उत्कर्षभाग भवति, यतो मुख विस्तृतहास्यम्, प्रेक्षणम् आयत्तीकृतवक्रभावम्, गतिरुद्बुद्धविभ्रमा, मतिरपास्तास्थिरता नानाविलास-विषयीकरणात्, वत स्थल मुकुलाकारस्तनम्, अस्तबन्ध अङ्गविभाग, जघन तेनोद्दुर-पीनम् अङ्गविभागेन मध्यक्षीण्यात् जघनस्थौल्याच्च । अत्र विकासस्य पुण्यधर्मत्वेन स्मिते तद्वाधाद् विस्तारे लक्षणलक्षणा, असद्बोवत्व विकासविस्तारयो शक्यलक्ष्ययो सम्बन्ध, पुण्यधर्मनोहरत्व सहृदयैकसवेद्य व्यङ्ग्यम् । त्रिकाशस्य पुण्यधर्मत्वेन

१ । उपादानलक्षणा सारोपा शुद्धा	छत्रिण पुरुषा गच्छन्ति ।
२ । उपादानलक्षणा सारोपा गौणी	सैलानि सारंपापीनि हेमन्ते छलानि ।
३ । उपादानलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा	काकेभ्यो दधि रक्षयाम् ।
४ । उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी	सैलानि हेमन्ते सुखानि ।
५ । लक्षणलक्षणा सारोपा शुद्धा	भालुर्धृतम् ।
६ । लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी	पृथिव्यामिन्द्रो राम ।
७ । लक्षणलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा	गङ्गायां घोष ।
८ । लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी	राजा गच्छति ।

(महैश्वर्यसम्पन्नप्रतिष्ठि तात्पर्यम्) ।

(१) मुखमिति । 'इन्दुवदनापास्तनौ शरीरे तरुणिष्ठ उद्गम भाविभावो मोदते स्वकार्यजनने-ऽनियन्त्रितोऽस्तीत्यर्थ । प्रकृत्यैवेवमिन्दुवदना सत्राप्येवविष यौवनविजृम्भणमिति कष्टमापतितं विदग्धजनन्येत्येव सेदो वतेत्यनेन प्रतिपाद्यते, अहो रमणीयतातिशय इति विस्मयो वा, भाग्येन परमोत्सवस्थानमुपगतम्बुध पुत्रजननयनानामिति हर्षो वा, 'वतामन्त्रणसन्तोषस्तेदानुकोशविस्मये' इति नानार्थकोषाच्च । कपमित्यपेक्षायाम्नाद—मुखमिति, यतो मुखं विकसितं प्रकृतं स्मितं

अग्रहं यथा—

श्रीपरिचयाद्वा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।

अविदग्धैरज्ञानत् तेषां पुण्यस्यैवानुपस्थिते, साहस्यहेतुकाऽपीय न गौणी तुल्यदिग्भवया ह्ययोनिर्देशाभावात् । दर्पणे तु साहस्यहेतुकमात्रलक्षणैव गौणी, तद्य न प्रत्यकृतसम्मत-मिति प्रागेव दर्शितम् । तथा मोदस्य प्राणिभ्रमन्त्यान् तारुण्ये तदाद्यादुत्कृष्टे लक्षण-लक्षणा, स्वाश्रयोत्कर्षकत्वं मोदोत्कृष्टयोः प्रकथयत्ययो सम्बन्धः, उत्कृष्टतारुण्या-श्रयत्वेनेन्दुवदनायाः प्रकृष्टत्वं सहृदयैकवेद्य व्यङ्ग्यम्, तारुण्ये मोदवाधस्यैवाविदग्धै-रज्ञानात् ।

श्रीपरिचयादिति । जडा अपि जनाः श्रीपरिचयाद् विदग्धचरितानामभिज्ञा

'द्वैतद्विज्ञासिनयन स्मितं स्थानं स्पन्दिताधरम्' इत्युत्कृष्टगडास्यविशेषस्य यत्र तथाभूतम्, एवं प्रेक्षितं प्रेक्षणम्, भावे क, वशितो वशीकृतं स्वायत्तीकृतं स्वमम्यद् इति यावत् वक्रिमा वक्रत्वं येन तथाभूतम् । तथा गतिर्गमनं समुच्छलिता धारास्फेगं प्रादुर्भूता विभ्रमा विहासा दग्ध्यां सा तथाभूता । मतिर्द्वि अघाम्ना त्यक्ता संस्था परिमितविषयान्यत्वं यया, अनेकविषय-सञ्चारिणीति यावत् । उरो वक्षःस्थः मुकुलितौ मुकुलाकाराङ्गुलिशौ वा स्तनौ यत्र तथाविधम् । एवं जवनम् असत्यं बन्धो विभक्त्यात्मन्यादनं तेनोद्गुणमुत्कृष्टं पीनमिति यावत् । असम्यन्वन्धी दग्धं सुरतविशेषस्त्वत्र समर्थमिति वा (उत्कृष्टं वा) । हयात् अयाधारणमिन्मिताद्युन्मेषं स्फुटमेष यौवनमोदमवगमयतीति भावः । अत्र च विक्रामस्य पुण्यधर्मस्य निमित्ते, वशीकरणस्य चेतनधर्मस्य वक्रिमणि, समुच्छलनस्य मूर्तधर्मस्य विभ्रमे, सध्याया मध्यांशायाम्यागम्य चेतन-धर्मस्य मती, मोदस्य ह्यस्य चाचेतने यौवनोद्गमे बाधितत्वात् विक्रमितादिर्बद्धै स्ववाच्यमम्यन्वा-श्रवणेन उपदर्शितायां लक्ष्यन्ते । तत्र विकासस्य पुण्यप्रसूतत्वस्य प्रसूतत्वमात्रेण सामान्यविशेष-भावः सम्बन्धः, मनोहासित्वं व्यङ्ग्यम् । एव वशितत्वस्य सम्बन्धत्वेन सामानाधिकरण्यं सम्बन्धः, पूर्वमौघ्यान् सर्वत्र वक्रता प्रेक्षितम्यामीव इदानीं त्वमिमत्र एवंति युक्तानुरागित्वं व्यङ्ग्यम् । समुच्छलनस्य प्रादुर्भूतत्वेन सामानाधिकरण्यं सम्बन्धः, सकृद्वशीकारित्वं व्यङ्ग्यम् । तथा मध्यांशत्वात्स्यापि अपरिमितविषयत्वेनैकाधिकरण्यं सम्बन्धः, अनुगम्यतितायो व्यङ्ग्यं, तस्य तादृशमतिप्रयोजकत्वात् । मुकुलितत्वस्य पुण्यमस्थानस्य तादृशमस्थानमात्रेण सामान्यविशेषभावः सम्बन्धः, उद्विग्नत्वेन तु सामानाधिकरण्यम्, आलिङ्गनयोत्पन्नं व्यङ्ग्यम् । एवमुत्पन्नत्वस्योद्गुस्त्वस्य अनुकृष्टत्वेन वाप्यंकारणभावः सम्बन्धः उत्कर्षस्योन्मुत्पन्नत्वेरुत्पन्नत्वं, रमणीयत्वं व्यङ्ग्यम् । एव मोदस्यानियन्त्रितत्वेन समं हेतुहेतुमद्भावः सम्बन्धः मोदस्या-नियन्त्रितत्वे हेतुत्वात्, स्पृष्टणीयत्वञ्च व्यङ्ग्यम् । एतानि च काव्यभावनापरिष्कृते सहृदयस्यैव प्रकाशन्ते" इत्युदाहरणवन्निष्कासकेषु ।

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद् एव ललितानि(A) ॥१०॥

अत्रोपदिशतीति ।

(२०) तदेषा कथिता त्रिधा ॥ १३ ॥

अव्यङ्ग्या गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च ।

(२१) तद्भूर्लाक्षणिकः—

शब्द इति सम्यध्यते । तद्भूस्तदाश्रयः ।

(२२) (B) तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

भवन्ति । तत्र दृष्टान्तालङ्कारमाह—उपदिशतीति, यौवनमद् एव कामिनीनां ललितानि हेलालीलादीनि उपदिशति ज्ञापयतीत्यर्थः । यथा यौवनमदात् कामिनीनां हेला-लीलादिज्ञानं तथा जडानामपि धीपरिचयात् विदग्धचरितज्ञानमित्येषमाकारको दृष्टान्तालङ्कारः । अत्र परप्रवर्तकवागात्मन उपदेशस्य चेतनगुरुधर्मत्वेन(C) अचेतने यौवनमदे तद्वाधाज्ज्ञापने लक्षणलक्षणा, प्रवर्तकत्वमुपदेशज्ञापनयोः शक्यत्वस्ययोः सम्बन्धः, ललितज्ञाने कामिनीनामनायासः सर्वजनवेद्यो व्यङ्ग्यः, उपदेशावनायासेन ज्ञानमित्यविदग्धैरपि ज्ञानात् । क्वचित् पुस्तके तु अनायासेन गितादानमभिधेयवत् स्फुट प्रकाशते इत्येव पाठस्तिष्ठति । सम्यध्यते इति, 'शब्दाऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' इत्यत्र सम्बन्धत इत्यर्थः । तत्र प्रयोजने ।

(A) ललितं नादिकालङ्कारविशेषः । तद्व्यङ्ग्यम्—“लकुमारतयाऽद्धानां विन्यासो ललितं भवेत्” इति साहित्यदर्पणे, “अनाचाप्यौपदिष्टं स्याललितं रविनेष्टितं” मित्यन्यत्र । परञ्च ललितान्त्यन्तविभिन्नलक्षणां हेलालीलादीनां ललितत्वोक्तिरीकाकृतामसङ्गतैवेति श्येयम् ।

(B) तत्रेति । “अत्र व्यङ्ग्यकशब्दनिरूपणाय व्यञ्जना निरूपणीया । सा च द्वेषा—शब्दनिष्ठा अर्थ-निष्ठा च । तत्रान्या शब्दलक्षणेऽनुपयुक्तेत्यग्रे विवेचनीया । आद्या तु द्वेषा—अभिधामूला लक्षणा-मूला च । सत्र यद्यप्यभिधया प्राथम्यादुपजीव्यत्वाच्च तन्मूला प्रथमं निरूपयितुमुचिता तथाऽपि अपसिद्धत्वाद्दृष्ट्याया प्रकृतत्वाच्च तन्मूलमेव प्रथमं निरूपयति—तत्रेति । सत्र लाक्षणिकशब्दे । व्यापारो व्यङ्ग्यप्रकाशानुसृतः” इति प्रदीपः ।

(C) चेतनो यो गुरुध्यायकादिन्तद्धर्मत्वेनेत्यर्थः ।

कृत इत्याह—

(२३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥१४॥

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनात्नापरा क्रिया ।

प्रयोजनप्रतिषिपादविषया यत्र लक्षणाया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यन-
स्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात् । न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो
व्यापारः ।

तथा हि—

(२४) नाभिधा समयाभावात्—

गङ्गायां घोष इत्यादां ये पावनत्वादयो धर्मास्तदादां प्रतीयन्ते न
तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिनाः ।

(२५) हेत्वभावात् लक्षणा ॥१५॥

मुख्यार्थवाधादित्रयं हेतुः ।

यस्य फलस्य । अत्र फले इत्यन्वयः । फलञ्चात्र फलीभूतज्ञानविषयरूपं
बोध्यम् । व्याचष्टे—प्रयोजनेति । नान्यत इति शब्दैकगम्ये इत्यस्य विवरणम्,
व्यञ्जनादृते इति व्यञ्जनाभावेत्यस्य विवरणम् । व्यञ्जनं व्यञ्जनेति मुद्गुध्यां
रूपद्वयम् ।

समयाभावादिति । अत्र समयः शक्तिग्रहस्तद्व्यापारो(A) चा, मनो नात्र
साध्याविशेषः । वाधादित्रयमिति रुद्धिप्रयोजनयोर्वैकल्पिकहेतुत्वान् प्रित्वम्(B) ।
'हेतु' लक्षणात्पकम्(C) ।

(A) शक्तिग्रहव्यापार पदार्थस्मृतिः ।

(B) तथाच मुख्यार्थवाध एक, मुख्यार्थयोगो द्वितीयः, रुद्धिप्रयोजनान्तरत्र तृतीय इति
त्रित्वमित्यर्थः ।

(C) अयमभिप्रायः—मुख्यार्थवाधादिज्ञानत्रित्वं लक्षणाज्ञान एव हेतुः, गङ्गायां घोष
इत्यत्र सैत्यपावनत्वयोस्तद्विषयवैवाभावेन लक्षणाज्ञानं न सम्भवति, तत्र अविहिते प्रमाणा-
भावादिति न्यायेन तत्र ह्यणैव नान्वीतिः सिद्धमिति । एतेनोक्तज्ञानप्रपञ्चं धृष्टात्पञ्चोत्पन्न-
प्रलक्षणायामहेतुत्वात् तदभावस्य लक्षणाऽभावसाधकत्वं न सम्भवति 'कारणाभावात् कार्यभावात्'
इति न्यायस्यात्रायोगात्क्रियाशब्दा निरन्ता ।

तथा च—

(२६) ^(A) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।

न प्रयोजनमैतस्मिन् ^(B) न च शब्दः स्वलक्षतिः ॥१६॥

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि समाध इति तदं लक्षयति, तद्वद् यदि तदेऽपि समाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत् ; न च तदं मुख्योऽर्थः, नाप्यत्र बाधः, न च गङ्गाशब्दार्थस्य तदस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणोपैः

हेतुत्रयस्यैवाभावं दर्शयति—लक्ष्यमिति, मुख्यबाधस्य तु 'लक्ष्यज्ञापकत्वेनेव चरितार्थत्वाच्च प्रयोजनलक्षणात्प्राप्त्यामिति भावः' । ननु लक्ष्यस्य मुख्यबाधावेऽप्युपस्थितार्थबाध एव लक्षणाहेतुरास्य इत्यत आह—नाप्यत्रेति, तदादौ घाताधिकरणताया बाधो नास्त्यर्थः । अकारणं तु—लक्षणीयस्य पावनत्वादस्तदादौ बाधो नास्त्यर्थः इति व्याचष्टे, तदा, लक्षणीयार्थान्वयबाधस्य लक्षणाहेतुत्वाभावात्, 'यथा फलेन ना' इत्यनेन 'प्रपुत्र तदाधसन्त्वस्यैव' * दर्शितत्वाच्च ।

नन्वेव लक्षणाहेतुत्ववस्तुनाम गङ्गादिशब्दानां पावनत्वादिबोधकत्वमेव नास्त्वित्यत आह—न च शब्द इति । 'गति' शब्दात् अनुभवंतिइत्यल्लक्ष्यकत्व स्वभावात् न स्वलक्षितार्थः । व्याचष्टे—ग्रथेति । 'समाध' घातान्वयबाधमान् । न च गङ्गाशब्दार्थस्येति । प्रमाणीय 'वाप्यत्र हि प्रमाहवत्येव, तटे त्याहाप्येमेव प्रतीयते इति न तटे तदुदात्त' * परस्परानुबन्धस्य त्वय्यावर्तकत्वेन लक्षणाहेतुत्वाभावात् ।

(A) अत्र प्रदीप — 'कश्च गङ्गाशब्दस्य तीर (नीर ?) मुख्योऽर्थः, तत्र च बाध, तीर च तत्प्रामाण्यं, तीरस्य च लक्ष्यवाक्यापत्तम्, सुप्रशयन प्रतिपादयितुमशक्यस्य पावनत्वादप्रतीतिश्च प्रयोजनमिति गङ्गाशब्दत्र तत् लक्ष्यं तद्वद् यदि तत्रापि मुख्यं स्यात्तत्र च बाधो भवेत् प्रयोजनस्य च गङ्गादिगतापावनकत्वानिविरोधस्य हेतुन सम्बन्धः स्यात् लक्ष्यगता प्रयोजनप्रतिपादनस्य च प्रयोजनान्तर सम्भारं तदा गङ्गाशब्दः प्रयोजन लक्ष्यं च चेतदवमन्वयेत्यर्थः' इति ।

(B) अत्र प्रदीप — 'मुख्यार्थगताप्रतिपादनस्य शक्यत्वं स्वलक्षकत्वम् । एवं "नापि गङ्गाशब्दस्यैवमिव प्रयोजन प्रतिपादयितुममर्थः" इत्यादिवृत्तौ बाधादिकमनप्य" इति शयो दृश्यते । 'समर्थ' इति पाठे तु "बाधादिप्रयमप्यर्थः" इति शय "इति । "स्तान्ती वाऽकृपापारण विपुलीक्रियमाणा गतिरवशाधनसर्कियं" तादृश इत्यर्थः इति 'मुख्या वृत्ति परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थ-दर्शनम् । यदुदितं फलं तत्र शब्दो नैव स्वलक्षकत्वमिति ॥" इति ध्वन्यालोकोपकारिकाश्रयात्माने धीमदभिनवगुहाचार्या ।

सप्यन्वः, नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम्, 'न च गङ्गाशब्द-
स्तदमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः ।

(२७) एवमप्यनवस्था स्याद् या 'मूलक्षतिकारिणी ।

एवमपि प्रयोजनं चेद्दृश्यते तत् प्रयोजनान्तरं तदपि प्रयो-
जनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृदन्वया भवेत् ।

ननु पावनत्वादिबन्धुयुक्तमेव तदं लक्ष्यते गङ्गायास्तटे घोष
इत्यनोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा,
तत् किं व्यञ्जनयेत्याह—

(२८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥१७॥

गर्भाद्यत्रि सार्द्धगतहस्तपर्यन्ते(A) तत्रि य पावनत्वविशिष्टस्तस्य तटे 'सत्त्वेऽपि
गङ्गाशब्दात् तदप्रतीत्या तस्याकिञ्चिदस्त्वान् । न च शब्द स्वलदित्यादिकं व्याचष्टे—
न च गङ्गाशब्द इति । तदमिव पावनत्वमपि प्रतिपादयितुं नामसमर्थं, यपि तु
समर्थ एव, 'धनुमवसिद्धतद्रोधकत्वमवभावेन स्वलदगतिर्देवत्य' १ । तथाच तन्-
प्रतिपादिका व्यञ्जनावृत्तिरेव स्वीकार्येति भावः ।

ननु लक्षणां विना विवक्षितार्थबोधानुपपत्तिरेव मुख्यार्थं वाच्यं, विवक्षितार्थं तु
तदगतत्वेनारोप्यमाणं प्रवाहीय पावनत्वमेव, सादृशं च पावनत्वं मुख्यार्थस्य
प्रवाहस्य योगोऽस्त्येव, प्रयोजनं तु तदुत्तरं नियततो यन् प्रतीयते तदेव वाच्य-
मित्यत आह—एवमपीति । धनुस्यार्थोद्योगार्थस्य दृष्टिस्यमेव योग्यतावगाह
एवकारेण परामर्शः । प्रकृताप्रतीतिकृदिति मूलक्षणेविवरणम् । मूलञ्च
लक्षणया तदबोधः ।

एव लक्षणया तदबोधानन्तरं पुनर्लक्षणया पावनत्वबोधे सङ्गिहने प्रथममेव
पावनत्वविशिष्टे तटे लक्षणया पावने तटे घोष इति बोधोऽस्तु इत्याशङ्कते—
नन्विति । प्रयोजनेनेति प्रयोजनीयत्वज्ञानविकल्पपावनत्वादिनेत्यर्थः । अत्र

(A) "अत्र ह्यनुपूर्वसं पावनत्वमन्ते जलम् । तावद् गर्भं विजानीयात् तद्दृष्टं धीरमुच्यते ॥
सार्द्धमन्तसं यावद् गर्भतन्वीरमुच्यते ।" इति धीरलक्षणम् ।

१ 'नापि' इति मुद्रितपुस्तके । २ 'मूलक्षणे' इति मुद्रितपुस्तके । ३ 'योस्तस्य' ख-न ।
४ 'धनुमवसिद्ध' इत्यत्र ननु निरादकत्वेन स्वलदगतिर्वाच्येति भावः ख-न ।

कुत इत्याह—

(२६) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्^(१) ।

प्रत्यक्षादेर्हि नीलादिर्विषयः, फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा ।

प्रवीना—विशिष्टे लक्षणाया अयुक्तत्वे ज्ञानस्येत्यादिक हेतुमुत्थापयति—कुत इत्याहेति । ज्ञानस्येति । हि यस्मान् ज्ञानस्य लक्षणाजन्यज्ञानस्य विषयोऽन्यः । फलं तु फलीभूतज्ञानविषयं ततो लक्षणाजन्यज्ञानविषयादन्यदेव^१ । उदाहृतम् उदाहरणेषु दृष्टम् । यथा विकसितस्मितमित्यत्र लक्षणाजन्यज्ञानविषयो विस्तारः 'फलीभूतज्ञानविषयस्तु ततोऽन्यत् पुष्पवन्मनोहरत्व तत्रैव दृश्यन्तान्तरवृत्तिरुदाह^२—प्रत्यक्षादेर्हीति । 'प्रकटता' ज्ञातता । मट्टमते घटादौ ज्ञाते हि तत्र ज्ञाततारूप एको धर्मो जायते । 'संवित्ति' अनुव्यवसाय । तद्ब्रह्ममपि नीलादि-ज्ञानविषयाशीलादितोऽन्यदेवेत्यर्थः इति व्यावृत्तते, तत्र, फलमन्यदित्यत्र फलपदस्य फलीभूतज्ञानविषयपरत्वे दृष्टान्ते तादृशज्ञानविषययोः प्रकटतासंवित्तयोः फलत्वेन

(A) अत्र प्रदीप — "अनु विषयकत्वोभेद इति सूत्रार्थं स चायुक्तः । फलत्वं हि जन्यत्वं वा जन्यप्रतीतिविषयत्वं वा । अथे पावनत्वादौ तदभावे, तदज्ञाने विषयादु भेद एव । अन्त्ये 'प्रत्यक्षादेर्नीलादिविषय क्वन्तु प्रकटता संवित्तिर्वा' इति वृत्तिविरोध, प्रकृतज्ञानान्य प्रत्यक्षजन्यत्वानाभावात् । न च जन्यज्ञानाधारकमेक साध्यत्वमस्तीति । अत्र सूत्र—ज्ञानस्य जननीभूतो विषयो यथा ज्ञानादन्यस्तथा फलमपि तस्य स्वतो भिन्नम्, कारणत्वेव कार्यान्वयापि भिन्नकालत्वविषयमात्रं । शैत्यादौ तु क्वचित् कल्पदमौल्यकारिकं दृश्यते । तथाच लक्ष्यज्ञानमेव यदि शैत्यज्ञानं तदा प्रयोजनं न स्यादित्यर्थः । ननु लक्ष्यप्रतीतेर्न शैत्यप्रतीतिः फलं किन्तु ज्ञानस्यमन्वयस्याया लक्षणाया, तथाच न किञ्चिदुपपन्नमिति । अत्राहुः—अन्वयानुपपत्त्या हि लक्षणा प्रसरन्ती यावदन्वयोपपादकं तावदेव विषयीकरोति नत्वनुपपादकमपीति कथं तदे पावनत्वमपि विषयीकुर्यात् । नन्वन्वयानुपपत्त्या कल्पनानाऽपि साञ्जुरेयमपि शैत्यं विषयीकरोति यथा तापोरसमायोपादोपमानं चन्दनं शैत्यमपि जनयतीति चेत् न चन्दनस्य सन्निधिमात्रेण शैत्यजनकत्वं लक्षणायास्तु अनुरूपविप्रमार्सितेति वैभिन्यात्" इति ।

१. 'प्रत्यक्षादेर्नीलादि'—इति क्वचित् पाठः । २ 'फलं च' इति क्वचित् पाठः । ३ 'दि को ईदु', लक्षणाफलतायं स्वभावज्ञानादरेण तत्राच 'हि' यदायं 'शास्त्रं' लक्षणात्रयस्य 'विषयः' फलीभूतज्ञानविषयात् 'च' फलं फलीभूतज्ञानविषयपरत्वम् इति च-न । ४ 'कवचं' च-न । ५ 'नत्वमिति प्रकृते तु पावनत्वविशिष्टमदमेतमेव लक्षणाजन्यज्ञानस्य फलीभूतज्ञानस्य च विषय इत्याहुः कता, तदेव दृश्यते—च-न ।

(३०) विशिष्टे लक्षणा नैवम्—

व्याख्यातम् ।

(३१) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥ १८ ॥

तदादौ ये विशेषाः पावनत्वादपस्ते चाभिधात्तात्पर्य-लक्षणाभ्यो

प्रदर्शनानुपपन्ने(A), तथा पावने तदे येष इति यदुक्तपाजन्त्य शान 'तदीयफलरूप-
ज्ञानान्तराभावात् पावनत्वस्य फलोभूतज्ञानविषयत्वानुपपत्तेः' * अधिकार्यस्य प्रतिपत्ति
प्रयोजनमित्याशङ्काप्रत्ये प्रतिपत्तेरेव प्रयोजनत्वकथनात् तद्विषयरूपस्य फलस्य 'भन्यत्व-
कथनेन तदाकाङ्क्षाया अतिवृत्तेः' २ । 'अत्रोच्यते—पावनत्वविशिष्टरूपाधिकार्यस्य
प्रतिपत्तेरेव लक्षणाजन्यपावनत्वविशिष्टप्रतिपत्तिफलत्वेन कथने फलफलिनोऽभेदापत्ति,
भूतो विशिष्ट लक्षणीय न युज्यते इति कारिकापूर्वार्द्धार्थ । ननु फलफलिनोऽभेदे
स्वीकृते कथ विशिष्ट न युज्यते इत्यत्र परार्द्धक(B) हेतु' वृत्तिरुदुत्थापयति—
कुत इत्याहेति । हेतुमेवाह' ३—ज्ञानस्येति । 'हि'शब्द इयार्थो(C)ऽव्ययत्वात् ।
तथाव ज्ञानस्य विषयो यथा ज्ञानाद्भिन्नस्तथा तस्य फलमपि 'तद्भिन्नमेव । 'उदाहृतम्'
उदाहरणेषु दृश्यम्, न तु त्वया आशङ्कित 'पावनत्वविशिष्टतदज्ञानस्य फलं पावनत्व-
विशिष्टतदज्ञानमेवेत्यर्थ' । तदेवोदाहरणेषु ४ * दर्शयति—प्रत्यक्षादेर्हीति, प्रत्यक्षादे-

(A) अत्रेदं चिन्तनीय प्रकटनाज्ञानं यदि फल तदा तद्विषयस्य प्रकटताया दृष्टान्तत्वं
नानुपपन्नमिति ।

(B) अत्रेदमवधेयम्—'तदाकाङ्क्षाया अतिवृत्तेः' इत्येतेषामवचनद्वयत्वेन फल फलिनोऽभेदे एक श्लोक इति प्रतीयते ।
अस्याभित्नु यतानुगमितकतवैव श्लोकसंख्या परिगृहीतेति ।

(C) अत्र 'हि' शब्दस्येवार्थत्वे कारिकाभ्यामन्यपदान्भ्यामुपन्यापितस्य भेदव्यवस्थान्वयो
दुरुपपाद इति कथा तपेन्मर्थद्वयोपस्थापकत्वमस्तीत्युक्तं टीकाग्रन्थे कथञ्चित् सङ्गमनीय ।

1 'तदुक्तनीयस्य ज्ञानान्तराभावात्' ख-न । 2 'भन्यत्वकथनानुपयोगात्' ख-न । 3 'तथावप्यस्य
व्यावृत्तौ विशिष्टलक्षणाया तदभेदशक्तिवो व्यावृत्तात्तदधिकस्य पावनत्वविशिष्टतदस्य प्रतिपत्ति प्रयोजनमिति
यदुक्त तदर्थोपपत्ति लक्षणीय न युक्त तदभेदकथनानुपपत्तेरेव अधिकार्यस्य प्रतिपत्ति प्रयोजनमिति
प्रतिपादनकथनप्रयोजनस्य लक्षणाहेतुत्वेनोक्ती कटिलक्षणात् शक्तिशक्तिविषयापत्ते कटिलाचक्षिकस्य प्रकृत
स्य पदस्य पदान्तरावेच्योऽधिकार्यप्रतिपादकत्वादिनाय हेतुस्तस्यैव एक इत्यादौ न दर्शितं प्रकृत विशिष्ट-
लक्षणाजन्यस्य विशिष्टज्ञानस्य फल विशिष्टज्ञानमेवेतिज्ञानानुपपत्ते तत्र न युक्तम्, तत्र 'हेतुमाह' ख-न ।
4 'ज्ञानकौमुदीज्ञानादन्वयेव' ख-न । 5 लक्षणाजन्यज्ञानमेव लक्षणाजन्यज्ञानप्रतिपत्तिः । नपेव विषयस्य
ज्ञानान्वयदर्शनं प्रकटानुपपत्तिमिति वाच्यम्, फलस्य अस्वीभूतज्ञानान्वये दृष्टान्तविषयीयदुत्थानम् । उदाहरण-
मुदाहरणेषु दृष्टमित्यर्थ । उदाहरणेषु तथा दृष्टमेव' ख-न ।

व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जन-ध्वनन-द्योतनादिशब्दवाच्यम्
अवश्यमेपितव्यम् ।

एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम्, अभिधामूलं त्वाह—

(३२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।

संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥ १६ ॥

(A) संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं निरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥

१ 'विषयो नीलादिविव तत्फले प्रकटतासवित्तो भवि तद्भिन्ने पवेत्यर्थ' । अत्र च
ज्ञानस्येति प्रकृताभिप्रायेणैव, सर्व्वगमेऽप्यलफलिङ्गं परस्परभिद्यत्वात् ॥

व्यापारान्तरेण गम्या इति । इव च 'स्यु' रित्यत्र पूरयित्वा इशितम् ।
तच्चेति व्यापारान्तरमित्यर्थः ।

अभिधामूलन्विति । न त्वभिधेयमूलं तस्याप्रे दर्शयिष्यमाणत्वात् ।
अनेकार्थस्येति, संयोगार्थनियन्त्रिते इत्यन्वयः । नियन्त्रणञ्च अर्थान्तरबोध-
प्रतिबन्धः २ । शब्दस्येत्यनेन समासाधीनानेकार्थकशब्दस्यापि परिग्रहः । अत एव इन्द्र-
शत्रुत्वत्र 'समासपदेऽपि तथात्व दर्शयिष्यते । अवाच्यार्थेति, वाच्यस्यैव
नियन्त्रणरशाद्वाच्यतापन्नमेत्यर्थः ।

संयोगानेन परकीयकारिकया दर्शयति—संयोग इति । 'विप्रयोग' त्यागः ।
'साहचर्यं' साहित्येन कार्य्यकारित्वम् । 'निरोधिता' वैरिभावः । एतद्युक्त्य
समभिध्याद्धतपदार्थान्तरेणेति बोध्यम् । 'अर्थ' प्रयोजनम्, 'लिङ्ग' विद्मम्, एतद्वयं
समभिध्याद्धत बोध्यम् । 'अन्यस्य शब्दस्य' समानविभक्तिकस्येति बोध्यम् ।

(A) मुद्रितसंस्कृतटीकाम्य २४-काले ३१७ तद्वृत्त श्लोकोऽयं दृश्यते, तत्र "संयोग" इत्यस्य
स्थाने 'समर्ग' इति पाठः । इति पूर्व्वं "वाक्यात् प्रकृत्यादुपार्थैवित्यादिसकालत्वं । शब्दार्थं
प्रविभज्यन्ते न रूपादेव वेवलात् ॥" इति कारिका वर्तते । किन्तु तत्र "सामर्थ्यमौचिनी"
इत्यादि श्लोकान्येदृशनेऽपि सदातः व्यक्तिस्वरपदयोर्व्याख्यानं टीकाया दृश्यते ।

१ 'नीलादिविषयो नीलादिज्ञानादन्वो यथा नीलादिज्ञानप्रक्षे प्रकटता सवित्तो भवि तदभिन्ने पवेत्यर्थ' । अत्र च ।

२. 'एव नेकार्थं बोधनम्' ४ । ३ 'समासाधीनानेकार्थं कश्चिदपि' क ।

सामर्थ्यमौचित्यी देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे(A) विशेषस्मृतिहेतवः ॥

इत्युक्तदिशा—सशङ्खचक्रो हरिः, अशङ्खचक्रो हरिरित्यच्युते ;
राम-लक्ष्मणाविति दाशरथी ; रामार्जुनगतित्तयोरिति भार्गव-
कार्तवीर्ययोः ; स्याणुं भज भवच्छेदे इति हरे ; सर्वं जानाति देव इति

‘सामर्थ्यं’ निदिष्ट¹क्रियाजननसामर्थ्यम् । ‘मौचित्यी’ तात्पर्यानिव्याहकत्वम् ।
‘देश’ समभिध्यादृत प्रदेशः । ‘काल’ समभिध्यादृतदिनराश्यादि । ‘व्यक्तिः’ शब्दस्य
स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गम् । ‘स्वरः’ उदात्तादि । ‘अनवच्छेदे’ अनेकत्वे । ‘विशेषस्य’
एकतरस्य, ‘स्मृतौ’ पदार्थोपस्थितिरूपायां हेतव इत्यर्थः । एतच्च मौमांसकमत
एव, नैयायिकमते तु सर्वेषां पदार्थानामुपस्थितिः, नियन्त्रणवशादेकस्यैवार्थस्य
शब्दानुभव इति । एकत्रैव संयोगादीनां द्वित्रि सम्भवेऽपि यथास्फूर्तिं
नियन्त्रकत्व बोध्यम् । ‘अशङ्खचक्र’ इत्यत्र त्यागे नञ् । अनयो शङ्खचक्रसंयोगत्यागौ
हरिपदस्यानेकार्थस्थायान्तरधारणेन(B) अच्युतरूपायर्बोधकौ । एवमुत्तरेत्तरमपि
बोध्यम् । दाशरथ्योरिति पाठो युक्त द्वयोरपि पदयोरनेकार्थत्वात्(C) ।
अत्र साहचर्यम् । विरोधितायां—रामार्जुनेति, रामोऽत्र भार्गवः, अर्जुनः(D)
कार्तवीर्यः । अत्र द्वयोर्विभावः प्रतिद्धः । (E) स्याणुमिति अत्र भवच्छेद

(A) अनिश्रये इत्यर्थः ।

(B) ‘यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुक्राहिकपिभेकेषु हरिर्ना कसिले त्रिषु ष’
इत्यपर । ‘हरिर्वांताकंचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु । सिंहाषकपिभेकादिशुक्रलोकान्तरेषु च ।
हरिर्वांच्यवटाज्यातो हरित्कपिलवर्जयो’ ॥ इति विश्वः ।

(C) ‘राम एतु विशेषे स्यान्नामदान्ये ह्युक्त्युपे । राघवे चाऽसिते श्वेते मनोहेषु च वाच्यवत्’ ॥
इति विश्वः । ‘दाशरथि श्रीमांश्च लक्ष्मण’ इति त्रिकाण्डे ॥ न चैवमन्योन्याश्रय, प्रकाशान्तरेण
निश्रितैकतरसात्किंपुररपभेदेन तदुपपत्ते । एवं रामार्जुनगतित्त्वादावपि ।

(D) ‘अर्जुनः ककुभे पाथे कार्तवीर्यमपूरयो । मातुरेकस्तेऽपि स्याद् धवले पुनरन्यवत्’ ॥
इति मेदिनी ।

(E) ‘स्याणुं शङ्खशिवा’ इत्यमरः ।

युष्मदर्षे ; कुपितो मकरध्वज इति कामे ; देवस्य पुरारत्तेरिति शम्भौ ; मधुना मत्तः कोकिल इति वसन्ते ; पातु वो दयितामुखमिति साम्बुह्ये ; भात्यत्र परमेश्वर इति राजधानीरूपादेशाद् राजनि ; चित्रभानुर्विभातीति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ ; मित्रं भातीति सुहृदि ; मित्रो भातीति रवौ । इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत् । आदिग्रहणात्—

एहहमेत्तत्थणिआ एहहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं ।

एहहमेत्तावत्था एहहमेत्तेहिं दिअएहिं ॥ ११ ॥

प्रयोजन हर्बोधकम्, अशास्त्रवृत्तबोधवारकञ्च । सर्व्वमित्यत्र प्रकरण देवपदस्य राजरूपार्थबोधकम्, अमरबोधवारकञ्च । युष्मदर्ष इत्यनेन प्रकान्तराज्यरूपार्थ एव दर्शितः, न तु युष्मत्त्वेन तस्य शक्तिरिति मन्तव्यम् । कुपित इत्यत्र मकरध्वजपद कामसमुद्रयोर्नेकार्थकम्, कोपस्तु कामस्यैव विह्वम् । न चाधिष्ठातृदेवतयोर्द्वयोरपि कोपधिहमेव, अधिष्ठेययोस्तु कामिनीविषयेच्छ्वाजलराम्योर्द्वयोरपि नेति को विशेष इति वाच्य विरहिण्यां कुपित इत्यर्थात् । देवस्य इत्यत्र तुल्यविभक्तिः कस्य त्रिपुण्यतिशयस्य सन्निधिर्नियन्त्रक । मधुना इत्यत्र मधुपदमनेकार्थम् (A), कोकिलमावने वसन्तस्य सामर्थ्यम् । पातु व इत्यत्र मुखपदमनेकार्थम् (B) कामुकसाम्बुह्ये तात्पर्यात् तत्रैवोचिता । भात्यत्र इत्यत्र परमेश्वरपदमनेकार्थम्, अत्र राजधान्यां राह एव सम्भयो न नारायणस्य । भात्यत्र गगने चन्द्र इति तु ज्याय उदाहरणम् । काले—(0)चित्रभानुरिति दिने विभातीत्यत्रान्वयः । व्यक्तौ—(0)मित्रमित्यादि द्वयं स्पष्टम् । इन्द्रशत्रुरित्यादौ बहुवीहितवपुरुषयोर्भेदे उदात्तादिस्वरभेदे ।

(A) 'मधु क्षौत्रे जले क्षीरे मये उपरते मधु । दैत्ये चैत्रे वसन्ते व जीवाप्तोके मधुद्रुमे' इति विश्व ।

(B) "मुखमुपाये प्रारम्भे श्रेष्ठे नि सरणास्त्ययो " इति वैम ।

(C) "सूर्य्येवह्नी चित्रभानू" इत्यमर ।

(D) "मित्रं छद्मदि न द्वयो । पुमि सूर्य्ये" इति मेदिनी । अत्र अभ्युत्त इत्यादीनां एतेषां सप्तम्यन्तानां वाचकत्वं नियम्यते इत्यप्याहुतेन सम्बन्धो बोध्यः ।

(३४) यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥ १६ ॥

तथेति व्यञ्जकः ।

इति काव्यप्रकाशे शब्दार्थस्वरूपनिर्णयो नाम द्वितीय उद्घासः ।

शब्दाणां व्यञ्जनायामर्थविशिष्टं शब्दं काव्यमित्यभिप्रायेणाह—यत् सोऽर्था-
न्तरेति । 'युक्' युक्तः ।

इति धीमंदेश्वरन्यायालङ्कारमहाचार्य्यरुते काव्यप्रकाशादौ
शब्दनिर्णयस्य द्वितीयः प्रतिबिम्बः ।

तृतीय उच्छ्वासः

(३५) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्—

अर्था वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः । तेषां वाचक-लाक्षणिक-व्यञ्जकानाम् ।

(३६) अर्थव्यञ्जकतोच्यते ।

कीदृशीत्याह—

(३७) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां (A) वास्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥ २१ ॥

प्रस्तावदेशकालादेर्वेशिष्यात् प्रतिभाजुषाम् ।

योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ २२ ॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः । काकुर्चनेर्विकारः । प्रस्तावः प्रकरणम् ।

अर्थस्य—वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यात्मनः । क्रमेणोदाहरति—

अर्थाः प्रोक्ता इति वाच्यदयस्तर्क्या स्युरित्यनेन प्राक्ता इत्यर्थः । व्यञ्ज-
कता व्यञ्जकानां तेषां व्यञ्जनापाय । व्यञ्जकता ससहायिका 'वाच्या इत्यर्थः' ।
'कीदृशीति व्यञ्जनापाय कीदृशा' १ ।

वक्तृति । कालादिपय्यन्ताना वैशिष्यात् प्रतिभाजुषाम् अन्यार्थधा-
हेतुयोऽर्थस्य व्यापारः वृत्ति सा व्यक्तिरेव व्यञ्जनेवेत्यर्थः ।

'प्रतिपाद्य' उच्यमानार्थवाग्राहेभ्यः । 'विकार' बेल्लक्षणम् यत्र शिर-
श्चलति । सन्नियेगित्यत्र 'समाहास्येऽपि नपुमकल्लिङ्गकार्याभावा (B) विराम

(A) आसत्तियोग्यताकाङ्क्षान्वितपदमुदायो वाच्यम्, तत्र 'दुष्पं वासगृह विडोक्त्य
इत्वंशेऽभिव्याप्तिवारणाय स्वार्थबोधसमाप्त्यन्वमपि विशेषणं देयमिति रामतर्कवागीत । अभिधेय
विषयो वाच्य, तथाच बोद्धव्यादस्य भेद स्पृष्ट पव ।

(B) 'विरामव्यञ्जनादावुक्तं नपुंसकत्वं स्यबोलोपेऽपि' इति कालन्त्रमूलम् । अत्र
वाच्यवाच्याभ्यां स्वरित् अन्यमभिधिरिति मध्यपदयोपिकर्मधारयमगातेन शनितानुशेषेऽपि-
वदुपपादनं शुक्तम् ।

१ 'कीदृशा, विभाव स मन्त्रकतायां लक्षणा इत्यत्र इति पर्यवहितान् अ । २ 'कीदृशी कि
दृशापिषेताय' इ । ३ 'प्रतिपादयितु सम्बोजो जन' इ । ४ 'समाहास्येऽपि विरामव्यञ्जनादावुक्तान्
नपु मन्त्रकार्याभावात् नपुंसकत्वेऽभिधिरिति मध्यपद इति इपन् इ ।

अइ पिहुलं^(A) जलकुम्भं घेतूण समागदच्चि सहि तुरिअम् ।

समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥ १३ ॥

अत्र चौर्यरतगोपनं^(B) गम्यते ।

ओण्णिहं दोव्वह्णं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम् ।

मम मन्दभाइणीए केरं सहि तुहवि-अहह परिहवइ^(C) ॥ १४ ॥

व्यञ्जनादाविति मार्वाद्यभिम्बरुद्धे नपुसकलिङ्गकार्वाभावेन द्वन्द्वैकत्वे तत्कार्यस्य वैकल्पिकत्वज्ञापनात्* अतः "सन्धिधिनः" इति न रूपम्* । अइ इति ।

अथि पृथुल जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि त्वरितम् ।

ध्रमन्धेदसलिलनिश्वासनि सहा मिश्राम्यामि क्षणम् ॥ इति संस्कृतम् ।

जलाहरणपर्ये उपनायकोपभुक्तायाः सख्यां तच्चिह्नसवरणोक्तिरियम् । अपीति सम्बोधनम् । अतिपृथुलमिति वा संस्कृतम् । ध्रमात् यौ स्वेदसन्धिनिश्वासौ तस्या नि सहा दुर्वला क्षण मिश्राम्यामीत्यर्थः । अत्र वक्तृणा अनाकाङ्क्षितार्थ-वक्तृत्वं वैलक्षण्य व्यञ्जनायां महायम् । बोद्धव्यवैलक्षण्ये उदाहरति—ओण्णिहं इति ।

औशिदच्चं दौर्वल्य चिन्ताऽलसत्वं सनिश्वासितम् ।

मम मन्दभाग्याया कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति ॥ इति संस्कृतम् ।

(A) "अइ विडल" इति पाठे "अतिविपुलं" इति संस्कृतम् ।

(B) "अत्र वक्त्री कामिनी, कस्या दुःशीलत्वव्यवहारैश्चिह्नं विज्ञानतां चौर्यरतगोपनं व्यक्ती-भवति" इति प्रदीपः ।

(C) "कृत्वाकामुपभोगा दर्तां प्रवीणमुक्तिः । तुहेति कर्मणि पठ्ये, परिभवतीत्यस्य 'त्सार्थत्वादि' चेति । तुहेति द्वितीयान्तमेव तथाऽनुशासनाभिति दीपिकाकारः ।

मा साधन् परिभक्त्येव मन्त्रार्थार्थं गमनागमनादिना कामुकस्य प्रसादनव्यापारेण त्वामपीत्यपि 'गम्भीरं' । सदीयसौशिद्विद्रादिच त्वामपि स्नेहवशात् परिभवतीत्यर्थः । अतः प्रयत्नमीति गम्भीरम् । एतेन स्वीय-यौशिद्विद्रान्यपरिभावकल्याणमन्त्रवत् स्वीयसजातीयव्यञ्जनेति तित्तम्, एतेनोभयपरिभवाभावात्प्रयत्नमुचयानुपपत्तौ" इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

अत्र सन्ध्या सङ्केतकाल इति तदस्य प्रति कयाचिद् द्योत्यते ।

सुञ्चइ समागमिस्सदि तुञ्च पिओ अञ्च पहरमेत्तेण ।

एमेअ किंत्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिञ्चं ॥१९॥

अत्रोपपत्तिं प्रत्यभिसर्तुं प्रस्तुता, न युक्तमिति कयाचिद् वार्यते ।

(A) अन्यत्र घृयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।

मुदत्यनन्यमना श्वधूमां गृहभारे(B) सकले ।

क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्राम ॥ इति संस्कृतम् ।

भक्ता श्वधू देशी । अत्रेति, उपनायकसन्निध्यभावे एतादृशोक्तेश्चमनूकारित्वा-
भावादुपनायकसन्निध्यावेव इयमुक्तिः । उपनायकश्च वाच्यार्थबोधभ्यस्तन्स्थानस्थ-
ज्ञानेभ्योऽन्य, तस्य च सङ्केतकालतुमुत्सैव तत्सन्निधि(C)वैलक्षण्यम्, तद्वशात्
सन्ध्येत्यादिक सामाजिकबोधं व्यङ्ग्यम् । 'तदेवोपनायकेन तु घक्तृवैलक्षण्यादव-
गम्यते' । 'तदस्य' वाच्यार्थबोधे उदासीनम् । प्रकरणवैलक्षण्ये उदाहरति—
सुञ्चइ इति ।

धूपते समागमिष्यति तत्र त्रियोऽथ प्रहरमात्रेण ।

एवमेव किमिति तिष्ठसि तत् सखि सम्जय करणीयम् ॥ इति संस्कृतम् ।

समुष्कान्ताभिमारनिवर्त्तिकायाः सख्या उक्तिरियम् । एवमेवेति तत्परिचर्योप-
क्रमरहितैवेत्यापातत, अभिसारोऽतैवेति तु गूढम् । करणीय रन्धनादिसामग्रीम् ।
अत्रेति वार्यते इत्यत्र इति व्यज्यते इति शेष, प्रकरणप्राप्ताभिसारनिवर्त्तनस्यैव
सामाजिकबोधत्वात्, -गोपनीयकार्यविषयत्वमेव च प्रकरणस्य वैलक्षण्यम् । देश-

(A) अन्यत्रेति । "सखीचेराधारिणा स्वोपनायकेन सहाराता प्रियमत्नां हृष्टा सखी प्रति
भयिकाया उक्तिरियम् । यत् 'उपनावचाय नारदन्तीं सखीं प्रति मालती कथ्यतीत्यत्रत्यव्याख्यानम्,
प्रच्छन्नकाण्डो माधव, भावस्तां विश्वासवतीं कामन्दकीं प्रति मालत्या व्यज्यते' इत्यभि-
व्याख्यानञ्च सरस्वतीतीर्थकृतं सत्तु चिन्त्यमेव मालतीमाधवप्रकरणेऽप्य पञ्चम्यानुपक्रममात्" इति
बालबोधिनी ।

(B) "गृहभारे" इति संस्कृतमिति केचित् ।

(C) "अन्यसन्निधि सन्निहितोऽन्य" इति प्रदीप ।

नाहं हि दूरं भ्रमिन्तुं समर्था प्रसीदताऽय रचिनोऽञ्जलिर्वः ॥२०॥
अत्र चिविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाऽभिसार्यता-
मिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते ।

गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तु मन्दभाङ्गी क्खु अहं ।

अज्ज पवासं वच्चसि वच सअ जेअ सुणसि करणिज्ज ॥२१॥

वैलक्षण्ये उदाहरति—अन्यत्रेति । देशश्च विधेयक्रियाऽधिकरणत्वन निर्दिष्ट स्थानम्, व्यङ्ग्यार्थाप्युत्तीकरणमेव च तस्य वैलक्षण्यम् । स्वमद्भूतस्थानऽन्यास्ता सखीना पुण्यावय वारयन्त्या उक्तिरियम् । अत्रास्मीति, अहमित्यर्थे अस्मीत्यवयवम् । अहमत पुण्यावयव करामीत्यर्थ । त्वमेवान्यत्र कुञ्चित्यग्राह—ग्राहमिति । व इति बहुवचन मग्नलिरित्येकरचनञ्च बह्वपु प्रयेकमग्नलिकरणेऽप्यसामर्थ्यासूत्रनाय । अत्रेति 'अभि सार्यताम्' भनोयताम् । निवेद्यन् इति, तथाच तन्निवेदनमेव सामाजिकवाच्य व्यङ्ग्य मित्यर्थ । निर्गन्नीकरणमत्र देशस्य वैलक्षण्यम् । (A) तादृशदेशस्यात्र वाच्यत्वऽपि सतम्या अधिकरणत्वनेव निर्देशाद्देशद्वयमेव पुर स्फूर्तिकम् १ । एवमन्यस्या दूत्या साश्रियसत्तेऽपि तन्माश्रियस्यापि देशवैलक्षण्यादत्र एतादृ तदत्र पुर स्फूर्तिक' दूत्यास्तु निवेद्यार्थवाच्य प्रकरणसाविध्यादेव । कालवैलक्षण्ये उदाहरति—गुरुअणेति ।

गुरुजनपरवस प्रिय किं भणामि तत्र मन्वभाङ्गीना खल्वहम् ।

अत्र प्रयास मज्जमि अत्र स्वएमेव मन्यने करणीयम् २ ॥ इति ससृत्तम् ।

पित्राद्याह्वया प्रयसितु(प्रयस्तु)मुद्यत नायक प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । ३ तत्र c)

(A) वाच्यवैलक्षण्य एवमुदाहरणमित्याशङ्कामपाकरोति—तादृशनि । दशम्य वाच्यत्वऽपि वाच्यवस्त्वन्तरापथ्या व्यङ्ग्यार्थवाच्य उपशोगविगप एव पृथग्निर्देशनीजमिति हृदयम् । उदासो व्यमित्यादौ प्रथमाहं देशवैलक्षण्यमत्तऽपि शपाद् विशय्यतया वाच्याना वाताना एतन्उदाहवादि विशेषणेन वैलक्षण्येन वाच्यवैलक्षण्यमवति दशवैलक्षण्यत्तस्य विविक्तविषयतनि च्यम् ।

(B) अत्र टीकाकृतामनुवादमात्रानुसारेण प्राकृतश्लोकपाठो गृहीत । मुद्रितपुस्तकेषु 'मन्दभाङ्गीअ अह 'मन्दभाङ्गी अहक इति पाठभेदो दृश्यत । एव मन्वम' इत्यनुवादशनेन उगमीत्यत्रापि तन्मते पाठान्तरमनुमीयते 'उगमि' इत्यप्य तु श्रुतापि इत्यनुवादो पुन , श्रौच्यमीति सृष्ट , भविष्यत्सामीप्ये ए । बह्वप्यु श्राप्यमि' इत्यवानुदितवत् ।

(C) 'तुह' इत्यस्य 'त्वाम्' इति द्वितीयान्ततथाशुवाद स्थान इत्यस्याध्याहारा निष्प्रयोजनक इति शोच्यम् ।

1 ' अपि अनेतदधिकरणवृत्तत्या इत्यनेन पुर स्फूर्तिवाद्देशवैलक्षण्यमेव च । 2 स्फूर्तिकमिति तदुदाहरणमेव' च । 3 विद्विताश्च चपुष्पे नापि ।

अत्राय मधुसमये यदि व्रजसि तदाऽहं तावद् न भवामि,
तव तु न जानामि (A) गतिमिति व्यज्यते ।

आदिग्रहणाच्चेष्टादेः । तत्र चेष्टाया यथा—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तथा सौन्दर्यसारश्रिया
प्रोद्धास्योच्छुगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।

आनीतं पुरतः शिरोऽशुकमधःक्षिप्तं चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सद्भोचिते दोर्लभे (B) ॥२२॥

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकृतविशेषो ध्वन्यते ।

स्थाने किं मणामीत्यन्यत्र^१ । अद्य वसन्ते । 'स्वानमीष्टे उद्यमान्मन्द्भागिनीति ।
गुरुजनेत्यादिना अनिर्वर्तनीयत्वस्त्वन्तम् । "मन्यसे" जानासि । अत्रेति, "न भवामि"
मृतऽस्मि । तत्र स्थिति अत्र प्रयातोद्यमादेव न जानामि, अन्यथा तु स्वमृत्युहेतु-
क्रियाभ्यो निवर्तसे इति 'जानाम्येवेति भावः , व्यज्यते इति वसन्तकालस्य कामोद्दीप-
कत्वरूपाद्वैलक्षण्यं प्रादिति शेषः । द्वारोपान्तेति । उपनायिकाया भावं बुद्ध्वा आग-
तस्य सख्यु सख्यशुक्तिरियम् । मयि द्वारोपान्ते निविडसन्निहिते सति सौन्दर्यसार
श्रौर्यम्या, तादृश्या तथा ऋग्युग प्रोद्धास्य परस्परसमासक्तम् अन्यान्यसमासद्ग समा-
सादित प्रापितम्, समासकामिति भावे क , एव पुरतः शिरोऽशुकानयनादिकमपि
कृतमित्यर्थः । अत्रेति 'आकृत' भावः । 'कुलस्त्रीभिस्तावल्लुज्जैव क्रियते कुलदाभिस्तु
क्रियाविशेषेण 'लज्जाकरणं शाप्यते तच्च भावस्त्वन्तम्, तदिह सर्व्वैव क्रिया लज्जाकरण-

(A) गतिमिति दशामित्यर्थः । तथाच तवापि दुःखाविशयो मरणपर्यन्तोऽपि तन्भाष्यते,
गुरुजनेषु कथञ्चित्तद्विजाप्य निवर्तसेति, अथवा भवति तत्रापि तव सौभाग्यावकाश इति मम मरण-
मिदानीं तवाकिञ्चिन्करमिति व्यज्यते इति भावः ।

(1) "अप्रोरुपमासद्गादिचेष्टावैमिष्टगतु प्रच्छन्नकाशुविषय आकृतविशेषो ध्वन्यते । तत्र
प्रथमाद्धं कृष्टकमालिङ्गनम्, शिरोऽशुकं पुरतः आनीतमित्यनेन गूढभागच्छेरेति अथ क्षिप्ते
चले लोचने वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणमित्येतान्मां सूर्यास्तसमये कोलाहलरहिते काले
समागन्तव्यमिति सद्भोचिते दोर्लभे इत्यनेन पारितोषिकालिङ्गनं करोमीति व्यज्यते" इति प्रदीपः ।

1. 'स्वानमीष्टोद्यमात्' ख.न। 2. 'जानास्येवेति' क.ख। 3. 'सिध्या' क। 4. 'एव
वचने' ख ।

निराकाङ्क्षप्रतिपत्तये प्राप्तात्सरतया च पुनः पुनरुदाहियने ।
वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदे अनेन क्रमेण लक्ष्य व्यङ्ग्ययोश्च
व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम् ।

शापिक (A) ऊरुयुगममासङ्गनादीनामुद्घाटनपूर्वकत्वादेर्लज्जाकरणज्ञापकत्वात्* ।
चेष्टादेरित्यादिपदान् चेष्टाविरहपरिग्रह । यथा—

न ते मयि पदाक्षेप दूषे दृष्टिनिवारणम् ।

बहुवर्णा चतूनां मे मौनमालम्बते स्म सा ॥ इति

अत्र पदाक्षेपादिविरहोऽप्याहृतसूचक । ननु वक्त्रचैलक्षण्योदाहरणमेव 'बोद्धव्य-
बैलक्षण्योदाहरणमपि सम्भरति', तत् किं बहुमिन्द्राहरणैरित्यत्राह—निराकाङ्क्षेति,
'प्रत्येकमेवा प्राधान्येन व्यञ्जकताया किं किमुदाहरणमिन्या' * षाट्त्तानिरत्तकप्रतिपत्तये
इत्यर्थ । इत्यमेमि सहायैवाञ्ज्यार्थव्यञ्जकत्वे उदाहृतं लक्ष्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोरपि
व्यञ्जकत्वमनेन प्रयेण द्विधादिसामिश्रादाहरणेषु बाध्यमित्याह—वक्त्रादीनामिति ।
'द्विकादि' वक्त्रबोद्धव्यादि द्वित्र्यादि । 'मद' सम्भेदे मिलने । तथाहि साहन्ती
त्यादौ मनुष्यमित्यादिलक्ष्यार्थस्य यत् कामुकरिरेत्यादि व्यङ्ग्यमुक्त 'तद्वचने
वक्त्रबोद्धव्यमात्रयत्रयैलक्षण्य सहायम् । उअ निश्चलेन्यादौ यद्वचनार्थस्य व्यञ्जकत्व
मुक्त तद्वचने प्रकरणबोद्धव्यचैलक्षण्य सहायम् । अत्र च वाच्यायस्य व्यञ्जकताया
द्विकादिभेदेन उदाहरणम् "अत्ता एत्य निमज्जइ" इत्यादिक वक्त्रि पुस्तके
लिखित तिष्ठति, तनु न युक्तमेव उक्तादाहरणे ध्वर तन्सम्भरस्य निराकाङ्क्षेत्यादिना
सूचितत्वात् ।

(A) "ऊरुयुगममासङ्गनादीनामुद्घाटनपूर्वकत्वादेर्लज्जाकरणज्ञापकत्वात्" इत्यत्र द्विष्णीति
प्रतिनाति भन्वया तस्य "सर्वत्रैव क्रिया लज्जाकरणज्ञापिका" इत्यत्र हेतुत्वं साध्याविशेष इति
चिन्तनीयम् ।

(३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।

अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच् शब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

शब्देति । न हि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः ।

इति काव्यप्रकाशेऽर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम तृतीय उल्लास ॥ ३ ॥

आर्यां व्यङ्गनायां शब्दविशिष्टार्थस्य काव्यत्वमित्यभिप्रायेणाह—शब्दप्रमाणेति ।

न हि प्रमाणान्तरेति काव्ये इति शेष । नाश्वे तु प्रत्यक्षद्रष्टोऽप्यर्थो व्यञ्जक इति बोध्यम् ।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्य्यकृते काव्यप्रकाशादर्शे
अर्थव्यञ्जकतानिर्णयस्य तृतीय प्रतिबिम्बः ।

चतुर्थ उल्लासः



यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोषगुणालङ्काराणां स्वरूप-
मभिधानीयं तथाऽपि घर्मिणि प्रदर्शिते घर्माणां हेयोपादेयता
ज्ञायत इति प्रथमं काव्यभेदानाह—

(३६) अविचक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।

अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ २४ ॥

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविचक्षितं वाच्यं यत्र सः,
'ध्वनौ' इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति शेषः । तत्र च वाच्यं कचिदनुष-
युज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणामितम् । यथा—

'स्वरूप लक्षणम् । अभिधानीयमिति अभिधातु वाच्यमित्यर्थः, तद्दोषो
शब्दार्थयोर्निर्णयकारिकोत्र मानुराश' इति भावः । प्रदर्शिते इति भेदभेदरूपकर्तव्य
दर्शिते इत्यर्थः । सामान्यतस्तु 'इदमुत्तममतिशयिनो'त्यादिना दर्शितमेवेति बोध्यम् ।
ज्ञायत इति 'तत्तदर्थमिच्छित्वेन वायत इत्यर्थः, सामान्यार्थमिच्छित्तया तु सामान्य
कथनेनेव वातत्यादिति वाच्यम् ।

अविचक्षितवाच्य इति ध्वनिस्तान्दनिवक्षितवाच्यो विरचितान्यपरवाच्यश्च
भवति तत्राविचक्षितवाच्यत्व लक्षणामूलमथल एव सम्भवति, अतो लक्षणामूलत्वध्वनि
त्वयार्हशरपि' प्रदर्शनीयत्वात् तयोश्च कारिकाया' ३ पूर्वमनुक्तत्वेन 'अर्थबलमय्य तद्द्वय
शब्द' १ पूर्णणेन दृश्यत् व्याचष्ट—लक्षणामूलेति ध्वनिरिति शेष इति च' ।
व्यङ्ग्यस्यागूढत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेव न ध्वनित्वमतो ध्वनित्वबललभ्यमाह—

१ निताय क । २ तपनिरीक्षित्तया च 'तदर्थमिच्छित्वेन' न । ३ ययमत्र सङ्क्रुतवधो
कोति । ४ तपदर्थेकशब्द' न । ५ इत्यानन्त "वाच्यं त्रिधा भवत्यमूलतः त्रिधा नाद्योति
व्यङ्ग्यत्वम्, लक्षणामूलतः" क पुत्रकेचिक पाठ तत्र लक्षणं इत्यन इत्यनेति प्रतिभाति ।

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवाधोऽत्र तिष्ठति ।

जात्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विवेहि तत् ॥ २३ ॥

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति ।

एचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम् । यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सृजनता प्रथिता भवता परम् ।

विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥२४॥

गृहेति । तयात्वं एव च व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यामि^१त्येतत्स्फोरेणावाह—प्राधान्ये इति ।
 व्याचष्टे—तत्र च वाच्यमिति । अनुपयुज्यमानत्वादिति वाच्यतावच्छेदकेन
 रूपेणेति शेषः । 'अर्थांतरे' अथच्छेदकान्तरे, 'परिणमित' धर्मितया मातम्,
 वाच्यो घर्म्मि अथच्छेदकान्तरेणैव ग्राह्य इत्यर्थः । उक्तवद्विधलक्षणत्वात्प्राधान्य-
 लक्षणयामैव एवं भवतीति बोध्यम् । 'अन्यपञ्चविधलक्षणानु तु रूपान्तरेणापि
 'त्र वाच्यार्थान्वयबोध इत्युक्तम् 'अत्यन्तं वेति कारिकाञ्जलेन । त्वामस्मीति ।
 घस्मीत्यहमित्यर्थे अन्यपम् । त्वामह वच्मि उपदिशामि । समवाय स्मत् । तत्
 तस्मात् । अष्टेति, उच्यमानार्थमहिम्नैव 'वच्मि'त्यस्य अर्थस्य लाभे^२ 'वचनात्
 वचनशापनमनुपयुक्तम् अतोऽत्र उपदिशामोत्येवार्थः । 'तथाच उपदेशत्वेन रूपेणैव
 वाच्यार्थस्य वचनस्योपसर्गोपकर्मि^३मिति^४ दर्शयति—अत्र वचनादीति । 'परम्यत्तक
 वचनं ह्युपदेशः^५ । अनुपेक्षणीयत्वञ्च एतत्प्रवृत्तमूलं गूढं व्यङ्ग्य प्रयोजनम् । वचनादि-
 रित्यादिपदाद् विकल्पनं निहाहकविहृतपरम्, परापमानदायित्वं तद्व्यङ्ग्यं गूढं प्रयो-
 जनम् । मतिपदमपि प्रकृतमतिपरम्, परापमानतः स्वरक्षणं च तत्प्रयोजनं गूढव्यङ्ग्यम् ।
 सर्वत्र शक्यामेव एव लक्ष्यार्थं शक्यसम्बन्धः । अत्यन्तं वेति व्याचष्टे—एवंचिदिति
 रूपान्तरेणापि वाच्यार्थस्यान्यथानुपपत्तेरित्यर्थः । 'लक्षणलक्षणानुपपन्नक एव एवं
 सर्वो बोध्यः^६ । उपेक्षेतेमिति । प्रमाणान्तरावगतापकारिणं प्रत्येय इयमुक्तिः । अत्र

एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणाया कश्चिद्व्यक्तिः ।

(४०) विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् । एष च—

(४१) (A) कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥२५॥

च तत्रेति समीचीन- पाठः, यत्रेति पाठे तु तत्रेति मूरभ्योयम् । परं सुखितञ्चेति 'इयं क्रियाविशेषणम् । विपरीतेति उपरुतपदस्य 'अपरुते सुजनतापरस्य दुर्जनत्वे सुखितपदस्य च 'दुःखिते 'विपरीते लक्षणलक्षणपदस्य । विपरीत्यमेष च शब्द- लक्ष्यबो सम्बन्धः । पूर्वद्वये बोधव्यपुत्रस्य अपकर्तुं कौटिल्यम्, एतौ च दुःखित- त्वस्य कौटिल्यकृत्व व्यङ्ग्यम् । त्रिव्येव लक्ष्यार्थस्पातिशयो व्यङ्ग्य इति तु 'वर्षणकम् ।

बहुप्रभेदं विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिमाह—विवक्षितञ्चेति । यत्र ध्वनौ व्यङ्ग्यनिष्ठमिति व्यङ्ग्येच निष्ठा बुबोधयियापर्याप्तिर्यस्येति विग्रहः ।

तस्य विभाग चिकीर्षुषादौ द्विच्यमाह—कोऽपीति । एष च इति तु तदुत्था- पिका 'वृत्तिः । (B) वाच्यार्थबोधानन्तरं व्यङ्ग्यार्थबोध इति क्रमोऽलक्ष्योऽपरिचयो यस्य

(A) स्मरित्स्वरूपे "अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य " इति विवेचनः ।

(B) वाच्यार्थबोधानन्तरं व्यङ्ग्यार्थबोध इति क्रमोऽलक्ष्य इति । अत्रमत्र टीकाश्रुताभावात् — विभावापत्तिरिक्त्वाच्यार्थबोधस्य व्यङ्ग्यत्वादिरोधन्य च क्रमो यद्यपि सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यकाल इव एतदन्तयाभि विभक्तवानुभवयो क्वचिदु व्यभिचारिणश्च वाच्यतया तेषामेकज्ञानेन श्रुतिरिति तदितोपस्थितिसम्बन्धात् तदुत्तरं एष रसबोधो भवतीति विभावामिदं वाच्यार्थबोधस्य व्यङ्ग्यबोध- क्रमवत्त्वतायामतिस्वीकृतमेव हेतुमिति । अस्वेतावता वाच्यार्थमात्रबोधस्य रसविद्यव्यङ्ग्यबोधस्य च क्रम सर्वत्र दुर्लभ इति प्रम काव्यं । अत्र एव टीकाश्रुतौ क्रम—अन्त्येता केवलतया प्रतीतौ विलम्बेनान्वायेवामिति । तत्र श्रुतं—

'सत्रावशेषेद्विभावादेर्बोधोऽप्यत्र वा भवेत् ।

श्रुतित्यन्यसमासे तदा दोषो न क्लिप्तः ॥ इति ।

अन्यत्र च 'अत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिविभावादिप्रतीतिकारणकत्वात् क्रमोऽवश्यमस्ति किन्दुत्तर-

अलक्ष्येति । न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः,
अपि तु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः(A) । स तु लाघवान्न लक्ष्यते । तत्र—

तादृश व्यङ्ग्यं यस्येति बहुव्रीहिव्ययेन कोऽपि ध्वनिस्तादृश इत्यर्थः । परः तदन्यस्तु
लक्षणीयव्यङ्ग्यबोधक्रम इत्यर्थः । तत्राद्यो रसभावादिध्वनिर्धक्ष्यते, (B)रसादेरत्यन्ता-
कार्यकत्वेन शीघ्रबोधाद् (C)वाच्यबोधसमकालमेव व्यङ्ग्यबोध इति प्रमोदयात् ।
ननु रत्यादिस्थायिभावानां कारणानि विभावा काव्याप्यनुभावा कार्याविशेषाश्च
सहकारिणो वक्ष्यन्ते, 'काव्ये च त एव वाच्या अपि व्यङ्ग्यरत्यादिवोधे भासमानतया
प्रपाणकरसम्यायेन चर्च्यमाणा रसतामापद्यन्ते इति वक्ष्यते'* । तथाच ये विभावाद्यो
वाच्यास्त एव व्यङ्ग्यरसशरीरमिति वाच्यविभावादि-व्यङ्ग्यरसयोर्भेदाभावाद् 'वाच्य-
व्यङ्ग्यबोधक्रम एव नास्तीति 'कुतोऽलक्ष्यत्वमिति भ्रान्तशङ्कां निरस्यशाह—
न खल्विति । एवकारात् तन्मात्रस्य रसत्वव्यवच्छेदः, किन्तु (D)तन्मात्रस्य वाच्यत्व
(E)तद्विशिष्टस्य रत्यादेर्व्यङ्ग्यस्य रसत्वमित्याह—अपि तु रसस्तैरिति, शान्द-

शतपत्रभेदवद्वाघवान्न संलक्ष्यते' इति । न खल्वित्वादिवृत्तिग्रन्थेऽपि विभावादिबोधरसादिव्यङ्ग्य-
बोधयो क्रमाभावशङ्कापरीक्षाराम्यां स्पष्टोऽयमर्थ इति ।

(A) अस्ति क्रम इति । विभावादिबोधस्य कारणतया पूर्ववर्तित्वे रसादिवोधस्य च कार्या-
तया उत्तस्वर्तित्वे तयो कार्याकारणभावानुरोधेन सिद्धमेव कारणत्वस्य कार्याव्यवहितप्राक्-
क्षणरहितत्वाद्, तथा चक्षमात्रकालस्यातिमूर्धमतया रसादिव्यङ्ग्यस्यामलक्ष्यक्रमत्वकथनं युक्त-
मेवेति हृदयम् ।

(B) रसभावादिध्वनेरसलक्ष्यक्रमताया हेतुमाह—रसादेरिति । रसादीनामत्यन्ताकार्यक-
त्वञ्च मनसो विषयान्तरपराङ्मुखीकरणेन श्रुतिरिति अन्यमनाक्षेपे उपयुज्यते इति बोध्यम् ।

(C) रसादिव्यङ्ग्यक्रमस्यालक्ष्यताया हेतु शीघ्रत्वम्, तत्र शापकमाह—वाच्यबोधसम-
कालमेव व्यङ्ग्यबोध इति प्रमोदयादिति ।

(D) तन्मात्रस्येति । प्रायसो विभावानुभावयो ष्विद व्यभिचारिणश्चेत्यर्थः ।

(E) तद्विशिष्टस्येति । तथाच—'न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रस' इति वृत्तिग्रन्थे
विभावादीना यद् रसत्वमुक्तं तद् समूहालम्बनात्मकरसबोधे विशेष्यविधया नियतविषय-

(४२) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।

भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥ २६ ॥

आदिग्रहणाद्भावोदय-भावसन्धि-भावशयलत्वानि । प्रधानतया

बोधयित्यैस्तै रसो निष्पाद्यते ज्ञायते चेत्यर्थः । तथाच 'वाच्यविभाषादेर्भेदो बोधक्रमश्चास्तीत्याह—इत्यस्ति क्रम इति । तदुक्तं दर्पणे—

प्रतीयमानं प्रथमं प्रत्येकं हेतुलक्ष्यते ।

ततः सम्बलितं सर्वो विभाषादि सचेतमाम् ।

प्रयाणकरसन्ध्यायाद्यर्थ्यमाणो रसो भवेत् ॥ इति । (३५ प०)

लाघवादिति शीघ्रोपस्थितिकत्वादित्यर्थः ।

अदृश्यक्रमान् व्यङ्ग्यान् दर्शयति—तत्रेति । तदाभामेत्यत्र तत्पदेन रसभावयो-
र्द्वयोरपि परामर्शः । अक्रमः अलक्ष्यक्रमः । भिन्नो रसादीनि पराङ्गत्वे सति
रसाद्य एवालङ्कारा यद् यन्ते(Δ), तादृगालङ्काराणि पराङ्गत्वेन अलङ्कार्यतया स्थितो
य स एव काव्यस्य भिनित्वनिर्वाहकाऽक्रम इत्यर्थः । पराङ्गभूतो 'रसादिस्तु अक्रमत्वे-
ऽपि' काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यनिर्वाहक 'एवेति भिन्न इत्यादिना तत्रत्यबच्छेद-
कृत' । आदिग्रहणादिति भावशान्त्यादिरित्यादिग्रहणादित्यर्थः । भाषादयादि-

त्वेमास्वाद्यमानत्वेन च साधनस्यैव गौणम्, मुख्यं रसत्वन्तु व्यङ्ग्यतदशापज्ञाना स्याद्विभावानामेवेति
"व्यक्तं स तैर्विभाषाचै स्यादी भावो रसः स्मृतः" इति ग्रन्थकृतोऽन्वेषाच्च लक्षणै स्फुटमव-
गम्यते इति भावः ।

(Δ) चप्यन्त इति । अत्रैव "यत्राङ्गभूतो रसादि" इत्यादिना तथा पञ्चमोहासे "पते च
रसवदाद्यलङ्कारा" इत्यनेन गुणीभूतरसादीनामलङ्कारत्व वृत्तौ स्वीकृतम्, कारिकायान्तु रसवदाद्य-
लङ्काराणां लक्षणं नोक्तमेव । एवञ्च भिन्नो रसाद्यलङ्कारादित्युक्तिः अप्रतिपिद्ममुमत भवतीति-
न्यायेन परसम्मतं तत्रलक्षणमङ्गीकृत्यैवेति बोध्यम् ।

यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः, यथोदाहरिष्यते। अन्यत्र तु—प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये—रसयत्प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहितादयोऽलङ्काराः। ते च गुणीभूतव्यङ्ग्यधा-भिधाने उदाहरिष्यन्ते।

तत्र रसस्वरूपमाह—

(४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाद्यकाव्ययोः ॥ २७ ॥

लक्षणं तदुदाहरणायसरे वक्ष्यते। अलङ्कार्यतयेत्यत्र(१) अलङ्कारयोग्यतेव विवक्षितेत्याह—प्रधानतयेति। परानङ्गत्यमेव प्राधान्य सैव चालङ्कारयोग्यतेति भावः। काव्यस्य तु सर्वत्र सालङ्कारत्वं वैविध्यमात्रसत्त्वादिति प्रागेव दर्शितम्। यथोदाहरिष्यन् इति। शून्य वामगृहमित्यादिकं तद् बोध्यम्। पराङ्गत्वे तु तस्य अलङ्कारत्वमेव नालङ्कार्यत्वमित्याह—अन्यत्र त्विति 'वाक्यार्थे' रसादिरूपे, रसस्याङ्गत्वे रसवान्, भावस्याङ्गत्वे प्रेयान् आभासरस्याङ्गत्वे ऊर्जस्वी, भावशान्त्या-वेरङ्गत्वे समाहित नाम अलङ्कार इत्यर्थः। गुणीभूतव्यङ्ग्यधाभिधान इति अरण्यगुणीभूतव्यङ्ग्यस्य अभिधाने कृते सतीत्यर्थः, एते च रसवदाद्यलङ्कारा इति 'तदुत्तर वक्ष्यमाणत्वात्'।

'रसस्वरूप' रसलक्षणम्। तत्र विभावाद्येभ्यःक स्पष्टिभावो रस इति रस-लक्षण कर्तुं विभावादिपरिभाषा ग्राह्यति—कारणानीत्यादिना ध्यभिचारिण इत्यन्तेन। अन्यत्र सहकारिपद कारणान्तरपरम्, अत्र तु रत्यादेः कार्याविशेषपरमेव, रत्यादिस्वकारणव्यञ्जने शीघ्रकरितारूपात् सहभावात् तथा व्यपदेशः। तानि च निर्वेदाद्यस्त्रयस्त्रिंशद्भाषा वक्ष्यन्ते। रत्यादेरिति—

(१) अलङ्कार्यतयेत्यस्य अलङ्कारविशिष्टतयेत्यर्थकत्वे निरालङ्कारस्य रसादेरन्तत्वा-भास्तीत्यासाह्या स्यात् तत्राकारण्यं व्याख्ये—अलङ्कारयोग्यतेति।

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

(A) व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥२५॥

'रतिर्हासश्च शोकश्च प्राधोत्साहौ भय तथा ।

भ्रुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा प्रकीर्त्तिता ॥

इति वक्ष्यमाणस्थायिभावानामित्यर्थः^१ । एतच्च स्थायिन स्थायिपरिभाषितस्य रत्यादेर्यानि कारणानि (B) आलम्बनाद्दीपनरूपविशेषा, यानि च कार्याणि गणयिष्यमाणत्रयस्त्रिंशत्कार्यमित्येवमित्यसामान्यम्, यानि च सहकारीणि विष्वेदाद्यम्ब्रयस्त्रिंशत्कार्यविशेषा लोके नाद्यकाव्यमिश्रलोकलयहारे कारणानितर्यैव ध्रुयन्ते इति शेषं तानि चेन्नाद्यकाव्ययोर्द्वयद्वयन्ते इति शेषः, तदा यथाम्बुक्ष्य (C) विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च कथ्यन्ते इत्यर्थः । व्यभिचारिणा सञ्चारिपरिभाषाऽपि देशेण्ड्यामे व्यतीभ्रमिष्यति । अत्र च रत्यादेरित्युक्तयैव निर्व्याहे स्थायिन इति यदुक्तं तेन रसान्तरस्थायिभावरस्य रसान्तरे स्थायिभावत्व नारितं किन्तु (D) व्यभिचारित्व-

(A) "व्यक्तं व्यक्तिविषयीकृतं, व्यभिश्च भ्रम्रावरणा कित्" इति रमगङ्गाधरकारा । अत्र "सूत्रे 'तै' इत्यनेनैव विभावादिप्रसूतौ विभावाद्यैरिति सहायं कृतीया, तेन विभावाद्यै सह तैर्यैक इत्यर्थो रसान्य समुद्रालम्बनरूपतात्पर्यम्" इति प्रदीपोद्गात । "नैरिति महायं कृतीया, विभावादिभिर्व्यक्तं तैर्विभावादिभिः सहैति समुद्रालम्बनरूपता" इति परमानन्दचक्रवर्ती ।

(B) आलम्बनोदीपनरूपेति । प्रदीपकारैस्तु उदीपनस्य कारणत्वं "वक्ष्ये उदीपकस्य स्थायिनि न कारणत्वम्, किन्तु तत्र तस्मिन् ईषदुत्कर्षाधायकत्वस्फुटीपकत्वम्, तथाऽप्युदीपितो ज्ञातमात्र एवेत्युदीपनेऽपि कारकत्वोपचारात् तत्रापि विभावत्रयद्वार" इत्युक्तम् ।

(C) विभावा इत्यादि । विभावादिशब्दानां व्युत्पत्तिं प्रदर्शिता प्रदीपकारैः—विभावादि-संज्ञा च विभावतादिष्वापारयोगात् । तत्र यथा—वायनाद्यनया स्थितान् रत्यादीन् स्थायिनो विभावश्चेति रसास्वादाद्गुरुयोग्यता नयन्तीति विभावा, अनुभावयन्ति च तानिन्यनुभावा, पोषकमया विशेषेण अभित काय स्थायिनं चारयन्ति विशेषणाभिमुख्येन चरन्तीति वा व्यभिचारिणः इति ।

(D) व्यभिचारित्वमिति । तथाच साहित्यदर्पणे—'रत्याद्योऽप्यभिषयते रसे त्युर्व्यनि चारिणः' इति ।

१ 'रतिर्हासश्च शोकश्च' इत्यादिना वेदोः स्थायिभावा वक्ष्यन्ते यत्र शान्तिरसथायिभावत्वं निर्वृत्तौ प्रिय वक्ष्यते देशमिताय ग । २ 'इत्यर्थः' एतदन्तरक म पुसकयो नशाव कार्यानि विभावा कार्याऽनुभावा सहकारीणि च व्यभिच रिणः सच्यन्ते इत्यादि" इति श्रीश्रीचक्रो इत्यने, स च पूर्ववाक्यस्य टिप्पणीति प्रतिपाति ।

राम एवायम् अयमेव राम इति, 'न रामोऽयम्' इत्यौत्तरकालिके
 धाये रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वायमिति, रामसदृशोऽयमिति
 च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो बिलक्षणया चित्र-
 तुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे—

'नर्त्तिके' अनुकारके । काव्ये तु रामादायेवेति बोध्यम् । 'प्रतीयमान' व्यज्यमान ।
 इत्य व्यञ्जनया रामादौ सामाजिकैः प्रतीयमानो रत्यादी रस इत्युक्तम्, राम सीता-
 विषयकरतिमानित्याकारकज्ञानसम्बन्धेन सामाजिकवृत्तित्वादेन सामाजिका रसवन्त^१ ।

अत्र मते व्यञ्जनाधीनज्ञानस्यास्वादरूपत्वं नास्ति साक्षात्कारस्यैव तथात्वादिति
 दूषणमपेक्ष्य तस्य साक्षात्कारत्वमुपपादयितुं श्रीशङ्करस्य मतमाह—राम एवाय-
 मिति । अत्र मते रामत्वेनाहाव्यंशाने(A) नटे, काव्ये तु राम एव प्रथमं विभावादिभ्यो
 रत्याद्यनुमानम्, ततस्तत्रनुमानोद्वाधितया सामाजिकानां (B)वासनात्मिकया प्रत्यासत्त्या
 साक्षात्कारतो रामादिरत्यादी रस इति निर्वर्ण । तत्र नाट्याभिप्रायेण पक्षभूत-

ष्याद्धारशून्यानाम्, प्रतीतौ बिलन्वेन प्रकरणाद्यनुमानकृतेनेति शेष, अन्येषां विभावादि-
 श्रयभिन्नभिन्नानां विभावादीनाम् आशेषादित्यर्थः ।

(A) विरोधिनिश्चयदत्तायामिच्छाप्रयोज्यं ज्ञानम् आहाव्यंज्ञानमित्युच्यते, रामभिन्नत्वेन
 ज्ञाते नटे "रामोऽयम्" इति ज्ञानमिच्छयैव सम्भवतीति तदृशज्ञानस्याहाव्यत्वमुपपद्यते
 इति बोध्यम् ।

(B) वासनेत्यादि । अत्र वासना रत्यादेः सूक्ष्मावस्थाविशेषः । अनुमानोद्बुद्धा च वासना
 रत्यादिस्मृतिरूपतया पर्यवस्यति । तथाच ज्ञानव्यङ्ग्या प्रत्यासत्तितेनोक्ता । अत्र एव साक्षात्-
 कारपक्षमप्यत्र प्रत्यक्षमात्रराम, न तु लौकिकप्रत्यक्षराम, तत्कारणानां पद्विषयलौकिकसन्निकर्षाणां
 परकीयरत्यादावमन्भवान्, ज्ञानलक्षणमत्रिकर्षस्य तु अलौकिकमिच्छासमये गणनेन तत्-
 कार्याभ्यामलौकिकत्ववैवित्यात् । 'निर्वर्ण' इति । तथाच भट्टश्रीदत्तमते रसस्याधयो रामादि-
 स्तुकार्थं, तत्प्रतीतिकारणं व्यञ्जनावृत्तिः, तदधीनप्रतीतिज्ञावामेष रत्यादे रसत्वाद्, रसायं
 विशेषमीभूताप्रतीतिरन्वय एव रसपक्षाध्वपक्षारणियामक इति सामाजिका रसवन्त उच्यन्ते ।
 श्रीशङ्करमते तु अभिनयम्यङ्गं नटाद्योऽभिनेता काव्ये तु रामाद्य एव रसस्याध्वय, तत्प्रतीति-
 कार्णं न व्यञ्जना किन्त्वनुमानोद्बुद्धवामनेति विशेष इति बोध्यम् ।

सेयं ममाङ्गेषु (A) सुधारसच्छटा सुपूरकपूरशलाकिका दृशोः ।

मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥ २५ ॥

द्वैवादहमद्य तथा चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च ।

अविरलयिलोलजलदः कालः समुपागतश्चापम् ॥ २६ ॥

इत्यादिकाभ्यानुसन्धानरलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च
नटेनैव प्रकाशिनैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभि-

नद्वानाकारमाह—राम एवेति । चित्रलिखित तुरगे यथा तुरगोऽयमित्याहार्यं
प्रतीतिस्तथाभूतया रामाऽयमित्याहार्यप्रतीत्या ग्राह्ये नटे पक्षे, विभावादि-
शब्दव्यपदेश्यैः कारणकार्यसहकारिभिः हेतुभिः अनुमीयमानो रामादि-
रत्यादि सामाजिकानां वासनया प्रत्यामरया कारणभूतया चर्च्यमाणः
मात्मान्प्रियमाणा रस इत्यन्वय । तत्र रामत्वेन नद्वानस्य सम्यगाद्विज्ञानचतुष्टयभिप्र-
त्वेन आहार्यरूपतां परिशिष्यग्राह—सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो
विलक्षणयेति । तत्र साधारणसम्यग्ज्ञानद्वयाकारमाह—राम एवाय-
मिति 'अत्र रामत्वायागा नास्ति इति 'रामत्वायागरहिताऽय'मिति वा प्रथम
स्यार्थ (B) । 'एतद्व्या न राम'(C) इति 'एतद्व्यसामान्यनिष्ठभेदप्रतियोगिचमा-
भिन्नाऽय मिति वा द्वितीयस्यार्थ । एतद्व्यमुपलक्षणम्, अथ राम इत्यनवधारणात्मकस्य
सम्भ्रग्ज्ञानस्यापि सम्भ्रजात् तताऽपि विलक्षण्य वाच्यम् । बाधानवतारदशायाम्
अदामे रामत्वेन ज्ञानमिष्याज्ञानम्, तदाकारमाह—रामोऽयमिति, ईदृशे तु औत्तरकालिके
वापे भाषिणि तत्पूर्वं रामाऽयमितिन्त्यर्थ । संशयाकारमाह—रामः स्याद्वेति ।
सादृश्यप्रतीत्याकारमाह—रामसदृशोऽयमिति । आभ्य प्रनातिभ्या विलक्षण्येत्पर्य ।

(A) सुधारसम्य छटा तरङ्गपतन्वात्पर्य ।

(B) अत्र रामपदमद्वैतस्यैवकारस्य अयागव्यवच्छेदार्थकतया ईदृशोऽन्वयसंध इति शोयम्,
तत्रापि असति बाधके प्रथमान्तपदार्थो मुख्यविशेष्यतया भाग्यत इति नियमानुसारेण रामत्वायोग-
रहितोऽयमिति द्वितीय कल्पः । एवमुत्तरापि ।

(C) अत्रायम्पदमद्वैतस्यैवकारस्य अन्यथागन्वयवच्छेदोऽर्थ इति एतद्व्यस्मिन् रामत्व
योगाभाव इति त्रितीयस्य पर्यवर्तितवार्थ ।

मन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगाद् गम्यगमकभावरूपाद्

अनुमातृसामाजिकानां विभावादिज्ञानोपायमाह—नटेनैवेति । काव्ये तु वास्तव एव रामे (A)शब्दैर्विभावादिभिरित्यर्थः । नटेनापि प्रकाशनस्योपायमाह—शिक्षेति । गुरुदेशः शिक्षा, पौन पुन्येन प्रवृत्त्या दृढतरः सकारोऽभ्यास, ताभ्यां निर्व्यर्त्तितस्य निष्पादितस्य स्वकार्यस्य अभिनयस्य प्रकटनेन प्रकाशनेन चेत्यर्थः । तत्र प्रकाशनेऽभिनेयार्थज्ञापकं काव्यानुसन्धानमपि हेतुरित्यतस्तत्समुच्चयबोधक-धकार । अनुसन्धेयं काव्यग्रन्थमाह—सेयमिति दैवाद्दहमिति च । तवाद्यं सम्मोग-शृङ्गारनाश्ये, द्वितीय विप्रलम्भनाश्ये । तत्र आचार्यां यथा—अदर्शने या तत्तद्दुःख दत्तवती सेय सीता मम रामस्य मनस सकाशात् लोचनगोचर गता प्राप्ता, गोचरमिति भावप्रधाननिर्देशाद् गोचरत्वमित्यर्थः । पूर्वं मनोगोचर एवासीदधुना तु लोचनस्यापि गोचरोऽभूदित्यर्थः । सा कीदृशी? बहुष्वेवाङ्गेषु सुधारसस्य हृदा कणावुष्टि, तथा दृशो शोभन पूरः समूहो यस्य तादृशस्य कर्पूरस्य शलाकिका स्वल्प-शलाका तादृश्या शलाकया दृशि कर्पूरदानेन दृकमीणतात्, तथा दुष्प्रापिपयेच्छा मनोरथ तस्य विषयप्रातिरूपा श्री शरीरिणी । केचित्तु मनसां मनोरथश्रीरित्यन्वय-माहुः । अन्ये तु मनस शरीरिणी मनोनिर्मितशरीरवतीत्यन्वयमाहुः, सद्ब्रह्ममपि मनस इत्यस्य वैयर्थ्यापातादुपेक्षितम् । द्वितीयश्लोकार्थस्तु स्पष्ट एव । तत्र “तया” सीतया । अचिरलो विलोलो जलदो यत्र तादृश वर्षाकाल इत्यर्थः । इत्यादि—काव्यस्य नटेन यदनुसन्धान तद्वलादित्यर्थः, अभिनेयार्थज्ञाने सत्येव अभिनयसम्भवात् । ननु कृत्रिमत्वेन सीताविज्ञाने कथं तद्विषय^१रामरत्यादिज्ञानमित्यत आह—कृत्रिमै-रिति । यद्यपि कृत्रिमत्वज्ञानस्यानुभवसिद्धस्य दुरपह्वत्वेन अनभिमानासम्भवं परं तथाऽपि अकृत्रिमत्वेनाभिमन्यमानैरिति नञ्ब्यत्यासेनात्रान्यत्र कृत्रिमत्वज्ञानसत्त्वेऽ-प्याहार्याःकृत्रिमत्वज्ञानसम्भवात् । सूत्रे संयोगादित्यस्य मिलन(B) गम्यगमकभावधार्थ

(A) शब्दैरिति । शब्देनोपस्थापितैरित्यर्थं शून्यं वासगृहमित्यादौ नाधिकारिणां शब्दादे-षोपस्थितैरिति बोध्यम् ।

(B) मिलनमिति । अयम्भाव —विभावादीनां स्मन्तरसाधारणतया व्यभिचारेण प्रत्येकं तेषां रत्याप्रनुमापकत्वं न सम्भवतीति मिलितानामेव तथात्वं वाच्यम्, तथाच व्याप्तिपर्यवमित्यन्य गम्यगमकभावस्यान्यथाऽनुपपत्त्या तदुपस्थापकेन संयोगपदेन स्मारितस्य मिलनरुपार्थस्य विशेषणविधया विभावादानुबाध्यनिचारिष्वपि अन्यथे तात्पर्यमनुसन्धेयमिति ।

अनुभोयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्यादित्येन संभाव्यमग्नो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामा-

इत्यभिप्रायेणाह—गम्यगमकमात्र' व्याप्ति । तथाच अयं राम सीतादिविषय(क)रतिमान् सीतादिविभावादिमत्त्वादित्यनुमानम्(A) ; तद्विद्वत्तादिरत्र मतुवर्थ' (१) । परमनुमितस्य रत्यादेर्वासनया ग्रन्थामत्या साक्षात्कारे (B) वृद्ध्यादे रथनुमितस्य साक्षात्कारापत्ति पश्चिरति—वस्तुसौन्दर्येति, तदेव च अन्यानुमीयमानसैलक्षण्यम् । बाधमिद्वसाधनपरिहारार्थं(C) पक्षताद्यदकसगयमत्त्व दर्शयति—स्थायित्वेनेति पक्षस्थापित्वेनेत्यर्थ । तत्रेति नटे सामाजिके(D) चेत्यर्थ । (E)अप्यतः-

(A) प्रदीपोद्योते तु रामोऽयं सीताविषयकरतिमान् सीतावात्मकविभावादिमन्वित्वात् सीतादिविषयककटाक्षरतिमत्त्वाद् वा यत्रैवं तत्रैवं यथाहमिति प्रयोगो दर्शित । अत्र हेतुद्रव्योपन्यासेन पृतन्मते विभावादीनां प्रत्येकमनुभाषकत्वमवगम्यते ।

(B) साक्षात्कार इति, साक्षात्कारेण रमनीयत्वे इति फलितार्थ । एवमुत्तरत्रापि ।

(C) परिहारार्थमिति । अयमत्र प्राचामभिप्राय , पक्षे माप्यस्य तदभावस्य वा निश्चये अनुमितिनं भवतीति सन्नेयामनुभवस्वरथमनुमिति प्रति तदुभयस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षया तदुभयामत्त्वदशायामेव सम्भावितवत्त्वस्य पक्षे साध्यमशयस्य अनुमिती कारणत्वं छाप्येन कल्पनीय स एव च पक्षेति ।

(D) सामाजिक इति । एतेन रमप्रकृतिभूताया रत्यादिव्यक्तैव नटसामाजिकयोरसत्त्व-मुकमित्यवगन्तव्य न तु रत्यादिम्यायिभावमात्रस्य, तेन सामाजिके रत्यादिवामनास्वीकारेण तैरेपि तत्र स्वीकार आवश्यक इति ग्रन्थविरोधो नास्तद्वनीय ।

(E) असन इति । अमदित्यस्य विशिष्टेभ रूपेण क्वचिदप्यनवस्थितमित्यर्थ , अमविषय इति तु सत्त्वम् । नत्वमत्पदमत्र अलीकपरं अलीकस्य ज्ञानामम्भारेण तद्विभ्रमेष्टमापनताज्ञानस्याप्य-सम्भवात् तद्गीताया इच्छाया अपि अलीकविषयकत्वामम्भरेण तत्र तस्या दृष्टान्तत्वेनोपन्यासा-नीचित्यात् । विशिष्टरूपेणामत्र 'कनककटली'पेष्टनप्रेक्षणीयपेशलेन्द्रनीलरचितक्रीडासौल'वत् शून्यविषयत्वमिच्छाविषयत्वञ्चोपरदात एव । ज्ञानपक्षे तु एवमपि स्वीयपरतिवापनया परकीयसतेर् सम्बन्ध परकीयपरतिवासनायास्तु न सामाजिकवृत्तित्वमिति उद्घोषिताया अपि तस्या परकीय-रतौ साक्षात्पञ्जिकर्तृत्वामम्भवो दोषान्तराऽपि स्वविषयतित्वादिभ्य सम्बन्धोऽस्त्येव । तथाच स्मृतिपर्यवमिताया उद्बुद्धवासनाया सजातीयरत्यादिविषयीकरणं स्वभाव इति निर्गल्लिवोऽर्थ । परकीयते स्वसामानाधिकरण्येन ज्ञाने तत्र अमविषयत्वविषयमेव इच्छाप्य अत्र दृष्टान्तत्वमपि साधु सङ्गच्छते इति छद्मनिर्विभाषणीयम् ।

जिकानां वासनया चर्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुः ।

न(A) तादस्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभि-

ऽप्यर्थस्य विषयोकरणमिच्छाया इव वासनाया अपि स्वभाव इति भावः । तथाच उक्तानुमानतुल्य^१साक्षात्कार(B)विषयो रत्यादिरत्र मते रस इति निष्कर्षः ।

अस्मिन् श्रीशङ्कुक्रमते कारणान्तराधीनाया एव(C)वासनाद्वयप्रत्यासत्ते स्वीकारः, तस्या-

(A) तादस्य उदासीन, प्रकृते सप्रतीतेरनुकार्यारामादीभामनुकर्तृभवादीनां वा एसादिवननेऽनुपकारकतया रसस्तदस्य, तन्नाचस्तादस्य तेन । नदरामादितृप्तिवेति तु फलितार्थः । न प्रतीयते इत्यादि । अस्य विवरणकारादिकृत व्याख्यानं बालबोधिण्या उद्धृतम्—
“न प्रतीयते नानुमीयते तदानीं रामादीनामभावेन तदत्यादेरप्यभावात्, असत् सत्त्वेनानुमान-
प्रमाणाविषयत्वात् ; वस्तुतो रामगतया नदयतत्त्वेनानुमित्याऽपि रत्या सामाजिके प्रत्या तच्चमत्-
कारजननासम्भवात् । नोत्पद्यते न जन्यते विभावादीनां वास्तविकत्वाभावात् ; नाभिव्यज्यते न व्यञ्जनया उपस्थाप्यते सिद्धयैव तन्प्रसम्भवादि” । इति विवरणम् । “अभिधात इत्युप-
लक्षणम् लक्षणात् इत्यपि बोध्यम् ।” इति साख्योधिनी । द्वितीयेन अन्वयेन । विभावादीति,
अन्वयसम्बन्धित्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्थायिनश्च व्यक्तिविशेषादापरिहारेणोपस्थापन साधारणी-
करणम्, सदात्मना । “भाव्यमान साधारणीक्रियमाण । सर्वोद्रेकेत्यादि, सर्व गुणयोद्रेकेण
रञ्जितमसी अभिमूयाविभक्तिं य प्रकार, म एवानन्दात्मिका सचित् ज्ञानम्, तस्य विभ्रान्ति
शेषान्तरसम्पर्करादित्येनावस्थानम्” इति विवरणम् । नोत्पद्यत इति । अत्र सामाजिकप्रतीति-
विषयताऽऽत्ररामादिरत्यादी रस इति सिद्धान्ते विशेषणीभूताया प्रतीते कारण सामाजिका,
विशेष्यभूताया रते कारणञ्च रामादिरिति विशिष्टस्य कारणत्व न कुत्रापि सम्भवतीति
कारणासम्भव एव रमानुत्पत्तिवोऽनुमन्धेयम् ।

(B) साक्षात्कार इति । प्रदीपकाराऽनु श्रीशङ्कुक्रमते रत्यादेरनुमानातिरिक्त साक्षात्कार
नाभ्युपगच्छन्ति । तथाहि “सर्व चानुमिति स्वमतकारप्रतीतिरूपा चर्वाणा, अतस्त्वया विषयी-
क्रियमाण स्याथो रस इत्युच्यते । चर्वाणा च सामाजिकानामिति तेष्वेव रस इति व्यवहारः”
इति । अत एव तैत्रय मते दूषणमप्युक्तम्—“श्रुतदृश्यदृश्यग्राहि यत् प्रत्यक्षमेव ज्ञान सचमत्कार
नानुमित्यादिरिति लोकरसिद्धिमवभूयान्यथा कल्पने मानाभावः ; सूत्र्यान्यथैव योजन-
सम्भवात्” इति ।

(C) वासनाद्वयप्रत्यासत्ते स्वीकार इति । अत्र वासना यदि ज्ञानविशेषस्तदा तस्या
ज्ञानरूपसन्निकर्षत्वं निर्विवादम्, रत्यादिविशिष्टे सामाजिके सत्या. स्थितेरावयवकत्वेन

व्यज्यते^(A), अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिस्माधारणीकरणात्मना भावरूत्वव्यापारेण भाव्यनातः

अनुमानादुद्वाह इति गौरव^(B) परिहरता भट्टनायकस्य मतमाह—न तादृस्थेनेति । अत्र अने भावकत्वाख्य एको व्यापार सामाजिके कायेन नाट्येन च जन्यते, तत्र च प्रत्यासत्या रामादिरत्यादिसात्तात्कार इति निष्कर्षः । भट्टलोहट्टमते एकोयस्य रत्यादेर्यङ्गन्या बोधः तत्र च स्वावृत्तित्वमानमर्थमिदम्, तत्रिरस्यति¹ न तादृस्थेनेति न स्वावृत्तित्वेनेत्यर्थः । एतच्च 'स्ववृत्तित्वपर्यगसानमपि निरस्यति—नात्मगतत्वेनेति, रसाऽत्र रत्यादि प्रतीतस्यैव रसत्वात् । रामादिरत्यादौ स्वीयत्वमस्वीयत्वञ्च न गृह्यते^(C) इत्यर्थः । काव्यनाट्यज्ञान विनैव मीतदौ रामादिरत्याद्युत्पत्तेर्ह प्रत्याशह^(B) नोत्पद्यत इति काव्यनाट्याभ्यां नात्पद्यते इत्यर्थः, ताभ्यामेव

तदुत्पत्तिकल्पनागौरवमपि नास्ति, तस्या भावनाख्यसत्काररूपत्वे च अनुमानादुद्वाहे सति स्मृतिरवश्यमङ्गीकार्या, एवञ्च सत्पदेषुपि स एव दोष इति किमतेन सन्दर्भेण पदार्थान्तररूपा वाचना, एन्या प्रत्यासत्तित्वभेद्यनयोर्द्वयोरेकतास्यैव वा कल्पः शेषः प्रदर्शित इत्यनुमन्वेयम् ।

(A) नाभिव्यज्यत इति अयमभिप्रायः—भट्टैतवादिमते प्रातिभासिकसत्ताविशिष्टायां सत्त्व-शुक्तिरजतादीनां ज्ञानागोषराषम्ययाऽव्यम्यानं यथा नाङ्गीक्रियते तथा प्रसीयमानतादायातेव रत्यादीनां रसत्वमङ्गीकुर्वन्निताड्डारिकैरपि रसानां ज्ञानागोषराषम्यया सत्त्व नाङ्गीक्रियते । व्यङ्ग्यत्वन्तु पूर्वं प्रसिद्धस्यैव कल्पेन—यथा अधिकारे स्थितौ घटादि प्रदीपनं व्यज्यते इति । एवञ्च जज्ञातावन्मया सत्त्वरूपम्य व्यङ्ग्यत्वनियतधम्मन्वाभावाद् रसम्य व्यङ्ग्यत्वमपि नोपपद्यते इति । एतावताऽपि भट्टनायकमतस्य भट्टलोहट्टमताद्वैलक्षण्यं बोध्यम् ।

(B) गौरवमिति । इत्मुपलक्षणम्, परोक्षज्ञानस्याहापर्यन्तानभ्युपगमे नटे रामत्ववापनिश्चय-सत्त्वन अथ राम इति नटे रामत्ववापगाहिनी अनुमितिरिव न सम्भवतीत्यपि दोषो दृश्यः ।

(C) न गृह्यत इति । अयमभावः—भट्टलोहट्टमते राम सीताविषयकरनिमानित्याकारको दाशरथिविशेष्यको रसानुभवः, श्रीशङ्कमते च अथ सीताविषयकरनिमानित्याकारको नटरिशेष्यकः, उक्तमतद्वये परानाया रते सामाजिकवृत्तित्वाभावेन भरस्यदापातो दोषः, रसानुभवम्यालुमिति रूपत्वे चमत्कारित्वानुपपत्तिश्च साज्ञानस्मारम्यैव चमत्कारित्वानुभवात् । उक्तदोषेण रत्यादि सामाजिकवृत्तितयैव रसानुभवविषय इत्युक्तौ सभ्यानां वीजाऽऽतद्वाचापादौ इति रसानुभवे स्थावि-

१ 'सावृत्तित्वपर्यगसानमपि निरस्यति' इति । २ 'सवृत्तित्वपर्यगसानमपि निरस्यति' इति ।

स्थापि सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्धिश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन
(A) भुज्यते इति भट्टनायकः (B) !

तदुत्पत्तिरिति भ्रमनिवृत्तार्थमिदमुक्तम्, न तु तदुत्पत्तिरेव नास्तौत्यर्थं प्रमाणसिद्ध्या-
स्तदुत्पत्तेर्दु रणह्यन्यात् । भट्टलोह्यप्रतीकं तस्याभिध्यङ्ग्यत्वमपि निरस्यति—नाभि-
ध्यज्यत इति । तर्हि त्वया कीदृगुच्यते इत्यत्राह—अपि तु इति । काव्ये नाट्ये
व हाते सति पुरुषे जायमानेन भावकत्वाख्यव्यापारेण भाच्यमानः सन्निधाप्य-

भावमात्रं विषयो न तु तदाश्रयत्वात्, अनुकाव्यानुकूलं सम्येयु कश्चिदपि । एतेन पूर्वोक्तमतद्वयापेक्षया
भट्टनायकमते विशेष स्पष्ट एवेति ।

(A) भोगेनेति । अस्य भोजकत्वव्यापारेणेत्यर्थं, तादृशव्यापारस्वीकारप्रयोजनन्तु
भावन्दांशावरणमद्बो विषयान्तरतिरस्काश्च । व्यक्तीभविष्यति चेदमुपरिष्ठात् । एवं भुज्यत इत्यत्र
भोगः सत्त्वोद्रेकात् प्रकाशमानानन्दस्वरूपा स्थायिभावविभाषाद्यतिरिक्तालम्बनशून्या लौकिक-
दृष्टानुभवविलक्षणा सविदिति प्रदीपोदुद्योतयो स्पष्टम् ।

(B) भट्टनायक इति । प्रदीपकारास्तु—आशयो पक्षयो सदोपत्तेन भट्टनायकमतेन
'विभावादिमि सयोगाद् भोग्यभोजकभावसम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिर्भुक्ति' इति भरतसूत्रं
व्याख्याय 'न च भोगपक्षेऽपि दोषावकाश भोग्यालौकिकत्वात्, तदाभ्यन्यनिष्ठं स्थायी
अन्यनिष्ठैरेव विभावादिमि कथमन्येन भोजन्य, अनिप्रसङ्गादिति चेत् उच्यते,—शब्दात्मन
काव्यस्य त्रयो व्यापारा—अभिधा भावकत्व भोजकत्वश्च । तत्राभिधा निरन्तरसान्तरार्थ-
निष्ठत्वेन दिधा । भावकत्वं साधारणीकरणम्, तेन हि व्यापारेण विभावादय स्थायी च
साधारणीक्रियन्ते । साधारणीकरणञ्चेतरेव यत् सौतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोप-
स्थिति, स्थाप्यनुभावादीनाञ्च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन । अन्त्यं व्यापारद्वय नाट्ये-
ऽपि । एव काव्ये नाट्ये च द्वितीयव्यापारेण साधारणीकृतैर्विभावादिभिर्मन्तीयव्यापारसाहित्येन
तथाकृत एव स्थायी भुज्यते इति वन्मतं च विवृत्य तत्र 'तत्रपि न सम्यक्, एतादृशव्यापार-
इषकल्पने प्रमाणाभावात्, मुक्तेर्जातविरिक्त्यानुभवशोधितत्वेन निष्पीड्यमानस्य चास्य अमि-
व्यक्तिषु एव पर्यवसानादिति दोषं ब्रुवन्ति । तत्रेदं चिन्त्यते, 'विभाषनादिव्यापारवत्त्वा'-
दित्यनेन प्रप्तो विभावादिमाध्यामीकरणार्थं व्यापारविशेष मिदान्तपक्षेऽप्याश्रयश्च इति भट्ट-
नायकमते भावकत्वव्यापारकल्पनाया विध्वंस्यमाणकल्पनममङ्गलमिति । रसगङ्गाधरकारास्तु—
एतन्मतमुपान्यस्य "मत्त्वैतत्त्वं पूर्वस्यान्मतात् (आचार्याभिनयपुराणमन्त्रात्) भावकत्व-
व्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः ; भोगन्तु व्यक्तिर्भोगकृत्त्वन्तु व्यक्तुनाद्विदिष्ट"मिति ब्रुवन्ति ।

पयन्तु—यथा वेदान्तमते अविभाषा विशेषावरणरूप सन्निध्यम्, एवम् एतन्मतेऽपि विभावादीनां

मान(A) सन् रत्यादि 'भोगेन' साक्षात्कारेण 'भुज्यते' विषयीक्रियते इत्यर्थः ।
 ईदृशश्च साक्षात्कारः स्वप्रकाशानन्दमयो विद्यमिशिष्ट सन्नेन स्वरस इत्यग्रे स्फुटी-
 भविष्यति । रत्यादिः कीदृशः ? 'स्याथी' काव्यनाट्ये च विनापि रामादौ स्थापितमात्र
 स्यादियपरिभाषितो वा । भावकत्वयापारेण कीदृशेन ? 'अभिधातो(B) द्वितीयेन',
 विधिनाम्यस्थलिङ्जन्य (C)पुरुषनिष्ठ 'प्रसक्तकव्यापारोऽभिधा तत्तुल्यकक्षेण ।
 यास्यजन्यत्वेन पुरुषनिष्ठत्वेन च तत्तुल्यकक्षता । तदुक्तम्—

भावकत्वं भोजकत्वमेति व्यापारद्वयम्, तयोरप्येव चिन्तया अपि सीतापालनकरामादि-
 रत्यादयो ह्यतन्तुन्वायेन सामाजिकानामन्त करणे पुनराविर्भाव्यन्ते, सङ्काव्यंवादिना मते
 कारणे सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्यैव नाशपरार्थतया नष्टाना पुनरुद्भवो नानुपपन्न, तामामेव रत्यादि-
 व्यतीनां पुनरुद्भवासम्भवेऽपि तदीयलक्ष्यस्थानगतविशेषाधीना सामाजिकानां स्वनायिकादि-
 विषयस्यादिविच्छेदना रत्यादयस्त्वेषामन्त करणे आविर्भवन्तीत्यभ्युपगम्यत्वं तत्रैव च भावकत्व-
 व्यापारस्य सामर्थ्यम् । रत्यादीनां चित्तवृत्तिविशेषाया साक्षिभावस्यत्येऽपि साएकस्य कुरुपादि-
 दंपणप्रतिकूलितवृत्तिसङ्घरणरसगम्यकक्षेण भोजकत्वव्यापारेण हृतावस्थाविशेषभङ्गेन इतरसल-
 साक्षानुहारविलक्षण उच्च प्रकाशो भवतीति भोजकत्वव्यापारोऽपि सफल । एवञ्च एतन्मते
 रत्यादीना पसतत्वे भरत्यतापात स्वगतत्वे धीनाद्यापचितिरत्यादि दूषणं निरवकाशम् । वृत्ति-
 गतश्च विश्रान्तिमतरनेत्यन्तम् अभेदेन भुक्तधात्वर्थे अन्वित षेडित्यम् । मीमांसशास्त्राच्च-
 प्रसिद्धभावनार्थकाभिधादि-साग्निष्याद भाव्यमान इत्यत्र उत्पाद्यमान इत्यर्थपरिग्रहस्यैवित्येऽपि
 प्रकृते तदमम्भवाद उन्पत्तिपदार्थस्यैव मतास्तरे आविर्भावरूपतया ध्यातुनाथोऽपि कथञ्चिद्
 गृहीतो भवतीति भट्टनायकमतं तत्कृतप्रत्यक्षबलोकनविमूढधियो वृत्तिस्यपरैकवासा अधिया-
 मालोचनार्थमुपन्यस्याम ।

(A) सन्निभाप्यमान इति । भाव्यमान इत्यस्य मीमांसकमतानुसारेणोत्पाद्यमान इत्यर्थकत्वे
 तानां नष्टस्य रामादिरत्यादेरनुपपत्त्यसम्भवाद्वाप्य इत्यतो व्यस्ये—सन्निभाप्यमान इति, सन्निष्ठ
 क्रियमाण इति तदर्थः । एतेन पात्कीपरत्यादे सामाजिके साक्षात्कारे हेतुरस्य ।

(B) अभिधात इति । अत्राभिधापदं साव्योधिनीकात्मते शान्तिरक्षणोभयपरमिति 'अभिधात
 इत्युपपत्तयम्, लक्षणात् इत्यपि बोध्य' मिति बालव्योधिनीकानन्दभेण स्पष्टमपगम्यते । "तत्राऽभिधा
 निरन्तरसान्तरार्थनिष्ठत्वेन द्विधे" स्तुक्तवर्गा प्रदीपकारणामपि स एव पक्ष इति' प्रतिभसति ।

(C) पुरुषनिष्ठ इति लौकिकवाक्याभिप्रायेण, लिटादिघटितवाच्यप्रयोक्तृपुरुषनिष्ठेत्यर्थः ।
 अपौरुषेयवेदवाक्यस्थले तु लिङ्निष्ठेति विशेषः । केचित्तु सर्वत्रैव शब्दभावर्ता लिङ्निष्ठां
 वदन्ति । अनुपपदं व्यतीभविव्यतिषैतत् सर्वम् ।

I 'परपत्रक' क ।

(A) लिङोऽभिधा सैव च शब्दभावना भाव्या च तस्याः पुरुषप्रवृत्तिः ।

सम्बन्धबोधः करणं तद्वीच्य प्ररोचना चाद्भूतयोपयुज्यते ॥ इति ।

लिङ्जन्या अभिधेत्यर्थः । पुरुषप्रवृत्तिस्तस्या भाव्या जन्येत्यर्थः । मिथ्येण तु लिङ्-
निष्ठैव अभिधेति व्याख्यातम्, तद्य नैयां सम्मतम् । पुनः कीदृशेन भावकत्व-
व्यापारेण ? 'विभावादिताधारणीकरणात्मना' रामादिस्मन्निधनां सीतादिविभावादीनां
सामाजिकरूपमाद्युभयसम्बन्धित्वरूपं (B) साधारण्य (C) 'दर्शयता, सीता रामस्य
मम चेत्याह्वार्यज्ञान सामाजिकानां जनयतेत्यर्थः' । भावकत्वव्यापारस्य इदमधिकं
सामर्थ्यमनेनोक्तम् । तदुक्तं दर्पणेऽपि—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।

तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न जायते ॥ इति ।

(A) लिङ इति । प्रपञ्चितोऽयमर्थोऽर्थसंग्रहे श्लौगाक्षिमास्करेण—“भावना नाम भवितु-
र्भावनातुक्कृतो भावयितुव्यांसारविशेषः । सा द्विधा—शब्दी भावना आर्था भावना चेति । तत्र
पुरुषप्रवृत्तपुरुषो भावयितुव्यांसारविशेषः शास्त्री भावना । सा च लिङ्गोऽनोप्यने, लिङ्गघणे
अर्थं भा प्रवर्चयति मत्प्रवृत्तपुरुषव्यापारवात् (वा अयम्) इति नियमेन प्रतीते । यद्
यस्माच्छब्दाच्चिपमतः प्रतीयते तत् तस्य चाप्यम्, यथा—गामानवेत्यन्मिन् वाक्ये गोराश्वस्य
गौत्वम् । स च व्यापारो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः, वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावा-
लिङ्गादिशब्दनिष्ठ एव । अत एव शाब्दी भावनेति व्यवहियते । सा च भावना अदात्रय-
मपेक्षते—साध्यम्, साधनम्, इति कर्तव्यता च, किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति ।
तत्र साध्याकाङ्क्षायाः कथ्यमाणादात्रयोपेता आर्था भावना साध्यत्वेनान्वेति, एकप्रत्ययगम्यत्वेन
समानाभिधानप्रते, संख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेऽप्ययोग्यत्वाच्च साध्यत्वेनान्वयः । साधना-
काङ्क्षायाः लिङ्गादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति । तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन तत्पूर्वमपि
साम्याः शब्दे सत्त्वात्, किन्तु भावनाशपकत्वेन, शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन वा । इति-
कर्तव्यताऽऽकाङ्क्षायामर्थवाद्भाष्यप्राशस्त्यमिदिकर्तव्यतात्वेनान्वेति” इति ।

(B) उभयसम्बन्धित्वरूपमिति । एतन्न 'रामादित्वादी स्वीयत्वमन्वीयत्व च न
गृह्यते' इत्युक्तम्, अत्र तु स्थायिभावभिन्नानां विभावादीनामेव उभयसम्बन्धितया ज्ञानमित्युक्त-
मतो न विरोधः । प्रदीपकारादिमन्मनं साधारण्यन्तु महनायकं इति वृत्तिप्रत्यक्षिप्यन्या व्यक्ती-
कृतम् ।

(C) दर्शयतेति । अतः परमादर्शपुस्तके दृश्यमान 'इत्यर्थः' इत्यतो लेखकप्रमादेनापतित
इति परित्यक्तः ।

लोके प्रमदादिभिः स्याप्यनुमानेऽभ्यासपादवचनां (A) काव्ये नाट्ये च तैरेव 'कारणादिभिः' कारणत्वादिपरिहारेण (B) विभावनादि-

परस्येत्यादौ सर्वत्र परस्यैवेत्यादिरर्थं तदेवाभयसाधारण्यपर्यवसानात् । भोगेन कौटुगेन ? 'सत्यस्य' सत्वगुणस्य 'उद्वेकेण' गुणान्तर तिराघायाभिभाषिण या 'प्रकाशानन्दमयी' म्यप्रकाशानन्दरूपा 'सन्नि' शान तस्या 'मिगान्ति' सत्ता पृथुमिहितभावात्वेन विश्रान्ता वर्तमाना सरिदित्यर्थं, 'तत्सतत्त्वेन' तत्स्वरूपेण । तत्त्वमतत्वया पर्यायो यथा—

'पेगलमपि खलञ्चन दहतितरा मानस सतत्त्वविदाम्' ।

इति चितोधातुद्वारोदाहरणे, तत्त्वविदामित्यर्थं ।

अनया श्रीगङ्गुकभट्टनायकमतया रत्यादिसाक्षात्कारार्थमलौकिकानुलसप्रत्यासत्ति-

(A) काव्ये नाट्ये चेति । अयमभाव — प्रमदादृशज्ञानादीना यन्तूना स्वल्पवर्णा न विभावादिशाब्दपर्यवेक्ष्यत्वं न वा विभावनादिव्यापारवत्त्वम्, किन्तु कविशाक्यतन्वशाब्दशोच-विषयताऽऽपन्नानामेव, तथाच तादृशप्रमदाद्विज्ञानानामेव विभावनादिव्यापार स्वविषयप्रमदादिव्यापारस्वरूपे चित्तशान्ता सीतादीना तदवम्भवात्, अन्यथा स्वल्पवर्णां तेषा प्रत्यक्षतो दृष्टाना वा तत्तद्व्यापारपर्यवेक्षो प्रसज्येते । नाट्य इत्यनेन च शाब्दपर्यवेक्षण्यवलक्षित (वायुकोप) शान-विषयतामपि हेतु तादृशव्यापारपर्यवेक्षयो सम्भव प्रतिपादित, तेन अभिनयस्थले कवि-शाक्यानामावयवत्त्वेन पृथक्नया नाट्यपदोवाचानमकल्पमित्याशङ्क्या नावय्य । अत एव तत्तद्व्यापारपर्यवेक्षणे रसव्यङ्ग्यत्वव्यापारमप्रेषमि सम्भवान्तित्वातिवारकाया शाब्दपदोपादानमपि सार्यकमिति ।

(B) विभावनादीत्यादि । "विभावनादिव्यापार साधारणिरुचयम्, तत्र मीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिप्रामाण्येनोपस्थिति स्याप्यनुभावादीनाञ्च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन । मर्मवैते शत्रोरैवैते तदप्यर्थवैते इति सम्बन्धिविशेषम्वीहारनियमस्य, न मर्मवैते न शत्रोरैवैते न तदप्यर्थवैते इति सम्बन्धिविशेषपरिहारनियमस्य चाज्ञानात्तया साधारण्येन प्रतीते । साधारण्येन प्रतीतिश्च न सर्वसम्बन्धितया प्रतीति, किन्तु सम्बन्धिविशेषीयस्येवाप्रतीतौ प्रतीति । यद्वा अमुकस्यैवैते इत्यवधारण विना अमुकस्यैत्यर्थं प्रतीति । अत एवोक्तम्— 'मर्मवैते' इति नियमानवसायादिति । तथाच स्वीयत्वाससर्गाग्रहात् स्वीयत्वससर्गाग्रहप्रयोजनं सम्पद्यते" इति प्रदीपे स्पष्टम् ।

साधारणीकरणस्य विभावनादिशाब्दपर्यवेक्षत्वे व्युत्पत्तिश्च सीतादौ स्वप्रियतमाभिन्नत्व-

व्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैः^(A) ममैवैते, शत्रो-
रेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति
सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतै-
रभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मनया स्थितः स्थायी 'रत्यादिः

कल्पनागौरवं^(B) परिहृत्तोऽभिनवगुणाचार्यस्य मतं स्वाभिमतमाह—लोके इति ।
अत्र मते प्रथमं काव्यतो नाट्यतो वा विभावादिज्ञाने सति रामोऽहं सीतादिष्य-
रतिमानित्याकारकं स्वस्मिन् सीतादिष्वियरतिमद्रामाभेदारोप आहापर्यो व्यञ्जनया
जायते, स च^१ स्वस्मिन् रामादिरतिमत्तां साक्षात् नादगाहते, किन्तु स्वनिष्ठे
वासनाख्यगुणविशेषे तदीय वासनात्वमिदन्वञ्जागृह्णानस्त्र 'रामरतित्यारोपरूप एव

रूपेण विशेषेण भाव्यन्तेऽनेनेति विभावनम्, एव सीतादीनां कामिनीत्वादिरूपेणोपस्थिते पञ्चाव-
भूक्षेपादय स्वात्मवृत्तितया भाव्यन्तेऽनेनेति अनुभावनम्, एवं स्वोपरत्याघनुकूलारूपेण
विशेषेण अभितत्रार्थन्तेऽनेनेति व्यभिचारमिति । एतादृशेन साधारणीकरणेन रामादि-
रत्याघभित्तत्वेन गृहीता स्वप्रेयसीविषयकमाजिज्ञरत्यादय एव स्वप्रकाशानन्दरूपा रसपद्वी-
मधिगच्छन्तीति निदान्तपक्षस्य निष्कर्षः । एतादृशाभेदप्रहस्र मिथ्याज्ञानरूप साधारणी-
करणरूपेण दोषेणोत्पादित इति न भ्रमस्य दोषजन्यत्वनियमव्याघातः । रसानुभवस्य प्रनात्वन्तु
सादृशाभेदप्रहस्र विनैव तेन केवलस्वीयते साक्षात्कारो न्यायनये स्वाभित्तत्वेनेधतोपासनया
स्वात्मसाक्षात्कारवदित्यभ्युपगम्य सम्पन्नोपमित्यलमपिनेन ।

(A) ममैवैते इत्यादि । अत्राम्भेदं सामाजिका पराहृत्तन्ते । एवञ्च यदि सीतादि-
विभावादीनां स्वीयत्वे सामाजिकायां व्रीडाद्यापत्तिदोषस्तदा सत्परीहारार्थं ते सामाजिकानां शत्रु-
सम्बन्धिन इति वक्तव्यम्, तथाच शत्रूणां ह्यजादयो न स्वउत्पत्तिवन्धका प्रत्युत तदुत्कर्षका एवे-
त्याह—शत्रोरेवैते इति । नन्वेवमपि शत्रुसंबन्धिनो मम रतिरित्यनुसन्धानेन सामाजिकानामधर्म-
भयाद्यापत्तिरस्तदुभयपरिहारावश्यकत्वेन पारिषेव्यादाह—तटस्थस्येति । तथाच सर्वं एव पक्ष-
सदोषः । एवं न ममैव इत्यादिपक्षत्रयेऽपि दोषा उद्गनीयाः । तत्र प्रथमनिषेधो द्वितीयादि-
विधाने पर्यवस्यतीति विशेषः । कामिनीत्वादिमामान्येनोपस्थितौ च स्वप्रेयसादिरूपेण
भाषनायां वाचकविहाराद्ग दोष इति विभाषनीयम् ।

(B) गौरवमिति, आलोचितमिदं प्राक् (१०४) ।

1 'रत्यादिक' इति मुद्रितपाठः । 2 'त' परं क-मुसुके 'तुन्ववित्तिवन्धका स्वस्मिन् रामादिरत्यादि-
मसामव्यवगाहते तत्रादि' इत्याद्येऽधिक' । 3 'अधिकारपेन रामरतित्वादिना प्रकारेण रासभावतां रामा-
दिदृशावनाहने रजतत्वेन प्रकारेण भूतत्वं रजतवदित्यादीषी भूतत्वे इतिन्यायिनः' च ।

विषय इति स्वीकारेण पुरुषपरत्वे तद्दृष्टान्तत्वानुपपत्तेश्च* । तद्विश्रानस्य प्रमात्वञ्च
 'धर्म्यंशे वासनांशे चेत्यवधेयम्'* । रत्यादिरभिव्यक्त इत्यनेन प्रथमं व्यञ्जनाधीन
 आरोप उक्तं, स च अनुभवसिद्धो रत्युपनयार्थं स्वीकृतः, अत एव विभावादिभिर्न्यञ्जित
 इत्यग्रे वक्ष्यति । 'अत एव च असलक्ष्य(क्रम)व्यङ्ग्यपरिभाषाऽपि व्यङ्ग्यत्वादेवोप-
 पन्ना'* । प्रमात्रा गोचरीकृत इत्यनेन तु तस्य साक्षात्कारोऽपि दर्शितः, स च
 आस्थादायं स्वीकृतः, रामोऽहं सीतायिष्यरतिमानित्यादिस्तदाकारः । सामाजिकाना-
 मभ्यासपाठवकथनञ्च अतादृशानामृष्यशृङ्गादीनां रसानुद्बोधदर्शनात् । वासनात्मतया
 स्थितो गुणविशेषः केन हेतुना 'रत्यादिरूपतयाऽभिव्यक्तः'* इत्यत्राह— तैरेवेति
 रत्यादि'कारणादिभिः प्रमदादिभिरेव'* अभिव्यक्त इत्यर्थः । 'सामाजिकानां रति-
 मन्नायकामेदारोप' स्वस्मिन्निति दर्पणेऽप्युक्तम् । यथा*—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृति ।

तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः ॥

प्रमाता तद्भेदेन स्वात्मान प्रतिपद्यते ।

उत्साहादिसमुद्बोध साधारण्याभिमानतः ।

नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति ॥ इति

(सा० ३० ३ प०)

यस्य हनूमत् पाथोधिप्लवनादयः(A) मासन् तस्याभेदेन प्रमाता स्वात्मान प्रतिपद्यते ।

विशेषात्, ता तु साहस्यमाविशन् सस्ययत् तद् घटयेत्' इति । (मञ्जुसूत्रम्—२अ० २पा०
 २६ "नासतोऽदृष्टत्वात्" सू० भाष्यमासती) तथाचात्र दार्ष्टान्तिकस्य वस्तुन स्पुटीकरणाभेदेन
 प्रसिद्धस्य स्वाकारवादन्वयाश्रय, न्यायमते तु अनुव्यवसायन्यायेन ज्ञानस्यैव विषयविषयिभाष
 सम्भवत्येवेति ध्येयम् ।

(A) अत्रैव व्याख्याने युद्धदानदयाधर्मोत्साहस्यैव धीरसत्त्वाङ्गीकरणात् ईदृशोत्साहस्य
 धीरसत्त्वासम्भवेन प्रकृतानुपयोगित्वमाशङ्क्य टीकाकृता रामचरणतर्कवागीशेनान्वयैवेदं
 व्याख्यातम्, तच्च "स्वाश्रयं साधारणं नायकनामात्रिकम्बन्धिनेन करोति उभयसम्बन्धित्वेन
 प्रतिपाद्यतीति साधारणीकृति, तत्प्रभावेण तन्मन्यसाधारण्याभिमानेन, यस्य रामस्य, पाथोधि-

१ 'धर्म्यंशे वासनांशे चेत्यवधेयम्' च । २ अयमत्र अ व ५ शक्योर्नास्ति । ३ 'रत्यादिरभिव्यक्त'
 च । ४ 'कारणादिभिरेव' च, 'कारणपरिभाषादिभिरेव' च । ५ 'न च अस्मिन् रतिमन्नायकामेदारोपी
 मन्त्रदुक्तं कथं व्याख्यायते इति वाच्यं स्वशासनया रतिस्वारोपकथनादेवोक्तप्रत्ययानुदानवोक्तव्यविषयवलात्,
 चरे परिमितप्रमादावविगलनकथनेनीकत्वात् । तथाचोक्तं धर्म्येऽपि' इति कथ्यते ।

कुत्र इत्याह—व्यापारोऽस्तीत्यादि, 'साधारणीकृति' हनुमदादिनायकनामात्रिकारभेदे
 बोधात्मकसाधारण्यकारकं, तत्प्रभावेनेत्यर्थः^१ । तथा 'रत्याद्यभेदारोप' स्वरासनाया-
 मित्यप्याह तत्रैव^२ ।

साधारण्येन(A) रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते । इति

यासनावतामैव तदा^३ रत्याद्यारोपादास्यादा 'भ्रमतीत्यप्याह तत्रैव—

सरासनाना सभ्यानां रसस्यास्त्वाद्धं भवेत् ।

निर्गमनास्तु रङ्गान्त काष्ठकुट्याग्ममग्निना ॥ इति

कारणादिभिरित्यादिपदान् कार्यासहकारिणारपि परिग्रहः । तै कौश्लो ? काव्ये
 नाट्ये च 'कारणत्वादिपरिहारण' कारणादिगन्धर्व्यपदेश्यत्वपरिहारण 'अनौकिक
 रिमात्रादिगन्धर्व्यग्रहार्थे', तादृशग्रन्थारहत्तु यागाद्यमाह—विभावनादीति ।
 भाव्याद्व्यापाररूपेण शिरोषेण भावनं ज्ञापनं रिमात्रणम् परमनुभावनम् अनुभव
 गायत्रीकरणम् व्यभिचारणं ग्रीवरूपेण शिरोषेण व्यभिचारणं ज्ञापनम्, इदं-
 व्यापारत्वादित्यर्थः । पतन्प्रदर्शनञ्च स्वरूपकथनमात्रं न तु रसात्पक्षायस्य उपयुक्ता
 ऽस्तीति मन्तव्यम् । पुन कौश्लो ? 'साधारण्येन प्रतीते' सीताद्विरिमात्रात्वा
 रामस्य भ्रम चेत्येवमुक्तव्यमाचारण्येन अहोर्ष्यप्रतीतेरित्यर्थः । (B)तच्च साधारणी
 वृत्त्यात्मकव्यापारबलात्प्रति(C) वाच्यम् तादृशमाचारण्येन पतादृशसाधारण्य

कृतनादय आनिता रात्रगादिनिग्रहप्रद्वयम्, प्रमादा सामाजिक तन्भेद रामाभेदन स्वात्मानं
 स्वम्' इति ।

(A) 'साधारण्येन उदयमम्बन्धिन्यन षण्डरमात्रामम्बन्धिन्येवति तु फलिार्थं ।
 अन्य 'स्ववामनायामानात्रिकरण्येन' इत्यर्थं क-पुस्तकं दृश्यते, स च टीकायाः टिप्पणीति
 प्रतिभानि ।

(B) "तच्च" विभावनादीनामुक्तव्यमाचारण्येनादाव्यप्रतीत्तञ्च इत्यर्थं, अत्र स पुस्तक-
 पात्रो गृहीतः ।

(1) व्यापारकलात्प्रति । अत्र पर क-पुस्तकया 'रामाश्रमज्ञातपक्षणा' इत्याह दृश्यते
 स च वृत्तवाक्यस्यैव व्याख्यातक्या टिप्पणीति प्रतिभानि रामाश्रमज्ञातपक्षणाया मायागी
 करणान्तरस्य टीकाकृताऽपुस्तकानि ।

1 स धारणीकृति नाम त्रिके हनुमन्निनायकनामदार पदाधारस्यपतीतिज्ञान्, तत्प्रभावेण तादृश
 व्यापारण्य प्रभावेणतया । तत्र च हनुमदादिनायकनामदार क । 2 'स्व वनायां रात्राग्निनिवारणेण
 प्लुक्तसर्वे व यथा' क । 3 'दिवा र'वान्' क । 4 'भवेदित्यादा' क न ।

नियन्त्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायवलात् तत्काल-
विगलितपरिमितप्रमातृभावबशोन्मिपितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरि-

स्यापि सिद्धेः । दर्शितमिदं साधारण्यं परिशेषेण ^१पर्यापयति—ममैवेति इत्यादि ।
शत्रुपदम् आलम्बनविभावशत्रुभूतस्यायिभावाध्ययनायकपदम्, स च रौद्रवीरभयानक-
'रस एव नायकरूप' ^२ 'कुद्धस्य नायकस्य क्रोधात्मनविभावशत्रुत्वात्, जेतुर्नायक-
वीरस्योत्साहात्मनभूतजेटव्यशत्रुत्वात्, भीतस्य नायकस्य भयात्मनभूतभीषक-
शत्रुत्वात्' ^३ । 'तदस्यपदन्तु' ^४ 'तादृशशत्रुत्वोदासीनपङ्करीयपङ्कनायकरूपम्' ^५ ।
तथाच शत्रुतदस्यपदाभ्यां नवरसीयनवनायका(A) बोध्या । ममैवेत्यत्र मत्पदं
रसबोद्धसामाजिकपरम् । तथाच पते 'सीतादयो ममैवेति' ^६ रामादिनायकस्यैवेति च
य' सम्बन्धस्यावधारणरूपेण विशेषेण स्वीकारः, यत्र नैव ममेति नैव रामादिनायक-
स्येति सम्बन्धस्यावधारणरूपेण विशेषेण परिहारः, नियमेन तदन्वयस्यादित्यर्थः ।
एवञ्च उन्नयोपत्वरूप साधारण्यं पर्यावस्यति । न ममैवेत्यत्र नैव मम इत्येवमेव-
कारयोजनानामावे 'ममैव' 'न शत्रोरेव' इत्यनयोरेकार्थतापत्तिः स्यात्, पूर्वत्र एव-
कारेण परत्र च नाना शत्रुतीयत्वस्यैव व्यवच्छेदान् । ईदृश साधारण्य विभावादीना-
मुक्तं दर्शयति—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।

तदाभ्यादे विभावादे परिच्छेदो न जायते ॥ इति

(सा० द० ३५,)

(A) नवनायका इति । इदमत्र चिन्तनीयम्, शृङ्गाखीरससादौ तन्तुत्साहादिध्यायि-
भावाध्ययनस्य रामार्जुनादेर्लोकसम्भव, हास्यासे तु हासस्वरूपायिभावत्वात्त्रय सामाजिक एव,
'आकुञ्च्य पाणिमशुचि'मित्यादौ विष्णुसाम्नां तथा विक्रितसप्तद्वयाल्यवङ्गभाषाकाव्यनिबद्ध-
साहिष्णुसेनप्रभृतयस्तदालम्बनमेव, तेषां हासाध्यत्वकल्पना तु कश्चिदत्रि न सम्भवति,
तदाध्ययतया कपेत्सुमन्यामन्तु अस्मार्त्तिकवादिक्त्रिक्त्रामिति ।

१ 'दमवति' ख । २ 'रौद्रवीरनायकरूप' ख व । ३ 'कुद्धे' हि क्रोधरूपस्यायिभावात्मनस्य
इत्यस्य शत्रु, रौद्रोऽपि असाहस्यस्यायिभावात्मनस्य जेतव्यशत्रु, भीतो हि भयजनकस्य भयरूपस्यायिभावा-
त्मनस्य शत्रुर्ति' ख-व । ४ 'तदस्यपदन्तु' आलम्बनविभावशत्रुभूतौ रौद्रवीरव्यायिभावाध्ययनायकपदं तु चान्य-
पद्रवीरपनायकरूप' ख । ५ 'तादृशशत्रुत्वोदासीन तदन्वयपङ्क' व । ६ 'विभावादीनां ममैवेति' न ।
७ 'विद्यते' इति मु-सा द० पाठ ।

मितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार
इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्यमाणनैकप्राणो विभावादिजीविता-
वधिः (A)पानकरसन्यायेन चर्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव

परस्येत्यादौ सर्वत्र परस्यैवेत्यादिरर्थं प्रागेव व्याख्यात । अतः प्रमात्र शब्दोरेवेत्येव-
कारणमत्वम् । रामादिरत्यादित्वेनाभिव्यक्तो वासनारूपगुणविशेष कीदृश ?
नियतप्रामाता सामाजिक तद्गुणत्वेन स्थिताऽपि उक्तप्रमारूपेण "प्रमात्रा", "साधा-
रण्येन" रामादि रत्याद्यभेदारोपरूपेण साधारण्येन, "गोचरीकृत" । तादृशत्वेन गोचरी-
करणे हेतुमाह—साधारण्योपायेति । उभयसम्बन्धित्वेन 'सीतादिज्ञान साधा-
रण्योपाय' । व्यञ्जनाधीनज्ञानसमानाकारसाक्षात्कारप्रदर्शनमनेन वृत्तम् । तत्र च
"साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते" इति सवाद्दो दर्शित पय । उक्तप्रमारूपेण
प्रमात्रा कीदृशेन ? तत्काले तादृशप्रभोत्पत्तिकाले प्रमातुः स्वस्मिन् रामाद्यभेदा-
रोपनशाद्दु विगलित' ज्ञानान्प्रियथीभूत परिमितप्रमातृभावो रामादिभिन्नत्वेन 'स्वमात्र-
विषयोभावो यस्तद्वशेन अर्थान् तद्विगलनशेन उन्मिषित जात वेदान्तरस्य 'घटादे
सम्पर्केण विषयोभावेन शून्य अपरिमितभाय रतिरामनासाधारण्यरूपापरिच्छिन्न-
भावो यस्य तादृशेन । स्वस्मिन् रामाद्यभेदारोपादेय स्ववासनाया रामादिरतित्वस्य
रत्यभेदस्य वा आरोपात् तद्वत्त्वम् । अनेन स्वस्मिन् रामाद्यभेदस्य स्वरामनायां
च रामादिरतित्वस्य रामादिरत्यभेदस्य वा आरोपो दर्शित । ईवात् कस्यचित्
तादृशज्ञानोत्पत्तानपि न वस्तुसिद्धिरित्यत सकलसामाजिकानामेव तादृशज्ञानरूप
सवाद् दर्शयति—सकलसहृदयेति । परत्र इयस्यापरत्र दर्शन सवाद् । तथाच
तादृशसवादाद् वस्तुमिदि । वासनान्ततया स्थिता गुणविशेष पुन कीदृश ?
प्रदर्शिताकाररुस्यज्ञानादभिन्नोऽपि तादृशज्ञानेन गोचरीकृत । ज्ञानविषयोरभेदकथनमत्र
परिणामवादाभिप्रायेण इत्युक्तमेव । तत्रैव स्वाकारवादेन दृष्टान्तमाह—स्वाकार
इवेति, विषयो ज्ञानादभिन्ना ज्ञानम्येवाकार इति तन्मिद्वान्तात्, तद्वदित्यर्थ ।

(A) पानकेति । 'सरवन्' इति भाषा । तादृशगन्तु—अभिरुचाया फल पक मर्हित वारिणा
हृदम् । शङ्करामतिचैमिन्न लवङ्गेन्दुसवापितम् ॥ अभिरुकारुण्यमभूत् पानक वाननाशनम् ।
पित्तश्लेष्मकर किञ्चित् उद्वेग्य वद्विबोधनम् ॥ इति (भावप्रकाश, पूर्वखण्डे द्वितीयभाग)

1 'नोवकार उक्त' ग । 2 'रत सवाचनानुदा-' ख । 3 'सीतादेगहायज्ञान' क ख ।
4 'प्रमात्र-' ख । 5 'घटाद्' इति ७-उभययोरेव दृश्यते ।

प्रचिदान् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मा-
स्वादमिवानुभावयन् अलौकिक^(A)चमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः ।

एवविधरसतापत्रां वासनात्मकगुणविशेषं पुन कौदज ? चर्च्यमाणतैकप्राणः ;
प्राणो हि रसता, चर्च्यमाणता च साक्षात्क्रियमाणता तद्दशायामेव रसतापत्र इत्यर्थः ।
अन्यथा तु ^१रत्यादिभिन्न^(B)वासनारूप^२ इत्यर्थः । शाब्द विभावादिज्ञानं यावत्तिष्ठति
अनुभवमिदं तावदेव तत्तिष्ठतीत्याह—विभावादीति, विभावादिज्ञानजोविता-
यधिरित्यर्थः^३ । उक्तप्रमाया ये सीतारामतद्वृत्तिस्यवासनादयो विषयास्ते सर्व एव
रसतापत्रा चर्च्यमाणा भवन्तीत्याह—पानकेति, मरीचकपूर्वादिसूक्ष्मभिधिता
आमिक्षा पानकम्, तदीयस्य नानाद्रव्यीयरसस्य चर्च्यमाणतावशायां यथा एकत्वाभिमान
तथा नानाविधैतच्चर्वणायाप्येकत्वाभिमान इत्यर्थः । तत्कारणोभूतज्ञानविषयस्य
विभावादेरपि चर्चणागाचरत्यमाह दर्पणेऽपि—

प्रतीयमानं प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते ।

ततः सम्बलितं सर्वो विभावादि सचेतसाम् ।

प्रपाणकरस्मन्यायाच्चर्च्यमाणो रसो भवेत् ॥ इति ।

(सा. द. ३ प)

एवं प्रपाणकलक्षणमपि तत्रैव—आन्नमाम जले म्विन्नं मर्दितं दृढपाणिना । मित्ताशीताम्बुमयुक्तं
कूर्पूरमरिचान्दितम् ॥ प्रपाणकसिद्धं श्रेष्ठं भीमसेनेन निर्मितम् । सद्यो रुचिकरं कल्पं शीघ्र-
मिन्द्रियतर्पणम् ॥ अन्यानि च पानकलक्षणानि सत्र द्रष्टव्यानि । आमिक्षावटिलक्षणन्तु
अन्यत्र सम्भवति दौत्यनुभवेषुम् । रसगुणभवे मुनिस्तु दृष्टान्तविधया नाट्यशास्त्रे
—‘यथाहि नानालव्यञ्जनौषधिद्वयसयोगात् रसनिष्पत्तिर्भवति । यथाहि गुदादिभिर्द्रव्यैश्चञ्जनौषधि-
भिश्च पादवाद्यो रसा निर्वर्तन्ते तथा नानाभावोपगतं अपि स्यादित्यो भाषा रसत्वमाप्नुवन्ती’-
त्याह । ‘पादवाद्य इति श्लोकप्रसिद्धेभ्य परस्परविविक्तैभ्यो मधुरतिक्तामृत्ववणकटुकपायेभ्यो
मिश्रैभ्यश्च विलक्षणं पादवराद्वाच्यं’ इत्याद्याभ्यांभिनवगुणसादृशता व्याख्या ।

(A) चमत्कार इति चित्तविन्ताररूपो विस्मयापरपर्याय इति साहित्यदर्पणकृतः ।

(B) रत्यादिभिरेति । अयं भावः, साक्षात्कारो हि रामादिरतिस्ववासनयोरभेदारोप-
निबन्धन, तथाच तादृशाभेदारोपभावे साक्षात्कारत्याप्यभाव इति तदानीं रती रामादिनिष्ठैव
वासना च सामाजिकनिष्ठेति एवहभेदे रतिवाचने इति ।

१ ‘सादिभिन्नो वासनारूप एव, रत्यादिरपि रत्यादिरपि एव’ क, ‘अस्तादि रत्यादिभिन्नवासना-
रूप’ ग । २ ‘यत एव क-पुष्ये’ तथाच विभावादिज्ञानमनेकवचन्याधीगुक्तम् इतिरिक्तोऽयं
परिदृश्यते ।

(४) स च न कार्यः, विभावादिबिनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् । नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवात् । अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः । कारकज्ञापकाम्यामन्यत् क दृष्टमिति चेत्,

पुर इत्यादिपञ्चक स्पष्टम् । 'चमत्कार' साक्षात्काररूप आस्यात् । 'तदभिधस्य तस्य तत्कारित्वं परिणामरादाभिप्रायेण बांध्यम्, रसतानापञ्चशोयस्य तत्कारित्वात्' १ । 'इत्यमुक्तसाक्षात्कारविषयस्यापि वामनादे साक्षात्काराभिन्नत्वे स्वाकार इवाभिन्नोऽपीत्यनेन प्रकाशिते ज्ञानजन्यज्ञानरूपात्' २ कार्यज्ञानान्तरात् तस्य वैलक्षण्येनापातत कार्यत्वाभापमेव साधयति—स च न कार्य इति । यदि ज्ञानोत्तरज्ञानरूपत्वे सति असौ कार्यं स्यात् तदा स्वपूर्ववर्तिज्ञाननाशक्षणेऽपि स्थितिमान् स्यात् ज्ञानात्तरज्ञानान्तरवदित्याह—विभावादीति, विभावादिज्ञाननाशक्षणेऽपीत्यर्थः । 'सम्भव' स्थिति । न चात्रेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, अनुभवरत्नेन विभावादिज्ञानरसयोरेकदेव नाशस्य विभावादिजीवितारधिरित्यनेन उक्तत्वात्, अतःऽसौ ज्ञानान्तरवैलक्षण्येन अकार्य एवेत्यापातत एवाकम् ; अथे तु तस्य कार्यत्वमपि दुरपह्य स्वोक्तिरिष्यत्येव । तथा तस्य वैलक्षण्यमेवेति साधयितुं ज्ञाप्याद्विषयान्तराद् वैलक्षण्येनाज्ञाप्यत्वमपि आपातत पर साधयति—नापीति । सिद्धस्येति प्रत्यक्षज्ञानदशायामपि "सिद्धम्य" स्थितस्य तस्यभावादित्यर्थः । स्वज्ञानात् पूर्वं तस्य रसस्वरूपत्वाभावस्य चन्यमाणतैक्येण इत्यनेनेव उक्तत्वात् तदेव पुन स्मारयति—अपि त्विति । चर्वणीय इत्यत्र सन् रस इति पुरणीयम् । तथाच चर्वणीयसश्रेव रस 'अन्यदा तु वासनारत्त्यादिरूप पर न तु रस इत्यर्थः' ३ । नन्वेव तस्याक्वाप्यत्वेऽज्ञाप्यतया भक्षयत्वे च विभावादिरपि तस्य न कारको न वा ज्ञापक इत्यायातम्, तथाच 'व्यक्तं स तैरित्यादिना कथं तज्ज्ञापकत्वमुक्तम्, कथं वा विभावात्तुभावेन्यादिभरस्तसूत्रेण विभावादीना तत्रिभ्यादकत्वमुक्तमित्याशङ्कते—कारकेति । दर्शितयेत्या अन्यसाधारणे एव तस्य कार्यत्वज्ञेयत्वे न स्तः,

(A) स्वस्य कार्यत्वाभावे ज्ञाप्यत्वामात्रे च हेतु प्रदीपे प्रपञ्चित विल्लारमयात्तु नेहो ह्लिष्यते । रसगद्गाघरकारमतन्तु 'अमिनवपुत्र'पदलिप्यन्त्या व्यक्तीभविष्यति ।

१ चयनम् स्व पुनर्के नापि न-मुण्ड ५५—शायन चक विषयनेनापरिणाम' ग्रीयवाहनावहस वृ कतिरिनात् इति विमर्ष । २ इत्य परिणामरादान्तरनेन ज्ञानेतिषययोरेभिदचिदी वाहन(वा)या शोरादिज्ञान रूपन सिद्धे कार्ये ख । चय' ग । ३ 'वचनचौशयभ्यस्तु न रस इत्याय' ग । ४ 'इत्यायाति' ग ।

न क्वचिद्दृष्टमित्यलौकिकसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम् । चर्षणानिष्पत्त्या
तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् । लौकिकप्रत्यक्षादि-
प्रमाणतादस्थ्यावधोघशालि^(A)मितयोगिज्ञानवेशान्तरसंस्पर्शरहित-

विलक्षणव्यक्तौ तत्रानन्यसाधारणे तु कार्यत्वज्ञाप्यत्वे स्त एव इत्यतो विभावादिष्वपि
अनन्यसाधारणे कारकत्वज्ञापकत्वे स्त एवेत्यतोऽन्यत्रादर्शनं न दोषः किन्तु विलक्षण-
सिद्धौ गुण एवेत्याह—न क्वचिदिति । 'भ्रूलौकिकसिद्धे' लोकसिद्धवस्त्वन्तर-
भिन्नसिद्धे । नन्वेव 'कोऽप्यजायत रसां निरन्तरम्' इत्यादि लोकन्यवह्नियमाणं
कथं तस्य जन्यत्वमित्यतस्तस्य लौकिके अपि कार्यत्वज्ञेयत्वे साधयति—चर्षणेति ;
तस्य विभावादिज्ञानतो निष्पत्तिश्चर्षणा निष्पत्त्यैव उपचरितेत्यर्थः ; वासनारत्या-
द्यंशे तु न विभावादिज्ञानतो निष्पत्तिः, 'अपि तु तद्भिन्नम्बस्वकारणत एवेति बोध्यम्,
नत्वेतावतैव वासनारत्याद्यंशे अजन्यत्वमुक्तं' तयोर्जन्यत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वात् ।
एवञ्च विशिष्टस्य रसस्य विभावादिज्ञानजन्यत्व एवांशिक उपचारो न जन्यत्व इत्यव-
धेयम्* । एव घटादिसाधारणज्ञाप्यत्वभावेऽपि स्वेनैव स्वस्य गृह्यमाणत्वाद् ज्ञाप्यत्व
ज्ञेयत्वज्ञास्तोति साधयति—लौकिकेति । लौकिक^(B) यत् प्रत्यक्षादिप्रमाणं तत्तादृ-
स्येन तदौदासीन्येन अर्थाद् योगजघर्षेण अवधोघशालिनो मितपरिभाषितस्य
योगिनो यज्ज्ञानं यद्य वेदान्तरसम्पर्केण रहितं शून्यं त्रियद्यान्तराग्राहि
स्वात्ममात्रपर्यवसितम् आत्माद्वैतग्राहि* परिमितैतरयोगिनः सवेदनं ज्ञानं ताभ्यां

(A) मितयोगी अपरिष्वयोगी दुष्ज्ञानवदवाच्यः, परिमितैतरयोगी परिष्वयोगी युक्तवदवाच्य
इति प्रदीपः ।

(B) अत्र घ-विहितपुस्तकस्य पाठः परिगृहीतः । क-ख-ग-चिहितपुस्तकेषु दृश्यमान
"लौकिकप्रमाणं प्रत्यक्षादि" इति पाठस्तु "लौकिकप्रमाणतादस्थे"त्याकारवृत्तिग्रन्थानुसारितया
सङ्गमशौचः ।

1 'यवशाशनिपतौघ-' ग । 2 'किन्त्वन्त एवेत्यर्थः, तथाच विगिद्यन्त तस्य रस(सः) विभावादिज्ञान-
निष्पाद्य एवोपचारो न तु निष्पाद्यते वासनादीनां स्वकारणनिष्पाद्यत्वात्' ख,—'तथाच विशिष्टस्य रसस्य
विभावादिज्ञानतो निष्पत्त्युपचारो न तु निष्पाद्यते विवेकवासनारण्यत्वात् स्वकारणनिष्पाद्य एवेति बोध्यम्' ग ।
3 'पर्यवसितं स्वात्मनः शोभनात्मनः परमात्मनात्मस्य साहकमवैतग्राहि' घ, 'शोभनात्मनि परमात्मनि
पर्यवसितं समस्तपदार्थानामवैतग्राहि' ङ ।

स्वात्ममात्र-पर्यवसित-परिमिते-तरयोगिसंवेदनविलक्षण-लोकोत्तर-
स्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम् । तद्ग्राहकं च न
निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् । नापि सविकल्पकं
ध्वर्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । उभया-
भावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववद्दोकोत्तरतामेव गमयति न

विलक्षणस्य लोकविलक्षणस्य च स्वात्मकसंवेदनस्य गोचर इत्यर्थं । निर्द्वर्भकवासना-
प्रहात् तदशे निर्विकल्पकत्वम् अन्याशे सविकल्पकत्व वक्ष्यते । इदानीं निर्विकल्पका-
न्तरवैलक्षण्यान्निर्विकल्पकत्वाभावमपि साधयति—तद्ग्राहकमिति । स्वभावग्राह्य-
त्वाच्च तद्ग्राहकं तद्ग्राह्यं स्वमेव । विभावादीति । परामर्शं ज्ञानम्, तत्प्रधानत्वात्
तदधीनत्वात्, तथाच ज्ञानजन्यनिर्विकल्पकादस्य वैलक्षण्येन निर्विकल्पकत्वाभाव
आपातत साधित । सविकल्पकान्तरवैलक्षण्येन तस्य सविकल्पकत्वाभावमपि
आपातत साधयति—नापीति । स्वसंवेदनं स्वात्मकसंवेदनम्, तत्सिद्धत्वात्
तन्मात्रग्राह्यत्वात्, सविकल्पकान्तरस्य तु स्वभिन्न^१स्वानुव्ययसायेन प्रहात्, (A)^२तद्वैल-
क्षण्येन न तथात्वमिति भावः । इदञ्च गुरभिज्ञानमेव मतं, तन्मते तु सर्व^३सवि-
कल्पकस्यैव स्वेन ग्रह(B)^४ इत्यवैलक्षण्यमेव । अशाभेदेन तस्य तदुभयात्मकत्वमपि
साधयति—उभयाभावेति । उभयाभाव उभयभेद, (C)^५तेन निशिष्ट स्वरूप यस्य
स, उभयभिन्न तद्रूपस्येत्यर्थं । भेदस्यान्यायवृत्तित्वमङ्गीकृत्येदं^६मुक्तम् । पूर्ववदिति,

(A) तद्वैलक्षण्येनेति । साहित्यद्वये तु—'तथाऽभिलाष्यमर्गयोग्यत्वविरहाच्च । सवि-
कल्पकसर्वत्र' इत्युक्तम् ।

(B) स्वेन ग्रह इति । ज्ञानमात्रस्य ज्ञानसामग्रीवेद्यत्वरूप स्वप्रकाशत्वमिति गुरुणा
सिद्धान्तादिति भावः ।

(C) उभयाभाव इति । जगदात्मनिर्विकल्पकत्वप्रकारविभक्तेः परस्परभेदे सङ्गच्छते,
भेदायिदंन्तन्मतानभ्युपगमाद् व्याचष्टे तेनेति ।

१ अन्तर्व्ययसायेनाह्वानं क र । २ अन्तर्व्ययसायेन क र । ३ सविकल्पकानामिव' ख र । ४ तेन
इयं सविकल्पक । ५ तस्येदं' ख । ६ 'सुकुमुभयात्मकत्वमङ्गीकृत्ये' ख र ।

तु विरोधमिति (A)श्रोमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः ।

व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्यैव वीराद्भुतरौद्राणाम्,
अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृङ्गारस्यैव करुण-भयानकयोः, चिन्तादयो
व्यभिचारिणः शृङ्गारस्यैव वीरकरुणभयानकानामिति पृथगनै-
कान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः ।

अलौकिकरुतृकाररुतज्जापकधिभावादिवदित्यर्थः । न तु विरोधमिति । अत्रापि
अग्रगण्यतयत्यन्वयः । मिलितानामेव विभावादीनां रसबोधकत्वे भरतसूत्रे द्वन्द्व-
निर्देशस्याभिप्राय इति दर्शयितुं प्रत्येकरस्य रसबोधनासाधर्म्यं दर्शयति—व्याघ्रादय
इति, भयानकस्यैव वीराद्भुतरौद्राणामपि विभावा इत्यर्थः । एवमुत्तरद्वयेऽपि
अनुभावा व्यभिचारिण इति द्वयं त्रिधेयं बोध्यम् । पृथगनैकान्तिकत्वादिति ।
अनैकान्तिकरूपं साधारणत्वम्, तद्य नानाकल्पस्य, तथाच नानाकल्पसाधारणत्वादित्यर्थः ।

(A) रसगङ्गापरकाशान्तु आचार्यमतमित्थं विवृण्वते—‘यस्तुतस्तु कथ्यमाणश्रुतिमारस्येन
त्याद्यवच्छिन्ना भगवत्प्रतिवेदं रसः, सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विरोधं विशेषण वा चिदंश-
मादाय मित्यत्र स्वप्रकाशत्वञ्च सिद्धम्, रत्याद्यशमात्राय त्वनिव्यत्वमितरभास्यत्वञ्च । चर्षणा
चास्य चिदगतबलभङ्ग एव प्रायुना, तत्रकारान्तं करणवृत्तिर्वा, इयञ्च परब्रह्मास्वादात्-
समापेर्विलक्षणा विभावादिविषयमन्वलिनिधिदानन्द्रालम्बनत्वान्, भाव्या च काव्यव्यापार-
मात्राद् । अथास्या सुखाशमाने किं भावमिति चेत्, समाधावपि तद्वाने किं भावमिति पर्वनु-
षोक्तञ्च समाप्तत्वाद् । ‘सुखमात्मन्तिकं यत्तद्विद्यैवात्मनोन्द्रियमित्यादिशब्दोऽस्ति तत्र
प्रमाणमिति चेत्, अन्त्यत्रापि ‘रसो वै सः, रसं श्रेयश्च लब्ध्वा ध्यानन्दी भवतीति धृतिः, सकल-
सहृदयप्रत्यक्षेणैति प्रमाणद्वयम् । येय द्वितीयपक्षं तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्वणोपपन्नता सा
शब्दव्यापारभाव्यत्वात् शाब्दी, अपरोक्षसुखावन्मन्दत्वाच्च अपरोक्षात्मिका, तत्त्वम्—(अमीनि)
वाक्यवबुद्धिवदित्याहुरभिनवगुप्तसादाचार्याः’ इति । भिनव मतान्तरमपि तत्रैव—‘नव्यास्तु
काव्ये भावो च कविना मयेन च प्रमाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादि-
रसो गृहीतायामनन्तरञ्च सहृदयतोहापित्तस्य भावनाविशेषस्यस्य दोषस्य महिम्ना कल्पित-
दुष्यन्तत्वाद्दृष्टान्तिने स्वात्मनि अज्ञानावच्छिन्ने श्लेषिकाशकल इव रजतवण्ड समुत्पद्यमानो-
र्ध्विर्बद्धरीरु सखिभान्यरतुन्मल्लानिश्चिरकल्प्यादिरेव रसः । अयञ्च कर्ण्यो दोषविशेषस्य,
नारयश्च तत्राशान्य, स्वोत्तरभाविना लोकौत्तराहादेन भेदावहात् सुखव्यपदेशो भवति, स्वपूर्वोप-
स्थितेन रत्यादिना सदपहात् तदरतित्वेनैकत्वाध्यवयानाद् व्यङ्ग्यो वर्णनीयश्चोच्यते’ इति ।
अस्मिन्मते पूर्वोक्तदोषाणासनवकाशः, अन्येणमपि बहुधा मतभेदात्तत्र संशयं प्रदर्शिता साहित्य-
रमिकेन्द्रंश्या इत्यलमधिपेन ।

विषदलिमलिनान्गुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकृजितैर्दिशां श्रीः ।

धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरं दयिते प्रसीद मुग्धे ॥ २७ ॥

इत्यादौ,

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः

कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु ।

एवञ्च वर्णितान् प्रत्येकता निराधेन 'न कस्यापि फलस्योत्पत्तिरता मिलिता निर्दिष्टा इत्यर्थः । मिलितनिर्देशाच्च साहित्यलाभं दण्डवक्त्रा 'दिव्यमिलितानामैव रसबाधकत्वमित्यर्थः । तथाच नानाफलसाधारणेभ्याऽपि सर्वसाधारणं यत् फलं तदेव जायते 'इत्यर्थः । सकल फलान्तु न सर्वसाधारणमित्यदाप ।

ननु यत्र श्लोके मिलितानामनिर्देशस्तत्राप्यनुभवमिदस्य रसबाधस्यात्पक्षौ का गतिरित्याशङ्क्य श्लोक वये मिलितनिर्देशाभावात् दर्शयति *—विषदलीत्यादि । तत्राप्ये, हे मुग्धे भद्राभद्रमिनेवनशून्ये (A)दयिते प्रणतिपरं सति प्रसीद, बहुतरो हीपकस्तत्वात्, आगम्यकेऽन्यदा प्रसादे तु तर गौरवरत्ना न भविष्यतीति भावः । अतो बहुतरोदीपनानि दर्शयति—विषदलीत्यादि । अलियन्मलिनं अम्बुगर्भश्च मैत्रो यत्र, यित् तादृशम् तथाच तादृशादीपकदर्शनाद्बुद्ध्मुखी स्यातु न शश्यसि, तथा मधुकरा एव 'सुस्वरत्नान् काकिला, तेषां कृजितैर्दिशां श्रीः, वर्णान्वपि कचिन् काकिला माद्यन्तीत्यता मधुकरकाकिलाद्वन्द्वं वा । तथाच तन्मृगणान् तिर्थ्यङ्मुख्यपि स्यातु न शश्यसीति भावः । तथा अभिनवाङ्कुरा एव अङ्कुरा टङ्का पाषाण दारकाह्वयिगेवा यस्या, धरणिस्तादृशी, उद्दीपकत्वेन दुःखदायकत्वाद्दङ्कुराणां मर्मच्छेदकद्रूपणम् । तथाच तदर्शनाद्ब्रामुख्यपि स्यातु न शश्यसीति भावः । अत्र मानिनीप्रलम्भस्य दयितं आलम्बनम् तन्प्रणतिमेघाद्य उद्दीपनानीति विभाव मात्र स्थितिः ।

परिमृदितेति । मालत्या अरस्याकथनमिदम् । तस्या अङ्ग परिमृदित-मृणालीयत् म्लानम्, बह्वीषु क्रियासु परिवाराणां प्रार्थनाभिः तस्या कथम्

(A) दयित इति, अत्र विषयसप्तमीति उद्घोषितः ।

१ 'नैकस्यापि' ख । २ 'रससो' ग । ३ 'दिव्याधेन मिलि' ख । ४ 'शातो न दोष' ख । ५ 'वयना' ख । ६ 'सुखकरत्ना' ख । ७ 'सत्तप' ग 'निदृश' ग ।

कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥ २८ ॥

इत्यादौ

दूराद्गतसुकमागते विवलितं संभाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने 'किं चाञ्चित्प्रभूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाप्याम्बुपूर्णक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥ २९ ॥

अप्येका प्रवृत्तिः । बहुवचनेन प्रार्थनाबहुत्वस्य एकवचनेन प्रवृत्तौ रेकत्वस्य च साम् ।
प्रवृत्त्येकत्वेन तद्विषयक्रियैकत्वलाभश्च । चक्रवर्ती तु—क्रियैकत्वलाभाय क्रियाया-
मिति पाठं रचयति, तच्च निष्फलम्, अस्मद्व्याख्यानेनैव तन्सिद्धेः । तथा तस्या
कपोल' अभिनवकरिदन्तच्छेदवत् कान्त' पाण्डुत्वात्, छेदेति कृदभिहितभावत्वात्
अभिनवच्छिन्नेत्यर्थं, तथाच अतिपाण्डुत्वलाभः । अत एव—

सद्य कृतद्विद्वशानच्छेदगौरस्य तस्य ।

इति कालिदासकाव्येऽपि कृतत्वस्यैव सद्यस्त्वमुक्तम् । चक्रवर्ती तु अभिनवेति
करिदन्तविशेषणमेवाह । अत्र मालतीविप्रलम्भस्य अङ्गभ्रान्त्याद्यनुभावमात्रस्थितिः ।

दूरादित्यादि । निराकरणेन प्रसादाभिवृत्त्या अपकान्तस्य नायकस्य पुनरागमने
जातभावाया मानिन्याश्चक्षुःक्रियावर्णनमिदम् । दूरादिति सप्तम्यर्थे पञ्चमी, दूरस्य
इत्यर्थः । तथाच जातागसि जातापराधे प्रेयसि दूरगे सति मानिन्याश्चक्षुः' अहो,
प्रपञ्चचतुर नानावस्थाप्राप्तिकुञ्जल जातम् । प्रपञ्चचतुर्य्यं विवृणोति—दूरादित्यादि,
दूरस्ये प्रेयसि स्वसन्निहितागमनार्थम् उत्सुकम् उत्कण्ठितम्, आगते सति विव-
लितम्, पूर्वनिराकरणलज्जया संकुचितम्, संभाषिणि च निराकरणेऽप्यवैमुख्य-
दर्शनात् हर्षेण स्फारितम्, वाटुकरण विनैव सरिश्लिष्यति सति पूर्वकोपाविभक्ति-
अरुणम्, अञ्जिता आकुञ्जिता, झूलतायास्तथाभावश्च वाटुकरणं विनैव उत्तरोत्तरं
प्रवृत्त्या भस्यया, व्यतिकर समूहः, ईक्षणपञ्च गोलक'परमेव अतश्चतुरीक्षणयो-
र्मेदाद् बहुवीहि । पूर्णं क्षणादिति तु कश्चित् पाठः । वाप्याम्बुपूर्णता च कोपोत्तरं

इत्यादौ च—यद्यपि विभावानामनुभावाना(A)मौत्सुक्य-त्रोडा-
 र्प-कोपा-स्रयाप्रसादानां च व्यभिचारिणां (B)केवलानामेवास्ति
 स्थितिः तथाऽप्येवमसाधारणत्वमित्यन्यतमद्रयाक्षेपकत्वे सति
 नानैकान्तिकत्वमिति ।

प्रसादात् प्रसादश्च हरूपव्यभिचारिभागा बाध्य । यद्यपीति पूर्वश्लोके (C)विभावानां
 मध्यश्लोके अनुभावाना 'चरमश्लोके व्यभिचारिभावाना केवलानां स्थितित्तिर्य' ।
 कापञ्च रौद्ररमस्यापिभागाऽपि शृङ्गार'ऽत्र व्यभिचारिभाव इति प्रतिपादित प्रागेव ।
 एषा स्थितिश्च न दावकजम्बुघाच्यन्व मीडादीनामतयात्या, किन्तु शीघ्रप्रतीयमानत्व
 मेव विरलितत्यादीनामनन्यप्रयोजनरत्येन शान्न मीडादिबोधनात् बाध्यत्वमात्रन्तु
 न स्थिति 'व्यङ्ग्यभूतान्यद्वयस्यापि तथात्वेन केवलत्याभावात् । केवलत्वञ्च असा
 म्यमेव विरलितम् तेन विद्यदलीत्यादौ प्रसादेत्यनेन प्रसादस्य हर्षरूपव्यभिचारि
 भावस्य, दूरादित्यादौ प्रयस आलम्बनविभावस्य मत्वेऽपि केवलत्वमुपपन्नम् ।
 अन्यतमद्रयाक्षेपकत्व इत्यत्र तु ह्यत्यमविचितम्, अनुक्ताक्षेपकत्वे सतीत्ये
 वार्थः । एवामसाधारणत्वमिति शृङ्गारप्रकरणात्साधारण्यम्, तन्प्रकरण
 लामन्तु विद्यदलीत्यादौ 'प्रणते नायके प्रसाद'प्रार्थनया परिमुदित्यादौ तत्प्रबन्धे
 विरहिण्या मालत्या प्रकातत्वेन दूरादित्यादौ तु मानिनीपदेनैवेति बाध्यम् । अन्य
 तमाक्षेपश्च अयतमन्य व्यञ्जनया बोधनम् 'तत्र विद्यदलीत्यादौ प्रसादेन प्रार्थनीयस्याऽऽ

(A) औत्सुक्यमिति । अत्र व्यभिचारिण शौल्छन्यस्य स्वशास्त्राच्चत्वेऽपि यथा न शोचत्वं
 तथा सप्तमोऽल्लाम स्वयं वक्ष्यते । चतनयम्मम्य तस्य वक्षुपि बाधितन्दन तन्व्यङ्गकषेप्यादियेवस्त
 एव तन्पदेनोपस्थापनाद्वा शेषपरिहृतो विषेय ।

(B) केवलानामिति । अत्र दूरदुत्सुकमित्यादिसाके प्रयोस्यालम्बनविभावस्य सत्त्वात्
 केवलानामित्यन्यानुपपत्ति प्रयमो रत्यनुत्सुक्यमवतथाऽनिर्देशान् जातागामीति विद्वद्वर्म
 षत्तया निर्देशाच्च विद्यमानोऽप्यालम्बनविभावोऽविद्यमानकत्व इति प्रनीपोद्बोधोत्तरो कपशिङ्ग
 परिहृता वाप्याम्बुर्णत्वनुभावसत्यन तन्नुपपत्तिगद्वा तु मौलिसितति बोध्यम् ।

(C) विभावानामिति । द्यक्तरूपालम्बनविशिष्टवियन्तुदीरमविभावानामित्यर्थः ।

१ मन् इति इ विक पाठ २ तव इतिमेव म् इति सुप्रतिपाठ । ३ भावमप्य कश्चिन्तो च ।
 ४ 'कश्चिन्तो चैव इति तस्यमि' च । ५ चन इति न पुनके नास्ति ६ व्यङ्गानामपि तथा' ख च ।
 ७ प्रयतनापकप च । ८ कान्दनात्' क ख ९ चन क

तद्विशेषानाह—

(४४) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।

बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥२६॥

लिङ्गनादेऽनुभावस्य आक्षेपः । परिमृदिनेत्यादौ तु भङ्गस्तान्या ग्लाने, कथमपि प्रवृत्त्या
आलस्यस्य, कपोले पाण्डुत्वेन चिन्तायाश्च व्यभिचारिभावानाम्, चिन्तनीयस्य माधव-
स्याऽऽलम्बनविभावस्य तद्रूपदेहदीपनविभावस्य आक्षेपः । दूषादित्यादौ तु धाण्याम्बु-
व्यंशप्रसादेन आलिङ्गनादेऽनुभावस्याक्षेप इति (B) त्रितयसत्त्वम् ।

‘तद्विशेषान्’ रसविशेषान् । शृङ्गारहास्येत्यादि (C) नाट्यकारिकात्वादेव नाट्ये
इत्युक्तम् कान्येऽपीत्यपि बोध्यम् । एषां लक्षणानि तु ‘स्थायिभावभेदादेव रसिस्थायि-
भावको रसः शृङ्गार इत्यादिरीत्या बोध्यानीत्यभिप्रायेण ‘व्यक्तं स तै’ रित्यादिनेवोक-
प्रायाणीत्यतो विशिष्य नोक्तानि’ १ । दर्पणे तु संज्ञाव्युत्पत्तिमुत्प्रेन शृङ्गाररसस्यान्य-
धाप्यन्नेषां लक्षणानि तद्विभावादींश्च उक्तवान् । तत्र शृङ्गारस्य यथा—

शृङ्ग हि मन्मयोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।

उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इत्येते ॥ इति

तदागमन मन्मथप्रानि, तद्धेतुकं तज्जन्यं वीतपाशाणां शृङ्गाररसानुदोधात् । तद्वि-
भावाद्यधोक्ता, यथा—

(A) अनुभावस्याक्षेप इति । अत्रेदं चिन्तनीयम्—धाण्याम्बुन एवानुभावस्य सत्त्वेन
तद्रूपद्रव्यप्रसादेनालिङ्गनस्यानुभावस्याक्षेपो भानिप्रयोजनकः । उक्तञ्च दर्पणकारैः—सात्त्विकाश्रानु-
भावरूपत्वान् न पृथगुक्ता इति ।

(B) त्रितयसत्त्वमिति । इन्द्रालम्बनोदीपनयोर्विभावत्वेनैक्यमित्यभिप्रायेण, तयोर्भेदेन
प्रकरणे तु तनुर्णामेव रसबोधकत्वम्, अन्यथा उदीपनविरुद्धसद्भावेऽपि रसबोधपात्रे । न चेष्टापत्ति
पूर्णस्वरूपस्य रसस्याङ्गहान्यापात्रे ।

(C) नाट्यकारिका “नाट्यशास्त्रम्” इति नाट्या प्रसिद्धस्य ग्रन्थस्य कारिका, तत्र च
“शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानका” इति प्रथमाद्भौ वाक्यभेदः । उक्तार्थेऽनु प्रकथय । श्लोकोऽर्थ
सत्र षष्ठेऽध्याये १६ सङ्ख्यकृत्या मुद्रितः । (गादकोवाड शरियेण्टाल सिरीज)

१ ‘सत्त्वं’ इति परं कं पुनरे ट्यमानं ‘वयज्येकं क्लेशं च साधारणत्वेन तेनैव रसबोधकत्वव्यवहारं
व्याप्रादय इत्यादिना क्लेशकार्यकारणमावयन्नादसत्त्वमसाक्षेप’ इत्याह टिप्पणी साऽपि अत्रानविवृष्टित्वेति
प्रतिभाति । २ ‘स्थायिभावकथनादीनोक्तानोक्त्याभिप्रायः’ ख, ‘स्थायिभावभेदादेव बोध्यानीति ‘व्यक्तं स तै’-
रित्यादिनेवोकप्रायाणीति’ न ।

परोदा वर्जयित्वाऽत्र वेण्याञ्चाननुरागिणीम् ।

भालम्बनं नायिका स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायका ॥ इति ।

अत्र पादत्रय नायकशृङ्गारे, चतुर्थपादो नायिकाशृङ्गारे । वेण्या चात्र परानूदा । 'दक्षिणाद्या इति, दक्षिणघृथनुकूलशठरूपाश्चत्वारो बालकृद्धरागोतरे रतिसमर्था' १० । भाष्यपादाद् घर्मोपयुक्तपरिग्रहे, तेन रतिसमर्था स्वभक्तैत्यर्थः । 'पर्युद्दस्तपरोदा-विषयत्वे तु' १० शृङ्गाणभास इति बाध्यम् । तदुद्दोषनिर्भाषादपञ्चोक्ता, यथा—

चन्द्रचन्दनरोलम्भगदाद्युद्दीपन मतम् ।

धूमिलेपकटाक्तादिरुभाव' प्रकीर्तित ॥

त्यक्तचौप्रचमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिवारिण ।

स्थायी भावो रति श्यामवर्णाऽय 'विष्णुदेवता' ॥

रोलम्बा भ्रमरा । भौमरात्रिवर्जनं सम्भागशृङ्गार एव । निमलम्बे तु जुगुप्सा मात्रवर्जनम् । जुगुप्सा च बीभत्सस्थापिभावोऽपि रसान्तरे व्यभिवारिभाव इत्युक्तम् ।

हास्यस्य यथा—

विरुक्ताकारवाग्वेशचेष्टादे हुहकाद्(५) भवेत् ।

हास्यो हासस्थापिभाव' श्वेत' प्रमथदेवता' ॥

विरुक्ताकारवाक्चेष्ट यमालास्य 'हृत्सेनरा' ।

तद्वत्तालम्बनं प्रोक्त तथेष्टोद्दीपन मतम् ॥

अनुभावोऽतिसकावचदनस्मेरता'दय' ।

निद्राऽऽलस्यावहित्याद्या अत्र स्युर्न्यभिवारिण' ॥ इति ।

करुणस्य यथा—

इष्टनाशादनिष्टान्ते करुणाख्यो रसो भवेत् ।

धीरै' कपोतवर्णोऽय कथिता यमदेवता' ॥

शाक्येऽत्र स्थानपिभाव' स्याच्छाञ्चमालम्बन मतम् ।

तस्य दाहादिकाजस्या भवेदुद्दीपन पुन' ॥

(A) हुहक माया इन्द्रजालमिति यावत् ।

१ 'दक्षिण' शान्तरसीशैतरतिसमर्था' क न । २ परोदा रतिविषयत्वं यामकादिभ्रमण विषयत्वं यामपु रतिविषयत्वं च' न । ३ सजुदा इति ख न । ४ 'इष्टनाश' इति मुद्रितसाहित्यपाठ । ५ 'द्वि' इति मुद्रितपाठ ।

अनुभावा दैवनिन्दा-भूपात-क्रन्दनादयः ।
 वैवर्णोच्छ्वास-निःश्यास-स्तम्भ-प्रलपनानि च ॥
 निर्वेद-मोहापस्मार-श्याधि-म्लानि-स्मृति-श्रमाः ।
 विषाद-जडतोन्माद-चिन्ताऽऽद्या व्यभिचारिणः ॥ इति ।

प्रलपनपर्यन्ता अनुभावा बोध्या । रौद्रस्य यथा—

रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो कृदाधिदैवतः ।
 भालम्बनमरिस्तत्र तत्रोद्योदीपनं मतम् ॥
 मुष्टिप्रहार-पतन-विकृतच्छेदावदारणैश्चैव ।
 सप्रामसम्प्रमाद्येस्तस्योदीप्तिर्मवेत् प्रौढा ॥
 भ्रूविभङ्गोऽनिर्देश-बाहुस्कण्टनतर्जनम् ।
 आत्माऽवदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च ॥
 अनुभावास्तथाऽऽक्षेप-कूरसन्वर्गनादयः ।
 उप्रताऽऽवेग-रोमाञ्च-स्वेद-वैषयवो मद्ः ॥
 मोहार्पावपस्तत्र भाषाः सुर्व्यभिचारिणः । इति ।

उप्रतादयो व्यभिचारिणः तत्पूर्व त्वनुभावाः । वीरस्य यथा—

उत्तमप्रकृतिर्गौर उत्साहस्थायिभावकः ।
 महेन्द्रदैवतो (A) हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ॥
 भालम्बनविभावाश्च विजेतव्यावयो मताः ।
 विजेतव्यादिचे प्राद्यास्तस्योदीपनरूपिणः ॥
 अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः ।
 सञ्चारिणस्तु घृति-मति-गर्व-स्मृति-तर्क-रोमाञ्चः ।
 स च धर्मदानयुद्धेर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ॥ इति

¹रोमाञ्चस्य व्यभिचारिभावत्वानावेऽपि तन्निदानहर्षपरमेव रोमाञ्चपदम् । स चेति

(A) अत्र हस्तलिखितादर्गपुस्तकेषु इत्यमात्र "मेघवर्णः" इति पाठो लेखकप्रमादकृतः
 एवेति मुद्रितसाहित्यदर्पणमवादी घ-शुन्तकपाठ परिगृहीतः । इदं चिन्तनीयम्—वीरस्य हेम-
 वर्णत्वं दर्पणकृता कुत उपलब्धम्, नाव्यशास्त्रे "गौरो वीरस्तु विजेयः" इत्यनेन तत्र गौरवर्णत्वस्यै-
 वोक्तत्वात् । एवमेव च पीतवर्ण एव प्रसिद्धः स च अनुतरसान्यैश्च वर्णः इति "पीतवर्णैवाद्भुत-
 स्मृतः" इति भरतोच्चेरवगम्यते इति ।

धर्मधीरो दानवीरो युद्धधीरो दयावीरश्चेति धनुर्द्वैत्यर्थं दानादिषु सर्वत्रोत्साह-
सम्भवात् * । भयानकस्य यथा—

भयानका भयस्यायिमात्रं क न्याधिदैवत ।

स्त्री-नीचप्रवृत्तिं कृष्णा मतस्तत्त्वत्रिनारदै ॥

यस्मादुत्पद्यते नीतिस्तद्ब्रालम्बन मतम् ।

चेष्टा घोरतरा तस्य भवेदुदीपन पुन ॥

अनुमायास्तु वैदण्यं मत्पादस्वरमायणम् ।

(A) पुलक-स्वप्-रोमाञ्च-कम्प विक्रमेक्षणोदय ॥

जुगुप्साऽऽवेग-सम्मोह-सन्वास लानि-दीनता ।

शङ्काऽपस्मार सम्भ्रान्ति मृत्याया व्यभिचारिण ॥ इति

पुलकहेतुत्वादेय (पुलकहेतुत्वादेय ?) अत्र पुलकोऽभ्रुद्गम एव । तथाच रोमाञ्चादस्य
भेदः । जुगुप्सायास्तु व्यभिचारिण । सम्भ्रान्ति भ्रमण व्यलतारूपम्, धनु भयस्य
तस्याश्च स्यायिभावत्वात् ।

भीमस्सस्य यथा—

जुगुप्सास्यायिभावस्तु भीमस कथ्यते रस ॥

नालयर्णो महाकालदैवताऽयमुदाहृत ॥

दुर्गन्धमास'रुधिरमैहास्यालम्बन मतम् ।

तत्रैव वृमिपातादिरुदीपनमुदाहृतम् ॥

निष्ठीरनास्यबलननेप्रसकाचनादय ।

अनुमायास्तत्र मनास्तया स्युव्यभिचारिण ।

मोहाऽपस्मार आवेगा व्याधिश्च मत्पादय ॥ इति

अत्र च 'तत्र स्यु'रित्यादिक पञ्चाशन्वितम् ।

अद्भुतस्य यथा—

अद्भुतो विस्मयस्यायिमाया (B) गन्धर्वदैवत ॥

पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बन मतम् ॥

(A) 'पुलक' इत्यत्र 'प्रलय' इति युक्तिस्तदाहित्यद्वयपाठ, प्रलयो नष्टपक्षा इति च
व्याख्यातपमित्युक्तै ।

(B) यद्यपि इस्तलिखितादनापुष्पनेषु 'गन्धर्व'पुष्प्याने 'मन्मथ' इति पाठो दृश्यते
तथाऽपि युक्तिस्तदाहित्यद्वयसम्भन एव पाठोऽत्र परिगृहीत । नाव्यशास्त्रे तु 'अद्भुतो मन्मथ' इति
इत्युक्त्या अद्भुतस्य मन्मथवत्त्वत्वं प्रतीयते ।

तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ सम्भोगो विप्रलम्भश्च । तत्राद्यः
परस्परावलोकना-लिङ्गना-धरपान-परिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य
एक एव गण्यते । यथा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।

गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपन पुनः ।

स्तम्भ' स्वेदोऽथ रोमाञ्च-गद्गदस्वर-सम्भ्रमा ॥

तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिता ।

वितकाविगसम्भ्रान्तिहर्याद्या व्यभिचारिण ॥ इति ।

संभ्रान्तिहर्याद्या इत्यत्र सम्भ्रान्तिजन्यहर्याद्या इत्यर्थः, तेनानुभावत्वेनोक्तात् सम्भ्रमा-
दस्य भेदः ।

सम्भोगो विप्रलम्भश्चेति । तत्र दर्पणे—

दर्शनस्पर्शनादीनि निर्वेते विलासिनी ।

यत्रानुरक्तावन्योन्यं सम्भोगोऽयमुदाहृत ॥

इति सम्भोगलक्षणम्, तद्य नायकनायिकयोः(A)रक्ततरुदर्शनादिव्यङ्ग्यसम्भोगे अत्रा-
सम्(B) । तथा—

'यत्र तु रति प्रकृष्टा नामीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ'

इति विप्रलम्भलक्षणम्, तदपि नायकप्रसाद्यमानमानिनीविप्रलम्भेऽव्यासमतोऽन्यदेव
लक्षणमाह । यथा—

सम्भोग' सुखसम्मिश्रा विप्रलम्भस्तु दुःखयुक् ।

रतिस्तयो' प्रकर्ष' स्यादाधिन्यात् सुखदुःखयो ॥ इति ।

अत्र एव नि शेषच्युतेत्यादौ वाच्यशक्तदन्तिकाममनाद् यादृश दुःखम्, रन्तु तदन्तिक-
गमनाद् व्यङ्ग्यास्ततोऽयधिकदुःखमिति दुःखसम्मिश्ररतिव्यङ्ग्यस्य व्यङ्ग्यस्याति-
शायित्वम् ।

अनन्तभेदत्वादिति । भेद भेदक', बहुव्रीहिणा भेदानन्त्यादित्यर्थः ।

शून्यं वासगृहमिति । अत्र उत्यायेत्यादिसमस्तक्रियासु पूर्वपूर्वक्रियापेक्षया

(A) अत्र "नायकयो" इत्येकशेष उचितः ।

(B) भग्रेर्द चिन्तनीयम्,—ईदृशस्थले विप्रलम्भश्चैव तथा उत्तरय सम्भोगस्य च स्वीकारे
न किमपि बाधमिति ।

शय्योपान्तनिविष्टसस्मिन्'-सखीनेत्रोत्सवानन्दितो

निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥ ३१ ॥

अपरस्तु (A) अभिलाप-विरहे-प्या-प्रवास-शापहेतुक इति पञ्च-
विधः । क्रमेणोदाहरणम्—

नेत्रोत्सव' स्मितश्च नायिकाते' । एकतररतेरनुभावा अन्यतररतेरुदीपनानि ।
द्वयोक्तानुभावव्यङ्ग्यौ ह्यौ व्यभिचारिणौ । रतिश्चे मामाजिके रसोत्पत्ति ।

अपरस्त्विति । अस्यैतादृशपञ्चोपाधिभि सङ्कलनसम्भवाद्भानन्त्यमिति(B)
समस्तसम्भोगस्य त्वभिलाषेण सङ्कलनसम्भवेऽपि एकत्वानपाय इति चाभिप्राय' ।
हेतुक इत्यत हेतुपद शापकहेतुपरम्, तत्र च 'अभिलापविरहेप्याद्वयमनुभावत्वेन
शापक रतिजन्यत्वात्तत्रयस्य'३ । प्रवासगापौ तूदीपकौ मम प्रिय प्रसतीति अह

(A) साहित्यदर्पणे तु पूर्वराग-मान-प्रवास-कल्यात्मकतया विप्रलम्भस्य वातुर्विषयमुक्तम् ।
सम्भोगविप्रलम्भयोरन्यथा व्याख्यानं प्रदीपे दृश्यते, तच्च "स ह्येषा सम्भोगो विप्रलम्भश्च, तत्र—

अनुकूलौ निषेधेते यत्रान्योन्य विलासिनौ ।

दर्शनव्यर्थादीनि स सम्भोगो मुदान्वितः ॥

स च परम्पारालोकनाल्लिङ्गनादिभेदाङ्गणेष इत्येक एव गण्यते ।

भाषो यत्र रतिनां प्रकथंभविगच्छति ।

नाधियच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भान्तदोच्यते ॥

स च सङ्गमपूर्वं, तदन्यत्र, गगान्ययोगभिलापहेतुक इत्युच्यते अभिलापपदेन तद्देतेरनादि-
तङ्गमाभाषण्य लक्षणात् । आद्यन्तु क्वचिदीर्यया प्रणयेन वा मानरूप, स ईर्ष्याहेतुक इत्युच्यते
ईर्ष्यापदेन मानहेतोःलक्षणात् । क्वचित्तु कार्यवशादेशान्तरम्भिये । स च प्रवासहेतुकोऽभि-
धीशने, उन्मत्तमानोत्पन्नमानावपि प्रवामौ स्वज्ञानद्वारा विप्रलम्भप्रयोजकाविति नाख्यासि,
प्रवासाद्रेण जानक्याद्वा । क्वचिच्छापान्, स च शापहेतुक इति व्यवहिते । क्वचिदुत्-
प्रितव्यातिरिक्तं गुण्यजादित कारणात्, न एष विरहेतुक इत्युच्यते । कल्याणद्वारात्याप्यत्रै-
वान्तर्भाव इति ।

(B) अत्र 'इति' पदत्रयं "अभिप्राय" इति "इदयन्" इति वाऽऽर्थाभेदेन अधिक पाठो
दृश्यते, स च ग्रामादिक 'च'कारात्सङ्गते ।

१. 'मुञ्जी' इति पाठभेदः । २. 'अभिप्राये' इति अनुभावी विरहस्वीकृत्युक्तयो व्यभिचारिभाष-
रतित्रयवाचक' च, ननुक्ते तु क्वचिद्विप्रलम्भकपाठानन्तरं 'अभिप्रायविरहेप्याद्वयमनुभावत्वेन भावक
रतित्रयवाचक' इति पाठो दृश्यते ।

प्रेमाद्रीः प्रणयसृष्टाः परिचयाद्बुद्धादरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुरादचेष्टा भवेयुर्मयि ।
यास्यन्त.करणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा
दाशसापरिकल्पितास्यपि(A) भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥३०॥

शापप्रतिबन्धात् प्रियान्तिकं गन्तुं न शक्नोतीति ध्याने मतिरित्युद्धृतम् । अत एव
शापप्रदमत्र प्रियजनप्राप्तिप्रतिबन्धपरमेव, तत्र तपतिरित्यादिपरिग्रहः । प्रयासस्तु
न प्रतिबन्ध स्वच्छया आगमनमभ्यसत्* । धर्मिण्यश्च धर्मिलपितस्य जनस्य
मात्तान् परम्परया वा प्राप्तोल्ना, तज्जनकश्रमाधनताप्राप्तया तु गतिरित्यनिलाप
स्तज्जन्यव्यादानुभावात् । हृतमद्भुतस्य नायकस्यानागमने सयुत्कृष्णं गिरहं ।
तदुक्तम्—

प्रियं कृत्वा तु सङ्कतं यस्या नाथाति मग्निधिम् ।

मा मनाभयदुःखात्ता गिरहान्कण्डिता मता(B) ॥ इति ।

सा चान्कण्डा रतिजगन्धैवत्यनुभावात् व्यभिचारित्वेऽप्यनुभावात् शनपायात् ।
पयापकारप्रयुक्तं मानुषाणां हृदयं इत्यादि । भावि उत्तमान वा प्रियजन
वेदस्य प्रयासः । इष्टप्राप्तिप्रतिबन्धिका अनिहन्तुर्या मिद्धवचसा धाकं गाय । एतौ
छान्द्रापतविभावावि युक्तमेव * । तत्राभिगयदनुमाह—प्रेमाद्री इति । श्रमजन
माधरस्य पृथानुभूतमाश्रित्यैकचष्टास्त्रियमाश्रमा । सा च प्राग्ताप्राताः पौषाप्रिस्ये
यति परम्परया प्राग्तीश्रमाश्रित्यैव । मुग्धजना मागत्या तास्ता दृक्पण मयि भवतु
दृक्पणान्धरभावेव मुग्धदृक्पणान्धापादानम् । घणं कीर्ण्य ? प्रेरणा आद्रा स्निग्धा

(A) मामव लयीकृत्य प्रवृत्ता इमाश्चटा इत्यादिमात्रय सम्भावित्वास्वित्पर्यं किं पुन
यमाथना मा लयीकृत्य प्रवृत्ता इति निश्चितास्विति धर्मिणागय ।

(B) भाहित्वरणं तु अन्य द्वितीयाद् विप्रकृष्टा तु मा नया नितान्तमवमगतिना
इवाकारेण ह्यन्यत ।

१ तत्रानधी पीपतात स्वग २ चरमत्र धु न-पुनरथीन इत्यत ३ सतकण्ठा चीतवम्-
क्यन्त-शुभिवान्तिताव एव स्व भाव एव (१) निरन्धवा(त्)नुभावात् ग ४ शाय स धीपनचपन्नु
इत्यादिप्रतिबन्धकम् न न तपय तन २ ५ अतिरोधान्दपि परिग्रह प्रवासन(न) प्रतिबन्धक किञ्चानमनच्छा
क्यकारणाप्रवृत्त इत्यय ५ नमनधुभवात् स्व । ५ चरमत्र धु पुषावे गानि

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे

क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥ ३६ ॥

हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणम्—

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेद्या

मन्त्रान्मसां प्रतिपदं पृथतैः पवित्रे ।

शापहेतुकमाह—त्वामालिख्येति । मर्तृशापप्रतिरुद्धप्रियासक्षिधिगमनस्य यत्तस्य
प्रेमद्वारा प्रियायामुक्तिरियम् । प्रणयकुपिता त्वां प्रिया धातुरागैः शिलायामालिख्य
आत्मानं तव चरणपतितं कर्तुं यावदिच्छामि तावदुपचितैर्वाप्यै मे दृष्टिर्मुटुरालुप्यते
अस्तस्तस्मिन्नपि(A) समये क्रूर कृतान्तं दैवं नौ भावयो, सङ्गमं न सहते ।
'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवानुत्थलकर्मतु' इति कोप । शिलायां लिखनमौज्यव्याय ।
कुपिताया रक्तत्वेन धातुरागैर्लिखनम् । लिखनं चरणपातश्च द्वयमपि इच्छान्विषय
एव न तु निष्पन्नमिति भावः । केचित्तु चरणपात एव वाप्यप्रतिरुद्ध, लिखनन्तु
निष्पन्नमेवेत्याहुः । चरणपातोऽपि लेखरूपं पवेत्यन्ये । अत्रालुप्यते इत्यन्तेन
निराकाङ्क्षवाक्येन यत्तस्य विप्रलम्भरतिर्व्यज्यते, प्रिया तदात्मभवनं दृष्टिलोपन्यद्गुण
दैन्यं व्यभिचारिभावः, इयमुक्तिरेवानुभावः । प्रकरणलभ्यं शाप उद्दीपनम्, यत्तत्तत्रे
सामाजिके रसोत्पत्तिः । ननु क्रूर इत्यादिना निराकाङ्क्षवाक्येन व्यङ्ग्यो दैवप्रिया-
स्यारूपव्यभिचारिभावोऽप्यस्तीति कथमयं नास्यारूपव्यभिचारिभावश्चनिरिति चेत्,
तदर्थे इष्टत्वादेव(B), 'किन्तु द्वयोरपि निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वेन रसभावयोर्द्वयो-
रङ्गाङ्गीभारपन्नसङ्करध्वनिरेवायं वक्ष्यमाणो वाक्यः, तथाऽपि सङ्करप्रदस्यप्रलम्भ-
ध्वनिन्वमुपपद्यते एव' * ।

हास्यरसमुदाहरणम्—आकुञ्च्येति । रुदन्तं विष्णुशर्मणं दृष्ट्वा हन्त उक्ति-

तारस्वरं प्रहितधूत्कम्दात् प्रहारं

हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥ ३७ ॥

हा मानस्वरिताऽसि छुत्र किमिदं हा देवताः काशिपो

धिक् प्राणान् पतिनोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ ।

इत्थं घर्घरमध्यरुद्रकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-

श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि^(A) ॥ ३८ ॥

रियम् । विष्णुशर्मा इति रोदिति । कीदृश रोदित्वात्प्राह—आकुञ्चयेत्यादि हाहा-
हतोऽहमित्यन्तम्, वैश्या मम मूर्ध्नि धनुर्चि पाणिमाकुञ्च्य तारस्वरं प्रहितधूत्कञ्च
यथा स्मान् तथा प्रहारमदान् । मूर्ध्नि कीदृशे ? प्रतिपद प्रत्ययपरूपप्रतिस्थान
मन्त्राभस्ता पृथक् कृणामि पत्रिरे । अत एव धनुर्चिपाणिप्रहारेणात्यन्तदुःखाद्
रोदनम् । तारेत्यादि द्वय प्रहारदानक्रियाविशेषणम् । धूत्क लाला । अत्र
पतङ्गकुर्हासस्य रूद्रविष्णुशर्मा भालभवनम् । रादनकथनमनुभाय । रोदन-
वाक्यार्था आकुञ्चयेत्यादय उद्दीपनानि । रोदनकथनधनुर्ज्ञा वकश्चपलता व्यभि-
चारिभाय । हासजे सामाजिके रसोत्पत्ति ।

करुणामाह—हा मातंगिति । इहामाताया मवाल्मसाया पुरम्ब्राणां रोदन
पूर्वाद्वायं । तत्र कथयत रुस्यचिदुक्ति परार्द्धम् । पौराङ्गनानामिन्ध गिर चित्र-
स्थानपोन्त्यन्वय । भित्ती देहली । त्वरिताऽपि त्वरिति गताऽपि । धिगिति
शीघ्र तन्धराणां ब्रह्ममीनप्राणाना तन्मरणेऽथनन्धराणा स्वप्राणानाञ्च निन्दा । इग्दाहे
सन्धानानुपलभेनात्यन्तदुःखाद् दग्धे इत्युक्तम् । गिर कीदृश्य ? स्वरमङ्गजा घर्घरा,
श्रमान्मध्यरुद्रा, करुणा क्रातव्यसूचका । घर्घरमध्यरुद्रयो कर्मप्रारये तेन सह
करुणा इत्यस्य कर्मप्रारय । अत्र रूदतीना शोकस्य दृशमाना भालभवनम्, रोदन-
मनुभाय, 'रोदनवाक्यार्थाश्च उद्दीपनानि' ० । मत्परौवयद्गञ्च श्रमो व्यभिचारी ।
शोकजे सामाजिके रसोत्पत्ति ।

पुनरुक्ता पाठ्यन्तु ममाधनाञ्चि प्रथमान्तपदाभासेन पदम्यन्तस्य दुरपसादान्धयन्त्रेन लेखकप्रमाद-
कृत इति प्रतिभानि ।

(A) कल्मीकशरजजननीमल्ले उत्साहपित्रा भटनारायणेन रचितं कृतमिति जयन्तभट्ट ।
राजपक्षा स्वर्थात्तायो हत्परिव्रजविद्यापोकिरियमित्यन्वयं । इति बल्लोपिनी ।

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरु पातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्षादैर्भवद्भिर्दुःखायुधैः ।

(A) नरकरिपुणा सार्धं तेषां स भीमकिरीटिना-

मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥३९॥

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहित हरयः क्षुण्णशक्रभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।

रौद्रमाह—कृतमिति । स्वेच्छामृतद्रोणशिरस्त्रेदकुन्दस्याम्बत्यान्नोऽर्जुन(B)
सम्बोध्य उक्तिरियम् । इदं स्वेच्छामृतमनुपितृशिरस्त्रेदरूपं गुरु पातकं यैरुदुगतायुधै-
मप्यादाशून्यै अत एव मनुजपशुभिः भवद्भिर्जुनाद्यै कृतम् अनुमतं दृष्टं वा, नरका-
सुरस्य रिपुणा कृष्णेन सहिताना भीमकिरीटिसहितानाञ्च तेषाम् असृङ्मेदोमांसै-
अयमहं विशा दिक्स्थितभूताना बलिं करोमीत्यर्थः । किरीटी अर्जुन, मेदः तैलम् ।
उदायुधानामीदृशाकार्प्यकरणानौचित्यान्मनुजपशुत्वाद्युक्तम् । तदुपपादनार्थम् उदायुधै-
रिति, अत एव निर्मर्षादैरिति । नरकरिपुपदशब्दे पात् पातकरिपुत्वमपि सूचितम्,
तेन पातककारिण पातकरिपूश्च हनिष्यामीत्यतो मनुकोधाज्जगदेव न इत्यतीति
भावः । अयमहमिति एतन्तत्पयर्त्ती अहमित्यर्थः । अत्र अश्वत्यान्न क्रोधस्य
अर्जुनाद्या आलम्बनानि तेषामकार्यम् उद्दीपनम् । तादृशं तर्जनम् अनुभावः ।
तर्जनव्यङ्ग्यो गर्भोऽमर्षश्च व्यभिचारी । क्रोधज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः । न चात्र
वीरो रस इति वाच्यम् असद्वीरत्वेन निन्दितेषु क्रोधस्यैवाग्निभावात् सञ्चो-
पयोत्साहात् ।

युद्धवीरमुदाहरति—क्षुद्रा इति । हे दृश्यमानाल्पसामर्थ्यत्वेन एते इयन्तं क्षुद्रा
हरयः, संत्रासं विजहितं त्यजन् यतो भिन्नशक्रभकुम्भा अमी मम सायका मद्यापादि-
ष्पतन्तो युष्मद्देहेषु अर्थान् पतितुं लज्जां परं केवलं दधति, न तु पाताभिमुख्यं पौरुषं
वा, युष्मद्देहेषु निष्पतन्त इति तु नार्थः निष्पतनस्य पतनरूपत्वाभावात् । सौमित्रे इति
मातृसम्बन्धकीर्तनम् अवीरत्वव्यापनाय । मैत्रनादं प्रसिद्धं पतत्रास्त्रं, रामन्तु

(A) "पूर्वं दण्डक्रमेण कृतमिन्याद्यभिग्रायानन्तरं क्रोधात् क्रमं विस्तर्यानुमन्तु
प्रागुपादानम् । पशुभिरित्यनेन बलिदानयोग्यता ध्वन्यते" इत्युदाहरणचन्द्रिकायां स्पष्टम् ।

(B) "अर्तं शशीशू" इति युक्तं केचित्मन्यन्ते उत्तरत्र भवन्निति दर्शनात् ।

सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि स्यां नन्वहं मेघनादः
 किञ्चिद्भ्रू भङ्गलीलानियमिनजलधिं राममन्वेपयामि ॥४०॥
 ग्रीवामङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
 पश्चाद्येन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।

किञ्चिदन्वेपयामि । तत्र हेतुनाह—भ्रूमङ्गेति, न तु सोऽपि सामस्त्येन ममान्वेषणपात्र-
 मिति माय । अत्र भ्रूमङ्गेत्यादिना रामस्य सद्गीएन्वकथनमुत्साहस्यैरानुभाव इति
 वीर एवात्र रस, रामस्तदालम्बनम् । जलनिधिनियमनमुदीपनम् । तदन्वेषण-
 मनुभाव । चानरागुपेत्ताव्यङ्ग्यो गर्भो व्यभिचारी । उन्साहजे सामाजिके रसोन्-
 पत्ति । (A) दानधर्मद्वयाग्रीराद्युदाहरणानि तु दानाद्यतिशयवर्णनश्लोका बोध्यानि ।

भयानकमाह—ग्रीवेति । मृगहननाथ धाशितन्धस्य मृगक्रियां दर्शयतो
 दुष्मन्तस्य सारथिं प्रत्युक्तिरियम् । प्रकरणलभ्य एव मृग उद्ग्रस्तत्वात् प्रौढेभ-

(A) केचित्तु “युद्धवीरो धर्मवीरो दानवीर इति त्रिग । वीरत्वैव च भेदोऽर्थं कथ्यते
 सूरिभि पर ॥” इति बन्दो दयावीरं नेच्छन्ति । प्रदीपे तु “युद्धवीरो दानवीरो दयावीरश्च”
 इति वीरसम्यग् वैविध्यमेवोक्तम् । उक्तचतुर्विध्वन्तु साहित्यदर्पणतन्मन्मतम् । तत्र दानवीरो
 यथा—वण्डकौशिके द्वितीयेऽङ्के राज उक्ति —नन्वयमनुगृहीतमर्हि भगवता वैदम्यतो वरा —

नार्हन्ति सर्वमुवनान्यपि दक्षिणार्थं सर्वस्वदानविनिवेदनकुण्डश्रुति ।

एषां धर्मं कुशिकनन्दन तुभ्यमथ वृत्तप्रामिमा वधुमतीं विनिवेदयामि ॥ इति

अत्र दानपात्रं विद्वामिन आलम्बनम्, भगवन्साक्षाद्विचक्षणत्वमुक्तं उदीपनम्, तेन स्थापि-
 मास्य राज सर्वस्वदानोत्साहस्योदीपनात्, ईदृशोक्तिरनुभाव, अनुगृहीत इत्यादिपदव्यङ्ग्या
 हर्षाद्यो व्यभिचारिण, तदुत्साहजे सामाजिके रसोत्पत्ति ।

धर्मवीरो यथा शिशुपालवरे चतुर्दशमो—

आननेन दक्षिण कल्प दधत्तां तद्वयिलकामविग्रह ।

आप्लुत स विमलैर्जगैरनुदृष्टमूर्त्तिधरमूर्त्तिरशमी ॥

इत्यन्त श्लोकसमुदाय । यत्र राज उन्साहस्य यत्र आलम्बन वृष्णोत्तम प्राप्तो यजे
 निर्विघ्नतादकप्रत्यय उदीपनम्, याजकरूपवतिग्रहोऽनुभाव, हर्षो व्यभिचारी यज्ञोत्साहजे
 सामाजिके रसोत्पत्ति । दयावीरो यथा मृच्छकटिके पण्डेऽङ्के—

विधिर्नैवोपनीतस्त्व वधुर्विषयमागत ।

अपि प्राणानह जग्न न तु रवा शरणागिनम् ॥

इति चन्दनचन्द्रयोक्ति, अत्र आर्य्यं चन्दनकल्प दयाया आलम्बनम्, आर्य्यकल्प

१ 'वृद्धादि' इति पाठान्तरम् ।

'शष्पैरर्द्धावलीढैः श्रमविद्युत्मुखम्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
 पश्योदग्रप्लुतत्वाद्बिभ्यति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥४१॥
 उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ 'पृथूच्छोथभूपांसि मांसा-
 न्यंसस्फिकृष्टपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपृतीनि जग्ध्वा ।
 आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रैतरङ्कः (A)करङ्का-
 दङ्कस्थादस्थिसंस्थं (B)स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमस्ति ॥४२॥

फालत्वाद् विभ्यति बहुतरं प्रयाति उर्व्यां स्तोत्रम्, एतत् पश्येत्यर्थः । मृगं कीर्णं ?
 अनुपतति पश्चाद्भवति स्पन्दने व्रीणाभङ्गेणाभिगमं यथा म्यात् तथा मुहुर्दत्तहृष्टि, तथा
 शरपतनमथात् शरपतन(परि)जिहोर्पतो भूयसा महता पश्चाद्धेन पूर्वकाय प्रणिष्ट
 कुञ्चिताद् इत्यर्थः । मयपदन्तु नात्र भीतिपरम्, तस्या अत्र स्थायिभाउत्वेन शब्दाच्चेत्ये
 रसन्धानात्ते । पश्चाद्धेनेत्यत्र पृषोदरादित्यात् 'त' लोपः । तथा श्रमविद्युतात् मुखाद्
 म्रशिभि अर्द्धावलीढै शष्पै कीर्णवर्त्मा । अत्र मृगनिष्ठस्य मयस्य दुष्मन्त भालम्बनम् ।
 शरपात उदीपनम् । मांसा मृगक्रिया अनुभावः । वाच्यं श्रमो व्यभिचारी ।
 मयमे सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

वीमन्समाह—उत्कृत्येति । श्रमगाने शर भुञ्जान प्रेत दृष्य माधवम्योक्तिरयम् ।
 अथ प्रैतरङ्क प्रैतेषु वरिष्ठ अङ्कम्यात् करङ्कान् प्रेतशरीरात् अस्थिसस्य स्थपुट-
 गतमपि क्रव्य मांसम् अव्यग्रम् अनाकुल यथा स्यात् तथा अतीत्यन्वयः । स्थपुट
 ग्रन्थिः । क्रमेण भक्षणव्यग्रता । भक्षणक्रमेणह—उत्कृत्येति । कृत्तिं वर्म
 उत्कृत्योत्कृत्य प्रथमं जग्ध्वेत्यन्वयः । अथ अनन्तरं पृथूच्छोथेन महान्फुल्लतया
 भूयांसि बहुलानि अस्मिन्कृष्टपिण्डादिरूपावयवेषु सुलभानि उत्कृत्युर्गन्धीनि
 मांसानि जग्ध्वेत्यन्वयः । अस्म भुजमूलम् । स्फिकृ नितम्बः । आदिना उर-
 परिग्रहः । स्थपुटगतस्थानुपेक्षणादार्त्तन्तम् । तत्राकर्षणार्थं च दशनप्रकटनम् ।
 कश्चिदाच्छिद्य नेष्टतीति मयात् पर्यस्तनेत्रन्तम् । अत्र माधननिष्ठजुगुप्साया भक्ष्य-
 श्नो भक्तकं प्रेतश्चालम्बनम् । प्रतिगन्थानुदीपनम् । माधाम्येयमुक्तिः तद्वच्चङ्कं
 शरपागत्त्वमुदीपनम्, ईदृशोन्निनुभाव मतिहपांसयो व्यभिचारिण, व्योन्वाहो सामाजिके
 रसोत्पत्तिरिति । छष्टरोदाहरणानि तु मयाणि ।

(A) करङ्क शिरोऽन्विय । (B) स्थपुटम् अस्थिसन्धिस्थानम् ।

१ 'इमे' इति पाठान्तरम् । २ 'पृथूच्छोथ' इति पाठान्तरम् ।

चित्रं महानेप वतावनारः क्व कान्तिरेपाऽभिनवैव भङ्गिः ।

लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एव सर्गः ॥४३॥

एषां स्याधिभावानाह—

(४५) रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्याधिभावाः प्रकीर्त्तिताः(A) ॥३०॥

स्पष्टम् ।

निश्चयानुभावात् । पतद्दर्शनव्यङ्ग्या जडता व्यभिचारिभावः । जुगुप्साभे सामाजिके रसानुपत्तिः ।

अद्भुतमाह—चित्रमिति । सर्वप्रकाशप्रदं कञ्चिन्महापुरुष इष्टं कस्यचिदुत्तरियम् । अर्थात्तुभूयमानमिदम् अन्तारमहत्त्वान्त्रिकं चित्रं त्रिलक्षणं न तु विस्मये अत्र चित्रपदं तस्यात्र स्याधिभावत्वेन गन्दराध्यत्ये रसत्वानाम् । वन हर्षे । एषोऽन्तारं महान्, एषा कान्तिर्न वापीत्यर्थः । इयं मङ्गिरमिनरेव, धैर्यं लोकोत्तरं प्रभावश्च ब्रह्म अश्चर्यम् । अत्र च प्रभावविषय एव विस्मयः मने स्याधिभावः । इयमाकृतिः काऽपि अनिर्वचनीया । एव रिते सर्गं सृष्टिर्नूतनः । अत्र वन्दु-विस्मयस्य महापुरुष आलम्बनम्, तस्य कान्त्यादिकमुद्दीपनम्, वन्दुरियमुक्तिरेवानुभावात् । वतपदार्यो हर्षं व्यभिचारिभावः । विस्मयभे सामाजिके रसानुपत्तिः (B) ।

रतिर्हासश्चेति । उत्तरसानामेते यथामुद्ध्यं स्याधिभावाः । रत्यादीनां लक्षणानि तूक्तानि दर्पणः । यथा—

रतिर्मनोऽनुकूलेऽयं मनसः प्ररणायितम् ।

(A) कारित्वेन नाट्यशास्त्रे दृश्यते (६ अ, १८ श्लो०) ।

(B) रसाङ्गावरकारान्तु—‘चित्रं महानेव’विषये विस्मयप्रतीत्यापि नात्र अद्भुतरसभक्ति-वं सम्भवति महापुरुषविषयाने तस्य ‘पश्यामि देवास्तत्र देव देहे सर्वांस्त्वया भूतविशेषमहान्’ इत्यादिशिवशुभेमावात् । दृष्टान्तश्लोके नलिच्छ्रतीतिस्तु सद्दयद्वयैकप्रमाणा । तथाच—

वरावरजगन्नाडमदनं वदन् तव ।

गच्छुगगनगाम्भीर्यं वीक्ष्यामि हनचेतना ॥

इति सृष्टक्षणेनापिशेषो न युक्त इति स्वयदर्शनं दर्शयन्तं वाद्यैर्ष प्रति यतोऽप्या अक्षिरेव दृष्टुं शरणाभ्युत्तरस्यम् । अत्र वदनमाच्छब्दम्, तत्र वरावरदर्शनमुदीपनम्, इत्येतेनन्वगम्यो

व्यभिचारिणो ब्रूते—

(४६) निर्वेद-^१ग्लानि-^२शङ्काख्यास्तथाऽ^३सूया-^४मद-^५श्रमाः ।

आलस्यं^६ चैव^७ दैन्यं^८ च चिन्ता^९ मोहः^{१०} स्मृतिर्भृतिः^{११} ॥ ३१ ॥

प्रोडा^{१२} चपलता^{१३} हर्ष^{१४} आवेगो^{१५} जडता^{१६} तथा ।

गर्वा^{१७} विषाद^{१८} औत्सुक्यं^{१९} निद्राऽपस्मार^{२०} एव च ॥ ३२ ॥

रगादिवैहृताद्येतोविकाशो हास इष्यते ।

इष्टनाशादिभिश्चेतोवैहृद्यं शोक उच्यते ॥

प्रतिकूलेषु तैश्च्यस्य प्रबोधं क्रोधसञ्चित ।

कार्यारम्भेषु संरम्भ उतसाह समुदाहृत ।

रौद्रशक्त्यादिजनितं वैहृद्यं मनसो मयम् ॥

दोषेक्षणविभिर्गर्हां अगुप्सेति निगद्यते ।

विविधेषु पदार्थेषु लोकसामातिवर्त्तितु ।

विस्तारञ्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृत ॥ इति

‘प्रवर्णायितम्’ उक्तं आवेगोऽनुरागरूपः, सोऽपि इष्टसाधनताज्ञानधारारूपः ; नत्विच्छारूपः, अभिलाषहेतुत्वेनोक्तत्वान् । चेतोविकाश उपरुसनीयत्वेन ज्ञानं मुखविकाश-
रूपहास्यहेतुः । इष्टनाशादिभिरित्यादिपदाच्छोभ्यायम्यामात्रपरिहृत् । वैहृद्यं दुःखम् ।
संरम्भ सहर्षप्रवृत्तिः । तैश्च्यस्य अपचिकीर्षांशा प्रबोध उक्तत्वम् । रौद्रशक्त्याति
रौद्रः क्रुद्धः तस्य क्रोधरूपया शक्त्या ; वैहृद्यमिह भाविदुःखद्वेषः, तस्य च क्रोधजन्यत्वं
तज्जन्यदुःखविषयत्वान्, न तु तज्जन्यं दुःखमेव वैहृद्यं तदनुत्पत्तिदशायामपि
भीत्युपलम्भान् । एवञ्च मनःशोभरूपदृश्यमाणशाम्भरूपव्यभिचारिभावादस्य भेदः ।

तेमाज्ञादिशुभावः, श्रमादिर्व्यभिचारी । अत्र विदयानाऽपि पुत्राला प्रीतिर्न प्रदीयते व्यञ्जक-
भावात्, सत एव च महापुरुषत्वनिबन्धनो भावोऽपीति मन्यन्ते ।

सुतं^{१९} विप्रो^{२०}धोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोम्रता ।^{२१}

मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ ३३ ॥

त्रासश्चैव^{२२} वितर्कश्च^{२३} विज्ञेया व्यभिचारिणः ।

तयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ ३४ ॥

विस्तार इति दृष्टहेतुभ्याऽसम्भाव्यत्वहानेन हेतुनुमन्धाने मनाभ्यापारणमेव चेतसो विस्तारः । एते स्थायिभावा स्वरासनायाममेदेनारण्यमाणा रसतामापद्यन्ते इति वक्षितसिद्धान्तोऽवश्येयः ।

समाख्यातास्त्विति । नामत एव मञ्जुपेणाक्ता इत्यर्थः । असत्क्षेपकथने तु एकरसस्थायिभावाऽपि अन्यत्वे व्यभिचारिभाव इति सूचितम् । भूत एव दूरादुत्सुकमाग्ने इत्यादौ कोषोऽपि व्यभिचारिभावेनात् । नामत इत्यनेन च लक्षणान्यन्यत्रानुसंधेयानीति सूचितम् । तत्र दर्पण—

- (१) निर्वेदस्य यथा— तत्त्वज्ञानापदीष्यदिनिर्वेदं स्याद्यमाननम् ।
दैन्यं चिन्ता शु-निश्वास-वैरर्ष्या-च्छ्रुसितादिहृत् ॥ इति
- (२) ग्लानेर्यथा— रत्यायास मनस्ताप-स्तुत् पिपासादिसम्भवा ।
लानिर्निष्पाणताकण्ठ-कार्यानुत्सना हितादिहृत् ॥ इति
- (३) शङ्कया यथा— परकौर्ष्या-त्मदोषाद्यै गद्गाऽनर्थस्य चिन्तनम् ।
वैरर्ष्य-कम्प-वैस्यर्ष्य-पाम्बालोका-स्यशापहृत् ॥ इति
- (४) असूयाया यथा— असूयाऽन्यगुणार्दीनामौदत्त्यादन्निष्पाणता ।
दग्नेक्षण-भ्रू-निभेदावका-कोषे-द्विक्तादिहृत् ॥ इति
- (५) भदस्य यथा— सम्माहानन्दसम्भेदो भद्रा मद्योपर्यंगतः ।
भ्रमुना चात्तम-शेते मच्यो हसति गायति ।
अघमप्रकृतिश्चापि पलत्र वक्ति रादिति ॥ इति
- (६) भ्रमस्य यथा— सेदो रत्यध्वगत्यादे श्वास निद्रादिहृत् ॥ इति

- (७) आलस्यस्य यथा—आलस्यं भ्रमगर्भाद्यैः 'पुरनार्येष्वनादरः । इति
- (८) दैन्यस्य यथा— शौर्गत्यादेरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिदृश्व । इति
- (९) विन्ताया यथा— एषान् विन्ता हितानासे शून्यता-श्वास-सापकृश्व । इति
- (१०) मोहस्य यथा— मोहो विचित्रता भीति-दुःखा-वेगा-र्यचिन्तनैः ।
घूर्णता-गात्रपतन-भ्रमणा-वर्णनादिदृश्व ॥ इति
विचित्रता ज्ञानाजननम् ।
- (११) स्मृतेर्यथा— *सदृशज्ञान-विन्ताघीर्णसमुद्रमनादिदृश्व* ।
स्मृतिं पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ॥ इति
- (१२) घृनेर्यथा— ज्ञाना-भीष्टागमाद्यैस्तु सम्पूर्णसृष्टता घृति ।
सौहित्ययच्चनो-ह्लास-सहास-प्रतिभादिदृश्व ॥ इति
- (१३) व्रीडाया यथा— (A) सङ्कोचचेतसो व्रीडा वैवर्ण्याधोमुखत्वदृश्व । इति
संकोचः सहसा कार्येषु प्रवृत्तजननम् ।
- (१४) चपलताया यथा— मात्स्वर्त्य-द्वेष-रागाद्यैश्चापत्यं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सन-पारुष्य-स्वच्छन्दाचरणोदय ॥ इति
- (१५) हर्षस्य यथा— (B) मनःप्रसादो हर्षः स्याद्विष्टावास्तिस्तवादिभिः । इति
- (१६) आवेगस्य यथा— (C) आवेगः सम्भ्रमो राज-गज-वर्णादिस्मभवं । इति
सम्भ्रमो महत्त्वेन मनःश्लेषत्वेन वा ज्ञानम्, गजवर्णयोरपि अपकारसामर्थ्यात् तादृशं
ज्ञानमल्येव ।
- (१७) जडताया यथा— अप्रतिपत्तिर्जडता स्याद्विधानिष्टदर्शनभ्रुतिभिः ।
अनिमित्तयननिरीक्षण-तूष्णीमभावादयस्तत्र ॥ इति
अप्रतिपत्तिं कर्त्तव्यमूढता, अतो ज्ञानाजननरूपाद्विचित्रतात्मकान्मोहाद्वेद ।

(A) 'वाङ्मोभावो व्रीडा वदनात्मनादिदुःखारात्' इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

(B) 'हर्षस्त्विष्टावास्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकर' इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

(C) आवेगं सम्भ्रमस्तत्र वर्णने पिण्डिताद्गता । उत्पातने स्मृतताऽङ्गे भूमायाकुण्डला-
ऽदिते । राजविद्वज्जादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् । गजादे स्तम्भकम्पादिपञ्चायाकुलताऽ-
निलाव । इष्टाद्वर्णा-मुषोऽनिष्टाज्जोषाश्चान्ये यथावयम् ॥ इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

1 'नाथ कृष्णवित्तादिदृश्व' इति मुद्रितव्याख्यादर्पणपाठ । 2. अयमत्र क इत्युक्ते नास्ति ।

3 'वचनादि-' ५ ।

- (१८) गर्गस्य यथा— गर्गो मद्-प्रभाव श्री विद्या सन्^१ 'कुलज' मभिः ।
भवज्ञा सखिलासाङ्गदर्शना ऽविनयादिरत् ॥ इति
भवज्ञा परस्मिन् ।
- (१९) विराडस्य यथा— उपायामात्रतन्मा तु विराद् सत्वसत्तय ।
निश्वासा ङ्ङास दृत्ताप सहायान्वेषणादिरत् ॥ इति
निष्पाणताऽनौजस्य सत्वसत्तयाणा सयाणामपि बलहानिरूपत्वेऽपि विभिन्नकारणकत्वेन
ग्लानिर्दैन्य विगादाना भेदः ।
- (२०) श्रौतमुफ्यस्य यथा— इष्टनशास्तेरौत्मुफ्य कालक्षेपासहिष्णुता ।
वित्तताप-त्वर-खेद ईधनिश्चसितादिरत् ॥ इति
- (२१) निद्राया यथा— चेतसम्मिलन निद्रा क्षम ह्रम मदादिज्ञा ।
जृम्भा क्षिमीलना ङ्ङास मात्रभङ्गादिकारणम् ॥ इति
- (२२) अस्मारस्य यथा— मन क्षेपस्वपस्मारो प्रहायावेशनार्दज ।
भूपत्त-कम्प-प्रस्वेद-फेन-लालादि^२ कारणम् ॥ इति
अस्मारो मादथाव्याधित्वेऽपि शृङ्गार एतापेन, भयानकादौ तु न्यरादिर्पीति प्रतिपाद
नायं धृपगुपादानम् ।
- (२३) सुप्तस्य यथा— सुप्त निद्रायमाणस्य विषयानुभवश्च य ।
कापा-वेग मथ-ल्लानि-सुख दुःखादि^३ कारणम् ॥ इति
- (२४) विबोधस्य यथा— निद्रापगमहेतुभ्या विबाधश्चेतनागम ।
जृम्भाऽङ्गभङ्ग-नयनो मीलना-ह्लासलोकहन ॥ इति
- (२५) अमथस्य यथा— निन्दाऽऽक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिरिष्टता ।
नेत्रराग शिरकम्प भ्रूक्षपा लज्जनादिरत् ॥ इति
अभिनिरिष्टता तन्निर्घातनापायभावना । तेनात्कम्पविकीर्षोरूपात् काधादस्य भेदः ।
- (२६) अरहित्यस्य यथा— (A) अरहित्य तु लज्जाद्यैर्हर्षाद्याकारगोपनम् । इति

(A) भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुहिरवदित्या । व्यापारान्तरसक्यन्वयाऽवनापणविडोक्तमादि-
करो ॥ इति सारहित्यवपणलक्षणम् ।

१ 'कुलज' इति मुद्रितसंस्कृतपत्रपाठः । २ 'कारक' इति मुद्रितसंस्कृतपत्रपाठः ।
३ 'श्री' विक्रानुपेतल मुद्रितसंस्कृतपत्रपाठः । ४ 'कारक' मुद्रितसंस्कृतपत्रपाठः ।

हरत्यघं संप्रति हेतुरेप्यतः
 शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
 शरीरभाजां भवदीयदर्शनं
 व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ ४६ ॥

एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

सामाजिके भावोत्पत्ति । अहौ वेत्यादौ तु निवजपे प्रलापत्वारोपाद् न तद्विषयभाव इति बोध्यम् ।

मुनिविषयां रतिमाह—हरत्यघमिति । अन्यागत नारदं प्रति श्रीकृष्णस्योक्तिरियम् । भवदीयदर्शनं कर्तुं कालत्रितयेऽपि शरीरभाजाम् अस्मादृशाम् अमीष्टभाजनस्वरूपां योग्यतां व्यनक्ति अनुमापयति, तत्र वर्त्तमानकालेऽघहरणम्, एष्यत आगमिष्यत शुभस्य हेतुत्वेन भाविकाले शुभवत्ताम्, अतीतकाले च भवदर्शनानुमेयां शुभवत्तां पूर्वाद्देनाह—हरत्यघमिति । कृत जनितम् । अत्र मुनि-रालम्बनम्, तद्दर्शनमुद्दीपनम्, श्रीकृष्णस्येयमुक्तिरेवानुभाव, अमीष्टवत्ताव्यङ्ग्यो ह्येषो व्यभिचारी, मुनिविषयश्रीकृष्णरतित्रे सामाजिके भावोत्पत्ति ।

एवमन्यदपीति । तत्र गुरुविषयरतौ यथा—

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात् सयमितारिभिः ।

प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यमिदं शरा ॥

इति कुलगुरुं वशिष्ठं प्रति दिलीपस्योक्ति । नृपविषयरतौ यथा—

अहो महीयो भूपाल भुवनत्रितयोदरम् ।

माति मातुमशस्योऽपि यशोराशिर्यद्वन्न ते ॥ इति

पुत्रविषयरतौ यथा—

यदाह धात्र्या प्रथमोदित बचो

ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।

अभूच्च नम्र प्रणिपातशिक्षया

पितुमुद तेन ततान सोऽर्भक ॥ इति

पितृ-मातृ-विमातृविषयरतौ यथा—

जीवन्मु सातपादेषु नवे दारपच्छिदे ।

मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः ॥

इत्युत्तररामचरिते रामस्योक्ति ।

अङ्गितव्यभिचारी यथा—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।
नो यावत्परिरभ्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रियां
घ्रातस्तायदहं शटेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥ ४७ ॥

अथ विधिं प्रत्यसूया ।

घ्राद्विषयवर्तौ यथा—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवा ।
त तु देश न पश्यामि यत्र घ्राता सहोदर ॥ इति

कन्याविषयवर्तौ यथा—

पातु न प्रथमं व्यस्यति जल युष्मास्वमिन्नेषु या
नाऽऽदत्ते प्रियमण्डनाऽपि भयतां क्लेशेन या पहरम् ।
आद्ये च कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भयत्युत्सव
सेय याति शकुन्तला पतिशृङ्खल सञ्चरन्नुशयताम् ॥

इत्याश्रमवृत्तान् प्रति कण्वस्याकि ।

सुहृद्विषयवर्तौ यथा मम—

दुःखे सुखे रहसि नर्मणि तुल्यधर्मा
^१मर्मान्तिकेऽपि किल कर्मणि शर्मदायी ।
धर्मेऽप्यवैत्रि वधिर चलितो न धर्मे
त्व मे सन्न जगति कोऽस्ति तत्र द्वितीय ॥ इति

^२उदासीनविषयवर्तौ यथा—

यं पृथगे सुरस्तरि^३न्मुखतोर्थं सार्यं
छानेन शास्त्रपरिशौलनकीलनेन ।
सौजन्यमानजनिकञ्जितमूर्जिताना
संश्लेष दगो यतति कस्यचिदेव पुनः ॥ इति^४

जाने कोपेति । स्वप्रवृत्त सख्यौ कथयत उक्तिरियम् । जाने स्मरामि ।
पाणिना मा मा स्पृशेति हृत्वेत्यर्थः । यदा मा मा स्पृशेति पाणिनेव हृत्वेत्यर्थः ।
'तथाचात्तरमदृत्वा हस्तसहयव निधिभ्येत्यर्थः'^५ । शटेन खलेन । अङ्गेति भस्वया

१. मासीऽन्तिके ख । २. यत्र न ख पुत्रके नास्ति । ३. सुहृद्विषयवर्तौ न । ४. 'पुत्रकेऽन्तिके' नास्ति । ५. 'पुत्रकेऽन्तिके' नास्ति ।

(४६)—तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च ।

व्यञ्जकवाच्यस्येव निराकाङ्क्षत्वादिति भावः^१ । अतोऽत्र प्रतीयमानोऽपि विप्रलम्भ-
असूयाभावस्य व्यभिचारिभावतामेवापन्नः । त्वामालिख्येत्यादौ तु यालुप्यने
इत्यन्तं न केनापि साकाङ्क्षोक्तम् । एवञ्च रसकाव्येऽपि भावो भावकाव्येऽपि रसो
वर्तते एव । तत्तद्भूतित्यनिधामकन्तु निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वमेव ।

अत एवान्यत्रोक्तम्—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।

परस्परकृतासिद्धिरनयो रसभावयो ॥ इति

न चैवमत्र रसस्य भावाङ्गत्वे विद्यमानमपराङ्गतस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यमेव किमिदं
न भ्यादिति वाच्यम्, अत्र रसस्य असूयानिर्याहकत्वेन स्ववमनूकाराभावात्पराङ्गत्वा-
भावान्, यत्र स्वस्यैव वमनूकारिता तदङ्गिनस्तु निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वमेव तत्र
स्ववमनूकारेणाङ्गिप्रकर्षकस्याङ्गस्यैव अपराङ्गत्वम्, तच्चाग्रे बोध्यम्* ।

तदाभासा इत्यत्र तत्पदस्य रसभावोभयपरामर्शकत्वमभिप्रेत्य व्याचष्टे—
रसाभासा इत्यादि । अनौचित्येति शृङ्गारादौ यद् यदालम्बन वर्जित
तत्तदालम्बनकत्वमेव अनौचित्यं बोध्यम् ।

तत्र रसाभासो यथा—

स्तुमः कं वामाक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे

विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे ।

सुलग्ने को जातः शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्

तपःश्रीः कर्म्यैषा मदननगरि ! ध्यायसि तु यम् ॥ ४८ ॥

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः स्तुम इत्याद्यनुगतं बहु
व्यापारोपादानं व्यनक्ति ।

“तत्र” शृङ्गारे । अत्र “वृत्तिणाद्याश्च नायका” इत्यनेनाधर्मनायकवर्जनात् तेषामने-
कवैऽप्यधर्मत्वप्रौढ्येण अनेकोपनायकविषयनायिकारताबुद्धान् इति — स्तुमः कमिति ।
हे वामाक्षि सुन्दरनयने, य पुरुष विना त्व क्षणमपि न रमसे न हृष्यसि त क स्तुम
तवेद्गानुरागविषयत्वेन तस्य स्तुत्यत्वागिति भाव । तथा य पुरुष मृगयसे अन्विष्यसि
कोऽसौ, अर्थाजन्मान्तरे रणरूपयत्रस्य मुखे भादौ प्राणान् विलेभे त्यक्तान् । विपूत्रो
लमिस्त्वगोऽपि । त्वनृकर्तृकान्वेपणरूप फल जन्मान्तरे सम्मुखरणमरणस्येति भाव ।
तथा हे शशिमुखि, य पुरुष बलावाल्लिङ्गसि स क सुलग्ने जात, तथा हे मदननगरि, य
तु पुरुष ध्यायसि कर्म्यैषा त्वद्वचनरूपा तप श्री । अत्रेति स्तुम इत्यादि वास्य
चतुष्टये ‘अनुगत’ सम्बद्ध ‘बहुव्यापारोपादान’ उद्भिहितभावत्वात् उपात्ता बहुव्यापारा
सदा रमणमार्गणालिङ्गनप्यानरूपा, तस्या अनेककामुकविषयमभिलाष व्यनक्तित्यर्थ ।
व्यक्तेनाभिलाषेण च स्वजनकेष्टसाधनताशानधाररूपा रतिव्यंज्यते इत्यर्थ,
न त्वभिलाषरूपैवात्र रतिस्तस्या अभिलाषव्यङ्ग्यत्वम्येष प्रागुक्तत्वात् । नन्विदृश-
व्यापाराणां स्वीकृत्यायकविषयत्वमपि सम्भवति तत्र कथं कामुकानेकत्वलाभ
इति । अत्र चतुर्वर्ती—सर्वत्र वर्तमानानिर्देशादेःकालत्वे लब्धे विभिन्नकालीनाना-
मालिङ्गनान्वेपणादीनाम् एकदैकपुरुषेऽसम्भ्रान् तदनेकत्वलाभ इति व्याचष्टे, तत्र ।
इष्ट स्वपिति गच्छतीत्यादायि विभिन्नकालीनक्रियास्यपि तत्तत्कालवर्तमानत्व-
मादाय वर्तमानानिर्देशासम्भवादैककालत्वलाभात्, अन्यथा एकपुरुषान्निङ्गनकाले
अन्यपुरुषस्य क्यधिकत्वेषणासम्भ्रान्तहोपतत्त्वस्थञ्चान्, न ह्यत्र माननमन्वेपण विद्यन्ति
तस्य ध्यानेन गतार्थत्वात् । अत्राप्येते—ध्यायसि तु यमित्यत्र पूर्वनिर्दिष्टक्रिया-
कर्माभूतस्य पुरुषस्य ‘तु’ शब्देन ध्यानान्वये व्ययच्छिद्रत्वात् यत्पूर्वचतुष्टयाश्च
कामुकानेकत्वलाभ, न हि य पट्टं जालयसि कोऽसौ य तु परिधत्से कोऽमावित्युक्ति

भावाभासो यथा—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी

सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी ।

तत् किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं

तत्स्वीकृत्यव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥ ४९ ॥

अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता । एवमन्येऽप्युदाहार्याः ।

(५०) भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः सबलता तथा ॥ ३६ ॥

पट्टकत्वे सम्भवति, न वा 'प्रष्टव्यैकत्वे प्रतिप्रश्न यत्पदनिर्देश उचितः । एवं मदननगरीत्यत्रापि अनेकपुरुषाथयनगरीरूपणादपि नानापुरुषविषयानेकमदनाभ्रयत्व-
सूचनं बोध्यम् ।

भावाभासो घयेति । अत्र भावो व्यभिचारिभाव, तस्य चात्र शृङ्गारीयत्वेन शृङ्गारवर्द्धिताननुरागिणीविषयत्वादाभासता बोध्या । राकेति । राका पूर्णिमा । तरङ्गितः तरङ्गवदुत्तरोत्तरं जायमान । तथाच सा इत्य सौन्दर्यादिनुपेक्षणीया, तत् तस्मात् किं करोमि, अत्र अस्यां कथ मैत्रीं विदधे, तत्कर्तृकस्वीकारसमूहे इह क उपाय इत्यर्थः । यत्किञ्चित् स्वीकारस्यानुद्देश्यत्वाद् व्यतिकर इत्युक्तम् । अत्र तत्स्वीकारोपायचिन्तया 'अननुरागित्वलाभात् तद्विषया चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिसंभे-
त्याह—अत्रेति । एवमन्येऽपीति, रसाभासे निशेपेत्यादिकं यः क्रौमारहरे-
त्यादिकञ्च । भावाभासे तु—

गाम्नास्वहृमि गामैवसामिनअरटिठइ न आणामि ।

णाअरिआणं परणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥ इति

अत्र परपुरुषहरणाधीनो गर्वोऽनुचितः ।

रसमापेत्यादिक्रमप्रदान् भावशान्त्याशीनुदाहर्तुमाह—भावस्य शान्तिरित्यादि । 'शान्ति' जाश । 'उदय' उत्पत्ति । 'सन्धि' विशुद्धयोर्द्वयोरवच्छेदकभेदेन एकत्र एकदा स्थिति । (A) सबलता पूर्वपूर्वभावापेक्षया उत्तरोत्तरमावार्ता

(A) कारिकास्य "सबलता"शब्दस्तालव्यादितया बहुषु पुस्तकेषु हरयते, उक्तञ्च प्रदीपे "शबलता तु कालभेदेन निरन्तरतया पूर्वपूर्वोपमर्दिनाम् । न च भावस्य शबलतायाः शान्त्युत्थान्यामविशेष शान्तेरुदयस्य वा एकैकस्यास्वादे तद्वेदद्वयोपगमात्" इति । साहित्य-
दर्पणेऽप्यस्य तालव्यादित्वमुपलभ्यते ।

क्रमेणोदाहरणम्—

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रदलेपमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क तदित्युदीर्य सहसा तत् संप्रमार्ष्टुं मया
साऽऽश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्याऽपि

तद् विस्मृतम् ॥ ५० ॥

अत्र कोपस्य

एकस्मिञ्चयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहगलपितया चादूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूर्ण्णां स्थितस्तत्क्षणं
मा भूत्सुप्त इवेत्यमन्दचलितग्रीवं पुनर्वाक्षितः ॥ ५१ ॥

अत्रौत्सुक्यस्य ।

बलवत्ता (A) बलवत्समूहो वा, न त्वत्र पूर्वभावस्य नाशप्रतीतिरतो भावशान्तितो
भेदः । एतेषां निराकाङ्क्षमात्यव्यङ्ग्यत्वे तत्तद्गुणित्य बोध्यम् । शत्रु भावशान्ति-
मुदाहरति—तस्या इति । स्वनायिकाकोपतच्छान्तिवृत्त सख्या कथयत उक्तिरियम् ।
तत्र सम्भुक्तोपनायिकास्तरागाङ्कितवत्तस प्रणमन्तं स्वनायकं प्रति कुपिताया
नायिकाया उक्ति प्रथमाहम् । तत्र च प्रश्लेष भालिङ्गनम् । मुद्राङ्कितं विहितम् ।
इति पूर्वार्द्धे तथा उक्ते, तन्मुद्राङ्कितत्वं संप्रमार्ष्टुं गोपायितु मया 'क तत्' इत्युदीर्य
सहसा सा आश्लिष्टा, तत्सुखवशात् तथा तन्याऽपि तत् मुद्राङ्कितत्वं विस्मृत-
मित्यर्थः । कोपस्येति शान्तिरित्यनुमद् । एवमुत्तरोत्तरमपि । कोपस्य च
भृङ्गारे व्यभिचारिभावत्व दर्शितमेव । कोपहेतोर्मुद्राङ्कितत्वस्य विस्मरणेन कोपस्य
शान्तिर्गर्ह्यजा विस्मृतमिति वाक्यस्य तद्वचनकस्य निराकाङ्क्षत्वात् ।

मात्रोदयमुदाहरति—एकस्मिन्निति । शयने शय्यायाम् । विपक्षरमणी सपत्नी
उपनायिका वा । सुप्त इव निद्रित इव निस्पन्द चाटुकरणविमुखो मा भूवित्यर्थः । अमन्देति
चलितक्रियाविरोपणम् । न चात्र यदि पूर्वकोप प्रतीयते तदा सन्धिरेव यदि च तत्राश
प्रतीयते तदा भावशान्तिरेवेति वाच्यं, पुनर्वाक्षणेन उत्सुक्यस्यैव प्रतीतेः, न तु कोप-

(A) अत्र "बलवत्समूह" इत्यर्थः जनता इत्यादिवत् 'त' प्रत्ययेन क्यञ्चिदुपपादनीयः ।

१. 'व' इति पाठान्तरम् ।

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः

सस्सङ्गप्रियता च वीररमसोत्कालश्च मां कर्षतः ।

वैदेहीपरिरम्भ एव च मुहुश्चैतन्यमामीलय-

ज्ञानन्दी (A)हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्धन्यतः ॥५२॥

अत्रावेगहर्षयोः ।

क्वाऽकार्यं शशालक्ष्मणः क्व च कुलं भृषोऽपि दृश्येत सा

दोषाणां प्रशामाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।

नाशस्तत्त्वयोरैकस्वभावि नाप्यौत्सुभ्योदयादेव कोपनाशमौभ्यात् तन्नाशप्रतीति कोपस्तत्त्वे-
ऽपि चादुकरणार्थमौत्सुक्रयोदयसम्भवात् ।

भावसन्धिमुदाहरति—उत्सिक्तस्यैति । परिणयमाणवैदेहीकस्य भावनोप-
नीतवैदेहीकस्य वा रामस्य परशुरामागमे परामर्शोऽयम् । तपःपराक्रमाभयनिधे' अत
एव उत्सिक्तस्य उद्भूतस्यार्थात् परशुरामस्य अभ्यागमात् सत्सङ्गे प्रियता इच्छा
वीररमसे वीरोचितोद्यमे उत्फालः उत्कण्ठता च माम् एकत एकस्या दिशि कर्षत,
तपःपराक्रमद्वयवशात् यथासङ्घं तद्द्वयेनाकर्षणम् । अन्यत' अन्यस्यां दिशि एवः
अनुभूयमान' भावनोपनीत वा वैदेहीपरिरम्भ' मां हणद्धि मुनिपार्श्व'गमनाश्रित्य-
तीत्यर्थः । परिरम्भ कीदृशः ? हरिचन्दनं चन्दनविशेष' तद्वदु इन्दुवध शिशिर
स्निग्ध, स्पृहणीयत्वमेव स्निग्धत्वम् । अत एव आनन्दी आनन्दजनक । अत्रेति ।
'आवेग' मुनावनवशेषत्वरूप' सम्भ्रम, स च उभयाकर्षणलक्ष्णम् । हर्षस्तु परिरम्भ-
हर्षमानत्यव्यङ्ग्यम् । अन्योर्विकल्पयोरैकदा एकत्र स्थितिरूप' सन्धिश्च निराकाङ्क्ष-
वाक्शब्दयन्त्रम् ।

भावसबलत्यमुदाहरति—क्वाकार्यमिति । ऊर्ध्वशीघ्रिहात् स्वमरणमुपक्रम्य

(A) हरिचन्दन देवतरविशेष, तथाच "पञ्चैते देवतरवो मन्दार पारिजातक ।
सन्धान कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥" इत्यमरः । "हरिचन्दनमर्त्री स्यात्
त्रिक्रानां महीश्वरे । नपुसकं तु गोशीघ्रे ज्योत्स्नाकुङ्कुमयोरपि ॥" इति मेदिनी । हरि-
चन्दनं कोकणे प्रसिद्धम्, अल्प गुणा—हरिचन्दनन्तु दिव्य शिष त्रिहृदुर्बहं मनुजैः । पिता-
दोषविडोर्षि वमपु-भन-शोष-मान्यमेदोहन् ॥ इति शब्दकल्पद्रुमे ।

किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियाः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा ।

चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा घन्योऽधर घास्यति ॥५३॥

अत्र वितर्कौत्सुक्य-मति-स्मरण-शङ्का-दैन्य-धृति-चिन्तानां सबलता ।

भावस्थितिस्तूक्ता उदाहृता च ।

(५१) मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ।

पञ्चान्निवृत्तमानस्य पुरुरवस उक्तिरियम्(A) । अत्र कुलमित्यन्तेन च द्रुतुले स्त्रीविरहा 'दात्महत्या त्वकाव्यमित्येव विचाररूपो वितर्क प्रतीयते । भूयोऽपि दृश्येत स्केयनेन व्यङ्ग्यमोत्सुक्य विक्रोत्तरज्ञानत्वात् ततोऽपि बलवत् । दोषाणामित्यादि ध्रुतमि-यन्तेन व्यङ्ग्या 'समथा तदनुरागो दोषायैवे त्यथनिर्द्वारणरूपा मतिस्ततोऽपि बलवती । (B) श्रुत वेद' । अहो इत्यादि मुख्यमित्यन्तेन व्यङ्ग्य मुख्यकर्मनीयत्वस्मरण ततोऽपि बलवत् । किमि-यादि कृतधिय इत्यन्तेन व्यङ्ग्या शङ्का ततोऽपि बलवती । स्वप्नेऽपि सा दुर्लभेत्यनेन व्यङ्ग्य स्थानौनस्यरूप दैन्य ततोऽबलवत् । चेतः स्वास्थ्यमुपैहीत्यनेन व्यङ्ग्या धृतिस्ततोऽपि बलवती । कः खल्वित्यादि-वङ्ग्या चिन्ता ततो बलवतीत्येव सबलतेत्याह—अत्रेति । घास्यति पास्यति । बलवतो व्यञ्जने बलवत्ताऽपि व्यङ्ग्या । बलवन्समूह इत्यर्थे वा सबलनेति तद्वितान्त पदम् । भावस्थितेरपि सम्भवात् किमत्र तदनुक्ति-बीजमित्यत आह—भावस्थितिस्त्विति स्थितभावस्थिति, सा च भावा-प्रातिरिच्यते इत्यतो भावाक्तिरेव तदुक्ति-जाने कापपरान्मुखांत्यादिकमेव तदुदाहरण-मित्याह—उक्ता उदाहृता चेति ।

नन्वेतदाहरणेषु सर्वत्रैव रससम्भवाद रसच्यनय एव किं नैत इत्यत आह—
मुख्ये रसेऽपीति भावाद्यपेक्षया आस्वादाधिभवेन मुख्ये रसे सत्यपि ते कदाचन निराकाङ्क्षतास्य-यङ्ग्यत्वदर्शाया साकाङ्क्षतास्य-यङ्ग्यरसस्य अङ्गित्व-प्राधान्य

(A) यद्यपि पदमित्यस्मदुपल-पेषु विक्रमोर्वशीरोदनेषु नोपलभ्यते उवशीपुस्ववसा वधित्व्य विरचित काव्यान्तरमपि न दृश्यत तथापि १८७१ सृष्ट्याऽङ्गित पुस्तके १२० पृष्ठे अधिकपाठरूपणोपलभ्यत एव । एतेन मुक्तकन्या देवदानीं दृष्टवती राजा ययातुर्किरिय मिति यदन्त श्रीवत्सलाञ्छनकमलाक्षरवैद्यनाथमीनसनात्प प्रत्युक्ता इति बाल्योपिन्या स्पष्टम् ।

(B) 'शुनं शास्त्रध्वजम्' इत्युदाहरणचन्द्रिका ।

ते भावशान्त्यादयः । अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् ।
 (५२) अनुस्वानाभर्तलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥ ३७ ॥
 शब्दार्थोभयशक्त्युत्पत्तिद्विधा स कथितो ध्वनिः ।

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप-
 व्यङ्ग्यः उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधः ।

तत्र—

(५३) अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते ॥ ३८ ॥
 प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।

शान्त्वन्तीत्यर्थः । भावशान्त्यादय इत्यत्र भावतच्छान्त्यादय इत्यर्थे अन्यथा
 'भावस्याङ्गित्वावात्पनुक्तिरूपन्यूनतापत्ते' * । राजानुगतेति विवाहप्रवृत्तो भृत्यो
 यथा रामा तदिने अनुगम्यते (A) तथा मुख्येनापि रसेन निरुक्ताद्वाक्यव्यङ्ग्यो
 भावादि प्रधानीकृत्यानुपपद्यते इत्यर्थः ।

इत्यमसलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य समाप्य लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य प्रथमाह—अनुस्वानेति ।
 अनुस्वान् प्रतिध्वनिः । तस्य खलु जननीमृतज्ञानोत्तरजायमानत्वरूप क्रमो लक्ष्यते ।
 तदाम तत्तुल्यं यथा स्यात् तथा सलक्ष्यक्रमा व्यङ्ग्यमिति व्यङ्ग्यप्रतीतिर्यस्य
 तादृशस्तु यो ध्वनिः स शब्दसामर्थ्यार्थसामर्थ्योभयसामर्थ्योत्पत्त्येन त्रिविध इत्यर्थः ।
 शक्तिरत्र सामर्थ्यम् । उत्पत्त्य व्यङ्ग्यत्वम् । तादृशव्यङ्ग्यसम्बन्धाच्च तत्र काव्यमपि
 तयोपचर्यते । अनेकार्थस्य शब्दस्तेत्यादिना यत्र शब्दो व्यञ्जनीकृतः तत्र शब्दप्रधान्या-
 च्छब्दशक्त्युत्पत्त्यम्, यत्र तु वक्तृबोद्धव्येत्यादिना अर्थो व्यञ्जनीकृतः तत्रार्थप्रधान्यादर्थ-
 शक्त्युत्पत्त्यम्, यत्र तु एकस्मिन् व्यङ्ग्ये परस्परनिरपेक्षस्य शब्दस्यार्थस्य च सामर्थ्यं
 तत्रोभयशक्त्युत्पत्त्यम् । शब्दस्य शक्त्यर्थ एव व्यञ्जनाया स्वीकृतत्वाच्छब्दाद्यं व्यञ्जनायां
 शक्तिसहकृतैव व्यञ्जना बोधिकेति मन्तव्यम् । सन्निप्य व्याचष्टे—शब्दशक्तीति ।
 'अनुरणन' प्रतिध्वनिः, इयमनुस्वानपदव्याख्या ।

तत्र व्यङ्ग्यत्रैविध्याच्छब्दशक्त्युत्पत्त्यवद्वैविध्यमाह—अलङ्कारोऽथेति । वस्तु-

(A) वस्य पुरोगामित्वमुक्तं मनुना "चक्रिणो दशमीलम्ब्य रोमिणो मारिण चिया ।
 छातकस्य च राज्ञश्च पन्था देशो वस्य च ॥" इति ।

1. 'भावस्याङ्गित्वावात्पनुक्तिरूपन्यूनतापत्ते' क-ह ।

अत्र वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय^१ इत्युपमाऽलङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद् विभो मधुरलीलः ।

मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ॥५५॥

स, अर्थाद् विपुणामस्त्राग्नि वृष्टिधाराजलैर्निर्यापित, किं कृत्वा ? कालकरं कृष्ण-
रश्मिं बाल नवीनं महाम्बुवाहमुल्लास्य । येन कीदृशेन ? कठिनोर्गर्जस्थलगर्जितेन,
तत्प्रयोज्यमैर्गर्जनम्यैव तदीयत्वात् । तथाच तद्वचनकश्चिदुपपदयोगाद् राष्ट्री-
न्द्रोपमायां वक्तुस्तात्पर्यमुपनीयते तत् इन्द्रोपमाऽपि अत्र व्यङ्ग्यं, अन्यथा प्रकृता-
सम्बन्धेन्द्रप्रत्यायकशब्दप्रयोगोऽनुपयुक्तः स्यादित्याह—अत्रेति । 'अभिधायकत्वं'
प्रत्यायकत्वम् । 'मा प्रसाङ्क्षीत्' मा प्रसक्तं भूत् । प्राकरणिकं राजा, अशकरणिका
इन्द्र, 'उपमानोपमेयभाव' उपमा । 'कल्पनीय' व्यङ्ग्य । दर्शितानिष्टप्रसक्तया
तत्कल्पने वक्तुस्तात्पर्यस्य प्राहितत्वादिति भावः । उपमाया अन्तर्द्वारत्वादलङ्कार-
व्यञ्जनासिद्धिरित्याह—इत्युपमालङ्कार इति । अत्र चकवर्ती—व्यङ्ग्यबोधे अतिष्ट-
प्रसक्तिबोधेत्याहेतुन्यादर्यापत्तिमूलकानुमान एव तस्य हेतुत्वाच्च कल्पनीय इत्यत्र
अनुमेय इत्येवार्थः । तदनुमानानन्तरञ्च उपमालङ्कारो व्यङ्ग्य इत्युक्तम् उपमालङ्कार
इति व्याचष्टे, तत्र, 'दर्शितानिष्टप्रसक्तस्य कवितात्पर्यप्राहकत्वैव दर्शितत्वात्,
न तु व्यङ्ग्यबोधकतया'^२ । तथा कल्पनीय इत्यत्र अनुमेय इति ध्याख्याने उपमानोपमेय-
भावात्प्रकाश्या उपमाया अनुमेयत्वव्यङ्ग्यत्वद्वयकथनानुपपत्ते 'न' हानुमेयस्य ब्रह्मादे-
र्षञ्जनया पुनर्बोध'^३ ।

शब्दशक्तिमूलमलङ्कारान्तरमाह—तिग्मरुचिरेति । हे देव भवान् विभाति ।
कीदृश ? शत्रूणां तिग्मो मित्राणां रुचिरश्च प्रतापो यस्य तादृश, विधुराणां शत्रूणां
निशाकृत् चिन्तया विजस्यापि निशास्पर्करणात्, निद्रा कालरात्रिर्वा । तथा मधुरा
लीला यस्य (स), मत्या मानतत्त्वे प्रमाणतत्त्वे वृत्ति व्यवसायो यस्य तादृश ।
प्रतिपदे प्रतिस्थाने पक्षाणां 'सपक्षाणाम् अग्रणी श्रेष्ठ' ।

१ 'कल्पनीय' इति पाठान्तरम् । २ 'दर्शितानिष्टप्रसक्तस्य कवितात्पर्यमात्रोच्चारकत्वेन व्यङ्ग्य-
उपमानानुष्ठापकतात्' इति । ३ 'अनुमेयभावात् व्यङ्ग्यत्वविरतिव' इति, 'अनुमेयभावात्
'न' इति । ४ 'प्रतिपक्षाणां' इति ।

अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः ।

अभिनः समिनः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद प्रभो ।

अहित, सहितः साधुपगोभिरमनामनि ॥ ५६ ॥

अत्रापि विरोधाभासः ।

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वने ।

जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥५७॥

अत्र व्यतिरेकः । अलङ्कार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कारता ।

अत्रेति, एतदत्र समासैकपदम्, तस्य भङ्गन विमतयन्ततया द्विपदज्ञान इत्यर्थः । तथाच द्विपदत्वज्ञानसाहाय्यादसण्डपत्स्यैव स्वशक्तिमूला विराशाङ्कार इत्यर्थः । तथाहि तिष्णरुचि मूष्य अनाप प्रहृष्टापशून्य, त्रिषु चन्द्र अनिगाकर भाशून्यश्च, मधु वसन्त लीलाशून्यश्च, मतिमान् तत्त्वययस्मायशून्यश्च प्रतिपत्ति तिथि पत्तानादिभूता च, इति विराशा व्यङ्ग्य एव गते प्रकरणनियन्त्रितयन म्यातन्याभावात् ।

द्विपदत्वज्ञानाभावेऽसण्डपद्व्यङ्ग्य विराशमाह—अभिन इति । हे विभा त्यम् असताम् अहितामि । कीदृश ? ममिद् मुड तत प्राप्तेरुत्कर्षे अभित व्यर्थात्, साधुपगोभि सहितश्च । एव अभिन मितशून्य समित मितसहित ध्वेति अहित हितशून्य सहित हितयुक्तश्चेति विराश ।

शब्दशक्तिमूल व्यतिरेकालङ्कारमाह—निरुपादानेति, तस्मै शूलिने नम । कीदृशाय ? उपादानस्य समवायिकारणस्य समात् विना चित्र नानाकार जगद् अभिज्ञौ अनाश्रय एव तन्वते । गुणज्ञाणितार्हिसमवायिकारण मानृजडराद्याश्रयसापेक्षत्वेऽपि स्तुतित्वादारोप्येवमुक्तम् । कला चन्द्रकला तथा श्लाघ्याय । अत्रेति गित्यचातुरी बाधककलागन्तव्य श्लेषबाधचित्रशब्दस्य च सामर्थ्याद् हरितालाघुपादानसापत्त मितशाघधिकरणकचित्रलेखकाद्वैलक्षण्यरूपा व्यतिरेकालङ्कार इत्यर्थः । ननु वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य वा प्रकर्षकत्वे सन्त्येकालङ्कारत्वमिति हाराद्विदङ्गद्वारा इत्यग्रे वक्ष्यति तर्था व्यङ्ग्यत्वे त्यास्यादपात्रतया प्राधान्यात् परप्रकरकत्वाभावेन कथमलङ्कारत्वमियत आह—अलङ्कार्यस्यापीति । ध्रमण सत्रघासी, तस्य तद्देशाया ब्राह्मण्याभावेऽपि यथा दशान्तरीयब्राह्मण्यमादाय तथा व्यपदेश तथा वाच्यतादशीयमलङ्कारत्वमादाय तथा व्यपदेश इत्यप ।

वस्तुमात्रं यथा—

पन्थिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।

उण्णअपओहरं पेक्खिअउण (अ) जइ वससि ता वससु ॥५८॥

अत्र पशुपभोगक्षमोऽसि तदा आस्त्वेति व्यज्यते ।

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र ! यस्मै त्वम् ।

यत्र प्रसीदसि पुनः स भ्रातृदारोऽनुदारश्च ॥५९॥

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुस्त इति ध्वन्यते ।

(५४) अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ॥३६॥

पन्थिअ ण एत्थेति—

पथिक नात्र सस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।

उश्रतपथांघर प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस ॥ इति संस्तरम् ।

निवासार्थिनं पथिकं प्रति स्वयं दूत्या उक्तिरियम् । सस्तरं शयनीयकटम् मनाम् भङ्गमपि तस्मास्ति । प्रस्तर एव धय स्वपिम इति दर्शयति प्रस्तरस्थल इति । पयो-घर मैघम् । शयनीयोपकरणादिकं निवासोपकरणं नास्त्येव मैघप्रतिरुद्धगतिकतया यदि वस्तुमिच्छसि तद्वसेत्वापाततोऽभिप्रायः । शब्दशक्तिमूलमत्र गृह व्यङ्ग्यमाह— अत्रेति । इदञ्च परदारगमननिषेधकशास्त्रार्थकस्य प्राकृतशिशुप्रसत्थरपदस्य, स्तनार्थकसंस्कृतशिशुप्रयोधरपदस्य, प्रस्तरस्थ स्त्रीजनं पुमान् लाति सम्भोगार्थमत्र गृह्यतीत्येवमर्थकप्रस्तरस्थलपदस्य च सामर्थ्याल्लङ्घम् ।

शब्दशक्त्या साक्षाद्व्यङ्ग्यं वस्तुशब्दस्य तद्व्यङ्ग्यालङ्कारद्वारा व्यङ्ग्यं वस्तुवाहरति— शनिरशनिश्चेति । हे नरेन्द्र त्वं यस्मै कुप्यसि शनिर्ग्रहं भ्रान्तिर्वज्रञ्च तम् उच्चैर्निहन्ति, यत्र जने पुनः प्रसीदसि स उदारः अनुगतदारश्च भाति । अत्र पूर्वार्द्धे भ्रान्तिशब्दस्य शक्त्या शनिविरुद्धे व्यञ्जने तद्वारा व्यङ्ग्यं वस्तु दर्शयति—अत्रेति । परार्द्धे तु विरोधालङ्कारमात्रं न तु तद्व्याप्यं वर्शितवस्तुव्यञ्जनम् तत्रैककार्यकरणप्रतीतेः ।

अर्थशक्त्युद्भवमाह—अर्थशक्त्युद्भवोऽपीति । अर्थशक्त्युद्भवोऽप्युच्यते इति शेषः । तत्र अर्थो व्यञ्जक इत्यर्थः । अर्थशक्त्युद्भवेऽपीति कवित् पाठः सुगम एव । व्यञ्जकः

(A) अत्र “पेक्खिअ उण” इति पाठे “प्रेक्ष्य पुनः” इति संस्कृतं बोध्यम् ।

प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा ।

वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति पङ्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥४०॥

वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः ।

स्वतः सम्भवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्धिरप्यो
चित्येन संभाव्यमानः, कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि

सोऽर्थस्त्रिभि इत्याह—सम्भवीति । स च वाच्या व्यङ्ग्या* वेत्यनियम इति
शेषम् । प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धो वेत्यत्र 'प्रौढोक्ति' कवे तेन कविना उम्भितस्य
निबद्धस्य जनस्य वा इत्याह—कवेस्तेनोम्भितस्य वेति* । मात्रपङ्कात्
स्वतः सम्भवित्वव्यवच्छेद । तथाच वक्तृद्वैविध्याद् द्विविध इत्यर्थः । स्वतः
सम्भविना सह तु त्रिविध इति । प्रौढोक्तिश्च (A)अलीकार्णकत्वेऽपि प्रतिभामात्रा
घोषार्थिका उक्तिः । स्वतःसम्भविवदार्थं व्याचष्टे—अत्रेति । अपिचित्यर्थे याव-
दिति । बहिरपीति 'तादृशाग्र्याद् बहिः, प्रमाणेनापीत्यर्थः* । 'ओचित्येनेति
अनेनेदमुक्तं निर्दिष्टविशेषणविशेष्यव्यक्तयोः ससर्गस्यालोक्तत्वेऽपि तत्सदृश
विशेष्यान्तरे तादृशविशेषणससर्गे दृष्टे सन्थपि निर्दिष्टपक्षयोःपि तथात्वम्यौचित्येन
सम्भावनया स्वतःसम्भवित्वमिति निर्दिष्टव्यक्तिमदृशेऽपि तद्विशेषणादर्शने तु प्रौढोक्तयेऽ
क्तमिद्वि । परञ्च अधरो भ्रान्तकमलमिति रूपकं स्वतःसम्भविनया वक्ष्यमाण
मुपपत्स्यते 'शोणत्वसाधर्म्येण अधरस्तद्वशे कमलदल एव भ्रान्तकमलदलाभेदर्श-
नात्* । तथा घम्मिह्म श्यामलाङ्गं स्मर इति प्रौढोक्तिसिद्धतया वक्ष्यमाण रूपक

(A) अत्र अलीकानां ज्ञानानुभवान्मवेन तद्विषयकताद्भययोगोऽपि न सम्भवतीति नाऽज्ञा-
नीयम्, "अत्यन्तासत्यसि इत्यं ज्ञान शब्द करोवि हि" इति न्यायन तथा साऽज्ञानमन्मवाच ।

निर्मितः, कविनिवद्धेन वक्त्रेति वा द्विविधोऽपर इति त्रिविधः ।
वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसाविति षोढा व्यञ्जकः, तस्य वस्तु वाऽलङ्कारो
वा व्यङ्ग्य इति द्वादशभेदोऽर्धशक्त्युद्भवो ध्वनिः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

अलससिरोमणि धुत्तारं अगिमो पुत्ति धनसमिद्धिमओ ।
इअ भणिण्ण णअङ्गी पफुल्लविलोअणा जाआ ॥६०॥

श्लोपत्स्यते, बहुदीपकतया धम्मिल्लुमट्ठो उदीपकान्तरे 'भ्यामलाङ्काराभेदादर्शनेन'^१
प्रौढोक्तयैव तत्सिद्धे 'भ्यामलाङ्कारस्मरस्यैवाप्रसिद्धे । परन्तु मादभ्याधीनविशेष्य-
विशेषणभावरूपकस्थले 'एव सहज विशेषान्तर ग्राह्यम्, अन्यत्र तु निर्दिष्टव्यतयो-
रेव स्वत सम्भवित्वासम्भवित्वे ग्राह्ये इति मन्तव्यम्'^२(A) । एवमुक्तत्रिविधार्थस्य
वस्तुलङ्कारभेदेन षड्विधत्व कारिकांक्त व्याचष्टे- वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसा-
विति । षड्विधानां तेषा व्यङ्ग्या अपि वस्तुलङ्कारभेदेन द्वादशविधा इति कारि-
कांक्त व्याचष्टे-तस्य वस्तु वेति । द्वादशभेद इति द्वादशव्यङ्ग्यवस्त्वेन काव्य-
स्यापि द्वादशत्वम् । एवञ्च स्वत सम्भविनोर्वस्तुलङ्कारयोगैकस्य वस्तुल-
ङ्कारौ द्वौ द्वौ व्यङ्ग्याविति स्वत सम्भविव्यङ्ग्याश्चत्वार एवमपरद्वयव्यङ्ग्या अपि
चत्वारश्चत्वार इति द्वादशत्वम्(1) बोध्यम् । क्रमेणेति स्वत सम्भविव्यङ्ग्यवस्तुलङ्कार-
चतुर्कादिक्रमेणेत्यर्थः ।

तत्र स्वत सम्भविवस्तुव्यङ्ग्य वस्त्वाह—अलसेति—

अलससिरोमणिधुत्तारिणामप्रिम पुत्ति धनसमिद्धिमय ।

एति भणिनेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ॥ इति सस्कृतम् ।

(A) अत पर "सादृश्यप्रदित्वाभावे तन्मादृश्यन्यानुमन्धेयत्वात् अभ्यगा प्रौढोक्ति-
सिद्धतया कल्पमागाना मर्वैगापेव एतन्न सम्भवित्वापत्ते प्रमेयत्वाग्निता तन्मदृशे क्वापि
तद्विशेषगममर्गाग्रौत्वात्" इत्यधिक षाड क-चिद्धितपुस्तके दृश्यते, स च टिप्पणीति प्रतिभाति ।

(1) अत्र विभागस्य वैवित्रगाभीनतया कविनिवद्धोर्वा अतादृशकविकान्यापेक्षया अधिक-
धमत्कारित्वस्य सहृदयानुभवसिद्धत्वेन कविनिवद्धजनोक्ति कवेरेवेति तदस्य मूलोक्तस्य

1 'करे वा श्यामलाङ्कारभेदादर्शनात्' 2 'एव सादृश्यवत्कथोच्यतीदीपकतादिष्वर्थे
तद्विशेषवदृश' ३ ।

अत्र ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

धन्याऽसि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि

विश्रब्धवाद्भुक्तशतानि रतान्तरेषु ।

नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करं प्रियेण

सख्यः ! शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि(A) ॥६१॥

पतिरराया धात्र्या प्ररोचनोतिरियम् । अत्रापमिति प्रकरणागम्यो विशेष्य । अत्र अलसशिरामणिवेनाप्रशामित्व धूर्त्ताप्रिमत्वेन रतिचातुर्यं धनसमृद्धिमयत्वेन अश्रद्धित्वञ्च व्यङ्ग्यं वस्तु स्वतःसम्भवि, तद्व्यङ्ग्यञ्च कुमारीबोधरूपं वस्तु सामाजिक बोध्यमाह—अत्र ममैवोपभोग्य इति, पतितपरिशिष्टा वरो मयैवान्विष्यते नान्येन्येःकारणार्थं । वस्तित्वेति कुमारीबाधरूपं वस्तित्वव्यर्थं । कुमारीहर्षेऽपि परार्द्धव्यङ्ग्या बाध्य, तद्व्यो व्यभिचारिभाष्यध्वनित्वमेवेति बाध्यम् ।

(२) स्वतः सम्भविस्तु व्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—धन्याऽसि इति । रात्रिवृत्तान्तालापिनीनां

विभागस्य ध्यायत इत्याशाङ्गाया नाशर । न खलु स्वतो मधुरस्यापि सलिलस्य निदाप मध्यन्दिनोपानयननिर्मितम् उपकरणस्य वा शयनाशनताम्बूलादे प्रथमीकिरकमन्त्रधनादिङ्कनं विनय न कश्चिदनुपैति । उर्ध्वं हि कविना— द्विचन्मुनेऽपि स्वदृते स्तुतिर्थां तन्मिथ्या नेष्टमुत्वे प्रमेया इति । बायिकादीनां साधारणीकरणव्यापारके काव्येषुपि समानोऽयं न्याय । अत एव साहित्यरूपेऽपि 'न खलु कवे कविनिबद्धमेव रागाद्याविष्टता अतः कविनिबद्धमनूप्रौढोक्ति कविप्रौढान्तरधिक महदयमनूकारिणीति' इति । अन्तेन कवि-तदुम्भितवन्प्रौढोक्तिनिष्पन्नयो रथयान पृथग्भावेन गणनोचिता उन्मिमतोम्भितान्तरपि भेदन्तरप्रयोजकतापत्त इति रूप गङ्गाप्रदकाशोक्तमपि निरस्तं तत्कतवैचित्र्यविशेषस्य केनाप्यननुभवदिति स्पष्टमेतन् प्रदीपोद्घोने ।

(A) धन्याऽसि इति । रसकथापराह मगीषु मन्त्रे रतिकालीन स्वप्रियाहर्षं कथितवर्ती काञ्चित् प्रथमन्त्या कन्याश्रिदुक्तिरियम् । हे मखि या त्व रतान्तरेषु रतमभ्युप प्रियेण सङ्गमेऽपि सतयागमपि विश्रब्ध विद्यासयुक्तं नि शङ्कमिति यावत् चादुवाना प्रियवाक्यानां शतानि कथयसि सा त्व धात्र्याभीति सोऽलुण्डनम् । हे सख्य प्रियेण नीवीं वक्ष्यन्धिं प्रति करं प्रणिहितं नीव्या करोऽप्यथित्व इति प्रविधानस्य मङ्गलस्य विषयीकृतं सति न त्वर्पिते अवाचकतापत्त यदि किञ्चित्पि स्मरामि तत्र शपामि शपथ करोमीत्यन्वयः । यत्रपि शपथे शप इत्यनुशासना वा मनेष्वनुचितं तथाप्यङ्ग-पश-एतकमिथ्यात्वनिरासस्य मुख्यशपथस्याश्राविवक्षितं चात्र शेष । प्रियमङ्गमेवालापान्तिषु तरासि रतमभ्येषु न पुनरादावन्ते वा इति वा अथ । यदि किञ्चिदपि

अत्र त्वमघन्या अहन्तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः ।

दर्पान्ध^(A)गन्धगजकुम्भकपाटकूट-

संक्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणशोचिः ।

सखीनां मध्ये रतिकाले बाह्यकथालापिनीं काञ्चित् सखीमुपहसन्त्या अताडय्या सख्या उक्तिरियम् । विश्रब्धं विभ्यासं निगडुत्वं तेन रत्यनुपयुक्तवाटुकशतानि या त्वं रतान्तरेषु रतिमध्यकालेष्वपि कथयसि सा त्वं धन्याऽसीत्यर्थः । रतान्तरेष्विति बहुवचनात् प्रतिदिनमेवं भावः सूचितः । अन्तरं मध्यम् । एतेनोपहासाधिक्यम्, ईदृशकालेऽन्यन्तरतावेशस्यैवौचित्यात् । स्वोत्कर्षं सूचयति—नीवीमिति । तत्सूचने च बहूनामवधानाय सख्य इति बहुवचनम् । शपामि शपथ करोमि । अत्र पूर्वा-परार्द्धवान्यार्थद्वयव्यङ्ग्यं वस्तु उपहसनीयनायिकायाः सामाजिकानाञ्च बोध्यमाह—अत्रेति । व्यतिरेकं उपमानीभूतामुपहसनीयनायिकामपेक्ष्य उपमेयीभूताया वक्र्या आधिक्यरूपः । अत्र चण्डीदासः—उत्कालापेनोपहसनीयनायिकाया 'अधन्यत्वे तानुपर्यग्रहात्' * अन्धत्वबाधात्तदधन्यत्वं लक्षणागम्यमेव, अतः अहन्तु धन्येत्यम्बो व्यतिरेकैकदेश एव व्यङ्ग्य इत्याह, तत्र, प्रागेवाधन्यत्वस्य प्रहे आहार्यस्य पश्चात् तदुपप्रेते त्वनाहार्यस्य धन्यत्वबोधस्य सम्भवात् तेनाधन्यत्वस्य व्यङ्ग्येऽनुपपत्त्यभावात् ।

(३) स्वतः सम्भव्यलङ्कारव्यङ्ग्यं परुवाह—दर्पान्धेति । यस्य राज्ञः करे कृपाण

स्मरामीति वाक्यमध्ये सख्य शपामीत्यप्य प्रवेशाद् गर्भितत्वं प्रकृते पुण एव विवक्षितार्थस्य सत्वत्प्रत्यावर्तनार्थत्वात् । सोलुण्णोच्चारकस्या एव सौभाग्यवर्धिताया सम्बोध्यत्वाद् धन्यामीत्येकवचनम् । स्वोत्कर्षं सूचने तु बहूना तथात्वात् सख्य इति बहुवचनमिति नासङ्गतिः । अत्र च रतिकालेषुपि विषयान्तरवेदनेन रागास्य कृत्रिमताभावेदयता चाटुकयनेन स्वमधन्येति ध्वन्यते । अन्तराऽपिशब्दाभ्यामन्यन्तानौचित्यप्रकाशनद्वारा तदतिशयः । एवञ्च बहुवचनस्य प्रति रसियमय तथाभावपूजनद्वारा तद्वाङ्मूल्यम् । एवं शतानीति प्रातिपदिक-वचनयोश्चेति । तथा उत्तरार्द्धे स्मरणाभावेन प्रियकारस्पर्शमात्रेण सम्बोधानन्दमन्थरतया अकृत्रिमरागातिशयं सूचयता अह धन्येति ध्वन्यते । इत्यत्र उभयसम्बलनेन व्यतिरेकालङ्कार-राम इति बोध्यम् । अतः स्वतः सम्भविना वन्तुना अलङ्कारः च नि " इत्युदाहरणचन्द्रिका । उद्घोषेऽप्येवम् ।

(A) "यस्य गन्धं समाप्राय न तिष्ठन्ति प्रतिक्षिप्या ।

स गन्धहन्तिनं विशाश्रुपतेर्विजयावहम् ॥" इति

वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकपायकान्तिः

कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः ॥६२॥

अत्रोपमालङ्कारेण सकलरिपुबलक्षयः क्षणात् करिष्यते इति वस्तु ।

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासकटादरिवधुजनस्य यः ।

ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुपा निजाधरम् ॥६३॥

अत्र(A) विरोधालङ्कारेणाऽधरनिर्दशनसमकालमेव शत्रवो व्यापा-

वीरे कालीकटाक्ष इव व्यलोकि । कृपाणः कीदृश ? दर्पान्धस्य गन्धगजस्य स्वीयमङ्ग-
गन्धेन अग्यगजत्रासकगजस्य कुम्भ एव स्फारत्वेन कपाट तस्य कुटे अप्रभागे
सकान्त्या पतनेन निम्नै सम्बद्धै धनशोणितै शोणकान्ति । कालीकटाक्ष कीदृश ?
कोपेन कपाया शोणा कान्तिर्यस्य तादृश । अत्रेति, शोणत्वसाधर्म्येण उपमितस्य
खड्गस्य उपमानकप्रसंगतं धर्मान्तर व्यञ्जनागम्यमित्याह—सकलेति ।

(ध) स्वतः सम्बन्धलङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—गाढकान्तेति । यो राजा युधि
निजाधर निर्दशन् अरिवधुजनस्य अष्टरूपाणि विद्रुमस्य प्रयालस्य दलानि पत्राणि
गाढस्य कान्तदशनक्षतस्य व्यथारूपात् सङ्घात् अमाचयत्, क्रोधेन स्वाधर निर्दम्य
निहते शत्रौ तद्वधूनां रतिकालीन कान्तकर्चुकाऽधरदशो निवृत्त इत्यर्थः । अत्रेति
अधरदशकत्वाधरदशमोचकत्वयोरुपाततां भावेन विरोधेनेत्यर्थः । दृश्यमानमोच्यमान-
भेदान् न विरोधः । समकालमेवेति निर्दशप्रति धर्तमाननिर्दशात् तत्कालीनमोचनेन

“स्नेह मूत्र पुरीषश्च भवा वैव मतकुजा ।

यस्याऽऽघ्राय विमाद्यन्ति तं विघाद गन्धइस्तिनम् ॥”

इति वा गन्धगजलक्षणम् ।

(A) “अत्र निर्दशप्रति धर्तमाननिर्दशधरदशनमोचनयो कार्यकारणयो पौर्वापर्य-
विषयवस्था अतिशयोक्ति । इयमेव वृत्तौ विरोधपदेभोक्ता । सम्बन्धत्वात् स्वतः सम्बन्धिनाऽ-
लङ्कारेण दशनव्यापादनयोर्यौग्यवरूपममुच्ययालङ्कारध्वनि । तुल्यकालं योगितेति व्युत्पत्त्या
वृत्तावपि समुच्चय एवोक्त इति ध्येयम्” इत्युदाहरणचन्द्रिकाकारेण द्विरोधतुल्ययोगितापदयो-
रधर्मान्तरं प्रदर्शितम् । प्रदीपकारस्यापि “अत्र निजाधरदशनवैरिवधुजनोष्ठदशनव्यथामोचनयोः
पौर्वापर्याभावलक्षणया अतिशयोक्तया अलङ्कारेण दशनममकालमेव शत्रवो व्यापादिता इति
“समुच्चयोऽसौ स त्वन्वो युग्मद्वयं गुणक्रिया” इत्युक्तलक्षणं समुच्चयालङ्कारो द्योत्यते । एष
एव च तुल्यकालं योगितेति व्युत्पत्त्या तुल्ययोगितेति कैश्चिदुच्यते” इत्युक्तपक्षोऽयमेवाभिप्रायः ।
तथाच तुल्ययोगिताशब्दस्याधर्मान्तरकल्पना टीकाकृतैव कृतेति न मन्तव्यम् ।

स्तद्वैरिणोऽपि तु ततः पराभवं संभाव्य तान् कन्दरा न त्यजन्तो-
त्यपह्नुतिश्च ।

गाढालिङ्गणरहसुञ्जुअम्मि दइए लहु' समोसरइ ।

माणंस्तिणीण माणो पीलणभीअ व्य हिअआहिं ॥६६॥

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादि तत्र विजृम्भते इति वस्तु ।

जा^(A) ठेरं व हसन्ती कइवअणंभुरुहवद्वचिणिवेसा

दावेइ भुअणमण्डलमण्णं चिअ जअइ सा चाणी ॥ ६७ ॥

अत्रोत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणं नवं नवं जगद् 'अजलजाब्जा-

पलायनस्य । चकारः अत्र वाऽर्थे समुच्चयस्य उक्तयुक्त्या ज्ञायात् ।

(७) कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्य वस्त्याह—गाढालिङ्गणेति ।

गाढालिङ्गनरमसोद्यते वयिते लघु समपसरति ।

मनस्विनीनां मानं पीडनभियेव हृदयात् ॥ इति संस्कृतम् ।

रमसोद्यते बलादुद्यते । अत्रेति, मानस्य भयाभावात् उत्प्रेक्षायाः प्रौढोक्त्यैव
सिद्धिः । अत्र यद्यपि मानापसरणस्यैवेदं व्यङ्ग्यं तथाऽपि तत्सहकृताया उव-
प्रेक्षाया अपि इदं व्यङ्ग्यमित्यभिप्रायः ।

(८) कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यचमलङ्कारमाह—जा ठेरमिति ।

या वृद्धमिदं हसन्ती कविवदनाम्बुरुहवद्वचिणिवेशा ।

दर्शयति भुवनमण्डलमन्यविवि जयति सा चाणी ॥ इति संस्कृतम् ।

ठेरं वृद्धे देगी । वृद्धम् अत्र अर्थात् ब्रह्माणम् । तदीयभुवनान्यत्वप्रदर्शनेन
तस्यैवोपहसनीश्रवोचित्यात् । 'ब्रह्मणोऽपि पद्मासनत्वाद्ब्र कविवदने अम्बुरुह-
रूपणम्, तद्वै तस्योपहसनयोग्यतासम्भवात्' * । चाणी चात्र कवित्वरूपैव तस्या एव
कविवदनस्थिते, अतस्तत्कसृं कोपहासोत्प्रेक्षाया भुवनान्यत्वदर्शनोत्प्रेक्षायाश्च कवि-
प्रौढोक्त्यैव सिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—अत्रेति । नवमिवेत्यन्त भुवनान्यत्वोत्प्रेक्षाया

मूलरूपा स्वयं तस्य सङ्गनाच्च । "एकैवैव संगामे विजयदर्शनात् तस्यास्य पलाय्य गुहाह
तिष्ठन्तीति काव्यालिङ्गम्" इत्युक्तवत् प्रदीपकारस्याप्ययमेवाभिप्राय इत्यवगन्तव्यम् ।

(A) "ठेर" इति "स्थविर"शब्दस्यापभ्रंशः ।

1 'मनसाचणसा' इति पाठान्तरम् । 2 'दीपदर्शनोपहसनात्' क । 3 'कविवदनसांभुरुह-
तद्वैव पद्मासनत्वं ब्रह्मण उपहासायनं' क ।

सनस्या निर्मिमीते इति व्यतिरेकः । एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नो व्यङ्ग्यकः ।

जे लङ्कागिरि(A)मेखलाभिखलिना सम्भागखिण्णोरहं-
फारुण्कुल्लुफणावलीकवलणे पत्ता दरिदत्तगम् ।

ते एण् हिं मलयानिला विरहिणीणीसाससंपक्किणो

जादा भक्ति सिसुत्तणे वि यल्ला तारुण्यपुण्णा विअ(B) ॥६८॥

अत्र निःश्यासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्वन्तीति

वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

अत्र लङ्कागिरिमेखलाभिखलिनाम्पदासान्निध्येणाप्य व्यङ्ग्यम् । अत्रान्न यदत्र मुग्धात्मकं पत्रं तदामनस्येत्यर्थः । 'व्यतिरेक' वाण्या उपमेयाया उपमन्त्रद्वयापनया आधिक्यरूपः ।

(६) करिनिबद्धरक्तप्रौढाक्तिसिद्धवस्त्वल्ङ्कारव्यङ्ग्यचतुष्के उदाहरणं सादृशं वस्तुव्यङ्ग्यं वस्तुवाद—जे लङ्केति ।

ये लङ्कागिरिमेखलाभिखलिना सम्भागखिण्णोरगी

स्फारोण्कुल्लुफणावलीकवलणे प्राप्ता दरिदत्वम् ।

ते श्यानी मलयानिला विरहिणीनिःश्याससमर्पकिणा

जाता भक्ति सिसुत्तणे वि यल्ला तारुण्यपुण्णा इव ॥ इति सम्युक्तम् ।

करिनिबद्धाया विरहिण्या उक्तिरियम् । अत्र वाता इति श्लेष्य पूरणीयम्, मलयानिला इति तु श्लेष्यपदमेव न श्लेष्यपदं तेषां लङ्कागिरिमेखलाताऽभिखलिनामाशान् । तथाहि—ये वाता लङ्कागिरि सुखेण्य मेखलात श्रमि खलिता, मलयगमने सति मलयानिला, सम्भागखिण्णानामुरगीणा स्फारोभिखल्लुफणावलीभिः कवलणे सति दरिदत्वं क्षीणव्यं प्राप्ता, ते श्यानी विरहिणीना निःश्यास समर्पकिण सन्त श्लेष्येऽपि बहव्य निविडा सन्त तारुण्येन पूणा इव जाता इत्यर्थः । सुखेण्यो मलयगमने ममुद्राङ्गनात् शैत्यम्, मलयानि श्येने चन्दनमोरमम्, क्षीणव्यं प्राप्या मान्यं वायोरत्र बोध्यम् । (७) आहारो द्विगुणं श्लेष्यामित्येता मत्तणाशिस्य लभाय उरगीत्योपादानम्, सम्भागखिण्णवेन तत्र शक्तिरियम् । अत्रेति अन्वयार्थस्य

(A) 'लङ्कागिरिमेखलाभिखलिना' इति पाठे 'लङ्कागिरिमेखलाभिखलिना' इति सम्युक्तम् ।

(B) जे लङ्केति । कर्पूरमञ्जरीसदृशे देव्या विभ्रममेखाया निदग्ना विवक्षणाशया सख्या कृतं वसन्तवर्णनमिदमिति बालवैरिण्यामुक्तम् ।

(C) "आहारो द्विगुणं श्लेष्यामित्येता मत्तणाशिस्य लभाय उरगीत्योपादानम्, सम्भागखिण्णवेन तत्र शक्तिरियम् । अत्रेति अन्वयार्थस्य स्युक्तम् ॥" इति सम्युक्तं श्लोकः ।

सहि विरइज्ज माणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम् ।

पिअदंसणविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरियम् ॥६९॥

अत्र वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रार्थने प्रसन्नेति विभावना, प्रियदर्शनस्य सौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यते इत्युत्प्रेक्षा वा ।

ओल्लोच्छकरअरणकूखण्हिं तुह लोअणेसु मह दिण्णं ।

रत्तांशुकं पसाओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ॥ ७० ॥

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि इत्युत्तरालङ्कारेण

अलीकत्वेन वक्तृणाः प्रौढोक्तयैव सिद्धिः, तद्व्यङ्ग्यमाह—निःश्वासैरिति । 'पेश्वर्य्य' बलम् । अत्र च तारुण्यपूर्णत्वोन्प्रेक्षाया अपोद्गं व्यङ्ग्यं बोध्यम् ।

(१०) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—सहोति ।

सहि विरचय्य मानस्य मम धीरत्वेनाश्यासम् ।

प्रियदर्शनविशृङ्खलत्तणे सहसेति तेनापघृतम् ॥ इति संस्कृतम् ।

सख्या सख्यां स्वमानमशक्यनमिदम् । मानस्य स्थाने विशृङ्खलः व्याकुलः, स्वव्याकुलत्वस्य त्तणेऽप्ययमारोपः । तेन धीरत्वेन । अपघृत पलायितम् । सहसे-तीत्यव 'इति'शब्दस्य अपघृतमिति इत्येव योजना । तथाच—वास्यसमासावेव अत्र इतिशब्द "इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमासिदु" इति कौत्यान् । अत्रेति, 'वस्तुना' मानाश्यासनपूर्वकधैर्यपलायनरूपेण, कविनिबद्धाया वक्तृणा प्रौढोक्तयैव सिद्धेन । विभावनेति प्रसादकारणस्य प्रार्थनस्याभावात् । उत्प्रेक्षाऽत्र स्पष्टैव । 'प्रिय-दर्शनस्य' धैर्य्यविरोधिना 'सौभाग्यबलमवस्थानविरोधि'ः ।

(११) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यं वस्तुमाह—ओल्लोस्लेति ।

अट्टाट्टंकरजरदनत्तैस्तव लोचनयोर्मम दत्त (A) ।

रत्तांशुकं प्रसादं कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ॥ इति संस्कृतम् ।

अट्टाट्टंकरजरदनत्तै अथांत् परनाशिकाकृते मम लोचनयो रत्तांशुक प्रसादो दत्त कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते इत्यर्थः । अत्रेति । वहसोत्यन्तं प्रश्नाकार, तदाक्षेपकमुत्तर श्लोकार्थं उत्तरालङ्काररूप । स च क्षतकर्तृकरत्तांशुकदानालीकत्वेन कवि-

(A) अत्र टीकाहारां 'दत्त' इत्यनुवादः प्राकृते 'दिग्गो' इति पाठाभिप्रायेणेति प्रतिपाति ।

अस्माभिस्तु बहुमुद्रितपुस्तकसंवादी 'दिग्गो' इति पाठो गृहीतः, तस्य सम्बद्धं 'दत्तम्' इति ।

न केवलमार्द्रनखक्षतानि गोपायसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु ।

महिलासहस्रभरिण^(A) तुह हिजए सुहअ सा अमाअन्ती ।

अणुदिणमणणकम्मा अहं तणुअं वि तणुएह ॥७१॥

अत्र हेत्वलङ्कारेण 'तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते' इति विशेषोक्तिः । एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः । एवं द्वादश भेदाः ।

निबद्धाया नायिकाया प्रौढोक्तयैव सिद्ध, तद्वचनमाह—न केवलमिति, 'न गोपायसि' मम दुःखजननार्थं दर्शयसीत्यर्थं । न केवलं तन्, अपि तु मम दुःखजननार्थं दर्शितानां तेषां प्रसादपात्रमहमेव जाता मम दुःखन्तु तैर्न जनितमिति भावः । अत्र लोचनयो प्रसादानस्य घाच्यत्वेऽपि स्पेचनयत्या प्रसादपात्रत्वं व्यङ्ग्यमेवेति नानुपपत्तिः ।

(१२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—महिलेति ।

महिलासहस्रभृते तत्र हृदये सुभग सा अमान्ती ।

अनुदिनमनन्यकर्मा अहं तन्वपि तनयति ॥ इति ससृष्टम् ।

नायकस्यानेकनायिकाभावनादुःखेन कृपाया नायिकाया अत्रस्था तस्मिन्नावेद्यन्त्या दूत्या उक्तिरियम् । अमान्ती अत्रकागमलभमाना । दिवस व्याप्य(B) । तनयति तनूकरति, तनुनन्दात् करोत्यर्थे नामकारितान्तमिदम् । अत्रेति, बहुनायिकाक्रान्तहृदये स्थानाप्राप्तिरङ्गत्तनूकरणे हेतुर्हेत्वलङ्कार^(C), स च श्लोकान्वाहत्या प्रौढोक्तयैव सिद्ध । तद्व्यङ्ग्यमाह—तनो गिति । 'न वर्तते' इति तनयतीति वर्तमाननिर्देश-साहाय्यादेव हेत्वलङ्कारव्यङ्ग्यमिदं बोध्यम् । विशेषोक्तिरिति तनोस्तनूकरण कारणं तनूस्त्वेऽपि हृदयवासरूपफलाभावान् ।

(A) 'भरिण' इत्यस्य 'भरिते' इत्यनुवाद, सर्वेषु मुञ्जितपुम्तन्त्रेषु दृष्टोऽपि चिन्त्य । तत्र 'भर संजातोऽस्ये'त्यर्थे इतच् ।

(B) "अनुदिनम्" इत्यस्य व्याप्यानमिदम् ।

(C) अत्र हेत्वलङ्कार काव्यलिङ्गमेव, तथा व्याख्यानं बीज 'केषु यत्काले'त्यर्थे प्रोक्तमेव । "हेत्वलङ्कार" इत्यर्थैकवचनमविदक्षितं महिलासहस्रभरणस्य स्थानालाभे तस्य च तनोस्तनूकरणे हेतुत्वोक्ते पदार्थहेतुस्य काव्यलिङ्गालङ्कारद्वयस्य सम्भवोदिति प्रदीपकाराणा-मभिप्रायः ।

(५५) शब्दार्थोभयभूरेकः—

यथा—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुदीपितमन्मथा ।

तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥७२॥

अत्रोपमा व्यङ्ग्या ।

शब्दार्थोभयेति, कुत्रचिद्विशेषणांशे स्वातन्त्र्येण शब्दशक्त्या क्वचिद्विशेषणांशे तु स्वातन्त्र्येणार्थशक्त्या एकस्यैव व्यङ्ग्यस्यार्थसमाजसिद्धमुभयव्यङ्ग्यत्वमित्यर्थः । अतः शब्दशक्त्युद्भवस्यार्थशक्त्युद्भवस्य च प्रपञ्चेनैवास्य प्रपञ्चो धर्तार्य इत्यभिप्रायेणाह— एक इति । चक्रवर्ती तु उपमालङ्कारस्य एवाय सम्भवतीत्येत उक्तम् एक इतीत्याह, तत्र, व्यङ्ग्यकार्यस्य स्वतःसम्भवित्वादिभेदेन भेदप्रसक्तोर्दुर्वात्त्वात् । अतन्नेति । प्राकरणिकाऽत्र श्यामा रात्रिं कं जन सानन्दं न करोति । कौटशी ? भनलसचन्द्राभरणा (A)तारकातरला यस्यां सादृशी, मन्मथोदीपिका च । अत्रोभयशक्तिव्यङ्ग्याया नायिकाया उपमा उभयशक्त्युत्था । तथाहि समुदीपितमन्मथेत्यत्र अर्थशक्त्यैव नायिका व्यङ्ग्या नायिकाया एव मन्मथोदीपने प्राधान्यात्, तथा नायिकाशिशोषवाचक(B)श्यामापदशक्त्या अनल्पकूर्पूराभरणेत्येवमर्थकातन्द्रचन्द्रपदशक्त्या तारकावत् तरलो हारमभ्यगो (मणि) यस्यास्तादृशीत्येवमर्थकातारकातरलापदशक्त्या च स्वातन्त्र्येण नायिका व्यङ्ग्या, तत्प्रतीतौ च नायिकेव रात्रिरिति नायिकोपमाऽपि प्रतीयते इति । निरुपादानेत्यादौ तु चित्रपदकलापदसाहाय्यं विना निरुपादान इत्यादेरर्थस्य न चित्रकरव्यङ्ग्यत्वमिति तत्र शब्दशक्तिमात्रोद्भवत्वम् ।

(A) अत्र रात्रिपदे तारकामन्तरला माल्वरा इत्यर्थं समीचीनतया प्रतिभाति 'तरल घञ्जे विद्गे भास्वरेऽपि रिङिङ्कम् । हारमभ्यगणौ पुंसि यवागुल्लरयो ङियाम् ॥' इति मेदिनी-कोषात् ; उदाहरणचन्द्रकोकरीत्या बहुव्रीहौ तु तस्य विशेषणबोधकतया पूर्वनिपातापत्तेः । हारमभ्यगतमणिवोधकता च रात्रिपदे न युक्ता अर्थद्वयोपस्थापनस्य प्रकृत्येभ्योऽस्तितात्वात् स्वकेणोपमाया बाधप्रसङ्गाच्चेति ध्येयम् ।

(B) "श्यामा यौवनस्यस्या" इति "शिते ललोप्यसर्वाङ्गी प्रीप्से च लक्ष्मीशला । तस्य काञ्चनधर्मा च सा स्त्री श्यामेति कथ्यते ॥" इति च श्यामालक्षणम् ।

(५६) — — — भेदा अष्टादशास्य तत् ॥४१॥

अस्येति घ्वनेः ।

ननु रसादीनां बहुभेदत्वेन कथमष्टादशेत्यत आह—

(५७) रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते ।

अनन्तत्वादिति । तथाहि—नव रसाः, तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ—
सम्भोगो विप्रलम्बश्च, सम्भोगस्यापि परस्परावलोकनाऽऽलिङ्गन-
परिशुष्यनादि-कुसुमोच्चय-जलकेलि-सूर्यास्नमय चन्द्रोदय-पट्टतुर्ण-
नादयो बहवो भेदाः; विप्रलम्बस्याभिलाषादय उक्ताः । तयोरपि
विभावानुभाव-व्यभिचारिवैचित्र्यम्, तत्रापि नायकयोरुत्तम-
मध्यमाऽ-धमप्रकृतित्वम् । तत्रापि देश-काला-ऽवस्थादिभेदा इत्ये-
कस्यैव रसस्यानन्त्यम् । का गणना त्वन्येषाम् । असंलक्ष्यक्रमन्त्रं
तु सामान्यमाश्रित्य रसादिघ्वनिभेद एक एव गण्यते ।

(५८) वाक्ये द्वयत्यः—

दुघत्य इति शब्दार्थोभयशक्तिमूलः ।

अष्टादशेति । लक्षणामूलौ द्वौ, असंलक्ष्यक्रमन्त्रेण एकः, शब्दशक्तयुद्धौ द्वौ
अर्थाशक्तयुद्धौ द्वौ, उभयशक्तयुद्धव्यर्थे इत्यष्टादश(A) ।

अनुभावभेदादपि रसादीनां भेदसम्भ्रमाह—परस्परेति । उद्दीपनविभावभेदादपि
भेदसम्भ्रमाह—कुसुमोच्चयेति । वर्णनादय इति, 'स्तुपद्कादिवह वन्धादिना
तद्वर्णनस्याप्युद्दीपकत्वमित्यभिप्रायः' * ।

वाक्ये इति । वाक्यव्यङ्ग्य एवेत्यर्थः 'व्यङ्ग्यशब्देन सह व्यङ्ग्यकार्यवाचक-
शब्दस्य वाक्यत्वप्राप्तिर्भाव्यात् दुघत्यस्य पदव्यङ्ग्यत्वासम्भवात्' * ।

(A) लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः ।

तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान् ॥ ७५ ॥

अत्र तदादिपदैरनुभवैकगोचरा अर्थाः प्रकाश्यन्ते । यथा वा—

(३) मुग्धे ! मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते

मानं धत्स्व धृतिं वधान ऋजुतां दूरं कुरु प्रेयसि ।

इति वाक्यार्थं धीराणां महत्त्वं व्यङ्ग्यं तच्च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य उपनायकविषयशृङ्गार-
रसाभासस्य प्रकर्षकम्, धीरं तस्मिन् महत्त्वेन रत्यतिगयात् । उपरुत बहु तत्रेत्यादौ
तु लाक्षणिकरूपदानामैक्याभ्यन्तरेण व्यञ्जकत्वं बोध्यम् । विमुह्यन्तीत्यत्र व्युपसर्गेण
समासाभावेऽपि पदत्वमुपपादितमेव प्राक् । (२)

असलक्ष्यक्रम पदप्रकाश्यमाह—लावण्यं तदिति । अत्रेति, प्रकाश्यन्ते प्रत्ययेवेति
शेषं तदादीनां तथैव शक्ते, तद्व्यङ्ग्यश्चात्र महावाक्यव्यङ्ग्यविप्रलम्भनिष्ठ
प्रकर्ष एव पूर्वानुभूतसुख^१ हेतुस्मरणे विप्रलम्भप्रकारात्^२ तस्य तत्प्रकर्षकत्वञ्च
उपपादितमेव प्राक् तदादीनाञ्च प्रत्येकैकवाक्यस्यत्यात् पदत्वमेव । न च तदा
सुधास्पदमभूदित्यत्रैव सर्वेषामन्वयाद् वाच्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वमिति वाच्यं तद्लावण्य-
मित्यनेनैव पूर्वानुभूतज्ञाने विप्रलम्भप्रकारोदयेन तादृशपदेन तद्व्यञ्जने सुधास्पद-
मित्यत्रान्वयस्यानपेक्षणीयत्वात् । अत्र च अनुभवैकेत्यादिना व्यङ्ग्यप्रदर्शनमेव
कृतं घटत्वादिनैव तदादीनां शक्तेरिति केचिदुवाचक्षते तत्र, अनुभवैकगोचरत्वस्य
वस्तुरूपत्वेन तद्व्यञ्जनायां असलक्ष्यक्रमव्यञ्जकत्वोदाहरणानुपपत्तेः । स इत्युक्ते
बोद्धुरनुभूतार्थस्य 'अनुभूतलुप्तसंस्कारस्यार्थस्य या'^३ घटत्वादिना बोधाभावाच्च ।
विप्रलम्भे उदाहृत्य सम्भोगेऽप्युदाहरति—यथा वा मुग्धे इति । पत्याव-

(A) मुक्ताफलेषु कृतायास्तास्त्वमिदन्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तद्लावण्यमिद्विद्यते ॥
इति लावण्यलक्षणम् ।

१ अत्र 'ही' पदं स-न-पुस्तकयोर्नास्ति । २ अत्र 'विप्रलम्भ' इति पर 'प्रकर्षबोधान् स च
महावाक्यव्यङ्ग्यविप्रलम्भस्य प्रकर्षकं । न च प्रकर्षं कथं प्रकर्षकं इति वाच्यं प्रकृतत्वेन शान्तजनकसीर
प्रकर्षकत्वात् प्रकर्षकत्वं विशेषणस्य भ्रमादवशात् तथात्वात्' इति स-न-पुस्तकयोर्विहितं वाच्यं । स-पुस्तके
अत्र परमपि 'इथात् विद्येते' यस्य निराशोतादिषु पुस्तकसौविद्यव्यवहारित्वादिव्यञ्जनाशारा तदपि यो भाव-
कर्मो व्यङ्गीजं तु साचादिति' इत्यादौऽपि कः । ३ अत्र स-न-पुस्तकयोर्नास्ति ।

सख्यैवं प्रतियोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना

नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥७६॥

अत्र भीताननेति । अनेन हि नीचैः शंसनविधानस्य युक्तता गम्यते । भावादीनां पदप्रकाशपन्वेऽधिकं न वैचित्र्यमिति न तदुदाह्रियते ।

(४) रुधिरविसरप्रसाधितकरबालकरालरुधिरभुजपरिघः(A) ।

हृदिति भ्रूकुटिचिदङ्कितललाटपट्टो विभाति नृप भीमः ॥७७॥

धरुभावां सखीं धरुभावावरणायोद्वेजयन्त्या सख्या उक्ति प्रसिद्धं मुग्धे मुग्धतयेत्यादिकम् । सख्या एव प्रतिबोधिता नायिका भीतानना सती तां सखीं नीचैरित्यादिकं प्रतिवच प्रत्युत्तरमाहेत्यन्वयः । यद्वा मान धनुस्वेत्यादि वच प्रतिवच, नीचैः शंसेत्याहेत्यर्थः । प्रतिबोधनीयमर्थमाह—मुग्धे इत्यादि । मुग्धे उपदेशप्राहिणि मुग्धतया यथोचिताचरणमूढतया नेतुमित्यादि । तर्हि किं करोमीत्यत्राह—मानमित्यादि । धनुस्य गृहाण । वपान बन्दीकुट, प्रियगतिं प्रत्यधीरा मा भू-
त्यर्थः । ऋजुताम् अवक्रताम् । अत्रेति, नायिकाया सम्भोगशृङ्गारोऽल महावाक्य व्यङ्ग्य । भीताननेत्यनेन तत्प्रकर्षा व्यज्यते तदप्रतिजनकवाच्येन मयात्तदनुगमा-
त्मिकाया रते प्रकर्षलाभात्, अन्यथा नीचैः शंसनाभिधानस्य प्रतारणरूपताया अपि सम्भवात् । तदेवाह—अनेन हीति । 'युक्तता' अनुरागाधीनत्वेन अप्रतारण रूपता । शूर्यं वासुगृहमित्यादौ तु नेदृश किमपि पदमित्यतो वाच्यमेव तत्र व्यञ्ज-
कम् । भावादीनामिति भावादीनां प्रकर्षस्येत्यर्थः भावादीना महावाक्यव्यङ्ग्यत्वेन पदप्रकाश्यत्वाभावात् । 'नाधिक' न इतोऽधिकम् । तथाच यतदुदाहरणेनैव तद्-
गतार्थमिति भावः । चक्रवर्ती तु—अमृततुल्यस्य रसस्य कणाऽप्यास्वाद्या मधुतुल्यस्य भावादेस्तु कणा नाऽऽस्वाद्या, अतो रसकणायामित्येव भावादिप्रकाशनां नाधिक वैचित्र्यमिति व्याचष्टे, तत्र, रसादिप्रकर्षस्येव प्रकाश्यत्वात् व्यङ्ग्यत्वात्त्वेन व्यङ्ग्यत्वात्त्वाभावेन(B) रसादे कणस्यैवासम्भवाच्च, न हि महाप्रदीपाल्यप्रदीपाभ्या व्यङ्ग्यत्वेन घटादेर्महत्वात्त्वे । (३)

शब्दशक्तिमूलमलङ्कार पदप्रकाश्यमाह—रुधिरेति । हे नृप भीम' मीषणीय

(A) "परिव" अर्थात्, जपभीतिरोधकत्वादिन्दुदाहणवन्निर्वाणं स्वल्पम् ।

(B) व्यङ्ग्यत्वात्त्वेन व्यङ्ग्यत्वात्त्वेन नियमानावैतैत्यर्थः ।

अत्र भीषणीयस्य भीमसेन उपमानम् ।

(५) (A) भुक्ति-मुक्ति-कृदेकान्तसमादेशानतत्परः ।

कस्य नाऽऽनन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥ ७८ ॥

भवान्(B) विभातीत्यन्वयः । “विसर.” चरणम्, “प्रसाधित” मण्डित, “कराल” भीषण, “करवाल” खड्ग, “परिध” मुहर, “विटङ्कितम्” उच्चनीचीकृतम्, “पट्ट” स्फारदेशः । अत्र अनेकार्थकभीमपदसामर्थ्यात् राशि भीमसेनोपमा व्यङ्ग्या वीरत्वं व्यञ्जयन्त्या तथा च महाबाह्यव्यङ्ग्यस्य राजविषयभावस्य प्रकर्षो व्यङ्ग्यं वृत्ति भावतिशयात् । उहास्य कालेत्यादौ तु एकवाक्यस्थितानेकपदानां वाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वम् । (४)

शब्दशक्तिमूल पदप्रकाशं यस्याह—भुक्तिमुक्तीति । जनान्तरसाध्निधातुप-
नायके उपस्थिते पुराणाद्यागमप्रशासाव्याजेन तदागमनाधीन हर्षं व्यञ्जयन्त्या नायिकाया
उक्तिरियम् । सदागमः सञ्छाल्य पुराणादिकं कस्य जनस्य आनन्दनिस्यन्दं न
विदधाति । कीदृशः ? भुक्तिमुक्तयो स्वर्गोपवर्गयो कर्ता, एकान्तसमादेशेन तत्वोप-
देशेन तत्परः तत्कारी । व्यङ्ग्यार्थस्तु सदागमः सत्पुरुषस्यागमनं कस्य मद्धिध-
जनस्य आनन्दनिस्यन्दं न विदधाति । कीदृशः ? भुक्तिमुक्तयो सुरतोपभोगगृहकर्मा-
त्यागयो कर्ता, एकान्तसमादेशेन रहस्यलीलोपदेशः तत्परः । एवविधन्त्वर्थो-
ऽनेकार्थकसदागमपदप्रकाशं, तदभावे एकार्थकभुक्त्यादिपदेभ्य ईदृशार्थबोधानुदयात्,
स च उपनायकप्रशासारूपत्वान्महाबाह्यव्यङ्ग्यतद्विषयसामासप्रकर्षक प्रशस्ते रत्या-
धिक्रियात् । पन्थिअ ण एत्येत्यादौ तु एकवाक्यस्थितानेकपदानां वाक्यत्वेनैव व्यञ्जक-
त्वम् । 'न च व्यञ्जकपदानामेकवाक्यस्थितत्वेऽपि एकैकव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वं विद्यति तम्,

(A) “भुक्ति” सम्भोग, “मुक्ति” विहासितु मत्याग ।

(B) अत्र उदाहरणश्लोके “विभासि नृप भीम” इति काव्यप्रदीपादिसम्मतं पठः, स तु
ज्यायात्, “नृप” इति सम्बोधनानन्तरं भवत्पदप्रयोगस्य तदनुसारिख्यापदप्रयोगस्य वा असर्व-
व्येयम् ।

१. 'न च तत्र अत्र अत्रमिदं तेषामेकव्यञ्जकत्वमात्रं पदत्वेनैव व्यञ्जकत्वमिति वाच्यम्, तत्र विहितं
मन्व्यङ्ग्यतायाः श्युपभोगस्योपभोगव्यञ्जकत्वान्' इति ।

(६) सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विश्रन्धमत्रागतिः ।
आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्ताऽसि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥ ७९ ॥

अत्र वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्ताऽसीति वस्तु अधुना-
पदद्योत्यं व्यज्यते ।

अन्यथा वक्ष्यमाणे तदप्राप्तिमहादुःखेत्यादौ एकवाक्यस्थयोरपि अश्लेषव्यपदयोर्व्यङ्ग्य-
द्वयबोधकत्वात् पदत्वेन व्यङ्ग्यतोदाहरणमनुपपन्नं स्यात्, तथाच 'पण्यिन्न ण एत्ये'-
त्यत्र शास्त्रादिरिभिस्यङ्गव्यञ्जकानां सन्ध्यादिपदानां कथं वाक्यत्वेन व्यङ्ग्यत्व-
मिति वाच्यम्, प्रत्येकतत्तद्व्यञ्जनद्वारा यदुपभोग इत्याद्येकव्यङ्ग्यव्यङ्ग्यत्वेन वाक्य-
त्वात् । *अत्रेति उद्देश्यनिर्वाहकत्वेन व्यञ्जनाया एवात्र मुख्यत्वमुक्तम् । ^१अमुस्य-
येति पाठस्तु क्वचित् सुपम एव* । (५)

स्वतः सम्भविस्तुव्यङ्ग्यं वस्तु पदप्रकाश्यामाह—सायमिति । उपनायकेन पथ्युप-
भुक्ता क्लान्ताऽऽगता मखीमुपहसन्त्या सन्ध्या उक्तिरियम् । तव सौकुमार्यमधुना
आश्चर्यम्, येन सौकुमार्येण अभित सर्वाङ्गे क्लान्ताऽसि । क्लमत्रापकमाह—नेत्रद्वन्द्व-
मिति । यतस्तत्र नेत्रद्वन्द्वं मीलनस्य व्यतिकरं समूहं विना नासितुं स्यात् न शक्नोति ।
सौकुमार्यातिरिक्तमत्र ईदृशकृमहेतुस्तु नास्त्येवेत्याह—सायमिति । अनेन कृमहेतु-
रतपा नास्ति प्रयुतकृमनिवृत्तिहेतुं स्नानमल्पत्राङ्गलैषावेव स्त इति दर्शितम् ।
अत्र च सायपदस्य त्रिमुक्तान्मकसायाङ्गपरत्वे तत्रातपसम्भावना निरस्यति—
याताऽस्नेति । विश्रन्धमत्रैव । अत्रागति इहागमनम् । एतेन भयाद् द्रौढ्याद्वा
कृमा नास्ताति दर्शितम् । विश्रन्धमन्देति क्वचित् पाठः । अत्रेति 'वस्तुना'
वाक्यार्थेन स्वतः सम्भविना । अधुनापदैति । ईदृशकृमस्य सौकुमार्यप्रयुक्तत्वे
दिनान्तरेऽप्येव स्यादतोऽधुनापदाधुनिककृमहेतुत्वात् इति भावः । अत्र च महा-
वाक्यत्रयद्वय उपहाम व्यङ्ग्यमिदञ्च तत्पर्यकं परपुरमम्बरनेनाधिकोपहासमिद्धे ।
अलमशिरोमणीत्यादौ तु एकविशेषकपत्रनयस्य वाक्यत्वेनैव व्यङ्ग्यत्वम् । (६)

(७) तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशोपपातका ।

तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥ ८० ॥

चिन्तयन्ती जगत्सृष्टिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।

निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका^(१) ॥ ८१ ॥

अथ जन्मसहस्रैरुपभोक्तव्यानि दुष्कृतसुकृतफलानि वियोग-
दुःखचिन्तनाह्लादाभ्यामनुभूतानीत्युक्तम् । एवं च अशेषचयपद-
द्योत्ये अतिशयोक्ती ।

स्वतःसम्भविस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कार पदप्रकाश्यामाह—तदप्राप्तीति । जगत्सृष्टिं
जगज्जनकम् । पर सर्वोत्कृष्टम्, ब्रह्मस्वरूपिणम् चिन्तयन्ती पूर्वोक्तनायिकातो-
ऽन्या गोपकन्यका निरुच्छ्वासतया निरुद्धप्राणवायुतया मुक्तिं गता कृष्णवियोगा-
न्मृता मुक्तैत्यर्थः । समस्तपापपुण्यक्षयादेव मुक्तिरित्यत्र आह—तदप्राप्तीति । भोगेन
हि पापपुण्यक्षयः, अतस्तदप्राप्तिजन्यमहादुःखेन समस्तपापस्य तच्चिन्ताजन्यविपुल-
सुखभोगेन समस्तपुण्यस्य च क्षयवतीत्यर्थः । पापपुण्ययोः सामस्त्यलाभाद्य भ्योप-
चयपदाभ्याम् । अत्रेति । समस्तपापपुण्यक्षयादेव मुक्तिप्राप्तिरूपं स्वतःसम्भवि-
स्तु प्रकृतवाक्यार्थः तद्व्यङ्ग्यो च अतिजयोत्तयलङ्कारादित्यर्थः । तथा हि मुक्ते-
रुपयोगितया प्रकृतानां समस्तपापफलादां पापविशेषफलैरेव तदप्राप्तिदुःखेनाप्राकृतेन
मुक्त्युपयोगितया प्रकृतानां समस्तपुण्यफलानाञ्च पुण्यविशेषफलैरेव तच्चिन्ताविपुल-
सुखेनाप्राकृतेन स्वभेदेन निर्दोशात्मकनिगरणरूपावेतौ अलङ्कारौ,

“निर्गोषांश्चवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यन्”

इति तद्व्यङ्ग्यात् । निगरणं हि प्रकृतस्य स्वशब्देनानुक्त्या उक्ताप्रकृतभेदेन व्यञ्जनाया
प्रतीतिः, कमलमन्मससीत्यत्र अप्रकृतेन कमलेन प्रकृतस्यानुक्तस्य मुक्तस्येव । तौ
चालङ्कारौ पापपुण्यसामस्त्यक्षयापत्त्याभ्यामशेषचयपदाभ्यां द्योत्येते कारणत्वात्सत्येन तत्-
फलसामस्त्यद्योतनात् । तदाह—अशेषचयपदेति । धन्याऽसि या कथयसीत्यादौ तु

(१) अत्र अन्या गोपकन्यका मुक्तिं गतोत्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—तदप्राप्तीति तच्चिन्तेति
च, प्रारम्भकर्मणां भोगादेव ह्येव इति सिद्धान्तादिति भावः । “चिन्तयन्ती” इत्यनेन साक्षात्-
कारहेतुनिर्दिष्ट्यामनमुक्तम् । निरुच्छ्वासतयेत्यस्य नास्ति उच्छ्वास प्राणोन्मूलनं मस्या मा,
तत्तयेत्यर्थः ‘न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समबलीयन्ते’ इति क्षुत्तिप्रार्थे प्रमाणम् ।
परब्रह्म निर्गुणं ब्रह्म, परापरभेदेन ब्रह्मणो द्वैविध्यं शास्त्रे प्रतिदम् । स्याममन्त्यः । विष्णुपुराणस्य-
मेतत् पद्यम् ।

(८) क्षणदाऽसावक्षणदा वनमवनं व्यसनमव्यसनम् ।

वत धीर तव द्विपतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ॥ ८२ ॥

अत्र शब्दशक्तिमूलविरोधाङ्गेनार्थान्तरन्यासेन 'विधिरपि त्वामतु वर्त्तते' इति सर्वपदद्योत्यं वस्तु ।

(९) तुह वल्लहस्स गोसम्मि आमि अहरो मिलाणकमलदलो^(A) ।

ईक्षणपदाभाषाग्रहायाभ्यमेव व्यञ्जकम् । तौ चालङ्कारौ गार्गीप्रिलम्भयञ्जिकाया मुक्ते रूपपादकस्य समस्तापवुष्पत्तयथापपादकत्वेन महापात्रपद्मचपोपी 'प्रिलम्भप्रकर्षकौ प्रिलम्भप्रकर्षकमुक्तयुपपादनद्वारत्वात्'^१ । न च श्लेषवचनपदार्थव्यञ्जकयोरकवाभ्यस्यत्वेन कय पदत्वमिति वाच्यम्, विभिन्नस्वस्यव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वेन पदत्वात्, एकव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वे सत्येव तादृशयार्थाभ्यत्यात् । (७)

स्वतःसम्भवलङ्कारव्यङ्ग्य वस्तु पदघात्यमाह—क्षणदाऽसाविति । अक्षणदा अनुत्सवदा । वनन रक्तकम्, वनस्य पलायनस्यानवात्, नन्द्यावित्वात् कतरि यु । व्यसन घृतादिकौतुकम् । अव्यसनम् अविस्तीर्णम्, यद्वा अविभिर्मेघे असन शिरप्रहारेण क्षेपणम्, तादृश व्यसनम् आपत्, त्वदादिष्वेमेघे शिरसा प्रहृत्य त्वदस्या नि सार्थन्त इत्यर्थः । तत्र च अक्षणदादिशब्दापमथाप्य शब्दशक्ति मूढ क्षणदादे क्षणदात्वादिपराङ्मुखत्वरूपा विराध आपातता भासत स एवाथा न्तरन्यासेन समर्थते पराङ्मुखे त्वयीति, त्वयि पराङ्मुखं सति तान् प्रति न केवल क्षणदादस्य स्वस्वन्नमत्सागेन पराङ्मुखत्वमपि तु सर्वेषामेव पराङ्मुखत्वमित्यर्थः । स चार्थान्तरन्यासो दृष्टव्यत्वात् स्वतःसम्भवाति तद्व्यङ्ग्यमाह—अत्रेति । 'विरागङ्गन' विरागनिर्वाहिन । विधिरपीत्याद सर्वपदघात्यता च सर्वत्वेन विधेरपि लक्ष्मात् शब्दत् प्रति पराङ्मुखत्वस्यैव वाच्यत्वेन तदनुवर्त्तनस्य व्यङ्ग्यत्वम् तत्र महापात्रपद्मचस्य राजविषयभासस्य प्रकर्षकमेव विधिनाऽप्यनुवर्त्तनीय भाव्यकर्षोदयात् । दर्पान्येयादौ तु ईक्षणपदाभाषाङ्गमेव व्यञ्जकम् । (८)

स्वतःसम्भवलङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कार पदघात्यमाह तुह वल्लहस्सेति ।

(A) "गोसम्मि" इति पद "प्रभाते" इत्यर्थे देवती । अन्ये सम्स्कृत "प्रात" इति काव्य प्रदीपदीक्षाकार । अत्र "कमलदलो" इति पुस्त्व प्राकृत लिङ्गानिवनार्थिनि व्यक्तमुदात्तौ ।

१ 'विरागशब्द प्रकर्षव्यञ्जकौ विरागशब्दीनमुक्त ईतुमर्थी समसप/पपपकवभोग्योत्तरमादिदु ल तद्विनासुहाव्यामभेन्नाभ्यघातान् तादृशदु खसातिशयलक्षणेन विरगशब्दतिशयनाभात् दु खसन्निवृत्तिरूपस विरगशब्द इ खसिधनार्थिनात् ख ग, ।

इअ णववहुआ सोऊण कुणइ वअणं महीसंसुहं ॥ ८३ ॥

अत्र रूपकेण त्वयाऽस्य सुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथा कृतं येन
म्लानत्वमिति मिलाणादिपद्योत्यं काव्यलिङ्गम् । एषु स्वतः-
सम्भवी व्यञ्जकः ।

(१०) राईसु चंद्रधवलासु ललिअमफ्फालिऊण जो चावं ।

एकच्छत्तं 'विअ कुणइ भुअणारज्जं' विजम्भन्तो ॥ ८४ ॥

तव यल्लभस्य गोशे आसीदधरो म्लानकमलदलम् ।

इति नववधु ध्रुत्वा करोति वदन महीसन्मुखम् ॥ इति संस्कृतम् ।

रात्रावन्त्यन्तचुम्बितपन्थधरां नवयौवनां यधू प्रति कस्याञ्चिदुक्तिरियम् । गौ. शैते-
ऽस्मिन्निति गोशं प्रभातम् । नववधुः नवयौवना यधु । अधरस्य म्लानकमलदल-
त्वेन रूपणाद् म्लानिहेतुपत्यधरात्यन्तचुम्बनप्रकाशनाद् मुखनमनम् । अत्र च रूपरूप-
कयो^२रभेदससर्गस्यालीकत्वेऽपि रूपकहेतुना शोणत्वरूपसाधर्म्येण अधरस्तद्गो-
कमलदल एव म्लानकमलदलाभेददर्शनाद् अधरेऽप्यौचित्येन सम्भावितस्य म्लानकमल-
दलाभेदात्मनो रूपकालङ्कारस्य स्वतःसम्भविन्त्वमिति प्रागेव दर्शितम्^३ । तद्व-
द्गुञ्जश्च अधरम्लानिहेतुरत्यन्तचुम्बनमित्येव रूपो हेत्वलङ्कारः । स च रूपकबोधक-
म्लानकमलदलप्रकाश इत्याह—अत्रेति । अद्गुञ्जश्च म्लानिहेतुश्चम्बन परार्द्ररूपमहा-
वाक्यव्यङ्ग्यवधुलज्जत्या^४ 'प्रकर्षक स्वकर्तृकात्यन्तपत्यधरचुम्बनप्रकाशाहृज्जाधिभ्यात् ।
गाढकान्तेत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वान्तमेव व्यञ्जकम् । (६)

कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्य वस्तु एवप्रकाश्याह—राईसु इति

रात्रिषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फलय यश्चापम् ।

एकच्छत्रमेव करोति भुवनराज्य विजृम्भमाण ॥ इति संस्कृतम् ।

अत्र य इत्यस्य प्रकरणात्प्रयं कामो विशेष्यः । भुवनराज्य भुवनराजत्वम् । अत्र
अनङ्गस्य चापास्फालनपूर्वकभुवनाधिकारकरणस्यालीकत्वेन तद्रूपं वस्तु कवि-

१ 'वि' इति कविन् पाठः । २ '—रभेदरूपससर्गस्यालीकत्वेन रूपस्य म्लानकमलदलस्य प्रविद्धा स्वतः
सम्भविता रूपरूपकविरचयौचित्येन सम्भावमान इत्याह व्याख्यातमेव' इति । ३. 'प्रकर्षक' इति ।

अत्र वस्तुना येषां कामिनाममौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चि-
दपि तदादेशपराङ्मुख इति जाग्रद्भिरुपभोगपरैरेव तैर्निशाऽति-
वाह्यते इति भुजणरज्जपदयोत्पं वस्तु प्रकाशयते ।

(११) निशितशरधिषाऽर्षयत्यनङ्गो

दशि सुदशः स्वयलं वयस्यराले ।

दिशि निपतति यत्र सा च तत्र

व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः ॥ ८५ ॥

प्रौढोत्तयैर सिद्धम्, तद्व्यङ्गमाह—अत्र येषामिति । तेषु इत्यत्राऽप्यापि पञ्चमी,
तेभ्योऽपेतो बहिर्भूत इत्यर्थः, निर्दोषणे तु पञ्चम्यनुपपत्ते (A) । पराङ्मुख इत्यन्तं
जाग्रद्भिरित्यादेशैर्नतुप्रकर्षरूपम्, ईदृशाञ्च व्यङ्ग्य प्रज्ञानां सामस्यप्रापकमुत्तराज्य-
पक्षादेव प्रकाशत इत्याह—भुजनेति । तच्च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य ममस्तत्रनष्टद्वारस्य
प्रकर्षकं जाग्रद्भिरित्यादिना तन्प्रकर्षस्य स्पष्टत्वात् । कैलासस्येत्यादौ तु ईदृशापदा-
भावाद् वान्शयमेव व्यङ्ग्यम् । एकच्छत विश्व इत्यत्र एकच्छत्रमिवेति सस्फुटमाह
चक्रवर्ती, तत्र, तदा उत्प्रेक्षया एव व्यङ्ग्यतापत्तेर्न तु घञ्नुन (B) । (१०)

कामिप्रौढोक्तिमिद्वरस्तु व्यङ्ग्यमलङ्कार पदप्रकाशमाह—निशितेति । अत्राले
युगत्या धकभावेहेतुत्वेन कुटिले धयमि यौरने मति सुदशो दृशि अनङ्गो निशित-
स्वशरधिषा स्वबलमर्षयति, सा चार्पितवशा दृग् यत्र दिशि निपतति तत्र दिशि अवस्था
अथाह घृनां विरहकालीना कामिक्यो दृश वशा व्यतिकरं मिलनम् एत्य समुन्मिषन्ति
जायन्ते । वशावस्थाश्च—

नद्वेष्यमौष्ठ्य ताप पाण्डुता वृशताऽर्षि ।

'अभृतिश्चाप्यनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छता ।

मृतिश्चेति क्रमाज् ज्ञेया दृश स्मरदृशा इह ॥

इति वान्श्यायनोक्ता । तामाञ्च कामिकाणा युगपदुन्मोहरूप वस्तु वाक्यार्थं स्वतोऽ-

(A) गोपदेशानुपायिनन्तु "निर्दोऽर्षिकेन क्रियान्त कालाज्जनोश्च ते च" इति सुरेण
निर्दोऽपि पञ्चमी सम्भवतीति प्राहुः ।

(B) "न तु वञ्जुन" इति व्यङ्ग्यत्वं सम्भवतीति शेष । पूर्वत्र व्यङ्ग्यत्वापत्तेरित्यत्र
व्यङ्ग्यत्वापत्तिरिति प्रथमान्तरात् समीचीन ।

अत्र वस्तुना युगपदवस्थाः परस्परविच्छेदा अपि प्रभवन्तीति व्यतिकरपदयोस्तयो विरोधः ।

(१२) वारिज्जंतो वि पुणो संदावकदत्थिण्ण हिअएण ।

धणहरवअस्मएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो ॥ ८६ ॥

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणहेत्वलङ्कारेण हारांऽनवरतं कम्पमान एवास्ते इति 'ण चलइ'पदयोस्त्यं वस्तु ।

सम्भवात् कविप्रौढोक्तयैव सिद्धं, तद्वच्चङ्गत्वात् कमिकानां युगपदुन्मेषो विच्छेद इत्येव रूपो विरोधात्कुर्यात्, स च युगपत्तावोधकव्यतिकरपदप्रकाश्य इत्याह—अत्रेति । परस्पर-विरोधोऽत्र कालिक, तदलीकत्वाद्द्विरोध । स च विरोधो महावाक्यव्यङ्ग्यस्य नायिकादृष्टयुवजनशृङ्गारस्य प्रकर्षकं युगपद्विच्छेदसर्वावस्थोदयेन तेषां शृङ्गारधिस्य-लाभात् । 'केसेसु बलामोदिभ' इत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (११)

कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यं वस्तु पदप्रकाश्यमाह—वारिज्जंतो धीति—

वार्यमाणोऽपि पुन सन्तापकदर्शितेन हृदयेन ।

स्तनभरस्य वयस्यतया विशुद्धजातिर्न चलति(Δ) तस्या हारो ॥

इति सञ्ज्ञतम् ।

सन्तापकदर्शितेन हृदयेन पुन पुनः शर्यमाणोऽपि तस्या हारो विशुद्धमुक्ताजातीशयप्रित्त, स एव च श्लेशद् विशुद्धमाल्लणादिजातीयत्वेन अय्यामित्त ; स्तनभरस्य वयस्यतया न चलति नापगच्छति विशुद्धजातीयस्य वयस्यत्यागभावाद्दित्यर्थः । पुनरित्यत्र पुन पुनरित्यर्थः । एतच्च विशुद्धजातित्वमनपगमे हेतुरिति हेत्वलङ्कारो वाक्यार्थं कवि प्रौढोक्तयैव सिद्धं, तस्यानपगमेहेतुत्वस्यारोप्यत्वेनाप्यस्तवत्वात् । तद्वच्चङ्गं वस्त्वाह— हारोऽनवरतमिति, वार्यमाणस्यानपगमे कस्य-नैवत्वात्, अत एव न चलतीति पदयोस्त्यं तन्, नत्रर्थस्य कारकत्वाभावात् तदन्येन व्यञ्जकस्यापि न चलतीत्यस्य असमासेऽपि पदत्वमेवेति प्राग् दर्शितम् । व्यङ्ग्येन हारकम्पेन च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य नायिकाविग्रलम्भस्य प्रकर्षं हारकम्पतापेन(B) विग्रलम्भातिशयलाभात् । गाढ-लिङ्गनेत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (१२)

(A) 'ते' इत्यस्य 'आप्या' इत्यनुवाद बालवोचिन्त्यां दृश्यते ।

(B) तापपदमत्र तापमन्वदीर्घनि धासादिपरमिति बोध्यम् ।

(१३) सो मुद्रसामलंगो धम्मिल्लो कलिअललिअणिअदेत्ते ।

तीए खंधाहि चलं गहिअ सरो सुरअसंगरे जअइ ॥ ८७ ॥

अत्र रूपकेण मुहुर्मुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्धयोः प्राप्तः
यथा रतिविरतावप्यनिवृत्ताभिलाषः कामुकोऽभूदिति खंधपद
द्योत्या विभावना । एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः ।

कविप्रौढाक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कार पदप्रकाश्यामाह—सो मुद्रेति ।

स शुद्धम्यामलाङ्गो धम्मिल्ल कलितललितनिजदेह ।

तस्या स्कन्धाद्बलं गृहीत्वा स्मरं सुगतमङ्गरे जयति ॥

इति सस्कृतम् ।

रत्युत्तर नायिकास्कन्धपतितल्लथवन्धकेशदर्शनात् पुनरहीममदनस्य नायकस्य पुनः
सुरतरणंतमिदम् । धम्मिल्लं सयतं केशपाशः । शुद्धम्यामलाङ्गं स एव, शुद्ध-
म्यामलाङ्गं स्मरं तस्या नायिकायां स्कन्धाद् बलं गृहीत्वा सुगतमङ्गरे जयति
पुनः सुरतपुद्गलप्रवर्तकत्वाद्दुत्कर्षवानित्यर्थः । मुधेति पाठे मुधम्यामलाङ्ग इति
सस्कृतम् । कीदृशः ? कलितधम्मिल्लात्मकललितनिजदेहः । अत्रेति, 'म्यामलाङ्गः
स्मरस्य प्रसिद्धत्वप्रचारायैवोक्तम्, स्मरस्य तथात्वाभावात् । तथाच तदभेदस्य
धम्मिल्ले रूपकघटकादीपकत्वधर्मेण तत्सदृशो उद्दीपकात्तरे स्मरे वाऽवर्गनादु रूपकमिदं
कविप्रौढोक्तयेव सिद्धम्, १* तद्व्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—रतिविरतावपीति । अभिलाष
हेतो रत्यनुत्तरकालम्याभावेऽपि अभिलाषरूपफलव्यस्यपरिमिका विभावनेत्यर्थः,

'क्रियायां प्रतिराधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना' ।

इति तल्लुत्तये क्रियापदस्य कारणमात्रपरत्वेन रत्यनुत्तरकालस्यापि क्रियापदार्गत्वान् ।
तस्या स्कन्धपदवाच्यतामुपपादयति—मुहुराकर्षणेनेति, आकर्षणात् स्कन्ध
प्राप्ते प्रायशा रत्युत्तरं सम्भवान् रत्यनुत्तरकालभावप्रापकं स्कन्धपदं तद्द्योतकम् ।
तत्सालीनाभिलाषात्मिकया च विभाजनया महावाक्यव्यङ्ग्यद्वाररसोत्कर्षं स्फुटं
एव । आ ठेर च हसन्तीत्यादौ तु इङ्गपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (१३)

१. श्यामलाङ्काररूपकमिदं रूपमाचम्यमनाङ्कारपरिच्छा। तदवीकलन कविप्रौढोक्तये चिह्नमिति
प्राचैर द्रष्टव्यं ख-न ।

(१४) णवपुण्णिमामिअंकस्स सुहअ को त्तं सि भणमु मह सचं ।

का सोहगसमगा पओसरअणि च्च तुह अज्ज ॥ ८८ ॥

अत्र वस्तुना मयीवान्यस्यामपि प्रथममनुरक्तत्वं (A) न तन इति णवेत्यादि-पओसेत्यादिपदयोत्वं वस्तु व्यज्यते ।

कविनिबद्धकृतौदोक्तिमिद्वन्तुव्यङ्ग्यं वस्तु पदयोत्पमाह- णवपुण्णिमेति ।

नवपुण्णिमामृगाङ्कुस्य सुमग कन्थमसि भण मम सत्यम् ।

का (B) सौभाग्यममया प्रदोपरजनीव तराच(C) ॥ इति संसृजम् ।

उपनायिकागृहे जिगमिषुं स्वनाथकमुपहमन्त्या नायिकाया उक्तिरियम् । हे सुमग नरीन-
पुण्णिमाचन्द्रस्य कन्थमसि किमम्बरुयसि पुत्रो भ्रात्रादियां, तन्मम स्थाने सत्यं भणे-
त्यर्थः, तादृजामम्बरुयस्य पय तद्धर्मज्ञानिकानुरागिष्यस्य त्ययुपपत्तेरिति भावः ।
तथा तत्र सौभाग्यं ममयं यस्यां तादृशी का अत्र चन्द्रस्य प्रदोपरजनीव, चन्द्रस्यापि
प्रदोपरजन्यां ज्ञानिकरागान् । अत्र साधुभ्योपलम्भान् पुत्ररथभ्रातृत्यादिवैध
सम्बन्धं पञ्चमं प्रध्वविषयः । स च भवेतनस्य चन्द्रविष्वस्य पुत्राद्यभावात्प्रीति
इति तद्विषयमश्लोऽप्यलोकः कविनिबद्धाया नायिकाया प्रौढोक्तयैव मिदः, एवं
प्रदोपरजन्यां सौभाग्यस्यालोकत्वेन तदुपमिताया सौभाग्यश्लोऽप्यलोकः । तत्र
प्रथमप्रध्वव्यङ्ग्यं वस्तुवाह-मयीवेति । चन्द्रस्य नवन्धेन तदीयरक्तिमार्गिके रक्तपदे
स्मारिने ग्लिष्टस्य तस्यार्थयो रक्तिमानुरागयोगकत्वाभ्यासान् (ध्यवमायान् ?)
प्रथममनुरक्तस्त्वमित्यन्तं वस्तु व्यङ्ग्यं तद्य णयेत्यादिपदप्रकाश्यम्, न तन

(A) न तन इत्यादि । तन तदनन्तरं प्रथमानुरागकलाभादन्तरमित्यर्थः, न सत्या-
मनुगम इति शेषः । अस्य पदयोत्पकविनिबद्धकृतौदोक्तिमिद्वन्तुव्यङ्ग्यं पदयोत्पमाहणत्वम्,
“अत्र पदे रवनी वेत्तुपमानैरपेक्षेण कथं व्यङ्ग्यस्त्वमिति चिन्त्यम्” इति वचना प्रदीपकारेणा-
क्षितम् । तत्र “इव पदानुपादानेऽपि प्रदोपरजनी तव का इत्येतावताऽपि व्यङ्ग्यनामिदि
सम्भवती”ति वत् कैश्चिन् परिद्वियते तदपि न मनोरमम्, श्लोके सत ‘इव’पदस्यानुरागान्तरकल्पना-
नौचित्यान् अनुपादानकल्पस्य तु उदाहरणान्तरत्वात् प्रदोपरजनी तव का इत्युक्तावतिवयोपि-
सापेक्षस्यैव व्यङ्ग्यकत्वापातेन तदोपतादवस्थाच्च तावताऽपि क्षणिकानुरागान्तरकालानुरागित्या
सौभाग्यप्रभवद्वयत्योपपत्तासम्भवात् । वस्तुन टीकाकृतृषु प्रथमप्रध्वव्यङ्ग्याभिप्रायेणास्य वस्तु-
व्यङ्ग्यकत्वादाहरणस्त्वयममवे द्वितीयार्थे धलद्वारास्य व्यङ्ग्यकत्वंऽपि न क्षतिरिति ध्येयम् ।

(B) सौभाग्येव समया सन्पूर्णा ईदशनायककलाधनेन वा आत्मानं पूर्णमीनायं मन्यते
तादृशीत्यर्थः ।

(C) अत्र उच्यते — “सपिठ्याया वृद्धपरवन्धुरकं स्वामिनं प्रतीयमुक्तिः । ... प्रयमोदित-

(१५) सहि णवणिहुषणसमरम्मि अंक्वालीसहीए णिविडाए ।

हारो 'णिवारिओ च्छिन्निअं' * 'उच्छेरन्तो तदो क्हं रमिअं ॥८९॥

अत्र वस्तुना हारच्छेदानन्तरमन्यदेव रतमवश्यमभूत् तत्कथय
कीदृशगति व्यतिरेकः कल्पदगम्यः ।

इति तु प्रदोषरजन्युपमितोपनायिकासौभाग्यप्रश्रयार्थं तत्र महायान्यव्यङ्ग्यस्योप-
हासस्य प्रकर्षक क्षणिकानुरागित्वेन उपहामाधिप्यलाभात् । जे लङ्कागिरीत्यादौ
तु ईदृशपदाभावात् षाक्यमेव व्यञ्जकम् । (१४)

कविनिबद्धयकृपौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कार पद्योत्पत्त्याह—सहि णवणिहु-
षणेति ।

सखि नयनिधुनममरेऽद्भुपालीसख्या निविडया ।

हारो निवारितद्विन्वा उच्छ्रीयमाणस्तत कथ रमितम् ॥

इति संस्कृतम् ।

स्योद्देश्यनिधुनप्रतिबन्धकहारनिवारकत्वेन अद्भुपाली (A) ब्रालिङ्गनमेव सखी
अन्यन्तप्रत्यासन्नत्वेन निविडया तथा द्वित्वा 'उच्छ्रीयमाण गलितद्वित्रिमौक्तिको हारो
निवारित' तत कथ रमितमित्यर्थः । रमितमिति कारितान्त परस्परं परस्पर-
रति' कथ कारितेत्यर्थः । अत्रालिङ्गनरूपाया' सख्या हस्ताद्यभावाद् विवक्षित-
स्तादृशो हारच्छेदोऽलीकः, तथाच तज्जन्यरतौ प्रभोऽप्यलीकत्वात् कविनिबद्धाया
सख्या' प्रौढोक्तयैव सिद्ध, तद्व्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—अत्रेति । "वस्तुना" उक्तप्रश्रय-

पूर्णिमामम्बन्धी मृगाहृन्मन्त्र तस्य त्वं क सखा प्राता वाऽग्निं तत् सत्यं भण तत्पम्बन्धित्वं
विना क्षणिकानुरागित्वमन्य तत्त्वभावस्य त्वव्यनुपपत्तेः, तथा चन्द्रस्य प्रदोषरजनीव तत्र का
नायिका सौभाग्य नायकानुरागादि समय सम्पूर्णं यस्यां क्षयाभूता । प्रदोष रजनीमुखम् ।
प्रदोष एष यथा रजन्यां चन्द्रानुरागसामग्यं तथा तत्र तस्यामित्यर्थः । नवत्वेन चाब्रह्मण्यं
क्षणानुरागित्वम् । पूर्णिमाचन्द्रः प्रदोषे रज्यतेऽनन्तरन्तु विरज्यते एवं पूर्णिमाशुभाहृत्वेन
नायिकान्तानुरागित्वं क्लृप्तित्वम् । प्रदोषपदेन प्रकृष्टदोषवस्त्वम् । यत्तु (वे १ ?) मव-
प्रतिषुद्धित इति व्यापक्षते तेषा पूर्णिमापदासङ्गति स्पष्टैव" इति ।

(A) 'अद्भुपाली परीरम्भे कीदृशान्त्रिकपोरपि' इति कोषः ।

1 'निवारिओ विच' इति प्रदोषादिसम्मत पाठः । 2 'उच्छेरन्तो' इत्युदाहरणवन्दिक्कामृतपाठात्परम् ।

3 'पणिलक्षणात्तन्नायिकासौभाग्याया' ख ग । 4 'उच्छ्रीयमाण' ख ग । 5 'पणोकाशनात्' ख ग ।

(१६) पविमंती घरचारं विवलिअवअणा विलोइअण पइं ।

खंधे घेतूण घटं हा हा णट्ठोत्ति कअसि सहि किं ति ॥९०॥

अत्र हेत्वलंकारेण संकेतनिकेतनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र गन्तु-
मिच्छसि तदा अपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु किंतिपद-
योत्यम् । यथा वा—

(१७) विहलंखलं तुमं सहि दट्टुण घडेणं तरलतरदिट्ठिं ।

वारणंसमिसेण अप्पा गुरुओत्ति पाडिअ विट्ठिणो ॥९१॥

रूपेण । 'व्यतिक्र' उपमानाद् रुच्यन्तराद् धैर्यतण्यरूप' । कर्हंपदेति, व्यञ्जकी-
भूतप्रश्नवाचकत्वात् कर्हंपरं (A) व्यञ्जकम्, व्यञ्ज्यञ्च रतिवैलक्षण्यं महायाप्यव्यञ्ज-
तदुभयवृत्ताप्रकर्षरूपमेव । सहि विवड्जण इत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् शाक्यमेव
व्यञ्जकम् । (१२)

कविनिबद्धयकृप्रौढोक्तिमिदालङ्कारव्यञ्ज्य घस्तु पदयोत्यमाह—पविसन्ती
इति ।

प्रविशन्ती गृहद्वारं विवलिअवअणा विलोअय पन्थानम् ।

खन्धे गृहीत्वा घट हा हा णट्ठ इति रोदिपि सदि किमिति ॥

इति संमृतम् ।

णट्ठ इत्यत्र घट इति शेष । किमिति रोदिपि, युद्धिपूर्वकघटभङ्गे रोदनवैयर्थ्यादिति
भाषः । अप्प्रेति, नायिकया बुद्धिपूर्वकं कृतो घटभङ्गः रोदनहेतुत्वेन वर्णित', अथ
(अतः ?) हेत्वलङ्कारः, स च घस्तुतो हेतुत्याभावात् कविनिबद्धसस्त्रीप्रौढोक्त्यैव
सिद्धः । तद्व्यञ्ज्य घस्त्याह—सङ्केतेति । तद्य महायाप्यव्यञ्ज्यारय सस्त्रीविषय-
यक्तृभावस्योपकारक समीहितसाधनानुमत्या मस्त्रीविषययोर्हंभावाधिक्त्वत्वात् ।
तस्य किमिति पदयोत्यता च रोदनवैयर्थ्यबोधनेन तेन समीहितसाधनानुमतिताभावात् ।
ओल्लोल्लेत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् शाक्यमेव व्यञ्जकम् । ननु घटभङ्गस्य रोदनहेतुत्व-
मौचित्येन सम्भाव्यत एवेत्यत स्वतःसामन्वयेणैव हेत्वलङ्कार इत्यत आह—यथा
वेति । (१६)

(A) अत्रोदाहरणश्लोके मवनिपुचनममर इति रूपकमत्त्वेऽपि सप्रैरेवेत्येण पदस्य व्यङ्ग्य-
व्यञ्जकत्वं सम्भवतीति पदयोत्यवस्तुव्यङ्ग्यालङ्कारोदाहरणसङ्घटितिरिति बोध्यम् ।

अथ नदीकूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्तं गृहप्रवेशावसरे पश्चा-
दागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बुद्धिपूर्वं व्याकुलया
त्वया घटः स्फोटित इति मया चिन्तितम्, तत्किमिति नाश्वसिपि,
तत्समीहितसिद्धये व्रज, अहं ते श्वश्रूनिक्वटे सर्वं समर्थयिष्ये इति
द्वारस्पर्शमव्याजेने^(A)त्यपहृत्या वस्तु ।

(१८) जोह्लाह महुरसेण अ विहण्णतारुण्णउत्सुअमणा सा ।

बुद्ध्वा वि णवोढब्बिअ परवहुआ अहह हरह

तुह हिअअं ॥ ९९ ॥

विष्टह्ला त्वा सखि दृष्ट्वा घटेन तरलतरुष्टिम् ।

द्वारस्पर्शमिणेण आत्मा गुह्यक इति पातयित्वा विमिश्र ॥

इति सस्कृतम् ।

विष्टह्ला व्याकुला त्वां दृष्ट्वा घटेन आत्मा गुह्यक इत्यता हेताद्वारस्पर्शव्याजेन
विमिश्र भेदित, अन्तर्भूतकारितार्थत्वात् । पतनहेतौ गुह्ये स्वनागेनापि
परापकारित्वरूप गुह्यत्वमभ्यासितम् (अप्यसितम्?) श्लेषात् । अत्रेति,
नायिकाया कारितस्य द्वारस्पर्शस्य भेदहेतुत्वापह्वेन स्वस्मिन्नेव तद्धेतुत्वापारूपया
अपहृत्येत्ययम् । घटस्याचेतनस्य तदसम्भवात् कविनिबद्धसखीप्रौढाक्षयैव तत्सिद्धिः ।
तद्वचनञ्च वस्त्वाह—किमिति । नदीगमनायेत्यादिकन्तु अपहृतिबीजप्रदर्शन
न त्यपहृतिशरीरम् । चिन्तितमित्यन्तं तु अपहृतिविषयस्वज्ञानकथनम् । तत् किमि
तीत्यादे सखीपदघातयता च सखीकृत्यत्वादेवेदशापदेशस्य । तादृशापदेशरूप
व्यङ्ग्यञ्च महावाक्यव्यङ्ग्यसखीविषयवक्त्रीभावस्य प्रकर्षक स्पष्टमेव । (१७)

कविनिबद्धयत्प्रौढाक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कार पदघातयमाह—जोह्लाह इति ।

ज्यात्स्त्रया मधुरसेन व वितीर्णतारुण्यान्तुसुकमना सा ।

बुद्ध्वापि नवोदेव परवधूरह हरति तव हृदयम् ॥ इति सस्कृतम् ।

गलितयौवनोपनायिकाप्रसक्त स्वनाथकमुपहसन्त्या नायिकाया उक्तिरियम् ।

बुद्ध्वापि सा नायिका ज्यात्स्त्रामधुरसाभ्या दत्तेन तारुण्येन उत्सुकमना यत् परवधू,

(A) अथ प्रकृतार्थगोपनमात्रम् अपहृति, न तु तत्रोपमानोपमेयभावोऽव्यापारक
इत्यभिप्राय, नायिकाया इच्छाकृतपदमन्त्रे घटकृतृकस्वस्फोटनस्य फलमश्रोवप्रकथमिति
प्रतीयमानोद्भेदाङ्कारोऽत्र व्यङ्ग्य इति तु विनाशनीयम् ।

अत्र काव्यलिङ्गेन वृद्धां परवधूं त्वमस्मानुज्झित्वाऽभिलषसीति त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यमित्वाक्षेपः परवधूपदप्रकाश्यः ।

(A) एषु कचिनियद्वचकृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः । वाक्यप्रकाश्ये तु पूर्वमुदाहृतम् । शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवस्तु पदप्रकाश्यो न भवतीति पञ्चत्रिंशद्भेदाः ।

(६०) .. प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ ४२ ॥

पथा—गृध्रगोमायुसंवादादौ—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्कुले ।

कङ्कालबहले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥ ९३ ॥

अतस्तत्र चित्तहरति, न तु सौकुमार्येण तारुण्येन च । अत्रेति, 'काव्यलिङ्गं हेत्वलङ्कार' चित्तहरणहेतुपदवधूत्वरूप, स च नायिकाया प्रौढात्तथैव सिद्धः, विरूपया पदवध्ना चित्तहरणभावेन परवधूत्वे चित्तहरणस्य हेतुत्वात्वास्तवत्वात् । 'आक्षेप' आक्षेपनामा अलङ्कारः,

निर्गन्धो वक्तुमिष्टस्य यां विशेषविधिन्सया ।

यक्ष्यमाणोक्तयिष्य स आक्षेपो द्विधा मतः ॥

इति तल्लक्षणान्, वृद्धामित्यादिकन्तु तादृशनिर्गन्धसम्पादकतयैरोक्तमिति बोध्यम्; पदवध्मभिलाषादेव आक्षेपोपपत्ते तस्य परवधूपदप्रकाश्यता, तस्य च महावाक्यव्यङ्ग्यपत्युपहासोपकारकत्वम् अयुक्तकारित्वेन अनिर्वचनीयचरितस्य उपहास्यत्वान् । महिलासहस्रे त्वानौ तु ईदृशपदाभावात् यान्ममेव व्यञ्जकम् । (१८)

पञ्चत्रिंशदिति दुचत्वां वाक्यप्रकाश्यत्वेनैकविध एव, अन्ये तु सप्तदश पदवाक्यप्रकाश्यत्वेन द्विगुण्याश्चतुर्लिंगादिति पञ्चत्रिंशदित्यर्थः ।

प्रबन्धेऽपीति, द्वादशविधोऽर्थशक्तिभू स नैकरूपमहावाक्यात्मक (अनेकमहावाक्यात्मक ?) प्रबन्धव्यङ्ग्योऽपीत्यर्थः । तथाच पदवाक्याभ्यामिव प्रबन्धेनाप्यर्थशक्त्युद्भवा द्वादश व्यङ्ग्या इत्यर्थः । यद्यपि तदप्रतिमहादुःखेत्यादिपद्यत्वात्मकमहावाक्यमपि प्रबन्ध एव, तथाऽपि तत्र अशेषव्यपदयोऽर्थञ्जकत्वात् पदप्रकाश्यता तादृशपदाभावे एव प्रबन्धप्रकाश्यता । तत्र स्वतःसम्भविष्यस्तुव्यङ्ग्यं षस्तु प्रबन्धप्रकाश्यमाह—अलमित्यादिपद्यद्भयेन । श्मशाने मृतबालकं त्यजतस्तद्वन्धुन्

१. एष्विति षाण्पूर्वाहरणेऽ, निष्पन्नशरीर इति व्यञ्जक इति शेषः ।

न चेह जीविनः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥९४॥

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम् ;

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुम्भ सांप्रतम् ।

बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥ ९५ ॥

अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।

गृध्रवाक्यात् कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥ ९६ ॥

इति निशि (A) विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्त्तननिष्ठं (B)

च वचनमिति प्रबन्ध एव प्रथते । अन्ये त्वेकादश भेदा ग्रन्थविस्तर-
भयान्नोदाहृताः, स्वयन्तु लक्षणतोऽनुसर्त्तव्याः । अपिशब्दात् पद-
वाक्ययोः ।

प्रति गृध्रस्य वाक्यमिदम् । 'कालधर्म' मरणम् । 'दिवा प्रभवत' दिवा भक्षण-
प्रभो । 'पुरुषविसर्जन' पुरुषाणां स्मशानत्यजनम् । तथाच दूर्यं स्मशानावप-
गच्छनेत्येव वस्तु स्वतःसम्भविनं प्रबन्धार्थरूपरस्तुन प्रबन्धस्य च व्यङ्ग्यमित्यर्थः ।
गामापूर्तिरूपप्रबन्धस्यापि तादृशमेव व्यङ्ग्यमाह—आदित्योऽयमिति । आदित्य-
सत्त्वाद् युष्माकं रात्रिश्चरतांऽपि भीतिनास्तीति दर्शितम् । स्नेहकरण स्थितिरव,
तन्स्नेहमाह—जीवेदपीति । बहुविघ्न इत्यनेन विघ्नरहितमुहूर्त्तान्तरे जीवनसम्भा-
वना दर्शिता । तत्सम्भावनायां हेतुमाह—अमुमिति । कनकवर्णाभत्वेन रूपविप-
र्ययाभावात् जीवनसम्भावना । बालत्वेन मृत्युकालाप्राप्त्या मृत्युहेतुयौवना-
धीनापचाराभावेन च जीवनसम्भावना । मूढा इत्यत्र बाला इति पाठान्तरम्,
शिशुदुःख इत्यर्थः । 'विजृम्भमाणस्य' भक्षणार्थं वर्त्तमानस्य । व्यावर्त्तनं स्मशान-
त्यागतं परावर्त्तनम्, तन्निष्ठं तत्पर्याप्तिकम् । भत्रापि जनव्यावर्त्तनरूप
वस्तु तादृशरस्तुव्यङ्ग्यम् । अन्ये त्वेकादशेति स्वतःसम्भविनस्तुव्यङ्ग्यबालहकारा-
दय इत्यर्थः (C) । अपिशब्दादिति प्रबन्धेऽपीत्यपिशब्दात् उक्तसमुच्चयपरद्वित्यर्थः ।

(A) भक्षणे प्रकृतशक्तिरूपेत्यर्थः ।

(B) व्यावर्त्तनं निवर्त्तनम्, तन्निष्ठं तत्परमित्यर्थः ।

(C) प्रबन्धगता इति शेषः ।

(६१) (A) पदैकदेश-रचना-वर्णेष्वपि रसादयः ।

तत्र प्रकृत्या यथा—

रङ्केलिह्रिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।

रुद्धस्स तद्अणअणं पव्वई परिचुम्बिअं जजइ ॥ ७७ ॥

अथ जयतीति न तु शोभते इत्यादि समानेषुपि हि स्थगन-

पदैकैति । रसादय इत्यनेन अमलद्वयक्रमा उक्ता, ते च प्रकृतिप्रत्ययोप-
संगरूपे पदैकदेशे, दीर्घसमासादिरुपासी रचनाभिर्गणेशिरोपेश्च (D) व्यज्यन्ते इत्यर्थः ।
प्रकृत्या इति धातुप्रकृत्येतिरित्यर्थः । रङ्केलि इति

रतिकेलिह्रितनिम्ननाकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।

रुद्धस्य तृतीयनयन पार्वतीपरिचुम्बित जयति ॥ इति ससृजतम् ।

रतिनक्षोऽहृतया पार्वत्या करुणयेद हरस्य नयनद्वये पिहिते चुम्बनपिहितनक्षतीयनयन-
वर्णनमिदम् । रतिकेलौ हृतनिरसना अर्थात् पार्वती तस्या करकिसलयेत्यर्थः,
प्राकृते समाने नियमनेत्यत्र ह्रस्व (C) । यद्वा हृतम् अर्थात् पार्वत्या निरसन येन
स चामौ 'रकिसलयरुद्धनयनयुगलश्चेति कर्मधारय. तादृशस्येत्यर्थः । 'करश्च अर्थात्
पार्वत्या । 'जयति' उक्कृष्टम्. करुणयपिहितनयनद्वयापेतया शृङ्गारानुभाव-
चुम्बनपिहितत्वेन शृङ्गारानुकार्यञ्जक्यात्, अत्र शृङ्गारानुकारो जिघातुरूपमृत्ति-
व्यङ्ग्य इत्याह—अत्रेति (D) । न त्विति, अयनात्कर्मधारयको जिघातुरेव शृङ्गारानुकार्य-

(1) "अत्र पदैकदेशेषुपि अक्षरम्, पुरञ्जत्ययत्वेनिपातादयोऽपि ग्रहीतव्या इति रसा-
शोधिनोक्ता । पुरञ्जत्ययत्वेनिपातादय पदैकदेशमर्त्वात् पदैकदेशा एव गण्यन्ते इति
प्रदीपप्रभयो स्पष्टम् । प्रकृतिरपि धातुस्या रामरुदा धेति द्विविधा, उपगर्गाणां स्वातन्त्र्येनार्था-
प्रत्यायकत्वात् पदैकदेशात्वं बोध्यमित्युच्यते " इति शालयोगिनी ।

(B) एषु 'र' 'ण' प्रकृतिभिः ।

(C) प्राकृते समाने ह्रस्वानुकारे 'रतिकेलिह्रितनिम्ननाकरे'त्यादि संस्कृतमभिप्रेत्य
व्याख्येयं यद्वेति ।

(D) एवमेव व्याख्यातं प्रदीपे 'अथ रतिव्यक्ती' 'जिघातुरूपमृत्ते प्राधान्यम् । यत्
स्थगनव्यापारसाम्येऽपि अन्येऽप्येव करान्या विज्ञानमप्य तु लोकोत्तरेण कर्मणेति तद्वेदोत्तरं
पन्थद्वीविगमिति रत्युत्तरं प्रयोजकमनया व्यज्यते । अत एव जयतीत्युक्तम् न तु शोभते
इत्यादि' इति ।

व्यापारे लोकोत्तरेणैव व्यापारेणास्य पिधानमिति तदेवोक्तृष्टम् ।

यथा वा—

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया

द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद् यावन्न यात्युन्मनाः ।

तावत्प्रत्युत पाणिसंपुटगलद्गीवीनिबन्धं धृतो

धावित्वेव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः^(A) ॥ ९८ ॥

व्यञ्जने समर्थं न तु तत्कान्तिराचरु शुभाशुभान्तरित्यर्थ, अतः शृङ्गारात्कृतं यञ्जक
चुम्बनपिहितत्वात्^(B) तृतीयनयनमेव उन्मत्तमित्याह—समानेऽपि हीति, नयनद्वय-
विधाने समानेऽपि एत्यर्थ । लोकोत्तरेणेति लारुम्भित्वाणेत्यर्थ, 'शृङ्गारानु-
भावकत्वाद्युन्मनस्य । तदेवेति तृतीयनयनमेत्यर्थ । चरुत्सीं तु—तृतीयनयन
पिधानमेत्यर्थ इत्याह, तत्र, वाच्यम्योत्कर्षस्य तत्रानन्त्रित्वादेव व्यङ्ग्यस्य तु
लोकोत्तरपदेनैव व्याख्यातव्यात्, अतः पिधानोत्कर्षस्याग्न्यानिमसदेव । नामप्रवृत्ते
रपि व्यङ्ग्यमुदाहरति—यथा वा प्रेषानिति । पादानतः सोऽयं प्रेषान् कान्तया
सशपथमपाकृत सन् उन्मनाश्च सन् वासभवनाद् यावत् द्वित्राण्येव पदानि न याति

(B) अत्र "पिहितत्वात्" इत्यतः परम् आदर्शपुन्वोषु दृश्यमान "तदेव" इत्यशो-
नपिपरमादृष्ट इत्यनुमीयते धृत्तित्याज्य "तदेव" इत्यस्य उद्भूतं व्याख्यातत्वादिति
विन्तनीयम् ।

(A) अत्र प्रदीपोद्दान—सशपथमित्युभयान्वयि । सोऽयमिति प्रियतरत्वेन प्रसिद्ध
प्रेषान् शपथेन सहित यथा स्वात्तया पादयोरानन कान्तया च सशपथं निराकृत सन् उन्मना
उन्मत्तमना वासभवनात् श्रीङ्गागृहाद् द्वित्राण्येव नाधिकानि पदानि न द्वाराणि यावन्न याति न तु
यात तावत् कृतप्रणामक यथा स्वात्तया धावित्वेव एतत् स्थापित । एत उन्मत्ताने, अस्मादन्त-
र्भाविष्यथान् कर्मणि क । अत्र यातीत्युत्तं न तु वात इत्युत्तम्, तेन गमनानुद्भव्यापात
दशायामेव तथाभाव इति ध्वन्यते । धारिस्त्वैत्यनेन धारणाविषयेऽपि तथाभावकरणादौत्
एक्यानिशयो ध्वन्यते । पाणिसंपुटे प्रणामार्थं कृताङ्गुली गन् न नीवीबन्धो यस्या क्रियाया सद्
यथा भवति तथेति धारणक्रियाविशेषणम् । रागौत्कृष्टान् स्वल्लो नीवीबन्धस्य प्रणामाङ्गुलि
सैवालम्बनात् तदेवोपायनात्थानीयं कृतमिति भाव इति केचिद् । त्वराऽतिशयोक्त्याय धावन
क्रियाविशेषणमित्यन्वयः । पूर्वं हि कृतप्रणामकस्यापाकरणमधुना प्रणामपूर्वकं धारणमिति

अत्र पदानीति न तु द्वाराणीति ।

तिङ्सुपोर्यथा—

पथि पथि शुक्चञ्चाम्राभाऽङ्कुराणां

दिशि दिशि पवमानो वीरुषां लासकश्च ।

नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा

पुरि पुरि विनिवृत्ता भानिनीमानचर्चा ॥ ९९ ॥

अत्र किरतीति किरणस्य^(A) साध्यमानत्वम् । निवृत्तेति निवर्तनस्य

तावद् धावित्यैव कृतप्रणामकं यथा स्यात् तथा प्रत्युत कान्तया घृतः । प्रत्युतेत्यपाकरणवैपरीत्ये । पाणिसम्पुटेत्यादिकं धारणक्रियाविशेषणम् । गलदिति पाठे गलप्रोवीरुषस्य पाणिसम्पुटवृत्तिवर्षणं, न तु पाणिसम्पुटे गलनं गलत एव पाणिसम्पुटधृतत्वात् । अस्तदिति पाठे तु नीवीरुषस्य गलत्वमूह्यम् । 'अहो' इति तादृशगतिरैच्छियविषयविस्मये । प्रेम्णां गति' स्वभाव । कान्ताया औत्सुक्य-रूपव्यभिचारिभारध्वनिरपम् । पत्यु स्यात्पदगमने मति धरणे तदुत्कर्षधीरतो बहुवचनं विना पदरूपप्रकृतिभाग एव तस्य व्यञ्जक इत्याह—पदानीति । द्वाराणोत्यपेक्षया पदानीत्यस्यैव औत्सुक्यव्यञ्जकत्वमित्याह—न त्विति ।

प्रत्ययस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—तिङ्सुपोरिति । पथि पथि अङ्कुराणामाभा शुक्चञ्चुनामिव चारु^(B) । अत्र शुक्चञ्चुत्वंत्वात् पत्राङ्कुरा एव अङ्कुरपदार्था 'त एव च उदीपका । 'वीरुषा' लताना 'लासक' नर्तक । नरि नरीति नृशब्दस्य सप्तम्यां रूपम् । द्राक् ऋदिति । घर्षां प्रसङ्ग । किरणस्येति, न च कृ विज्ञेपे इत्यस्य

वैपरीत्यं प्रत्युतपदगम्यम् । एमन्नीवीति पाठे गलनमार्थिकम् । अर्थान्तरं न्यस्यति—अहो प्रेम्णा इति । गति स्वभाव । प्रेयान् कान्तयेत्याभ्यां पास्वर विरहाक्षमत्वं ध्वन्यते" इति ।

(A) अत्र प्रदीपोद्घोत —'किरणस्येति शेषणस्येत्यर्थः । औणादिक'स्यु'प्रत्ययान्त । किरति तमासीति व्युत्पत्त्याऽप्य मद्युव एव शक्तत्वात् चिन्त्य. किरणपदप्रयोगः । विकरणस्येति वक्षुं युक्तम्' इति ।

(B) अत्र "शुक्चञ्चुनामिव चारु" इत्यनेन 'अङ्कुराणामाभा शुक्चञ्चुनामाभेव चारु' इत्यर्थस्य प्रदर्शनमेव कृतम्, श्लोकस्य समासस्य व्यासवाक्यवन्तु शुक्चञ्चुवत् चारुविति 'उपमानस्य सामान्यवाचिता' इत्यनेन कर्मधारयः ।

सिद्धत्वं तिङा सुपा(A) च, तथापि कप्रत्ययेनाऽतीतत्वं द्योत्यते ।

युटि करणमित्येव रूप सम्भरति उणादौ साधित किरणपदन्तु रश्मिवाचकमेव न रिक्तेपञ्चकमिति वाच्यम्, करण कीरिति भावद्विबन्तस्य नामकारितान्तत्वे युटि किरणरूपमिदं । तिङा सुपा चेति किरतीत्यत्र किरणस्य साध्य मानत्व निवृत्तेन्यत्र निवृत्ते सिद्धत्व तिङसुप्निमित्तलभ्यम्, एवमतीतत्वञ्च कप्रत्ययलभ्यम् । एवञ्च द्यात्यते इत्यत्र उच्यत इत्येवार्थ, एवमर्थाना

(1) अत्र प्रथम 'अत्र किरतीति तिङा किरणस्य साध्यता, तिङयोगे साध्यतयैव घात्वर्थोप लिखते । निवृत्ति सुप्रत्ययेन निवृत्त सिद्धता, सुप्रयोगे तथैव प्रस्त्ययंप्रतीते, तथापि क प्रत्ययनातीतता प्रकाशयत इति विग्रहनिवृत्त्यो कारणकार्यभूतयो पौर्वापर्यविपर्ययरूपाति शयोक्तिप्रकाशो रसोत्कर्षे पर्यवस्यति । यत्तु स्या साध्यत्व कप्रत्ययेन भूतत्वमिति व्याख्यानम् तस्युक्तम्, सुप्तिद्वया सिद्धत्वसाध्यत्वमभिप्राय 'तथापि कप्रत्ययेनातीतत्वम्' इति वृत्तिव्याख्यानन विरोधान् इति । व्याख्यातञ्च उद्देशोत्कारै 'अत्रापि भाव — तिङा क्रियागत वचमानत्वघोतेनद्वारा तदगतात्प्रवृत्तमान-वरूपसाध्यत्वञ्चद्वयवत्त्वम् । एव निवृत्तपदं निवृत्तिकार्यकम्, तदनुवादकन तदुत्तरसुपा स्वप्रकृत्यधिविशयनिवृत्तौ सिद्धत्व व्यज्यते इतराममभिप्राहन्सुपो निवृत्तिरित्यादौ तद्गुणस्त्वस्य दृष्टत्वात् निवृत्तिभविष्यति निवृत्त स्यादित्यादौ तथाऽतीतस्वितराममभिप्राहतेति । विक्रान्तिवृत्त्योरिति कारणकार्यभूतयो रित्यर्थ । अतिशय निप्रकाश इति अय व्यङ्ग्य एव । रसान्कष इति निवृत्त शीप्रत्वबोधन द्वारा वम तस्योदीपकत्वातिशयाभिप्यन रिति भाव इति ।

समासाकारस्तु "अत्र किरतीति तिङा किरणस्य साध्यत्वं तिङयोगव्यञ्जनया साध्यतयैव घात्वशापस्थिते । निवृत्ति सुप्रत्ययेन निवृत्त सिद्धत्व सुवयोतव्यञ्जनया तथैव प्रकृत्यर्थ प्रतीते । उक्तञ्च चैवाकरणमूपणे—

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना ।

सिद्धभावन्तु यस्मिन्सा स घनादिनिबन्धन ॥ इति ।

तथाच क्रियान्तरानु-गणकनावच्छेदकरूपवत्त्व कारकान्वयितावच्छेदकरूपवत्त्व वा साध्यत्वम् । एतेषु च अमत्वभूतत्वम् । क्रियान्तरो गणकनावच्छेदकरूपवत्त्व कारकान्वयितावच्छेदकरूपवत्त्व वा सिद्धत्वम् । एतेषु च सत्वभूतत्वम् । अत एव—

'असत्त्वभूतो भावश्च तिस्रैरभिधीयत'

इति वयाकारणैस्त्वम् । तत्र सिद्धत्वेऽपि कप्रत्ययनातीतत्वं व्यज्यत इति किरणनिवृत्त्यो पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्त्यलङ्घनप्रकाशो रसोत्कर्ष पर्यवस्यति' इत्याह । विन्तस्तु तत्रैव द्रष्टव्य ।

यथा वा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो

निराहाराः सख्यः सनतमुदितोच्छ्वन्ननयनाः ।

परित्यक्तं सर्वं हसिनपठितं पञ्जरशुकै-

स्तवावस्था चेयं विमृज कठिने मानमधुना(A) ॥ १०० ॥

तत्तद्वाच्यत्वान्, तथाच 'कारणे सायककिरणे साध्यत्व कार्याया माननिवृत्तौ च सिद्धत्वं बाधितमयाहायं बोधयन्तस्तिदृश्यो' माननिवृत्ते शीघ्रोत्पन्नत्वमभिव्यज्य तद्द्वारा गृह्णातोत्कर्षं व्यञ्जयन्तीत्यर्थः ।

प्रपञ्चयति—यथा वा लिखन्निति । बहुदिनयापकमानवर्ती प्रति सख्या उक्तिरियम् । हे कठिने, तव प्राणतुल्यो दयित अवनत सन् भूमिं लिखन् बहिरास्ते, एषं तव मख्यश्च निराहारः सनतमुदितो उच्छ्वन्ननयनाश्च, तव चेयमवस्था कृततरत्यर्थः, बहुदिन यापकान्मानान् कार्प्यम्, तस्माद्मधुना मान विमृज । अत्र सकलक्रियाकारकस्थितिइत्तुपां(B) नायकस्य मोहरूपव्यभिचारि-

(A) व्याख्यातमिदमुद्योते—“बहुदिनव्यापिमानवर्ती प्रति सख्या इयमुक्तिः । प्रायाना दयित प्राणदयित, तेन दयितदु रोम स्वन्प्राणा अपि तु ग्विता भविष्यन्तीति भावः । यद्वा तव प्राणा इव सोऽस्माकं दयित इत्यर्थं, तथाच स्वन्प्राणा इव सोऽस्माकं रक्षणीय इति भावः । ईदृशोऽपि भूमिं न तु भूमौ, तेनाकारक्षितस्य कर्मणोऽनुदेयत्व ध्वन्यते । लिखन् न तु लिखतीति, तेन निव्वनस्यावुद्भिपूर्वकत्वरूपमप्राधान्यं ध्वन्यते । बहिर्न तु गृहमध्ये, तेन नायकस्यात्युद्वेगः । आन्ते न तु आमीत्, तेनैवमवस्थानस्य प्रसादपर्यन्तता ध्वन्यते । तथा सख्यः सर्वा वयस्या निर्गत आहारे याम्वा तथाभूता सख्यः सतत निरन्तर यत् रदित्वा तेनोच्छ्वने जातसोपे नयने चतुषी याम्वा तथाभूता, सन्तीति शेषः । तथा पञ्जरशुकै हसित पठित-मन्यश्च सर्वं परित्यक्तम्, अज्ञानमपीदृश्यवस्था किं पुनरस्माकमिति भावः । पञ्जरोत्पन्नेन अग्नयः गमनामामर्थ्यम् । शुकैरेत्येकवचनत्वं न कृतम्, एकस्य शिवादिनाऽपि तत्र ज्ञान-सम्भवात् । सर्वमित्यस्य शरीरपरणोपयोगि भोजनानिश्चमपीत्यर्थः । अत एव कठिने । 'इषम्' उक्तोत्तरवर्द्धमानमस्यरीडावनिष्ठा । 'अधुना' वयन्तवन्निष्ठादिभिराशमे मन्मथ-विलम्बिते सतीत्यर्थः । मान विमृज नि शेषेण त्यजेत्यर्थः" इति ।

(B) सकलक्रियेति लिखनासनक्रिये इत्यर्थः । कारकेति भूमिमिति कर्मकारकेत्यर्थः ।

अत्र लिखन्निति न तु लिखतीति, तथा आस्ते इति (A) न तु आसित इति, अपि तु प्रसादपर्यन्तमास्ते इति; भूमिमिति (B) न तु भूमाविति, न हि बुद्धिपूर्वकमपरं किञ्चिल्लिखतीति तिङ्सुप्-विभक्तानां व्यङ्ग्यम् ।

भाव एव व्यङ्ग्य इत्याह—अत्रेति (C) । 'लिखन्' इत्यत्र शनत्तुङ्कलिखन-कृते कृत्यन्तरसाकाङ्क्षतया विधेयत्वाप्रतीत्या उपेक्षात्मकज्ञानाधीनत्वमेव प्रतीयते भतोऽत्र भनुपेक्षात्मकज्ञानस्य विरोधो मांह सुबन्तशनत्तुङ्क (D) प्रतीयते । लिखतीति करणे तु आख्यातांस्तृतेर्निराकाङ्क्षत्वेन विधेयतयैव प्रतीत्या तद्विदानमनुपेक्षात्मक-ज्ञानमपि प्रतीयेत न तु मांह इत्याह—न तु लिखतीति । मुग्धावस्थयैवाधुनाऽपि स्थितिर्वर्तमानात्प्रतीत्याह—अपि त्विति । एवञ्च भास्ते इत्यत्र तिङ्क व्यङ्ग्ये च दर्शितेऽपि 'तथा भास्त इती'ति यत् कवित् पुनर्लिखनं तत् 'न त्वासित' इति वर्णयितु-मनुवाद् एव कृत इति बोध्यम् । आसित इति निर्देशे तु मांहानुवृत्तिर्न प्रतीयते इति भावः । भूमिमिति । भूमिमिति करणे उन्मीलितवत्तु साध्य भूमिविषयज्ञान-मेव प्रतीयते न तु मननसाध्य लेख्यविषयज्ञानम् अतो लेख्यविषयो माह एव प्रतीयते, भूमाविति करणे तु स्फुटमकलिखधाता कर्माभूतलेख्यविषयज्ञानमपि प्रतीयते न तु लेख्यविषयः मांह इत्याह—न तु भूमाविति । तथाच लेख्यविषयो मांह प्रतीयत एवेत्याह—न हि बुद्धिपूर्वकमिति ।

(A) वर्तमानत्वस्य प्रत्ययवाच्यत्वमतेऽपि व्यङ्ग्यमाह "न त्वासित" इति । एवञ्च स्थित्यतीतावन्वयच्छेधे व्यङ्ग्य इत्युदाहृते ।

(B) भूमिमित्वा द्वितीयाया व्यङ्ग्यमुक्तं प्रदीपे—"न तु भूमाविति, तेन बुद्धिपूर्वकं भूमौ न किञ्चिल्लिखत इति उद्भिभक्त्या व्यन्यते" इति । तद्व्याख्यानञ्च "भूमावित्युक्ते भाकाश्चित्तस्य कर्मण उद्देश्यत्वं प्रतीयते, न चात्र तथेति भावः" इत्युदाहृते ।

(C) अत्र लिखन्निति 'शत्रा लिखनस्याप्राधान्यमनुबुद्धिपूर्वकत्वरूपम्' व्यन्यत इत्युक्तं प्रदीपे । तस्य च व्याख्यानम् 'शत्रंति, आख्यातान्तकियाविशेषणत्वे शत्रा इतरक्रियेष्टापनत्व-ज्ञानाधीनकृतिमाध्यत्वपर्यवसितनान्दरीयकृत्तिसाध्यत्वरूपमप्राधान्यं त्वप्रवृत्त्यवर्गस्य बोध्यते । अत एव गच्छन्वित्युक्ते किं करोतीति प्रधानक्रियाप्रथमं तद्व्यञ्जित इति बोध्यम्' इत्युदाहृते ।

(D) यद्यपि शत्रुप्रत्यय एव प्रकृतिरेव तथाऽपि तिङ्कादेशिकव्यङ्ग्यतया तिङ्स्थेनोदाहृत इति बोध्यम् । प्रदीपेऽप्येवम् ।

सम्बन्धस्य यथा—

(A) ग्रामारूहस्मि ग्रामे वसामि नगरद्विडं न जानामि ।

गाअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥ १०१ ॥

अत्र नागरिकाणामिति पठ्याः ।

‘रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत्’ इति कालस्य ।

एषा हि भग्नमहेश्वरकार्मुकं दाशरथिं प्रति कुपितस्य
भार्गवस्योक्तिः ।

वचनस्य यथा—

ताणं गुणगाहणाणं ताणुक्कगूठाणं तस्स पेम्मस्स ।

ताणं भणिआणं सुन्दर ! एरिसिअं जाअमवसाणं ॥१०२॥

सम्बन्धस्येति सम्बन्धार्थकविभक्तेरित्यर्थः, तस्या एव पदैकदेशत्वात् ।

ग्रामारूहस्मीति—

ग्रामरूहाऽस्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं(घ) न जानामि ।

नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ॥

इति संस्कृतम् ।

काले नगरस्थित्यं प्रति ग्राम्यस्त्रिया उक्तिरियम् । ग्रामरूहा ग्रामभग । नागरिकाणा-
मित्यनादरे पठ्ठी । ‘तस्या अनादर’ सम्बन्धार्थः* । तथा च नागरिका अनादृत्य
तासां पतीन् हरामीत्यर्थः । अनादरश्च पतिकर्तृकोऽपि परम्परया तद्वन्नीकर्तृको
बोध्यस्तन्मूलकत्वान्तदनादरस्य । अत्रेति, अनादरबोधनद्वारा वक्तृया गर्वरूपश्रमि-
वारिभावो व्यङ्ग्य इत्यर्थः । चक्रवर्ती तु—अनादरमेव व्यङ्ग्य व्याचष्टे, तत्र , अनु-
शासनानुशिष्टस्थार्थस्य वाच्यत्वादेव अनादरस्य यस्त्वरूपत्वेन तद्व्यञ्जनया रसादि-
व्यञ्जकबोधाहरणत्वानुपपत्तेश्च । रमणीय इति । ‘आसीदिति सम्प्रति त्वमर्णकप्र-
लितं ज्ञप्साभ भविष्यतीति भाय’* । कालस्येति कालार्थकविभक्तेरित्यर्थः ।
अत्रापि गर्वो व्यङ्ग्यः ।

वचनस्येति एकद्वयादिवचनस्येत्यर्थः ।

(A) ‘ग्रामारि अरूहि’ इति प्रठीपरत्वं पाठ्यन्तरं तस्य संस्कृतं ‘ग्रामीणारूहि’ इति
प्रभावाम् ।

(B) नगरस्य स्थितिं वैदग्ध्यरूपां मर्यादामित्यर्थः ।

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णाद्वैकल्यं द्योत्यते ।

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

(*) रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे चेतः प्रमुच्य स्थिर-
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि ।
किं मन्ये विहरिष्यसे वन हतां मुञ्चान्तराशामिमा-
मेया कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधो ॥१०३॥

ताणं इति—

तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्ण ।

तेषां भणितानां सुन्दर ईदृश ज्ञातमवसरानम् ॥ इति संस्कृतम् ।

वृत्तावन्न नायक प्रति तत्पत्न्या प्रीतिमत्सन्निवम् । अत्रेति, बहुपत्नीगुणादि-
बहुत्वम्, एकवचनेन च 'अन्तराऽविच्छेदेन प्रेमैक्यत्वं द्योत्यते उच्यते इत्यर्थः । तद्वारा
नायिकाविप्रलम्भोत्कर्षो व्यङ्ग्यं पूर्वानुभूततत्तत्समरणाद् दुःखाधिक्यात् ।

पुरुषव्यत्ययस्येति व्यत्ययितमध्यमोत्तमपुरुषपरित्ययः । रे रे इति ।
रे रे इति ज्ञान्तपुत्रस्य स्वचित्त प्रति साक्षेपसम्बोधनम् । चञ्चललोचनायाम् अञ्जिता
गमिता हृदयैर्न, रे रे तादृश चेतः, एणनयनां हरिणाक्षीमालोक्य किं नृत्यसि नर्तकयन्
लोल भवसि । महिमान वीर्यरूपम् । नृत्यहेतु तद्मिमान पृच्छति किं मन्ये किं
मन्यसे इत्यर्थः । विहरिष्यसे विहरिष्यामि । विहारार्थं नृत्याभ्युपगमे ततो निजत-
यति—वत हतामिति, हतां निन्द्याम् इमाम् अन्तराशां मुञ्च । अयोवने वारमाह—एवेति,

(A) अत्र एणनयनामालोक्य स्थिर प्रेम यत्र तादृश महिमान माहात्म्य विश्वानामुत्कण्ठादिना
लक्ष्यमुत्कर्षं प्रमुच्य त्वया किं कम्मान् नृत्यसि नर्तकवद्वर्षान् लोल भवसि । किं मन्ये मन्यसे
इत्यर्थः । एवं विहरिष्यसे इत्यन्यापि विहरिष्यामीत्यर्थः । अन्तराशाम् अन्तर्विद्यमानामाशा
विहरणविषयिणीमित्यर्थः । चञ्चललोचनाञ्चितरुचे इत्यस्य चञ्चललोचनायामञ्जिता गमिता
हरिभिलाषो देन तथा, चञ्चलाभ्या लोचनाभ्यामञ्जिता प्रकटीकृता अर्थात्रायिक्या हरिभिलाषो
यत्र तत् इति वा अर्थः । अत्र एणीमिति विहाय एजति पुलिङ्गेन यथा त्वयि नयनन्यापातादि
क्रोति एवमन्यत्रापि पुष्पे यथा वा त्वं नयनयोर्व्यापारमत्या करोष्येवमन्येऽपि पुष्पात् इति
मास्या साधारण्यमनुताग उचित इति सूचयतीति उद्गोते स्पष्टम् । अन्यत्र लक्ष्यम् । अत्र
“प्रहाते च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवचन” (पाणिनीये १।२।१०६ सू.) इति सूत्रेण
मन्यतेरुत्तमपुरुषस्तत्समभिन्दाहृतविपूर्वहरतेर्मध्यमपुरुष इति बोध्यम् ।

अत्र प्रहासः । पूर्वनिपातस्य यथा—

येषां दोर्बलमेव दुर्यलतया ते सम्मतास्तैरपि

प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुवांश्वरैः ।

ये क्षमाशक ! पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा-

स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥१०४॥

यत् खेदे, एषा भाशा । अत्यैवाशया कण्ठबद्धशिलारूपया संसारान्धौ मद्भ्यस्ती-
त्यर्थ । अत्र प्रहासो व्यत्ययितपुरुषद्वयैव्यङ्ग्य एव पुरुषद्वयान्तपदयोर्वाक्यत्वनियमेन
तत्र शक्त्यभावादिति केचित् । उत्तमपुरुषस्यैव प्रहासे शक्तिर्मध्यमपुरुषस्तु
तदुप्राहक एवेत्यन्ये (A) । 'तद्गारा ऋ शान्तरसोत्कृषो व्यङ्ग्य' १० ।

पूर्वनिपातस्येति पूर्वनिपातितपदरूपसमासंकेदेनस्येत्यर्थ । येषामिति ।
दोर्बलमेव न तु नीतिबलम्, सम्मतां ज्ञाता, नीतिबलमात्रमपि न बलमित्याह—
तैरपिति । तैः (B) बुद्धिस्थै किं कार्यं किमपि कर्तुं न शक्यमित्यर्थ । हे क्षमाशक हे
पृथिवीन्द्र ये पुनरित्यन्वय । नय नीति । कान्तक्रमा कमनीयव्यवसाया । ते
मवादृशाः पर केवलम् । पवित्रा त्रिजगति द्वित्रा नैव स्यु एकस्तु कदाचिद् यदि

(A) अत्र उद्योतकारा—प्रहासे च मोक्षमपुत्रस्य शक्ति, सतन्त्रदप्रतीते सम्पाद्
व्यञ्जकानुशासनमेव तद् (प्रहासे च इत्यादिसूत्रम्) इति भाव । तेन च शान्तरस-
प्रकृत्यते । अत एव प्राक् पदैरुदेशादीनामसलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वमेवोक्तं सङ्गच्छते इति । एव उपा-
शागैरेऽपि—ननु 'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच' इति सूत्रेण पुरुषव्यत्ययविधानात्
प्रहासो बाध्य एवेति चेत्—उच्यते, अभिधा द्वि पदशक्तिरिति निर्विवादम्, तत्र प्रहासे तावन्नो-
त्तमपुत्रस्यभिगा तनस्तदप्रतीते, न चोत्तमपुत्रमात्रं पदं न वा नैयायिकरीत्या प्रहासो
वाक्यार्थ इति शङ्क्यं पदार्थसमसंरूपताविरहात् । किन्तु प्रहासे विवक्षिते अनुशिष्टेन पुरुष-
व्यत्ययेन स प्रतीयते इति दिक् इति ।

(B) भद्रोदाहरणवचनेन वैरिति पदेन पूर्वोक्तवत्प्रायां न परास्त्रयन्ते दोर्बलमेवेत्येव-
कारेण तेषां नीतिबलान्यस्वावाप्ताम् तैरित्यनेनोपन्यापितानाम् केवलनीतिबलशालिना
अप्राशात्पक्षीर्तनस्यावश्यकत्वादित्यत आह बुद्धिस्थैरिति । बाहुबलान्यास्तु बुद्धिस्था ।

अत्र पराक्रमस्य (A) प्राधान्यमवगम्यते ।

विभक्तिविशेषस्य यथा—

प्रघनाध्वनि 'वीर धनुर्ध्वनिभृति विधुरैरघोधि तव दिवसम् ।

दिवसेन तु नरप । भवानयुद्ध (1) विधिसिद्धसाधुवादपदम् ॥१०५॥

अत्र दिवसेनेत्यपर्यान्तृतीया फलप्राप्तिं व्योचयति ।

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटनं

दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।

स्यादित्यर्थ । अत्रेति द्वन्द्वे पूर्वनिपातितपदार्थेऽर्थात्तरुधरूपप्राधान्यावगमात् (C) । तथाच पराक्रमिराजत्रियभागेऽत्र व्यङ्ग्यम् ।

विभक्तिविशेषस्येति, अपर्यान्तृतीयाया इत्यर्थः । प्रघनेति, हे वीर दृष्टारूपधनुर्ध्वनिभृति युद्धपथे तत्र विधुरं गरुभि दिवस व्याप्य अघोधि, हे नरप, भवान् युद्धविधिसिद्धसाधुवादपद यथा स्यात् तथा दिवसेन अयुद्ध साधुवादपदयुद्धफलसिद्धौ दिवसमवृत्तियुद्धममातिमानित्यर्थः । अत्रेति, फलसिद्धौ क्रियायां समाप्तिपर्यान्तृ इत्यपर्यान्तृत्वम्, तस्मिन्नर्थे च 'अपर्यान्तृतीया' (२३३६) इति पाणिनिभूतेण विहितान्तृतीया युद्धसमाप्तिपूर्वभूता फलप्राप्तिं व्योचयति यतीत्यर्थः अनुशासनानुशिष्टस्यार्थस्य वाच्यत्वम्, राजत्रियभागातिशयश्च तद्व्यङ्ग्य इत्यर्थः ।

(A) पूर्वनिपातस्य पर्यटनेत्यनेन तद्वाङ्मय पर्यटनेत्यङ्गमेव इति हृदयम् ।

(B) विधिसिद्धयोरीश्वरसिद्धयो साधुवात्स्य विधिसिद्धस्यान्तार्थस्य वा साधुवादस्य परं स्थानं यथा तथेत्यर्थः । सगममन्यम् ।

(C) अयमभावः—अत्र नपपराक्रमशब्दयोर्द्वन्द्वे अल्पाक्षरतया नपशब्दस्य पूर्वनिपाते प्रसक्तेश्चि "अभ्यर्हितश्च" इति वार्तिकसूत्रस्य "अल्पाक्षरम्" इति पाणिनि-(२।२।३४) सूत्रा पेश्या बलवत्त्वाभ्युपगमेन उदाहरणपथे कृत पराक्रमशब्दस्य पूर्वनिपाते पराक्रमपदार्थस्य प्रदान्तत्वात्तन्वगमयति । अत एव "वाचुदेवानुनाभ्या जुन्" इति निर्देशेनेदं ज्ञाप्यते इति अतुर्वे भाष्यम् । 'अल्पाक्षरम्' 'अत्राद्यदन्वम्' इति सूत्राभ्यामनुवृत्तस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते तमनुवृत्तं ज्ञापयति सर्वतोऽभ्यर्हितं पूर्वमिनीति तत्त्वशोधिनीकृता । तथाचैत्र प्राधान्यस्य पदाशयतया पूर्वनिपातस्य तद्व्यङ्ग्यमेव । तेन व्यङ्ग्यत्वस्तुता च शत्रुविशेषविषयभावोत्कर्षं प्रवेति न पर्यटनेत्यर्थः अमलस्यक्रमस्य व्यङ्ग्यत्वकथनानुपपत्तिरिति ।

1. धीरवद् इति पाठान्तरम् ।

साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥१०६॥

अत्रानुकम्पावृत्तेः 'क'रूपतद्धितस्य ।

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः

पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।

विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहग्रहनो

विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते^(१) ॥१०७॥

भूयो भूय इति । मालतीमाधवनाटके^(४) "लयङ्गिकया इति निवेदितम्" इति चूर्णकेनान्वयः । भवनवलभी भवनोपरि भवनम् । 'तुद्गवातायनम् उद्यगवात्त' । तत्रस्था मालती तत्रिकटम्ब्याया नगरोरथ्याया राजमार्गेण पर्यटन्तं माधवं भूयो भूयो दृष्ट्वा दृष्ट्वा लुलितलुलितै' अत्यन्तकोमलै अङ्गकैस्ताम्यतीत्यर्थः । अङ्गकैरिति तान्ति-
ज्ञापकत्वे विशेषणे वा तृतीया । साक्षादित्यन्वयम्, कामरत्योर्द्वयोरपि विशेषणम् । नवं नवयौवनम् । अत्रेति, अनुकम्पार्थक "क"रूपतद्धितेन मालत्या विप्रलम्भातिशयो व्यज्यते इत्यर्थः, विप्रलम्भातिशयादेव अनुकम्पनीयत्वस्याप्रप्ते । कप्रत्ययस्य तद्धितत्वञ्च पाणिनिस्ते बोध्यम् ।

उपसर्गस्यापि सूत प्रयोगाभावात् पदेकदेशत्वम्, अतः (तद्व्यङ्ग्यमाह—परिच्छेदे-
ति । मकरन्द प्रति 'माधवस्योक्तिरियम् । मम कोऽपि विकार' अन्तर्मानसं जडयति तत्र
तापञ्च कुरुते इत्यर्थः । परिच्छेदेत्यादीनि विकारस्त्रियोपणानि । परिच्छेद इत्यज्ञानम् ।

(४) व्याख्यातमिदमुद्योते—परिच्छेदेति । तत्रैव (मालतीमाधवे) मकरन्द प्रति
माधवस्य स्वावस्थाकथनमेतत् । परिच्छेद इत्यवामतिल्यदरहित इत्यर्थः । सकलानां सामान्य-
विशेषशक्त्याभंगिक्यञ्जुनिकाना वचनानामविषयः, तैर्निर्वकुमशस्य इति भावः । पुनरन्यदा
कालान्तरे अस्मिन् जन्मनि अनुभवपथं तद्विषयत्वं यो न प्राप्त इत्यर्थः । विवेकप्रध्वसादिति
विवेको दोषयुगविभागः, 'प्रसङ्गेन समूलोन्मूलनरक्षणं प्रकर्षस्तेन मोहपक्षस्तेन च
रणातिशयस्तेन च विप्रलम्भातिशयो व्यङ्ग्यः । तद्वृत्तकामुपचितं वृद्धिं प्राप्तो यो महामोह
सकलविषयाणामज्ञानं विपरीतज्ञानं वा यत्र तादृशाश्रमां गहनत्र, दुर्लभुव इत्यर्थः । ईदृश
कोऽप्यनिर्वचनीयो विकारः अन्तः अन्तःकरणं जडयति विषययादिवृत्तिविषये स्तब्धं करोतीत्यर्थः'
इति ।

(५) नाटकप्रत्यय रूपकपर मालतीमाधवस्य प्रकरणत्वादिति बोध्यम् ।

अत्र प्रशब्दस्योपसर्गस्य ।

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया

किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विपः ।

तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्

न पाचदायात्युदयाद्रिमौलिताम् ॥ १०८ ॥

अत्र तुल्ययोगिताद्योलकस्य 'च' इति निपातस्य ।

(A) रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-

मस्मद्गाम्पथिपर्ययाद् यदिपरं देवो न जानानि तम् ।

पुनश्चोऽत्र स्वर्थे । अस्मिन् जन्मनि त्वनुभयपथ यो न गतरात्, जन्मान्तरे तु त्वनुभवोऽस्तु मा वेत्यर्थः । केचिद् आहुन्तिरोधकमेवञ्च पुनश्च व्याचक्षते, तद्य, तदा पुनर्जन्मनोति वा पुनरनुभयपथमिति वा श्लव्य स्यात्, तदुभयमपि न सम्भरति प्राग्जन्मप्रागतुभवशोरावृत्तिरूपत्वाभावात्, चरमस्यैवावृत्तिरूपत्वान् । 'विवेकस्य इतरमेवविचारस्य प्रथमात् निशेषाभावात् उपचिन्तेन महामांहेन शिवेकविपरीत ज्ञानेन' गहनं व्याप्तं । अत्रेति, निशेषतारूपध्वन्यप्रकार्यबोधनाद् मिथिलमातिशयो व्यङ्ग्य इत्यर्थः । कृतञ्चेति । नृप प्रति मन्त्रिवाक्यमित्यम् । गर्वोऽत्र क्रोधफलका बोध्यः । किमन्यद्वक्तव्यमित्यर्थः । एव सन्त्येव न अस्माकं द्विपं निहता भ्रमांघ- क्रोधत्वादिति भावः । अथ दृष्टान्तालङ्कारमाह—तमांसोति । मौलितां मौलिस्थिताम् । अत्रेति । 'तुल्ययोगिता' तुल्यमेककाल योगिता समुच्चयालङ्कार इत्यर्थः । प्राकरणिक- त्वेनाप्राकरणीकत्वेन वा नियताना क्रियागुणाद्यं कथमान्वयरूपायास्तुल्ययोगिताया वक्रासम्भवात् । योतकृता चाव वाचकतैः, चकारद्वयस्यैककालराचकत्वात् 'तद्वारा च' राजविषयभावप्रकार्ये व्यङ्ग्यः । वकारयो पदैरुदेशत्वञ्च पदान्तरात्पर्यस्तित्व- नियमात्, अत एव निपातत्वमपि । वाचकता धानयो परस्परपमन्धानादेव* ।

एकत्रैव बहूनां पदैरुदेशावां व्यञ्जकत्वमाह—रामोऽसायिति । राघव प्रति

(A) रामोऽसायिति । राघवान्मन्मनात्के गवगमुदिय कुम्भकण्ठान्प्योनिस्त्रियमित्युदाहरण- चन्द्रिकाकारः । उद्गोतम्यसैत्तु 'शक्यमुदि' च विभीषणोक्ति' तिलुना व्याख्यातमित्यम्—

१ 'वितेव इतरतो गार्जनिपतेव तस्य पुरुषो भवति निशेधव किञ्चिद् किमिदं नति विस्मृत्य सोऽ देव' क ख । एव च चित्रितपुष्पकस्य पाठो यद्यौत, स-चित्रितपुष्पके तु एव भावो नाभेदेव ।

२ 'शौचव्याप्तिकौ शक्तिरियम्, तयाच' ख । ३ अथवा ए-पुलके नति ।

वन्दीवैप यशांसि गायति मरुद् यस्यैकवाणाहति-

श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वैः सप्तभिः ॥ १०९ ॥

अत्रासाविति भुवनेष्विति गुणैरिति सर्वनाम-प्रातिपदिक-

मन्त्रिवाक्यमिदम् । भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तप्रसिद्धिमपि तं देव भवान् यदि पुनर्न जानाति, तदा अस्मद्भाष्यविपर्ययादेव तदित्यर्थः । प्रसिद्धिप्राप्तिं दर्शयति—वन्दी वेति । वन्दी स्तुतिपाठकः । एकवाणस्याहतिर्यत्र तादृशा ये श्रेणीभूतविशाल-तालाः तेषां विवरणि वाणकृतानि तदुद्गीर्णं सप्तभिः निपादर्थमगान्धापदिभिः (A) स्वरैर्यस्य यशांसि मरुद् गायति, सप्तविवरोत्थितसप्तशब्देषु निपादर्थमादिस्त-स्वरत्वान्पासादिबहुवचनम्* । अत्र पदैकदेशानां स्वस्वार्थबोधनद्वारा रावणत्रासरूप-व्यभिचारिभावव्यञ्जकत्वं दर्शयति—अत्रेति । असावित्यत्र प्रकृतिमात्रेण पुर-प्रायत्व-

'राम सच्छलभुवनजननमनोरमण, एतेन सर्वे तद्वितकारिण इति व्यञ्ज्यते । असौ सत्पूजादि-इन्दुत्वेणातिप्रसिद्धं विलक्षणधैर्यगान्भीर्यशाली च भावनया प्रत्यक्षायमाणश्च । विक्रम-गुणैरिति केवलं प्रसिद्धिं प्राप्त इत्युक्तौ सप्तश्रेणीरपि प्रसिद्धिसम्भव यथा सम्बोध्यरावणस्य, तद्विवरोत्थं गुणैरिति । न केवलं गुणैरपि तु विक्रमजैः । एतेन सीतादानस्यावश्यकत्वं व्यञ्ज्यते । साऽपि न ग्रामे न नगरे नापि भुवने किन्तु भुवनेषु, तेष्वपि न वृशाम् किन्तु पराम्, तेनाज्ञातत्वनिरासः । यदा विक्रमगुणैः प्रकृष्टां सिद्धिं जयलक्षणां भुवनेषु प्राप्त इत्यर्थः । एतेन सर्वेषां अपि युद्देश्येयत्वं ध्वन्यते । तमपि यदेवो न जानानि सप्तमद्राग्यविपर्ययादेव न तु त्वद्भाग्यविपर्ययात् श्लोकयनायतादृशमहापुराणहन्तेन मरणेऽपि मोक्षलक्ष्मीविलासलाभेन तस्यापि भाग्यशक्त्यात् । अस्माकं पुनश्चिरकालजीविनां त्वादृशप्रभुविपर्ययात् त्वद्वियोगाच्च विरन्तस्तु-सदाधानलज्जमानानां परं भाग्यविपर्यय इति भावः । यदिपरमिति निपात-समुदायोऽवधारणार्थः । देवो दिव्यज्ञानवानपीत्यर्थः । अत्र भाग्यविपर्ययादित्युक्तं न तु अभागादिति, तेन त्वादृशप्रभुलाभात् सावैदिकातिरापछललाभेनाभाग्यविरोद्धुमितेऽपि भाग्यान्वेष विपरीतशुद्धदत्तेन परिणतानीति ध्वनिः । अस्मद्भाष्येत्यनेन सप्तस्तासु कृत्वैव उपात्वं प्रतीयते । प्रसिद्धिरेतुभूतं विक्रमगुणोदाहरणमाह—वन्दीति । वन्दी वैतालिकः । एकवाणाहत्या ज्ञातानि यानि श्रेणीभूतविशालतालाः तेषां विवरणि तदुद्गीर्णैरित्यर्थः । एक-वाणाहतेति पाठः स्पष्टः । रामेण किल उषीवप्रत्ययाय सप्त तालवृक्षा एकवाणेन निपा-इति प्रसिद्धिः इति ।

(A) 'निपादर्थमगान्धापदिभिः सप्त सन्त्रीकण्ठोत्थिता-स्वरा' इत्यमरः ।

वचनानां न त्वदिति न मदिति अपि तु अस्मदित्यस्य सर्वाक्षेपिणः,
भाग्यविपर्ययादित्यन्यथासंपत्तिमुत्वेन (A) न त्वभावमुत्वेनाभिधानस्य ।
तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे ।

अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥११०॥

अत्र इमनिजव्ययीभावकर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य, तरुणत्वे इति

व्यञ्जनात् सर्वनाम्न, भुवनेष्वित्यत्र भुवनपदेन व्रीलान्प्रवाधनात् गुणैरित्यत्र
गुणपदेन(B) दापव्यावृत्तिबाधनाच्च प्रातिपदिकयात्प्रत्यये बहुवचनेन तदनेकत्वबोधनात्
वचनस्य च प्राप्तपक्षस्यमित्याह—सर्वनामेति । बहुवचनसमासनिश्चिता
स्मत्पदस्यापि प्राप्तव्यञ्जकत्वमित्याह—न त्वदिति । एकवचनसमास एव त्वन्मदी
नियते, (C) तथा अट्त्वा कृतस्य सवगाष्ठ्यान्नेपकस्य अस्मदिति निर्देशस्येत्यर्थः ।
रिपर्ययपदस्यापि तद्व्यञ्जकत्वमाह—भाग्येति । अथवा सम्पत्ति' दुर्भाग्य-
त्वेन निष्पत्ति । न त्वभावेति भाग्याभावात् सत्फलानाम् एव न त्वसत्फलम्,
दुर्भाग्यत्वे त्वसत्फलमिति भावः ।

विदग्धप्रयाज्यस्वरूपप्रिशोरूपपदैकदेशस्यापि व्यञ्जकत्वमाह—तरुणिमनीति ।
तरुणिमनि तादृश्ये कलां चातुरीं कलयति प्रकाशयति सति तथा भ्रूचाग्ने कर्त्तरि
अनुमदनधनु मदनधनुय समीपे स्वयमेव कला पठति सति सकलललनामौलिमिय
मधिरसति सकलनारीमूढन्या भवतीत्यर्थः । अत्रेति । तरुणिमनीत्यत्र इमनिच्,
अनुमदनेत्यत्राव्ययीभावात्, मौलिमधिरसतीत्यत्र कर्मभूताधारस्य मौले

(A) न त्वभावेति । तथोक्तौ हि भाग्यस्य सार्वदिकाभावप्रतीती सम्पत्तेरपि तथाभाव
प्रतीयेन इति भाव इत्युद्घोते । अन्य तु अभावमुत्प्रेनेनौ अभागादित्येव वक्तव्यम्, तथा च
भाग्यात्यन्ताभावात् सम्पत्त्यभाव एव प्रतीयेन न तु भाग्यध्वम इति तात्पर्यमाहुः ।

(B) अत्र गुणैरित्यत्र प्रकृतिप्रत्यययोर्द्वयोरेव व्यञ्जकत्वेऽपि व्यङ्ग्यभेदसत्त्वाच्च पदैकदेश
व्यञ्जनोदाहरणत्वासङ्घटिरिति ध्येयम् ।

(C) तथा अट्त्वेति । एकवचनसमासपरिहारेण कृतस्य अस्मदिति बहुवचनसमासस्येति
कलितार्थं 'सर्वगोष्ठ्यान्नेपकस्य' समस्तरक्ष कृष्णामसिन इत्यर्थः ।

धनुषः समीपे इति मौलौ वसतीति त्वादिभिस्तुल्ये एषां वाचकत्वे
अस्ति कश्चित् स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं
प्राप्नोति ।

एवमन्येषामपि बोद्धव्यम् । वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूप-
निरूपणे उदाहरिष्यते । अपि-शब्दात् प्रबन्धेषु नाटकादिषु । एवं
रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह पङ्क्तिभेदाः ।

(६२) भेदास्तदेकपञ्चाशत्^(१)—

व्याख्याताः ।

तद्विशेषकशब्दस्येत्यर्थः । एषा स्वरूपस्येत्यर्थः । एषां स्वरूपस्य विदग्धविशेषप्रयोज्य-
गाढसंस्कृतरूपत्वात् तदपि रसात्कुर्याद्व्यञ्जकमित्यर्थः । अत्र च अन्ययीभावस्य
रचनारूपत्वमन्यद्वयस्य पदैकदेशत्वम्, तत्तत्तमानार्थकमगाढसंस्कृतरूपपन्तु न
तद्व्यञ्जकमित्याह—तरुणत्व इतीति । 'त्वादिभि' त्यप्रत्ययादिभि । अस्ति
कश्चिदिति अनुभवेरुगम्यो न निशिष्य वक्तुं शक्य इत्यर्थः । चक्रयस्तीं तु—अत्र
कामन्दर्णस्वरूपमेव स्वरूपविशेष इति व्याचष्टे, तथा ; तदा वर्णानामेव व्यञ्जकतापत्तेः,
तस्य चानुपदमेव बक्ष्यमाणत्वात् । अपि-शब्दादिति वर्णव्यपीत्यपि-शब्दादित्यर्थः ।
कुलकरूपमहावाक्यात्मकप्रबन्धव्यावर्तनाय—नाटकादिष्विति । आदिशब्दात् नाटिका-
परिग्रहः । 'नाटकादिषु अन्तर रसान्तरसम्भवेऽपि' प्रबन्धव्यङ्ग्य एको रसः ।
एवं रसादीनामिति असलक्ष्यकमत्वेन परुविधतया गणितानामित्यर्थः । पूर्व-
गणितेति पदवाक्यप्रकाश्यतया पञ्चत्रिंशत्मध्ये गणिताभ्यामित्यर्थः । पङ्क्ति
पदैकदेशरचनावर्णप्रबन्धव्यङ्ग्यतया गणितचतुर्भेदमिलनेन पङ्क्तित्यर्थः । एवञ्च
पदवाक्यप्रकाश्यां द्वौ पूर्वगणितौ विहायात्र गणिता पदैकदेशादिव्यङ्ग्याश्चत्वार एव
इति सिध्यति । तथा च पूर्वगणिताः पञ्चत्रिंशत्, कुलकरूपप्रबन्धव्यङ्ग्या अर्धशतमु-
द्गया द्वादश पदैकदेशादिव्यङ्ग्याश्चत्वार इत्येकपञ्चाशत् घनयो भवन्तीत्याह—
भेदास्तदेकेति ।

१ 'सुशोभ्ये' इति कश्चिन् ७८ । २ 'नाटकादावन्तर रसान्तरं कर्तापि' सः ।

(A) पुरुषज्ञानादिति । अयमभिप्रायः—प्रथमं तावद् द्व्यनेलक्षणोऽभिधामूलकत्वेन अवि-
वक्षितवाच्य विवक्षितान्यपवाच्यश्चेति द्वौ भेदौ । तत्रापि अविवक्षितवाच्यस्य अर्थान्तर-
सकमित्तवाच्यत्वेन अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वेन च द्विविधस्य पदवाक्यगतत्वेन पुनरपि द्वैविध्ये
चानुविध्यम् । ते च नामतः—

- (१) पदगतार्थान्तरसकमित्ताविवक्षितवाच्यध्वनि
- (२) वाक्यगतार्थान्तरसकमित्ताविवक्षितवाच्यध्वनि
- (३) पदगतात्यन्ततिरस्कृताविवक्षितवाच्यध्वनि
- (४) वाक्यगतात्यन्ततिरस्कृताविवक्षितवाच्यध्वनि

इति ।

एव विवक्षितान्यपवाच्यस्य प्रथमतः लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन च द्वौ भेदौ ।
तत्रापि लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य शब्दशक्तिमूलतया अर्थशक्तिमूलतया शब्दार्थोभयशक्तिमूलतया च
त्रैविध्यम् । तत्रापि शब्दशक्तिमूलस्य लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वस्तुस्यतया अलङ्कारस्वतया च
द्विविधस्य पदवाक्यगतत्वेन चानुविध्यम् ।

तेषां नामानि च—

- (५) पदगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमवस्तुध्वनि
- (६) वाक्यगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमवस्तुध्वनि
- (७) पदगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमालङ्कारध्वनि
- (८) वाक्यगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमालङ्कारध्वनि

इति ।

एवमर्थशक्तिमूले लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्येऽपि अर्थस्य स्वतःसम्भवितया कविप्रौढोक्तिसिद्धतया कवि-
निबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धतया च प्रथमं त्रैविध्यम्, तत्रञ्चिविधस्यापि वस्तुस्यत्वेनालङ्कारस्वत्वेन च
प्रत्येकं द्वैविध्ये पद्विधत्वम् । पुनः पद्विधस्यापि व्यङ्ग्यतया व्यङ्ग्यतया च द्वैविध्ये
द्वादशविधत्वम् । तस्यापि द्वादशविधस्य पदगतत्वेन वाक्यगतत्वेन प्रबन्धगतत्वेन च प्रत्येकं
त्रैविध्ये पद्विधत्वप्रकारोऽर्थशक्तिमूलोऽश्रुतगन्धयो लक्ष्यक्रमध्वनिः । तेषां नामानि च—

- (९) पदगत स्वतःसिद्धार्यशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
- (१०) वाक्यगत स्वतःसिद्धार्यशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
- (११) प्रबन्धगत स्वतःसिद्धार्यशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
- (१२) पदगत स्वतःसिद्धार्यशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
- (१३) वाक्यगत स्वतःसिद्धार्यशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
- (१४) प्रबन्धगत स्वतःसिद्धार्यशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
- (१५) पदगत स्वतःसिद्धार्यशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनि

(६३) —तेषां चान्योन्ययोजने ॥ ४३ ॥

संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

न केवलं शुद्धा एकपञ्चाशद्भेदा भवन्ति, यावत्तेषां स्वप्रभेदै-
रेकपञ्चाशता संशयास्पदत्वेनानुग्राह्यानुग्राहकतयैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन
चेति त्रिविधेन संकरेण परस्परनिरपेक्षरूपयैकप्रकारया संसृष्ट्या
चेति चतुर्भिर्गुणैः—

इत्य शुद्धानेकपञ्चाशद्भ्यर्नानुत्तमा एतेषामन्योन्ययोजनमाह—तेषाञ्चान्यो-
न्येति । योजनस्यैव प्रकारमाह—सङ्करेणेति । व्याचष्टे—न केवलमिति । अपि तु
इत्यर्थे व्याचष्टेति । त्रिरूपं मद्रूपं व्याचष्टे—संशयास्पदत्वेनेति । अयं ध्वनिरयं
ध्वनिर्वेति सशयमित्यस्य तत्त्वम्, प्रकृत्यभाणत्वप्रकर्षकत्वम् अनुग्राह्यानुग्राहकभाव,
एकेन व्यञ्जकेन उभयव्यञ्जनम् एकव्यञ्जकानुप्रवेशः, इति त्रिविधेन 'सङ्करेण
एतन्वृत्तय'मित्येकरूपया परस्परनिरपेक्षत्वात्मिकया एकप्रकारया संसृष्ट्या
चेत्यर्थः ।

(४५) सान्द्रपद्योभयसन्निभूते ध्वनि ।

इति व्यपदिशते । एकवृत्तवारिंशदिमे ध्वनिभेदा विवक्षितान्यपरराच्येषु लक्ष्यक्रमा ।
विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीयो भेदः अल्पव्यञ्जकस्यु पठंश-वर्ण-रचना-पद-वाक्य-प्रबन्धगतत्वेन
षट्विधः एव । ते च—

(४६) पदैकदेशानालम्ब्यक्रम रसादिध्वनि ।

(४७) वर्णगतालम्ब्यक्रम रसादिध्वनि ।

(४८) रचनगतालम्ब्यक्रम रसादिध्वनि ।

(४९) पदगतालम्ब्यक्रम रसादिध्वनि ।

(५०) वाक्यगतालम्ब्यक्रम रसादिध्वनि ।

(५१) प्रबन्धगतालम्ब्यक्रम रसादिध्वनि ।

इति ज्ञातव्या । एवमेतैः मिलिता एकपञ्चाशद् भवन्तीति ।

(६४) वेदखाण्डिवियञ्चन्द्राः(१) (१०४०४)

वेदखाण्ड्याते । अङ्गानां धामत मम इति नियमेन षेदाश्चत्वार (४) तद्वमे ए शू व (०३) तद्वामे अत्ररश्चत्वार (४०४) तद्वामे वियन् शून्य (०३०३) तद्वामे चन्द्र एक (१०३०३) इत्यङ्का । पर चतुरधिकचतु-
गतात्तरमेकमयुत घनप इत्युक्तम् । ननु एकपञ्चाशत्तद्वतुर्गुणते चतुरधिक-
द्विगतमेव भरति, तन् कथं चदखेत्याद्यङ्का इति चेन्न, प्रथमस्य स्वजातीयैर्नैकेन

(A) यद्यपि तेषामित्वादिना 'चन्द्रा' इत्यन्तेन षाक्यस्य निराकाङ्क्षतासम्पादनार्थम् एकमेव सूत्रं गगयितुमुचितम्, तथाऽपि सुदृष्टितद्वदुपुस्तकमन्वादाश्रयमुक्तक्रमेण सूत्रस्य गृहीता । व्याख्यातमिदं प्रदीप—“रुशयनाङ्गाङ्गिभावेनैकव्यञ्जकानुप्रश्नन चेति त्रिविधं सूत्रं, उक्तप्रकारेण विना मयोगं सद्युष्टि । एवमेकपञ्चाशतो भेदानामेकपञ्चाशता भेदयोनमिति तावता तावद्गुणेन सङ्घट्टयम् एकत्रिका पञ्चशती च, सयोजनत्र सङ्घट्टयदिवतुप्रकाररिति तावता चतुर्भिर्गुणैरेव सहस्राणि चतुरधिकानि चत्वारि शतानि च सम्पद्यन्ते । न च अनुपादानुपादक-
भावेन सूत्रस्यैऽनुपादकस्यैऽङ्कतया गुणीभाव इति न ध्वनित्वत्त्वमिति वाच्यम्, तत्र हि स्वतन्त्रमद्कारिण एव नस्य किञ्चिन्श्लेषकारितानामात्रम्, न तु श्लेषविभाव एवति ।

नन्वस्यु एकपञ्चाशद्भेदपञ्चशतता योजनम्, स्वस्य तु एतेन कथं यावदपि चत् न, व्यक्तिभेदाशयं विनातीयवत् नजातीयतापि सङ्घट्टयदिमम्भवादिति सूत्ररुत्तरादाय । अत्रार्वाचीना 'गगनेयमयुना, अग्निमाग्निभेदस्य योजने एकैकभेदात्मात् । तथाहि—अर्थान्तरसम्भितवाच्यस्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्येन योजने यो भेद स एव अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्यार्थान्तरसम्भितवाच्येन योजनायाम्, एवमन्यत्रापि । तस्मात्

एको तद्विद्विधा स्याप्य एकमेकाधिकं बुद्ध ।
समावेनांसमो गुण्य एतत् सूत्रलिखितं ह्यु ॥

इत्युक्तदिना द्विपञ्चाशद्भेदेन पञ्चविंशत्या एकपञ्चाशत्तं गुणयेत् । तथाच 'स्मृत्याग्निमित्थः' (१३२६) इति त्रयोदशशतानि पञ्चविंशत्प्रधिकानि जायन्ते । योगश्चतुःप्रकारक इति तेषु चतुर्भिर्गुणितेषु 'पञ्चाशद्भेदेपव' (१३०३) इति पञ्चसहस्राणि चतुरधिकं शतत्रय सङ्घट्टयभेदा इत्येव ज्ञाय इति चदन्ति ।

अत्र मम —अनुभवमिदौ तावत् पुण्ड्रकानी गुरसेत्त्रिव ध्वनित्वस्यै ह्यप्रत्यातिशयानमितार्थो । तथा च अर्थान्तरसम्भितवाच्यस्य यत्रातिशयन्तत्रात्यन्ततिरस्कृतवाच्येन तन्योजनम् । यत्र तु सहैपरीत्य तत्रात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्यतरणं याजनमिति व्यपदेश । एवमन्यत्राप्युच्यते । एतदेव प्राधान्यमाशयं गणना सौत्री । नन्वेवं यत्रोभयोस्तुल्यमेव धारत्वम्, तत्र भेदान्तरं स्यादिति, मैवम् ; अपकर्षाभावस्यातिशयपदेन विवक्षितत्वात् शत्रोभयभेदसङ्घट्टयस्वीकारात् । एतादृशे

स्वविज्ञातीये पञ्चाशता च 'सह चतुर्गुणे एकस्यैव चतुरधिकत्रिंशत्तत्त्वम्, एवञ्च
ए पञ्चाशतस्तावद्भेदः(A) पूरणे भवन्त्येव वेदखेत्यादयोऽङ्काः' । परन्तु औत्सर्गिकी
रीति इष्टा ग्रन्थकृता 'अग्निधानादिदं लिखितम् । अग्निधानतस्त्विदं श्रुयमेव ।
तथाहि—प्रथमस्यैकपञ्चाशता सह चातुर्विधे गणिते द्वितीयस्य प्रथमेन सह चातुर्विध्यं
'पूर्वगणनायामैव गणितमिति द्वितीयस्य पञ्चाशतैव सह चातुर्विध्यं गणनीयम्, एव
तृतीयादेरपि पूर्वपूर्वेण सह चातुर्विध्यस्य पूर्वगणितत्वात् तदपहायेव गणनीयत्वे
चरमस्य सप्ततीयेनेव सह चातुर्विध्यं गणनीयमेव रीत्या एकशताधिकपञ्चसहस्रह्रासे
चतुरधिकत्रिंशत्तत्त्वसहस्रह्रासैव भवन्ति' । दर्शिता चैवं रीतिर्विरोधालङ्कारे ।
तत्र हि—

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विद्वद्वा स्याद् गुणस्त्रिभिः ।

किंश द्वयस्य 'मय द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ॥ (१०म उल्लास)

इति यद्वा जात्याद्विचतुर्णां जात्याद्विचतुर्भिः सह विरोधे षोडशत्वप्रसक्तौ पूर्वपूर्वेण
सह परस्परस्य विरोध पूर्वगणनाप्रविष्टमपहायैव दशविधत्वमुक्तमिति । किञ्च

वास्याने पदात्मन्वन्मात्रमेव मय्यैव षोडशमिति सहस्रभावात्मात्पायालोचनीय'मिति । तत्रैव
विन्त्येव—एव रीत्या मूलोक्तसल्लयाया कथञ्चिदुपपादनेऽपि किञ्चेत्यादिना टीकाकृतदुष्टस्य
केवाञ्चिद् ध्वनीनामेकस्यञ्चानुपवेशासम्भवेन संख्याद्वासान्द दुष्परिहरतया 'वेदखात्रिविधयश्चन्द्रा'
इत्यस्यानुपपत्तिरेवेति ।

(A) तावद्भेदेति चतुरधिकत्रिंशत्तत्त्वेनेत्यर्थः ।

1 'सह श्लोक चातुर्विधे एकस्यैव चतुरधिक त्रिंशत्तत्त्वम्, एव रीत्या एकपञ्चाशतामेव (१० एव ?)
श्लोक तादृशसंज्ञाने भवन्त्येव वेदखेत्यादया, तथाहि (१) चतुरधिकत्रिंशत्तत्त्वस्य एकपञ्चाशत्तत्त्वत्वे तादृशसंज्ञ-
विदं । (तथाहि (१) वाच्यरकाश्याद्यौत्तरमकनितशाश्वत्तत्त्वकाञ्चस्य व्यग्रमर्थाशरत्कनितशाश्वत्तत्त्व-
व्यङ्गान्तरेण मग्नयाश्चरम्, एवमाश्वत्तरत्कनितशाश्वत्तत्त्वकाञ्चस्य तादृशसंज्ञादिभिः पञ्चाशता सह
श्लोक सप्तशतसदनेकया एकपञ्चाशत् सप्तशतसदम् । एव तदेव व्यङ्ग्य तादृशसंज्ञान्तरादिभिः सह
श्लोकसप्तशतसदनेकया पञ्चाशत्तत्त्वपरिमेकपञ्चाशत्ता, पुनरपि तादृशसंज्ञान्तरादिश्लोकसप्तशतसद-
न्यङ्गनितशाश्वत्तत्त्वकाञ्चस्य तादृशसंज्ञान्तरादिभिः श्लोक सप्तशतसदत्वादिद्विदितवरादिश्लोक
एकव स्थितिचरया संख्यासंख्याचरकनितशाश्वत्तत्त्वकाञ्चस्य चतुरधिक-
त्रिंशत्तत्त्वम् । एवमाश्वत्तरत्कनितशाश्वत्तत्त्वकाञ्चस्य तादृशसंज्ञान्तरादिभिः पञ्चाशत् श्लोक चतुरधिकत्रिंशत्तत्त्वमिति
भवेदेव वेदखात्रिविधयश्चन्द्रा निष्पत्तिरेति' ख । 2 'अग्निधानादिश्लोकम्' ख । 3 'पूर्वगणनायां प्रविष्ट-
नितशाश्वत्तत्त्वकाञ्चस्य पञ्चाशता सह चातुर्विध्यं गणनीयमिति' रीत्या द्वयोस्तौल्यपञ्चाशता चतुर्विध्यत्वेऽपि
एतेषु रीत्या चरमस्य सप्तैव सह चातुर्विध्यं गणनीयमिति शान्ति इदुपदेकशताधिकपञ्चसहस्रह्रासे
चतुरधिकत्रिंशत्तत्त्वसहस्रह्रासैव भवन्ति न वेदतादृश' ख । 4 'नरि' इति इतिदुष्परिहरतया ।

शुद्धभेदैः सह—

(६५) — शंखपुष्पगलेन्दवः (१०४५५) ॥ ४४ ॥

तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

१'राणपाट्टुणिआ देअर जाआए सुहअ किंपि दे भणिआ ।

रुअइ पडोहरवलहीपरम्मि अणुणिअउ वराई^(१) ॥ १११ ॥

१'पदैकदेश-पत्र चाक्षय महायात्रयानामेकः प्रहृत्प्रस्थान्यतेरेणाद्यजनात् कथं तेषामेकप्रयत्ना-
नुपयेत् (B) इत्येतारताऽपि (C) बहुताह्वामे देवताग्योत्याद्युत्तमविचारसुभागे^२ ।

वेद्वेत्त्यादौ १'शुद्धभेदानपि प्रवेश्य गणने सल्लघाचिक्खमाह— शुद्धभेदैरिति । शरा
पञ्च, इत्येव पञ्च, युगानि चत्वारि, ख शून्यम्, इन्दुरेक, एवम् १०४५५ । तत्र सरया-
स्पदत्वरूपं सङ्खरमुदाहरति— खणपाट्टुणिआ इति—

क्षणपाट्टुणिका देवर जायया सुभग किमापि ते भणिता ।

रादिति पद्माद्रुवलभीगृहे अनुनीयता पराकी ॥ इति संसृष्टम् ।

(A) क्षणंति । व्याख्यातमिश्रमुद्रोत्कारं— 'शरानुराणामुपनायिकामुत्पन्नवगता सत्-
पव्या कटूकामनुतेतुं देवर प्रति कस्याश्चिदुक्तित्यम् । त्वजाययाऽतिदुर्गमिभि पीडिताय
अपि त्वप्यनुसागद्वर्तनं हे छमा हे देवर ते तत्र य क्षण उत्पन्नवस्तत्र क्षणमात्रं वा प्राणुणिका
अतिपि सा त तत्र जायया न तु प्रियया किमपि अवाच्यं भणिता गृहपश्चाद्भागवलभीगृहे
रोदिनि । अतो वराकी उत्तरासक्तत्वात् त्वयाऽसक्तत्वाच्च दीना अनुनीयताम् । अत्रानुपयो
रोदननिवर्तको व्यापारः । तेन सम्भोगो व्यङ्ग्यः । गृहपश्चाद्भागोत्पन्नेन विज्ञता । क्षण-
प्राणुणिकेत्यनेन तु उातिशयोचित्यम् । इत्युद्रोत्पन्नवस्तत्र सर्वेषां जनानां व्यामक्तचित्तवत्त'
इति । "पडोहरशब्दो गृहपश्चाद्भागं दशो, प्रतिवेशिवाचीत्यम्" इत्युद्रोहरणवन्दिता ।

(B) इत्येतावनापीति । इदमुपलक्ष्यम्— शब्दार्थोभयतस्तुल्यस्य शब्दार्थोभयतस्तुल्य-
व्यङ्ग्यशब्दराश्या एकाग्रयानुपसंज्ञागन्तवोऽपि द्रष्टव्यः ।

(C) बहुताह्वाम इति । इदमत्र चिन्तनीयम्— लक्षणमूलव्यङ्ग्यवत् व्यङ्ग्यमूलव्यङ्ग्य

१ कथं इति कविप्रपाठः । २ 'सर्वानामकदिवशायात् नातिस्मृतायाशायाश्चिक्ख
पदव्यङ्ग्योर्षोऽवकाशपदवकाशपदकदमकाश्यात् एकाग्रयानुपसंज्ञा एव न लभ्यति व्यङ्ग्यकान्तं
पदव्यङ्ग्यमिन्द्रव्यङ्ग्यदिति कथमेकवचनमात्रं कथं कानुपसंज्ञा इत्यतीर्ष्य इत्युद्रोहरणवन्दिता
सुभागे^३ क । ३ 'इतिदशैरेण क ।

अत्रानुनयः किमुपभोगलक्षणो^(A)ऽर्थांतरे संक्रमितः ^(B)किमनु-
रणनन्यायेनोपभोगे एव व्यङ्ग्य व्यञ्जक इति सन्देहः ।

देवर प्रति प्रसक्तमुत्सवे तद्गुरुरागतां तन्पत्न्या निर्भत्सिता^(C) मनुनेतु ज्येष्ठभ्रातृ-
पत्न्या उक्तिरियम् । तत्र उत्सव, तत्र प्राघुणिका अभ्यागता । पटोहर पश्चादर्थं
वेशी, घण्टी दुःखिता । अत्रेति । 'अनुनयः' प्रीतिजननम्, प्रीतिविशेषजनन-
स्वभोग, तत्त्वेन सक्रमितयाच्योऽनुनय इत्यर्थः, तथाच तादृशलक्षणया उपभुज्यता-
मित्यर्थः । तद्व्यङ्ग्यञ्च दुःखापनयनम् । किमनुरणनन्यायेनेति । अनुनयो वाच्यो
विश्रित एव किमुपभोगस्य व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जक इत्यर्थः । न चैवमुपभोगस्य लक्षणीयत्व-
व्यङ्ग्यत्वसंशय एवानेन दर्शितो न तु व्यङ्ग्यत्वस्य संशयास्पदत्व दर्शितमिति वाच्यं

सम्भवत्यपि 'अत्र गिरल' इत्यादौ प्रदर्शितत्वेन तदगणनाऽप्युचिता । एवं शश्याभौम-
शान्मुत्सव्य वस्त्वन्द्धाररूपनया द्विविध्य सम्भवतीति टीकादृष्टुचरीत्या हासवत् किञ्चिदाधिक्यमपि
भवितुमर्हति । सर्वथा तु वेदनेत्याद्युक्तेस्तद्गति स्थितौष । एतेन 'वेदन्तामिसारा' (५३०४)
इति साहित्यदर्पणकारोक्तिरपि प्रत्युच्यते ।

(A) अर्थांतरे संक्रमित इति । अयं भाव — कोपमानादिचित्तविकारनिवर्त्तकव्यापार-
विशेषोऽनुनय पादपतनादिरूप, स च कान्तावाहुपभोगप्रत्योऽपीति अनुनयस्य सामान्यविशेष-
भावसम्भवेन उपभोगजन्यतादृशव्यापारोऽत्र अनुपूर्व'नी'वातुना लक्ष्यते, लक्षणावीरन्तु
सम्येत्यादिप्रतीयमानतात्पर्यानुपपत्तिरेव, प्रयोजनञ्च लक्ष्यार्थगतातिशय इति सन्देहस्य
प्रथमकोटी लक्ष्यामूलत्वम्, एवञ्च द्वितीयकोटी उपभोगस्यैव व्यङ्ग्यतया व्यङ्ग्यभेदोऽपि
सन्देहमद्वारे आवश्यकतया टीकादृष्टान्तत उपपद्यते इति बोध्यम् । अत्र अत्यन्तनिरम्बृत-
वाच्यलक्षणया अनुनीयतामित्यस्य उपभुज्यतामित्यर्थन्तु न कापि दृष्ट । प्रमाकाराणान्तु
'कोपाभावाद्वाजरूपनयोच्यमानोऽनुनयो लक्षणया उपभोगप्रतिपादक उपभोगगतसामञ्जस्यं
व्यङ्ग्यम्, अथवा बाधाभावाद्वाच्य एवोपभोगव्यञ्जक इत्यर्थः । उभयथाऽप्युपभोग एव तात्पर्य-
पर्यवसानान् सन्देहस्यादोषत्वम्' इति वदता सन्देहमद्वारध्वनौ एकव्यङ्गाविषय एव संशय-
आवश्यक इति मतमिति प्रतिभाति । अत्र बालवोधिनीकारस्य 'सन्देह इति, तथा पात्र
व्यङ्ग्यसन्देहैतन्मूलक एवाविषयव्यङ्ग्यत्वनिविवक्षितान्दपरवाच्यत्वन्वोरपि सन्देहस्य
सद्वारालङ्कार' इत्युक्ति वस्तुव्यङ्ग्यध्वनिसन्देहस्यालङ्कारलक्षणान्त्रान्तत्वात् चित्त्या ।

(B) 'किम्' पदात् पर पश्चान्तरव्यञ्जको चाकार आर्यो बोध्यः ।

(C) मनुनेतुमिति अनुनाययितुमित्यर्थः, समानकर्त्तृत्वे तुयो विधानात् उक्तिर्वृ-
भूयाया ज्येष्ठभ्रातृपत्न्या अनुनयकर्त्तृत्वामाधान् देवस्यैव तथात्वादिति बोध्यम् ।

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेदुद्वलाका घना

वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दयेकाः कलाः ।

कामं सन्तु हृदं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरः भव १ ॥ ११२ ॥

व्यङ्ग्यशोभ खापनयनीपभागयास्तत्सशयोधानसशयप्रिययत्नान् । तथाच उपमागन दुःखमपनीयतामिति वा उपभुङ्ग्यतामिति वा अनयात्कमिति सामानिक्रमशयासदत्व लक्षण मूलव्यङ्ग्य इत सम्भगिरस्तुभङ्गचरस्तुनारिति सग्यास्पदवम् ।

अनुप्रासानुप्राहकतासद्वरस्य परक्यत्रकानुप्राशसद्वरस्य संसृष्टशेषमुदाहरण माह—स्निग्धेति । रामस्येयमुक्ति । घना स्निग्धश्यामलकान्तियशमाकाशा चल्द-

(A) स्निग्धेति । 'स्निग्धा श्लग्ना श्यामला या कान्तिमन्वा निम्न निविडमन्वदं विपश्कातं ये, वपुः सा बहूप्क्षिन्वा बहुतर नामत्य (ताममाना ?) सविद्यास सलन्त्वो वा बलकाग (वजाका ?) पक्षिविशेषाणा पत्नया यपु तथाभूता घना मेना एव घना निविडा (i) काम यथै सन्तु । तया शीकरिणोऽभ्युक्तगालिन, तन शैत्यमान्त्रे, तादृशा वाता अपि सन्तु । एवं पयादो मय सुहृद कंकावनकाहादवनकतया मित्रं यथा तेया मरुपदमालिष्यान् मयूरागा कला अज्यन्तमुरा आनन्त्या वाण्य मन्तु, आनन्दन कण्ठजाड्यादिव्यक्तता । यद्वा पयादस्य छट्वा तदुदयाहामितामित्यर्थ । तत प्यानन्दकका पयादोल्लाम तन्सुहृदामानन्दोचित्वान् । शपं प्रावन् । काम सन्तु तात्रता न मे क्षतिरिति भाव सदेवाह—हृदमनिप्रायन कगरक्षणाऽह राम सकलदुःखपात्रवचन प्रमिद्धोऽस्मि, अत एव सबगुनादीपकातिशयव्रनितकृत सह । उतमपुत्रपरवचनमेतत् । अत्रैतादृश दुःखजनकममानसि प्राणवतणादाहमन्यकारा व्यङ्ग्य । वैदेही विदेहराजपुत्री तु राजापत्यत्वात् श्लोत्वाच्च उक्तुमारतया हृन्वाश्रमा विदहन्त्य कामस्याधया (याधय) च कथं भविष्यति कथं जीविष्यति । तज्जीवन न सम्भाव्यत इत्यर्थ । हहाइति समुदाय स्वदातिशये, भावनोपनीता स्वीता सम्शोष्य हहा हा देवि धीरा भव । इत्येव वैशोचित्यम् । अत्र रामपदन दुःखरात्रतालभगया व्ययमानस्य राज्यत्यागपदावच्छलभारणपितृशोकाद्यगित- दुःखमदनातिशयव्यावगमे व्यञ्जनयाऽवगमै शोकागमैयनिवदादिभि परिपुष्टो विप्रलम्भ प्रकान्यत इति बोध्यम्" इत्युद्गोक्तव्याख्यामक्षेप । "यत्तु—सीतामरण सम्भाव्य धूर्ति प्रत्याह—हे सर्वसदे वधरे दधि, धीरा भव दुहितृशोकेन त्व मा विदीर्षां भू' इत्यर्थो मदीय इत्युक्ता पूर्वोक्तार्थेऽज्ञानकृतत्वामिधानं कन्वचित्, तत् काव्यद्वयानमिद्वतय जल्पितमिति उद्धरपरेशेऽयम्' इत्युदाहरणमन्दिक्काया विचार । अत्र हृदमिति कठ इन्ड्रीवने' इति गोरत् प्रत्ययान्तकठपातुष्याप्येभ्यं भक्तिवततया किराविशेषये द्वितीया, सत्य कारकवातिदेशाच्च

अत्र लिखेति पयोदसुहृदामिति च अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः
संसृष्टिः । ताभ्यां सह (A) रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्यानु-

बलाकाश्च, तथा पयादसुहृदां मयूराणाम् आनन्दजन्या केका बला गभीरा ;
पते उदीपका कासं ययेष्टं सन्तु, मम किञ्चिद् कर्तुं न क्षमा इति भावः । यत एवम्
अतिराय कशाहृदय रामोऽस्मि दुःखसहिष्णुरस्मि, अत सर्वमेव अहं सहै । हहा खेदे ।
वैदेशी त्वमीदृशी कथं भविष्यति कथं सत्तावती स्यात्, तस्मात् हा देवि धीरा भवेत्यर्थः ।
अत्रेति(B) । द्रवद्रव्यस्य व्यापनमेव लेपः कान्तेस्तु द्रवद्रव्यत्वाभावेन तद्वाधात् लितपद

'ल्लुट् च ल्वाभारण्यग्विह्वरैरनिह्ववान् निजवाग्निराजताम्' इतिवत् सोपेऽप्येऽपि समासो न
वोपायः । अथवा एव सहै इत्यन्वयः ।

(A) रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यमिति । ननु कशोरहृदय इत्यत्र हृदयदं मन-
परम्, 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वाम्तं हृन्मानसं मनः' इत्यभिधानात्, तथाच अपार्थिवे तस्मिन् कशोर-
पदाभ्यां प्रस्तरादिसाधारणकाङ्क्षिन्यस्य यत्पेन कशोरपदमेव तु समहिष्णौ लक्षणात्कम्, एवञ्च
रामपदस्य तु समहिष्णुरामे लक्षणाकथनमनुचितमिति चेन्न कशोरहृदय इत्यस्य कश्चिन्नवशस्यैव
इत्यर्थेऽभिप्रायात् । यद्यप्यस्यैव काङ्क्षिन्येन च बहुतरतु खेऽपि अविदीर्णत्वमात्रं व्यज्यते ।
विरहादिना हृदयविदारणञ्च कश्चिन्मयेऽपि क्वातम् 'यूनामङ्गेषु हारा ल्लुट् इति च हृदय विप्रयोगस्य
तापै' इत्युक्ते । वर्णितञ्च तथा कविभिः —

"मिहा हृदि हारमवाप्य मैव मे हतासुभिः प्राणयम सम ताम्" (मैषधचरितं १म सर्गं)

"ममैव शोकेन विधीमं वक्षसा त्वयाऽपि चिराद्भिः विश्रते यदि" (मैषधचरितं १म सर्गं)

"हा हा देवि ल्लुट् इति हृदये सपते देहवन्ध" इत्यादिभिः । (उत्तररामचरितम् ३म अङ्कः)

अतोऽत्र कशोरहृदयपदेन कश्चिदपि तु समहिष्णुश्चाप्रतीतेर्युज्यते एव रामपदे लक्षणेति
छरीमिर्विन्नाद्यनीयम् ।

(B) अत्रेति । अत्र च्चनितपद्वार उपपादित प्रदीपकारौ — अत्र मुख्यार्थवाधाहिसम्बद्ध
सम्बन्धं लक्ष्यद्विदाय व्यनक्ति । पयोदे चापेनने सौहृदान्नावात् उहृत्पदमुपकारित्व
लक्ष्यतदतिशय प्रतिपादयति, पयोदानां मयूनिह्वरेकाद्युपकारातीर्यत्वात् । रामपदञ्च
सर्वसदत्वानुपयुक्तार्थतया सकलदुःखमार्जनत्वं लक्ष्यत्वं मीता विनाऽपि जीविष्यामीति
व्यङ्ग्येव विप्रलम्भ व्यनक्ति । तत्र लिखेति पयोदसुहृदामित्यनयोत्तरप्रततिरस्कृत-
वाच्ययोः संसृष्टिः । ताभ्यां सह राम इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य अनुपादानुपादकभावेन
सहृद, सयोऽदीपकत्वात् । रामपदेन कैक्यसुक्तानुपवेशे वा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यरसञ्चन्यो
सहृद रामोऽस्मीत्यनेनैव लक्षणासूत्रस्य विप्रलम्भस्य च व्यञ्जनात् विप्रलम्भे वाच्यस्यैव व्यङ्ग्यस्य
प्राधान्यात् इति ।

व्याख्यातमिदमुद्योतकारैः — 'मुद्योत्येति, द्रवद्रव्यस्य सशब्दवशात्कठेदेन संयोगो लेपवत् ।

प्राधान्यमाहकभावेन रामपदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चार्थान्तर-
संक्रमितवाच्यरसध्वन्योः सङ्करः । एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिविणयो नाम चतुर्थ उद्घाटन ।

व्यपत्ते अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलाक्षणिकम्, विरहोद्दीपकत्व तद्ब्रह्मचर्यम् । तथा
पयोदसुहृदमित्यत्र भवतनस्य पयोदस्य हृदयभावेन पयोदसुहृदस्य पयोदर्शन-
नर्तितत्वेन रूपेण अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलाक्षणिकम्, तत्केकानां विरहाद्दीपकत्वञ्च
तद्ब्रह्मचर्यम्, अवयोर्ब्रह्मचरोक्तत्रिविधसङ्क्रामाभावेन ससृष्टिमात्रम् । ताभ्यां
सहेति ताभ्यां विरहोद्दीपकत्वाभ्यां सहेत्यर्थं । रामोऽस्मीत्यर्थान्तर-
संक्रमितेति, दुःखसहिष्णुत्वरूपेण रामस्यैव उपग्यापनादर्थान्तरसंक्रमितवाच्य
लक्षणा, तद्ब्रह्मचर्यस्येत्यर्थं । तच्च प्रियाविरहेऽप्यप्रियमाणत्वेन स्वावधीरणम् ।
अनुप्राह्येति रामस्य स्वावधीरणम् अनुप्राह्य विरहाद्दीपकत्वद्वयञ्च तदनुप्राहकम्,
घनकेकयाविरहोद्दीपकत्वज्ञानात् तदानीमप्रियमाणत्वेन स्वावधीरणादीप्ते ।
रामपदलक्षणोति, रामपदेन (A)स्वावधीरणस्यैव तन्तारण्यविप्रलम्भस्यापि व्यञ्ज-
नात् । 'ध्वन्यारित्यत्र ध्वनिपद व्यञ्ज्यपरमेव' १ ।

इति श्रीमतेऽवरन्यायालङ्कारभट्टाचार्यकृत काव्यप्रकाशादर्श

ध्वनिनिर्णयस्य चतुर्थ प्रतिविम्ब ।

सम्पर्को इदमन्यम् । पयोदे वेति सौहृद वित्तवृत्तिविशेष । पयादा सुहृदो योगमिति
बहुवीहिरिति भाव । तदध्वनयत्राह—पयोदानामिति । अत्यन्ततिरस्कृतेति, एतन्नहृत्त्वयो सर्वथा
अवयादिति भाव । ससृष्टिरिति त्रिरूपसङ्क्रामाभावादिति भाव । अर्थान्तराति दुःखसहिष्णुत्वेन
रामस्य वाच्यस्यैवान्वयमिति भाव । सङ्कर इति पूर्वोक्तत्वं ततिरस्कृतवाच्यस्यां सहेत्यर्थं ।
तयोद्दीपकत्वादिति तद्ब्रह्मचर्ये (दृष्टे १) विप्रलम्भ इति भाव । रामोऽस्मीत्यनेनैवेति, रामपदलक्ष्येण
विप्रलम्भव्यञ्जनस्य रामपदस्य सङ्कारित्वादिति भाव । सीतां विना न जीविष्यामीति
लक्षणासुलवस्तुनश्च वाच्येन प्राधान्येनैव ध्वनित्वप्रयोजकत्वं बोध्यम् इति ।

(A) स्वावधीरणं निवृत्तं । स च व्यभिचारिभावः । तथाच कृतौ रसपदम् भास्वाद्यत्वं
रूपेण व्यभिचारिभावरं विप्रलम्भस्य महावाच्यवद्गम्यं केवलरामपदव्यङ्ग्यत्वाभावात्
रामपदस्य तु वाच्यैकेशत्वेन व्यञ्जकत्वमस्तीति न क्षतिः । सकलदुःखसहिष्णुरामोऽप्यपक-
तया विप्रलम्भव्यञ्जनाया प्राधान्यात् प्राधान्येन ध्वन्येति भवतीति न्यायेन रामपदस्यैव
तद्ब्रह्मचर्योपगमे तु रसपदं मुख्यमपि सम्भवतीति ध्येयम् ।

१. 'रसध्वनिपदं ध्वनय नरसपरमेव बोध्यम् च ।

पञ्चम उल्लासः

एवं ध्वनौ निर्गन्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदानाह—

(६६) (A) अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धचङ्गमस्फुटम् ।

सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षितमसुन्दरम् ॥ ४५ ॥

व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

कामिनीकुचकलसवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया
वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।

अगूढमित्यादि । सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यञ्चेति द्वयम् । व्यङ्ग्य-
मेवमिति । इत्यष्टविध व्यङ्ग्यम्, एव सति तत्सम्बन्धाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यभावस्यापि
भिदा भेदा अष्टौ इत्यर्थः । तत्र अगूढस्य गुणीभूतत्वमुपपादयति—कामिनीति ।
'गूढ' 'विदग्ध'रुचेयम् ।

(A) अगूढमिति । व्यङ्ग्यमिति द्वितीयश्लोकस्य प्रथमपदं प्रथमश्लोकस्थप्रथमान्तौ
सम्बन्धते । तथाच अगूढ व्यङ्ग्यम्, अपराङ्ग व्यङ्ग्यमित्यादिरर्थः । 'एवम्' अगूढत्वादिना प्रकारेण
गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं अष्टौ भेदा इति समुदाहार्यं । प्रत्येकं पदानि तु न्याय्याताभिः प्रदीपे—अगूढम्
असह्यैरपि वेद्यम्, तादृश वाच्यायमानतया न तथा चमत्करोति यथा कामिनीकुचकलसवद्
गूढम् । 'अपरस्य' रसादे स्वनैरपेक्षेण स्रग्धसिद्धे, 'अङ्गम्' उपकारकम् । वाच्यसिद्धाङ्गं वाच्यस्य
सिद्धिरेव यदधीना एव । अस्तुट सह्ययानामपि तु समवेद्यम् । सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये
इति सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यञ्चेति द्वयम् । काक्वाक्षितं यथा काक्वा विना वाक्यार्थ एव
जातमानं लभते तथा प्रकाशयन्, काक्वा ह्येतेनोपन्वितमिति वा । असुन्दरं वाच्यापेक्षया अवाह ।
वाच्यापेक्षया अवप्रकारकारित्वेन व्यङ्ग्यस्य गुणीभावः, सद्यः स्वतः एवास्तुटत्वेन अगूढत्वादि-
विशेषणसप्तकेन वा इति ।

अगूढं यथा—

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-
सूचीव्यथयतिकरेण युनक्ति कर्णौ ।

काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेप सोऽस्मि

जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि^(A) ॥११३॥

अत्र जीवन्नित्यर्थान्तरसंक्रमिनवाच्यस्य ।

(१) यस्यासुहृदिति शत्रुमेवया जीवता नृपस्य स्वाभ्युदयवेषार्थं केनाप्यु-
द्विज्यमानस्य त प्रत्युनिरियम् । असुहृदा वृता तिरस्कृति तिरस्कार, सा यस्य
मम कर्णयित्य तप्तसूचीनामिदं व्यथयतिकरेण युनक्ति असुहृदन्ततिरस्कार'यान्ता
ऽपि यस्य मम कर्णदुःसहा आसीदित्यर्थं, एष सोऽहं काञ्चीगुणग्रथनभाजनम् अस्मि
मालादिभ्रन्त्यकोऽस्मीत्यर्थं । अत्र सम्प्रति जायन् न भवामि इति स्वाभ्युदयवेषा-
मावहामि करोमीत्यर्थं । चक्रवर्ती तु—मया वृतातिरस्कृति असुहृद यस्य मम शरणा
गत सन् तप्तसूचीना व्यथयतिकरेण स्वकर्णौ युनक्ति जवणागताना पाञ्चाल्याना-
मादृशजयवहारदिति व्याचष्टे तत्र, तादृशजयवहारस्य अहन्त्यात् तादृशयतिकरस्य
सुतरामभावाच्च । अत्रेति, अजीवत उक्तयसम्भवात् जीवन्निति पदं प्रवृष्टजीविपर-
मित्यर्थं । अर्थान्तरेति, नन्माहास्यान् मृतप्रायत्यरूपस्य तद्व्यङ्ग्यध्यागूढ वमिति
शेष, जायन् न भवामीत्युक्ते मृतप्रायत्यस्य नवजनवेद्यत्वात् ।

(A) यन्वेति । कीचककृतपरामव निवे वन्ती द्रौपदी प्रति वृद्धन्नलाह्यस्यार्जुनस्योक्ति-
रित्यमिति छगमागतकारा । अर्जुनस्य वृद्धन्नलाह्यस्या स्वाभ्युदयाय किमिति न चेदसौ इति
केनापि पृथग्य वाक्यनिमित्त्युद्धोतकारा । यस्य मम अहन्तुं शत्रु वृत्तिरिस्कृति सहज-
शास्त्रादेव कृतमस्तिपदकृत्वास्वप्रयोगे सन् वृत्त्य परम्परया धृतलक्षणस्य मम समीपमगत्य
कर्णौ स्वीकृतवने तप्तसूचीव्यथयतिकरेण युनक्ति स्वहस्तेनैव तप्तसूचीभिर्भिनतीत्यर्थं,
कर्णपीडाजनने कर्णपीडातिशयभोग्ण्डल्यैव युक्तत्वादिति भाव । एतन्न वत्तु सावराद्य एव
दृग्निवायकत्व मन्मुस्यभाजनस्य स्वहस्तेन दण्डयद्वात् प्रभावातिशयस्य गम्यते । स एषोर्द्ध
शत्रुणः काञ्चीगुणग्रथनभाजनमस्मि, एतेन कर्मकरत्वनितिरस्काराऽपि प्रतीयते । प्रयत्नपद-
प्रयं पथि कौटिल्ये इति च द्रष्टव्यमिह पञ्जिताद् ग्रथपावार्निष्यद्वात् । भव्यत् छगमम् ।
व्याख्यान्तरमुद्घोतादीं श्रुष्यन् ।

(1) कर्णौ दुःसहावापि' ख ।

का'पत्र—२८

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा
गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु ।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवयन्धुजीव-
पुष्पच्छदाभमुदपाचलचुम्बि विम्बम् ॥ ११४ ॥

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य ।

अत्रासीत् फणिपाशवन्यनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।
दिव्यैरिन्द्रजिदघ्न लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र भृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठादवी(A) ॥११५॥

अत्र केनाप्यत्रेत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य । “तस्याप्यत्र” इति
युक्तः पाठः ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलक्षणिकव्यङ्ग्यस्यापि अगृहत्वमाह—उन्निद्रैति । प्रातर्मानिनी
प्रति उदीपकप्रदर्शनमिदम् । कोकनदमत्र रक्तपत्रम् । एतद् रवेर्बिम्ब चक्रास्तीत्यन्वयः ।
अत्रेति, वक्रसंयोगात्मकचुम्बनस्य रवेर्बिम्बे बाधात् स्पर्शमात्रे चुम्बिपदस्य अत्यन्त-
तिरस्कृतवाच्यलक्षणा । चुम्बनवदुद्दीपकरव तद्ब्रह्म सर्वजनवेद्यम् । अत्यन्तैति,
एतद्ब्रह्मस्येत्यर्थः, अगृहत्वमिति तच्छेषः । अर्थशक्तयुक्तवस्याप्यगृहत्वमाह—
अत्रासीदिति । पुष्पकेण गमने सौतां रणस्थलं दर्शयतो रामस्योक्ति-
रियम् । विधिपर्यन्तानुधावन बन्धनमोक्षस्यापि सूचनार्थम् । भवद्देवर इति
सम्बन्धप्रदर्शनमनुगणोत्पादनाय । द्रोणाद्रिं गन्धमादन । दिव्यैर्लक्ष्मणशरैः इन्द्र-
जिदघ्न लोकान्तरं प्रापित इत्यन्वयः । शरणां कर्तृताप्रदर्शनं लक्ष्मणस्य संत-
भवहेलासूचनार्थम् । राक्षसपते रावणस्य । अत्रेति, अनुरणनरूपस्य मयेत्यस्य
अगृहत्वमिति शेषः । केनापीत्यनेन कर्तृप्रदर्शने कृते कर्तृन्तरबाधेन मयेत्यस्य
सर्वजनवेद्यत्वात्, कर्तृप्रदर्शनाभावे तु भवत्येव मयेत्यस्य अगृहत्वमित्यभिप्रायेणाह—
तस्याप्यत्रेति । युक्त एतदपेक्षया प्रशस्त इत्यर्थः । तद्गृहत्व एव भवित्वं
नायकस्य धीरोदात्तत्वात्तद्व्यतिथेति भावः ।

(A) छोकेऽस्मिन् प्रतिवाक्यम् अत्रेति पद्मोपादानं प्रत्येकमेवादृतत्वं न्यनन्तीति प्रदीपे स्पष्टम् ।

अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थोभूतस्य अङ्गं (A)रसादि
अनुरणनरूपं वा ।

यथा—

अयं स रसानोत्कर्षो पीनस्तनविभर्दनः ।

नाभ्युज्जघनस्पर्शा नीवीविलसिनः करः ॥ ११६ ॥

अत्र शृङ्गारः करुणस्य ।

(२) अपरस्याङ्गमिति व्याचष्टे—अपरस्येति । रसादेर्द्वं रसादि वाक्यार्थो-
भूतस्याङ्गन्तु अनुरणनरूपमिति यथासद्व्युत्थं बोध्यम् । वाच्यस्येत्युक्तौ पदार्थस्येवा-
ङ्गित्वं स्यादत उभयसङ्गधारणार्थं वाक्यार्थोति । उदाहरिष्यति च यथासद्गुणमि-
प्रायेणैव । चक्रवर्ती तु—वाक्यार्थोभूतस्याप्यङ्ग रसादिकम् । अन्यथा—

तदिदमरण्यं यत्र दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।

निचरन् बाहुमहायज्ञकार रत्न ज्ञय राम ॥

इत्युदात्तालङ्कारोदाहरणतया दशमालासे यद्वक्ष्यते तत्र 'न चात्र धीरास्स' इत्याशङ्क्य—
'तस्येह अङ्गत्वा'दिति समाधानेन वाक्यार्थोभूतस्यारण्यविवरणस्याङ्गत्वेन धीरस्स-
प्रदर्शनं ग्रन्थकृताऽऽनुपपन्नं स्यादिति व्याचष्टे । तत्र , तस्य अङ्गत्वाप्रदर्शनेन तदङ्गव्यति-
स्योदात्तालङ्कारस्यैव ग्रन्थकृता दर्शितत्वात् न त्यपराङ्गत्वस्य, 'महताञ्जोपलक्षण'मिति
तद्वृत्तणे हि 'उपलक्षणम् अङ्गभाग' इति व्याख्यास्यति, अङ्गभावश्च तत्र परस्परया
धीरस्सोत्सामाहेन रामस्य प्रकर्षो रामसङ्गन्धाच्चात्पथमहत्वमिति, अपराङ्गवन्तु साक्षा-
दङ्गस्येवेति । अयं स इति । भूरिध्वजस समरपतित इस्तमालोभ्य तत्पक्षया
रोदनोक्तिरियम् । अत्रेति, 'शृङ्गार' करुणस्य' अङ्गमित्यर्थः । रसानोत्कर्षणादि-
व्यङ्ग्यं शृङ्गारो हात्र चमत्कारी करुणस्य प्रकर्षक तद्भावे करुणपुष्ट्यभावात्, पूर्वानु-
भूतमुखसम्भिन्नरतिस्मरणेन पतिमरणे करुण'प्रकर्षान् । अङ्गनिर्वाहकाङ्गस्य तु
अङ्गवपेक्षया चमत्काराधिक्याभावात् नापराङ्गत्वम् यथा 'जाने कोपपराङ्मुखी'-
त्यादौ अमूथानिर्वाहकाङ्गस्य शृङ्गारस्य । न चात्र शृङ्गारोऽपि निराकाङ्क्षयाव्यङ्ग्य

(A) अत्र 'निष्पन्नस्य रसस्यापराङ्गत्वाभावाद् रसपदेनात्र स्थापिभावो द्रष्टव्य' इति
प्रदीप ।

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्त्तितालक्तक-
 व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।
 स्पर्धाबन्ध'समिद्धयेव सुदृढं रुढा यया नेत्रयोः
 कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥ ११७ ॥

अत्र भावस्य रसः ।

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाऽभोधय-
 स्तानेतानपि चिभ्रनी किमपि न क्लान्ताऽसि तुभ्यं नमः ।

एवेति कथं तस्य करुणाद्भूत्यमिति वाच्यम्, मृतालम्बनरुत्वेन तस्य तदानीं (A)रसत्वा-
 प्राप्त्या करुणाद्भूत्वादेव ।

इदानीं भावमङ्गिन कृत्या रसादीनां सर्वेषां तद्भूत्वं प्रदर्शयित्वा भावाङ्गं रसमाह—
 कैलासेति । माविश्या पार्वत्या महेशेन पादप्रणामे कृते कोपापगमात् तत्रेवा-
 रुण्यनाशवर्षानामिदम् । कैलासालयां महेशे प्रणामकाले तद्भाललोचनस्य आग्नेयस्य
 ज्योतिर्मयत्वेन अरुणस्य रुचा निर्वर्त्तिता निष्पादिता अलक्तकस्य व्यक्तिः प्रकाशां
 यस्यां तादृशी गिरिभुवः पार्वत्या सा पादनखद्युति वं गुप्मान् त्रायताम् । सा
 का इत्याह—स्पर्द्धति, यया पादनखद्युत्या पार्वत्या नेत्रयो रुढा जाता शोण-
 त्वात् कोकनदानुकारेण रक्तान्पलस्तादृश्येन सरसा कान्ति सद्यः समुत्सार्यते
 पादपतनेन कोपाधीनस्य नेत्रारुण्यस्य नाशात् । अत्रोत्प्रेक्ष्यते स्पर्द्धति, पादनखद्युति-
 रहमरुणा कथमन्याऽपि द्युति अरुण्य भास्तामित्येव स्पर्द्धावन्नेन समिद्धया दीप्त-
 येव । अत्रेति, त्रायतामिति निराकाङ्क्षयानयेन व्यङ्ग्यस्यापि न पार्वतीवियय-
 भावस्येत्यर्थः । 'रस' महेशशृङ्गार अङ्गमित्यर्थः । स व निर्वर्त्तितालक्तकव्यक्ति-
 रित्यन्तसाकाङ्क्षवाक्यलभ्येन पादपतनेन व्यङ्ग्यम् ।

भावस्याङ्ग भावमाह—अत्युच्चा इति । अभोधय इत्यत्रापि परितः स्फुरन्ती-
 त्यन्वयः । न क्लान्ताऽसीत्यत्र हे शृधिर्वेति सम्बोधनमूढम् । स्तुतिमित्यत्र च

(A) अत्र रसत्वाप्राप्तिसित्येतावानेव पादो युक्ततया प्रतिभाति 'कथं अन्य करुणाद्भूत्व'मिति
 प्रश्ने 'रसत्वाप्राप्त्या करुणाद्भूत्वादेव' इत्युत्तरत्वात्तौभनत्वाविति ध्येयम् ।

आध्वयेण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव-
स्तावद्विभ्रदिमां स्मृतस्तत्र भुजो यावस्ततो मुद्रिताः ॥ ११८ ॥

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य ।

वन्दीकृत्य रूप द्विपां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः ।
अस्माकं मुहुर्तैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारां निषे
विध्वस्ता विषदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥११९॥

अत्र भावस्य रसाभास-भावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धयोर्त्यौ ।

सनमस्कारामित्यूहम्, तदेव 'स्तुतिमितीत्यत्र इतिशारेण 'नम' इत्यन्तस्य परामर्श-
सम्भवात्'० । प्रस्तौमि करोमि । तावदिमां भुवं विभ्रन् तत्र भुज स्मृत, ततो
यावो मुद्रिता इत्यन्वय । विभ्रदित्यत्र श्लेषरगान् 'पालने घारणायासाद्विदमुक्तम् ।
अत्रेति उभयत्र 'रतिभावत्यकथन स्वरूपकथनमात्रम्, भागान्तरप्रसक्तचभावेन
अध्यायसंक्रान्तात् ।

भाष्ये रसाभासभावाभासावाह—वन्दीकृत्येति । हे मृग, तव द्विपां
मृगदृश पत्नी वन्दीकृत्य ते तत्र सैनिका ता पश्यतस्तत्प्रेयसां मनादृत्य
ता श्लिष्यन्तीत्यादि । अत्रादरे पटी । लान्ति श्लिष्यन्ति । ते प्रत्यर्थिभिस्तु
त्य स्तूयसे । स्तुत्याकारमाह—अस्माकमिति । 'मुहुर्तैर्दृशोर्निप-
तितोऽस्यौचित्यवारां निषे' । धापशिरसंक्रान्तेन सम्बोधयति—औचित्येति । तन् तस्मात्
अखिला विषदा विध्वस्ता । अत्रेति 'परोदाविषयत्वाद् रसाभास, शत्रुविषय-
वाद्य भावाभास । अनयोराख्यातान्तनिराकाङ्क्षयान्यन्यद्भवेऽपि राजस्तुतिपदवसायकत्वेन
अस्वात्मन्याद्भूतौ ।

1 'दृशे नम इत्याका (का १) वसन्धाराश्वेरीकवेऽपि स्तुतिमितीत्यात् इतिपदेन स्तुतिपरामर्शकत्वापि
नमस्कारपरामर्शसंभवात्' छ । 2 'योवदे' क । 3 'रतिभावत्वेन कथन' क । 4 'मुहुर्तैर्दृशापिशिरसंक्रान्तौ' छ । 5 'परोदाविषयनिषेविषयत्वात्' छ ।

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।

ददशे तव वैरिणां मदः स गतः कापि तवेक्षणे क्षणात्^(A) ॥१२०॥

अत्र भावस्य भावप्रशमः ।

साकं कुरङ्गकदशा मधुपानलीलां

कतुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।

अन्याभिधायि तव नाम विभो गृहीतं

केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥ १२१ ॥

अत्र त्रासोदयः ।

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः

क्षथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।

प्रमोदं वो दिश्यात् कपटवद्वेषापनयने

त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥ १२२ ॥

भावाद्भावप्रशममाह—अविरलेति । ददशे अस्मिन्, तवेक्षणे त्वन्कर्मक-
दर्शने सति न मदः क्षणात् कापि गत नष्ट इत्यर्थः । अत्रेति, अविरलेत्यादिव्यङ्ग्यस्य
राजवैरिविषयवक्तृभावस्य नाशः, तन्मदनाशव्यङ्ग्यराजविषयवक्तृभावस्याङ्गमित्यर्थः ।
चकवतीं तु—शत्रूणां मद्रूपव्यभिचारिभावस्य नाशः एवाङ्गमित्याह तत्र ।
मदस्य गमनाभावेन तस्मात्सह कापि गत इत्यनेन लक्षणैव गम्यत्यात् न तु व्यञ्जना
व्यङ्ग्यैव च शुणीभूतत्वेनोदाहर्त्तव्यत्वात् ।

भावाद्भावोदयमाह—साकमिति । हे विभो, कुरङ्गकदशा सुहृद्भिरपि साकं
सह तव वैरिणि मधुपानलीलां कतुं प्रवृत्ते सति, अन्यायकं तव नाम केनापि गृहीतं
सत् तेषामवस्थां विषमां व्याकुलत्वेन विपर्यस्ताम् अकरोदित्यर्थः । अत्रेति,
पूर्वाहं त्रासाप्रतीत्या तदनुवृत्तभावात् परार्हं तन्प्रतीत्या तदुदयः* । स चात्र
निष्काङ्क्षत्वात्पुन्यङ्गोऽपि राजस्तुतित्वात् तद्विषयभावस्यैव पर्यवसायकः, तेन
तद्विषयभावस्य अङ्गम् ।

भावाद्भावसन्धिमाह—असोढेति । तपस्यन्तीं पार्वतीं जटिलविप्ररूपेण

(A) अविरलेति । अन्य एवस्य द्वितीयादिपादत्रयं छन्दोवृत्तेन निबद्धम्, प्रथमपादस्यु
वृत्तान्तरेणेति उपजातिवृत्तमिदम् । 'अनिशं करवालकम्पनै' इति पाठेऽपि छन्दोवृत्तमेवेति शौध्यम् ।

1. 'तन्' इत्यतः परं च-इत्यत्र 'तन्' कर्तुं इत्यधिकं पाठो दृश्यते । 2. 'एव तदन्वयः' च ।

अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः ।

पश्येत् कश्चिच्चल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर ह ह हा व्युत्कामः कासि यासि(A) ।

हृत्पयो महेशस्य वर्णनमिदम् । कपटप्रदेशापनयने युगपत् पश्यदा त्वराशीयित्वाभ्या-
मभियुक्तः स्मरहर य प्रमोद दिश्यात्, तत्र त्वराहेतु प्रथमचरणार्थं, तत्काले
उल्लसन् उद्गुण्यमान भ्रमहभाषो दु महत्व यस्य तादृशस्य तपस भमोदा मोदुमस्मर्यं,
तत्र हृत्पत्नेन स्वरूपमदर्शयित्वा म्यातुपसामर्थ्यान् । शैथिल्यहेतुर्द्वितीयचरणार्थं ।
विश्रम्भो विश्वास ।

भाषाद् भावसबलत्वमाह—पश्येदिति । हे पृथ्वीपतिवृद्ध पृथ्वीपतिो धरण्य-
वृत्ते भवतिष्ठिव कन्या (ग)मत्तपार्थे वन्यफलकिसलयान्यादाता अर्थात् आकण्ठुकामं

(A) पश्येदिति । अत्र पश्येत् कश्चिदित्याद्यन्तरवाक्यं प्रतिपाद्युत्पन्नं अभिप्राय-
व्यञ्जका चेशविशेषा उद्गनीया तदनुपांगैव कुमारायां उत्तरोत्तरवाक्यानि सङ्गच्छन्ते । तथाहि—
पश्येत् कश्चिन्निवश्र यूतोरकान्नादम्पानेऽनौकित्यमम्भावनया दाहा । शङ्कामचरणस्य प्रवृत्ते
तस्मिन्नाह 'चल चपल रे' इति । चपल स्वच्छन्द्याचरणाच्चदलेत्यर्थं । अनेन रागातुधिहा
अनूया । चपल्येन सम्बोधेनादु बहानुरागेन तेन प्रणयमाने ज्वलिते आह—का त्वरेति,
अत्र मनोरथसिद्धेरवरयम्भाविनया छति । अहेतुकविलम्बासदिष्णुतया पुन प्रवृत्ते तस्मिन्नाह
अह कुमारीणि, अत्र कुमारायां मम नीर स्वातन्त्र्यमुचितमिति स्मृति । पूर्ववाक्येण तस्य
प्रत्यद्मुखप्रन्यानोद्यममालोक्याह—हस्तालम्बं वितरेति । ईदृशप्रार्थना श्रान्तजनस्यैति
अत्र भ्रम । हस्तालम्बनेऽपि कृत विशेषे दृष्टु पुनराह 'ह ह हा व्युत्काम' इति । तत्र प्रथमे
दैन्य स्पष्टम्, द्वितीये तु विवाहान् परमेव ईदृशम्यालम्बनस्य युक्ततया प्रागेव सनकरणे क्रमोद्धन-
मिति विबोध । अनौचित्याह्वनया हस्तं परित्यज्यैवापमरति तस्मिन्नाह कासि यामीति ।
अत्रौत्सुक्यं स्पष्टम् । कुमारीगामीदरती भावस्तरभवता कान्तिभसेनापि वर्णित । तथाच
शङ्कन्तरे—

अन्यौत्सुक्ये महति दधितप्रार्थनासु प्रतीया
कादक्षन्तयोऽपि व्यतिकरस्य कातरा स्वाङ्कदाने ।
आवाधन्ते न सलु मदनेनैव लठयान्तरत्वा-
दावाधन्ते मनमिजमपि क्षिप्तकाला कुमाराय ॥ इति । शेषार्द्धमस्य उगमम् ।

(B) मङ्गलार्थमिति मङ्गलार्थमित्यर्थं । क्षिप्तकालां शयने उपरोत् इति बोध्यम् ।

इत्थं पृथ्वीपरिवृद्ध भवद्विदिपोऽरप्यवृत्तेः

कन्या कश्चित्फलकिसलयान्याददानाऽभिषत्ते ॥ १२३ ॥

अत्र शङ्काऽसूया-धृति-स्मृति-श्रम दैन्य-(A)विरोधौस्तुक्त्यानां सवलता ।

एते च रसवदाद्यलङ्काराः । यद्यपि भावोदय-भावसन्धि-भाव-सवलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् द्रूयादित्येव-मुक्तम् ।

यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयः, यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः स्वप्नमेदादिभिः सह सङ्करः संसृष्टिर्वा नास्ति तथाऽपि 'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ती'ति कश्चित्त्वैलचिद् व्यवहारः ।

कश्चिदित्यम् अभिषत्ते, कन्या च तत्रैव जातमाया बोध्या । किमभिषत्ते इत्याह—
पप्येदिति । तत्र पप्येदित्यत्र शङ्क्य व्यङ्ग्या, चल वपल रे इत्यत्र असूया, का त्वरा इत्यत्र धृति, अह कुमारीत्यत्र कौमार्यस्मरणरूपा स्मृति, हस्तालम्बमित्यत्र श्रम, ह ह हा इत्यत्र दैन्यम्, व्युत्क्रम इत्यत्र मतालगोक्तिर्ममानुविता इत्येपरूपा मतिरेवात्र विबोध । कासि यासीत्यत्र औत्सुक्यं व्यङ्ग्यम् । तत्र च श्रमापेक्षया दैन्यं विहाय सर्वमुत्तरोत्तरं बलवत् । त्वमित्यर्थे असीति अ-ययम् । 'एषां सबलता च राज'—
प्रयोज्यत्वाद् राजप्रियभावप्रकर्षकाङ्क्षम् । एते चेति, ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यन्त इति धत् (पृ १४) प्रागुक्तम् तद्विद्ं दर्शितम् ।

ननु सर्वत्रैव अपराद्धेऽङ्गिन रसादिकमादाय कथं न ध्वनिव्यवहार इत्यत आह—
यद्यपीति । प्रायश स नास्तीत्यर्थः, शुद्धध्वनौ सङ्करसंसृष्ट्यभावात् । 'स्वप्नमेदादिभिः'रित्यादिपदान् स्वप्नमेदद्वयस्येव ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यद्वयरूपपरप्रमेदयो-
रपि सङ्करो बोध्यः । समाधत्ते—
तथाऽपीति । 'प्रधानेन' 'वमन्काराधिक्यरूपा'—
प्राधान्यवता, न तु निराकाङ्क्षत्वाक्यव्यङ्ग्यतया प्रधानेनेत्यर्थः, तदा अपराद्धेऽपि अङ्गिनस्तथात्वात् ध्वनिव्यवहारापत्ते । एवञ्च द्वयोस्तुल्यवमन्कारित्वे निराकाङ्क्ष-

(A) विरोध इति । अत्र विरोध 'भीतिमार्गानुसृत्यादेरर्पनिर्दोषण मति'रित्युक्तलक्षण-
मतिरूप, 'निद्राऽपगमहेतुभ्यो विरोधश्चेतनागम' इत्युक्तलक्षणविबोधस्तु अनिदिताया कन्याया
न सम्भवतीति विभावनीयम् ।

१ 'प्राधान्येन' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः । २. 'एषां व्यपत्तां यने व्यापितप्रयुक्तराज' ख ।
३ 'वमन्कारकलापीन' क ।

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्वितधिया
धचो वैदेहीति प्रतिपदमुदञ्च प्रलपितम् ।

कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीपुष्टना

मयाऽऽप्तं रामत्वं कुशलवसुना न त्वधिगता (A) ॥ १२४ ॥

वाच्यव्यङ्ग्यत्वे वा भङ्गाङ्गिभाससत्ये ततमङ्कुरस्तदमत्त्वे स्मृष्टि, भङ्गिभासस्य चमत्-
कारित्वे तु शुद्धयनि, 1 भङ्गिभासस्य चमत्कारित्वे तु अपराङ्गमिति विषयविभाग ।

इत्थ रसाङ्ग रसादिकमुदाहृत्य वाच्यार्थस्याङ्गेऽनुरणनरूपे उदाहर्त्तव्ये वाच्यालङ्कार
स्याङ्ग शब्दशक्तिमूलमनुरणनरूपमलङ्कारमाह—जनस्थान इति । दरिद्रस्याङ्किरियम् ।
तुल्यशब्दवाच्यतारूपसाधर्म्यात् मया रामन्व प्राप्त राम इवाह ज्ञात इत्यर्थ । तुल्यशब्द-
वाच्यत्वरूप साधर्म्यमाह—जनस्थान इति । कनकमयमृगतृष्णया प्राप्तीच्छया
अन्वितधिया रामेण जनस्थाननामि दण्डकारण्यैकदेशे भ्रान्त मया तु जनाना स्थाने
कनकरूपया मृगतृष्णया मरीचिकया अन्वितधिया भ्रान्तम्, (B) कनके मृगतृष्णात्पणञ्ज

(A) जनेति । ध्याल्यातमिदुदघोतकारै—कस्यचिद् राजसेवानिर्विण्णस्य कवेरुक्ति । मया
रामत्वं रामचर्म, सन् प्राप्तम्, कुशल परिणामसंसम् उद्वेगनिरासनिपुण वा बहु धर्म यस्य तद्वाच्य
कुशलवचना सैव कुशलवो एतौ यस्या इति व्युत्पत्त्या सीता सा तु नाधिगता । रामत्वं कथं प्राप्त
तदाह—कनकमय मृगो मार्गण प्राथंनं वा तत्र या तृष्णा कनके वा या मृगतृष्णा निष्कलाऽऽशा सैव
कनकमयो मारीचे तृष्णा तया अन्विता धीर्यस्य तादृशेन मवेत्यर्थ । यद्वा अन्वितधिया करण-
(भूत)या जनानां स्थाने ग्रामनगरादौ भ्रमणमेव दण्डकारण्ये भ्रमणम्, तन् कृतम् । धै निश्चयेन
वैदेहीति वचनमेव वैदेहीति सीतामम्बोधनवचनम्, तत् प्रतिपदं प्रतिभानम् उद्गमनमप्यत्र तद्
पथा भवति तथा प्रलपितम् । भर्तुं भरणस्तुर्धनिकम्य परिपाटीषु सेवातदनाह अन्मत्यर्थं का
ष्टना न कृता वद । अथवा कामर्तुं कुम्भितभर्तुं वदनपरिपाटीषु मिथ्याभाषणप्रकारेषु
ष्टना उपरति, वदनपरिपाटीषु मुम्भविजलादिषु तदाशयाद्युत्तयनाभं वदना उपरयो वा, स एव
लङ्काभर्तुं रावणम्य वदनपरिपाटीषु (मुम्भ)पदक्यामिपुष्टना अलमत्यर्थं कृतेति श्लेषोप-
स्थापितानामभेदातोपाद् रामत्वोपपत्तिरिति ।

(B) रामतर्कवर्गीशस्तु—'केचित्तु'इत्यनेन कनकइत्यादिमाधर्म्यादित्यन्तं धन्यमुदृत्य तत्र
'तत्र, स्वस्वमत कनकमय सुद न्पीकरणासम्भवात् तन्प्राप्तीच्छया लक्षणाऽवरयमङ्गीकार्या,

1 यत् पर ए पृष्ठके। 'अत्र' इति तु तत्र तद्व्यभिचारिभावकवचनया तद्विषयकत्वमात्रम् इत्याशौचित्यको इत्यने ।
काव्यम्—२६

अत्र 'शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः ।

दुष्पाप^१जलार्थिनो मृगतृष्णायामिव दुष्पापे कनकेऽपि प्रवृत्तेऽन्नाद्यप्रवृत्तिविरयत्व-
साधर्म्यात्^२ । रामेण प्रतिपद पदे पदे^३ उद्द्यु यथा स्यात् तथा वदेहीति ध्व
प्रलपितम्, मया तु वी इत्यनेन सम्बोध्य कातर्यादुद्द्यु यथा स्यात् तथा देहीति ध्व
प्रतिपदं प्रतिस्थाने प्रलपितम् । रामेण लङ्कामर्तुं रावणस्य धनानां मुत्तानां परि-
पाश्यां पदकौ परिपादननिमित्तं वा इषुघटना(A) कृता, मया तु भर्तुं प्रमो परि-
पाटीषु परिचर्यानिमित्तं का घटना धलम् अन्यर्थे न कृता तद् वद् ; कुशलं वारिघ्राप-
नायक धनु धन यस्य तथाता मया तु नाधिगता, रामेण तु कुशलवौ सुतौ यस्या मा
सीता प्राप्तेव इति तु शब्दलभ्योऽर्थः । अत्रेति । 'उपमानोपमेयभाव' उपमा, रामत्व-
प्रातिव्यङ्ग्या, 'वाच्याङ्गता' 'वाच्यस्य व्यतिरेकालङ्कारस्य'^४ । (B) अङ्गतां प्रकर्षकताम्
कविना नीत इत्यर्थः । व्यतिरेकालङ्कारोऽत्र अप्राप्तकुशलवसुनाकस्य उपमेयस्य
दृष्टिस्य प्राप्तकुशलवसुनाकान् रामादुपमानाद् आधिवचरूपो नप्रा वाच्य, आधिपत्यञ्च
प्रतिपाद्यस्य विषादस्याधिक्यात्(C) । उपमानोपमेयभाव इत्युपलक्षणम्, रामरूपकमपि

एवञ्च तत्र निरुक्तसाधर्म्यासम्भवाद रूपकासङ्गते' इति दूषणमाह । अत्र सत्यम्मत व्याख्यानन्तु—
'कनकस्य मृगतृष्णान्यामन्वेकणप्राप्तीच्छाम्यामन्यितधिये' इति ।

(A) लङ्कामर्तुं रावणस्य धनपरिपाटिनी कण्ठच्छेदिनी इषुघटना इति कर्मधारयोऽपि
सम्भवतीति बोध्यम् ।

(B) अत्र दर्शककारा — 'अत्र रामत्वं प्राप्तमित्यववनेऽपि शब्दशक्तिरेव रामत्वमवगम्यते,
वचनेन तु सादृश्यहेतुकतादात्म्यारोपणमाविष्कुर्यता सदगोपनमपाकृतम्; तेन वाच्यं सादृश्यं
वाक्यायांन्वयोपपादकतया अङ्गतां नीत' इति वदन्ति ।

प्रदीपकारास्तु—'वाच्याङ्गभावेन शब्दशक्तिमूलस्य लक्ष्यक्रमस्य गुणीभावे श्लोकमिममुदाहृत्य
'अत्र पादत्रयप्रोत्थाऽपि रामेण सहोपमा 'मयाऽऽप्त रामत्वमित्यनेन वाच्यतां नीता, तदङ्ग च
शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो द्वितीयोऽर्थः' इत्युपपादयन्ति ।

(C) विषादस्याधिक्यादिति । 'उपमानाच्च नताऽर्थे' इत्युक्तत्वा दर्शकानां मते तु अत्र
उपमेयस्य इदिस्य प्राप्तकुशलवसुनाकाद् रामादप्राप्तकुशलवसुनाकत्वस्वरूपज्ञानजोषया द्वितीयो
व्यतिरेकभेद सातु सङ्गच्छते इति बोध्यम् ।

१ 'शब्दशक्तिमूलोऽय' इति पाठान्तरम् । २ 'विंश कनके च दुष्पापकत्वमनविषय-
रूपसादृश्यात्' इति । ३ 'एत पर ख-पुच्छे 'यानि स्थाने' इति चिक इत्यने । ४ 'वाच्यस्य कुशलवसुनाऽप्राप्या
प्राप्तत्वात् रामादितिरेकत्वस्य च न वाच्य' इति ।

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंप्लुलाङ्गी-
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः ।

एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते

तन्वङ्गि पादपतनेन सहस्ररश्मिः^(A) ॥ १२६ ॥

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरवि-
कमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः ।

तादृश बाध्यम् । यद्यपि उपमानोपमेयभावा व्यतिरेकात्पङ्कटाररीरनिर्वाहक एव
तथाऽपि बहुश्लेषणनिगह्यत्वं सति वैचित्र्याधिक्यात् प्रकथकाऽपीत्यश्लेषम् ।

¹ अर्थशक्त्युत्थयमनुरणनरूपमलङ्कारमपि वाच्याङ्गमाह^१—आगत्येति । प्रात-
र्मानिनीं प्रति नायकस्थितिरियम् । इतन्वङ्गि, सहस्ररश्मिं सूर्य सम्प्रति आगत्य
एतामम्भोजिनीं पादेन रश्मिना पतनेन प्रभाते शनैः प्रसादयति एतत् पश्य ।
कीदृश ? क्वचिदपि द्वीपान्तरे क्षपितरात्रिक । अम्भोजिनीं कीदृशीम् ? सूर्य
त्रियाग्नयिसंप्लुलाङ्गीं व्याकुलाङ्गीम्, अङ्गमत्र पुष्पमेव । (B) अत्रेति, नायकत्वत्र
परुशेय नायिकानायकवृत्तान्त इत्ययम् । स च क्वचिदपि नायिकागृहे क्षपितरात्रिका
नायक प्रातरगत्य त्रियागविसंप्लुलाङ्गीं नायिका पादपतनेन शनैः प्रसादयतीत्यय
रूप । वस्तुरूप इति । ² समासात्किरूपस्याप्यस्य वस्तुत्वानपायाक्षियुत्तम् ।

(A) आगत्यति । अत्रोक्त बालशोचिन्याम्—‘विनैवानुनयमपगतमाना नायिका मत्स्या
उपालम्बत । तथाहि—सहस्ररश्मिरित्यनेन बहुनायिकावस्त्व ध्वन्यत । अम्भोजिनीमित्यनेन
वर्णनाया पद्मिनीत्वम्, क्वचिदपि इत्यनेन उपनायिकागृह एवति निश्चयाभाव, तत्रापि यामत्रयमेव
न त्वधिकमिति । एवञ्च ईदृशोऽपि ईदृशीं स्वयमवागत्य पादपतनेनानुनयति, ईदृशो हि काभिनो
व्यवहार, त्व पुनर्वहुतरकालं परनायिकासत्त्वे धृत्त विनैवानुनयं मानं त्यक्त्वा प्रमत्ताऽसीत्यु-
पालम्भ । एवञ्च नायकनायिकावृत्तान्तकथनमेवाभिप्रेतम् । स च वृत्तान्तो व्यन्यमानो
वाच्य शक्तिमलिनीवृत्तान्तेऽभिप्रेतया चारोप्यमाणस्तस्य प्रकृतार्थता सम्पादयन् तदुत्कर्षमाधत्त
इत्यङ्गनयैवास्त । अयमेव समासोक्त्यलङ्कार इत्युद्गोतादीं स्पष्टम् इति ।

(B) अत्र प्रदीपकाराणामुपसर्जनप्रकारस्तु—‘अत्रार्थशक्तिमूले नायकनायिकावृत्तान्ता

१ अर्थशक्तिवृत्तान्तव्येनकष्य व्यङ्ग्यमप्रस्तुतप्रसङ्गात्तद्वार वाच्यार्थोभूतवृत्तनीऽऽमाह च । २ अत्र
नस्तत्कारवीभेदकथनानुपपत्तीशब्दकारणादि वस्तुत्वानपायान् समासोक्त्यलङ्कारक इत्याद्य अपरत्रयकथनेन
प्रकृतस्य व्यङ्ग्यस्य समासोक्तित्वात् च ।

वाच्यसिद्धयङ्गं यथा—

अग्निमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।

मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥१२६॥

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत् ।

अवस्तुरूप इत्येवम् अकारप्रभ्लेपो वा^१ । निरपेक्षेति नायकवृत्तान्तरूपव्यङ्ग्यनिरपेक्ष-
त्यर्थः, तदन्वय विनैव वाच्य-रविकमलिनीवृत्तान्तप्रतीते । अनेन व्यङ्ग्यप्रतीतिसापेक्ष-
वाच्यप्रतीतेर्वक्ष्यमाणवाच्यसिद्धयङ्गाद्व्यङ्ग्यवच्छेदः कृतः । अध्यारोपेणेति रवि-
कमलिनीवृत्तान्त एव नायक इत्येवमध्यारोपेण स्थित इत्यर्थः । रविकमलिनीवृत्ता-
न्तस्य मानिन्यां प्रदर्शनानुपयोगेन नायकवृत्तान्तारोपेणैव तदुपयुक्तारूप प्रकृत्य
इत्यतोऽङ्गमित्यर्थः । अगूढे वाच्यतुल्यचमत्कारित्वेन अपराङ्गे तु स्वचमत्कारस्य
परार्थतया वाच्यादनतिशयो बोध्यः ।

(३) वाच्यसिद्धयङ्गमाह—वाच्यसिद्धीति । 'आपातत' प्रतीतस्य वाच्यार्थस्य
प्रतिसन्धीपमानानुपपत्तिनिष्पन्नक व्यङ्ग्य वाच्यसिद्धयङ्गम्^१ । अग्निमिति । अ-
कारकत्वेन श्यामत्वेन च जलद एव भुजग, तज्जन्य प्राकरणिक जलमत्र विषम्,
'विषमप्लु च' इत्यमरकोषात् । तच्च जलं वियोगिनीनां म्रम्याद्यष्टकं करोतीत्यर्थः
वृष्टिजलस्य वियोगोद्दीपकत्वात् । प्रलय नष्टचेष्टताम् । तमं चलुपि तिमिरम् ।
अत्रेति(A), अनेकार्थस्य विपराब्धस्य प्रकरणेन जले वाचकत्वे नियमनात् हालाहल

वाच्यरविकमलिनीवृत्तान्तारोपेण तदङ्गतयैव स्थित, समासोक्तौ 'उपोदराणेण विलोळ'
इत्यादौ सर्वत्र प्रतीयमानार्थोपलब्धत्वाच्चान्यैव प्राधान्यात् । अर्थं च पादपत्तनेनेति छिद्राब्ध-
सङ्गावेऽपि न 'शब्दशक्तिमूलत्वेन व्यपदेश्य किन्त्वर्थशक्तिमूलत्वेन, प्राधान्येन व्यपदेश इति
श्यायात्, तद्व्यतिरेकेणापि नायकनायिकावृत्तान्तान्तरव्यक्तिसम्भवात् । न चोपनाऽत्र व्यङ्ग्या
'उहास्य काळ-' इत्यादिवत् श्लेषाभावात् । न च वाच्यसिद्धयङ्गत्वम्, रविकमलिनीवृत्तान्तस्यै-
तन्नैरपेक्षैवैव सिद्धे' इति ।

(A) अत्र प्रदीपकाराणां वाच्यसिद्धयङ्गत्वोपपत्तिप्रकारस्तु—अत्र हालाहलरूपो विपराब्धार्थो
व्यङ्ग्य, जलेऽभिधानियमनात्, स च जलदभुजगोति रूपगतस्य वाच्यस्य सिद्धिं करोति, अन्यथो-
पमामन्दैरसम्भवात्' इति । तथा चन्द्रिकाकारा अपि—अत्र अयकृतत्वेन व्यङ्ग्यं हालाहलं जलद-
भुजगोनि रूपकस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत्, अन्यथा जलदस्य भुजगतत्वायोगेन भुजग इव जलदं

१. 'अप्यन अनिवाच्यवचोपलक्षणात्सार्थं पश्चादनुपपत्तिरप्यस्यै वादशानुपपत्तिरप्यस्यै यत्तत्रैव स्यात्
तद वाच्यसिद्धयङ्गम्, तादृशमव्यङ्ग्यत्वात् वाच्यमपि तत्रात्मकम्' च ।

इत्यामन्त्रणमङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसाम्

आश्लिष्यन् पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः ॥ १२७ ॥

अत्राऽच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेत्यादिवाच्यस्य । एतच्चैकत्र
एकवक्तृगतत्वेन अपरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेनेत्यनयोर्भेदः ।

अस्फुटं यथा—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता

नादृष्टेन न दृष्टेन (A) भवता लभ्यते सुखम् ॥ १२८ ॥

इत्यामन्त्रणशक्तस्य पूर्वार्द्धरूपस्य भङ्ग्या व्यङ्ग्यार्थेन सूचितो यो वृथाऽवस्थान-
खेद तेन अलसां गोपीमाश्लिष्यन् अत्र एव पुलकोत्कराञ्चिततनु हरिः वः पातु ।
पूर्वार्द्धस्य वाच्यार्थस्तु हे अच्युतनामक अऽ गच्छामि, भवतो दर्शनेन किं तृप्तिरुत्पद्यते ?
नैव, अपि तु स्वगर्हस्थ्यावितचेष्टयैव, प्रत्युत विज्जनस्थयोरावयो अन्ययेव हतजनो
दुर्जन सम्भावपतीत्येवरूप । अत्र च यावद् व्यङ्ग्यार्थो न प्रतिसन्धीयते तावत्
इत्यामन्त्रणेत्यादिवान्शर्था प्रतीयमानोऽपि प्रतिसन्धानान् अनुपपद्यमानतयैव भासते,
व्यङ्ग्यार्थरूपा भङ्गिन्तु प्रतीता तदनुपपत्तिनिरासहृत् । स च व्यङ्ग्यार्थो यथा—हे
अच्युत मद्विधनायिकादर्शनेऽपि धैर्यच्युतिरहित, भवतो दर्शनेन किं तृप्तिरुत्पद्यते ?
नैव, अपि तु उपभोगेनैव ; उपभोगे सति तु दुर्जनानामन्यथा सम्भावनाऽपि न
दुःखाय, विदग्धजनस्य सम्भावना तु सुखायेत्येवरूप । उदाहरणान्तरप्रदर्शनरीज-
माह—एतच्चेति । 'एकत्र' भूमिमरतिमित्यत्र, तत्र हि वाच्यव्यङ्ग्ययोरेकं करिर्वक्ता,
'तद्गतत्वेन' तत्सम्बन्धित्वेन, 'अपरत्र' गच्छामीत्यत्र, तत्र हि वाच्यार्थस्य वक्ता
कविः, व्यङ्ग्यार्थस्य तु वक्ता गोपीति 'वाच्यसिद्धयद्दे वाच्यसाधकत्वेन परार्थतया
वाच्यादमतिशयो बोध्यः' १ ।

(४) अस्फुटमिति विदग्धैरपि ज्ञेयगम्यत्व तत्त्वम् । अदृष्ट इति । अत्र भवता
सुखमेव न लभ्यते इत्येव व्यङ्ग्यमज्ञेयगम्यम्, दर्शनं तु विरहितं व्यङ्ग्यं विदग्धैरपि
ज्ञेयगम्यमेव । किं च शिष्टमिति पुस्तकभेदेन पाठविकल्पः, ज्ञेयगम्यमित्येव तु सर्व-

(A) भवता इति हेतौ तृतीयेति उदाहरणचन्द्रिकाकारादयः ।

१ 'वाच्यसिद्धयद्दे वाच्यार्थं विदग्धनेन भावतत्वाभावात्, परमुत्तरीचकत्वेन वाच्यादमतिशय-
कीभम्' इति ।

अत्राऽदृष्टो यथा न भवसि वियोगभयं च यथा नोत्पद्यते तथा कुर्या इति क्लिष्टम् ।

सन्दिग्धप्राधान्यं यथा—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तवैर्षश्चन्द्रोदपारम्भ इवाम्बुराशिः ।

उमामुते विम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयाम्नास विलोचनानि ॥१२९॥

अत्र परिवृत्त्युत्पत्तौ चैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचन-
व्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः ।

स्यार्थः । 'चित्रकव्यस्यास्फुटालङ्कारगुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च अस्फुटव्यङ्ग्यत्वविशेषेऽपि चित्रे स्फुटालङ्कारत्वम्, अस्फुटे तु गुणीभूतव्यङ्ग्ये न तथेति भेदः । न च तर्हि चित्रं कथं गुणीभूतरूपादितोऽधमं प्रागुक्तं सङ्गच्छते इति वाच्यम्, अत्रास्फुटस्यापि व्यङ्ग्यस्य चमत्काराधिक्यम्, चित्रे तु स्फुटालङ्कारादेव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारतिरोधानाद्धमत्वमिन्व्यभिप्रायात्' * क्लेशगम्यत्वादेवात्र वाच्याङ्गतिशयो बोध्यः ।

(४) सन्दिग्धेति । प्राधान्यमत्र रसादिव्यङ्ग्यत्वेन । तथाच प्रतीतस्य रसादेर्ध्वङ्गक-
क्ति वाच्यं व्यङ्ग्यं वेति शैलरकालिकसन्देहविषयन्तत्त्वम् । हरस्त्विति । कुमार-
सम्भवे आकालिके वसन्ते जाते सर्वपापेषु कामभागेदुग्ने हरम्यापि किञ्चित् 'तथाव-
वर्षानमिदम् । चन्द्रोदयस्य आरम्भे उत्पत्तिदशायाम् । अत्रेति, महेशश्चन्द्रा-
व्यङ्ग्यत्वात् प्रधानम् । न च ह्यमेव तद्व्यङ्ग्यत्वात् प्रधानमित्यतस्तुव्यप्राधान्यमेव
अस्त्विति वाच्यम्, 'वैर्षपरिवृत्ते' किञ्चित्त्वेन चुम्बनेच्छाप्यन्तायास्तस्या निश्चेतु-
मशक्यत्वात्, 'दर्शनादेव विरतिमग्भात्' * । तथाच व्यङ्ग्यत्वशयाधीन एव तत्-
प्राधान्यसंगत इति बोध्यम् । अत्र वाच्यव्यङ्ग्ययोर्द्वयोरपि प्राधान्यस्य संशयित्वाद्
धान्यत्वव्यतिरेकः १ ।

१ 'स्फुटव्यङ्ग्यत्वे चित्रे तु स्फुटालङ्कारत्वादिति भेदः । तर्हि कथमितोऽधमं तदिति चित्रं क्लेश-
गम्येनापि अस्फुटत्वमप्युक्तम् न, स्फुटालङ्कारतिरोहितत्वादर्तोऽधमत्वम्' क । २ 'अथमं च पुस्तके
नस्ति । न पुस्तकानु चन सन्निवम् । ३ 'अत पर क-पुस्तके 'वाच्यं निश्चितेऽपि तत्प्राधान्यं
संशयित्वादेव' इत्यादिपक्षो दृश्यते ।

तुल्यप्राधान्यं यथा—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये

'जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनापते ॥ १३० ॥

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्त्रियाणामिव रक्षसां क्षणात् क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् ।

काकाक्षिप्तं यथा—

मग्न्यामि कौरवशतं समरे न कौपाद्

दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।

(६) तुल्यप्राधान्यमिति । अत्रापि रसादिव्यङ्ग्यतयैव प्राधान्यम् । ब्राह्मणेत्यादि । द्विविधये परशुरामं जिगीषुं रावण प्रति तच्चासजनक मन्त्रिवाक्यमिवम् (A) । भवतामेव भूतये, न तु स्वार्थं व्रवीमीत्यर्थः । तथेति ब्राह्मण इत्यर्थः । मित्रञ्चेति नाथोऽत्र बोध्यः । अत्रयेति अतिक्रम इत्यर्थः । दुर्मनापते इति भविष्यत्सामीप्ये वर्तमाना । अत्रेति, "वाच्यस्य" मित्रब्राह्मणदौर्मनस्यस्य । समं प्राधान्यमिति द्वयोरपि असंशयितत्वेन त्वासरूपव्यभिचारिभावव्यङ्गने द्वयो साम्यात्, शापरापोत्पादकत्वेन हि वाच्यात् त्वास, दर्शितव्यङ्ग्यात् साक्षात् त्वास ; 'स च व्यङ्ग्यया सामाजिकबोध्यः'० । अत्र प्राधान्यसाम्यादेव वाच्यादनतिशयः ।

(७) काकोति । आक्षिप्तत्वं 'सहसा बोधत्वम् । तथाच शब्दबोधतः प्रागेव पदार्थविधया 'उपस्थितिः । मथ्नामीति । सहदेव प्रति सन्धिकरणासहिष्णो-

(A) ब्राह्मणेति । महावीरवरिते द्वितीयेऽङ्के रावणमुद्दिश्य परशुरामप्रेषितपत्रम्यतया पत्रमिदमुपलभ्यते, अतो द्विविधये इत्यादिक टीकाकृद्वाक्यं साहित्यदर्पणटीकायामप्येतत्प्रमाणार्थकं रामचन्द्रवन्देवागीशवाक्यञ्च सन्दिग्धप्रामाण्यकमिति मन्यन्त्यम् । अत्र श्लोके 'भवतामेव न तु ब्राह्मणानाम्, जामदग्नोः जीवन्ति तेषामनिष्टत्यासम्भवादिनि भावः । भवतामेवेति बहुवचनेन सकलसन्ध्याऽऽश्लेषः । अन्यथा ब्राह्मणातिक्रमत्यात्यागे तथा साहसा जन्मनः प्रभृति सकलरहस्यवेदीत्यर्थं (एतेन सत्यामपकारेच्छायां तत्साधने प्रयासापेक्षा नाम्नीति सूच्यते) इत्युदाहरणचन्द्रिकायां विशेषः । 'दुर्मनापते इति गम्भीरोक्त्या समत्वकारित्वात् विप्रहवत् सन्धेरपि विवक्षितत्वाच्च' इति प्रदीपः ।

1. 'जामदग्न्यस्य बो' इति पठन्ताम् । 2. 'आप्त जनमित्याऽऽकाशंती निषण्णनीयमिति हि नौति, साहजनकत्वेनेवात्र चमत्कारः, चासल्लभ्यतेनेव निषण्णप्रयातिक्रमेणापीति प्राधास्यदहृत्यता' प । 3. चवमथः स-पुच्छे भाषि । 4. 'सह बोधत्वम्' ख । 5. 'उपस्थान्यवधिशापः' ख ।

संचूर्णयामि गद्या न सुयोधनोऽह

सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥ १३१ ॥

अत्र मध्नाभ्येवेत्यादि व्यङ्ग्य वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम् ।

असुन्दरं यथा—

षाणीरकुडंगुड्डीणसउणिकोलाहल सुणतीए ।

परकम्भवावडाए बहुए सीअन्ति अंगाइ ॥ १३२ ॥

अत्र दत्तसङ्केतः कश्चिच्छ्रुतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यत्वात्
सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम् ।

भीमस्योक्तिरियम् । मध्नामीत्यादीं सर्वत्र भविष्यन्सामीप्ये वर्तमाना, मधिष्या
मीत्यादयोऽर्था । उरस्त दृश्यताम् । सुयोधन इति दुर्योधनस्य अपर नाम । भवतां
नृपतिरित्यनेन स्वानभीषसन्धिकरणान् स्वनृपतित्वाभावसूचनम् । अत्र कृतकौख
शनवधादिप्रतिश्रुत्यस्य भीमस्य न मधिष्यामीत्युक्तिर्बाधितार्था, अतोऽत्र शिरश्चालन
सहस्रता काकु प्रतीयते, तथा च 'न न मधिष्यामीत्यादिरीत्या अपरनप्रर्थ आक्षिप्यते ।
तथाच नमर्थद्वयेन एवकारार्थं पर्यवस्यतीत्याह—अत्रेति । मध्नाभ्येवेत्यादीति
मध्नाभ्येवेत्यादौरेकदेश एकनमर्थ एव व्यङ्ग्यो वाच्य', एकनमर्थस्य वाच्यत्वेन नमर्थवार्था
त्मकस्य एवकारार्थस्य व्यङ्ग्यत्वाभावात् । अत्र 'व्यङ्ग्यस्यापि नमर्थस्य वाच्यनमर्थ-
सहभावेनैव उपस्थित्या'* शाब्दबोधजननाद् वाच्यतुल्यत्वेन वाच्यादनतिशयो
बोध्य ।

(=) असुन्दरमिति । रसादिवोधनने 'वाच्यसापेक्षद्वयत्व तत्त्वम् । अत
एवास्य वाच्यमुखनिरीनकत्वेन वाच्यादनतिशयो बोध्य । एतदुदाहरण प्रामत्तरण
मित्याद्येव दर्शितम् । सौलभ्याच्च तत्तुल्यमन्यदाह—वाणीरेति ।

षाणीरकुडङ्गुड्डीणसउणिकोलाहलं शृण्वन्त्या ।

एतन्मयापृताया बध्वा सीदन्त्यङ्गानि ॥ इति ससृत्तम् ।

अत्रेति । इति व्यङ्ग्यादित्यत्र इत्यादिव्यङ्ग्यादित्यर्थः । तथाच 'बध्वा तत्र
न गता' इत्येतत्पर्यन्ताद् व्यङ्ग्यादित्यर्थः । अयं भावः—बध्वा अगमनमात्र न

। 'वाच्येन नमर्थस्य वाच्यत्वजननादि शाब्दबोधतः शाब्दबोधनेन' इति । * वाच्य
काश्चिन्वाच्ये' इति

(६७) एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥ ४६ ॥

यथायोगमिति—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा ।

ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्^(A) ॥

(ध्वन्यालोकः, उद्योत २, श्लोक ३०,)

इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।

तदीयमित्यलम्भव्यञ्जकम् अगमनस्य तस्या धकार्यन्यायेन गृह्यकर्मसमापनानन्तरं जिग-
मिषयाऽपि वा सम्भवात्, किन्तु शकुनिकोलाहलश्रवणेन सीदद्गच्छा बध्वा अगमन-
मेव तद्व्यञ्जकमिति वाच्याङ्गावसादसङ्कारणैव रम्ययज्ञे वाच्यमुखनिरीक्षकत्वात्
धम्यातन्त्र्येण वाच्यन्यूनचमत्काराणि । वाच्य उक्तहेतुकोऽङ्गामसावन्तु उक्तव्यङ्ग्य-
निरपेक्ष एव रम्यव्यञ्जक इति सोऽधिकचमत्कारी, शकुनिकोलाहलस्योद्दीपकत्वेन
तदर्थाङ्गावसादस्यैव व्यङ्ग्यनिरपेक्षस्य यथोक्तव्यङ्ग्य विनाऽपि मित्यलम्भव्यञ्जकत्वात् ।

एषामिति उक्ताष्टविधव्यङ्ग्यानामित्यर्थः । 'भेदा' प्रभेदाः । पूर्ववदिति,
ध्वन्यर्थया लक्षणादिमूलकत्वादिभेदेन एकपञ्चाङ्गाद्विध्वन्यम्, तथा एषामपि प्रत्येकमैक-
पञ्चाङ्गाद्विध्वनेन अश्रधिकवन्तु गतरूपन्यमित्यर्थः । तत्रैव कश्चिद् भेदो गुणीभूतो न
सम्भवतीत्याह—यथायोगमिति, यथासम्भ्रममित्यर्थः । असांभ्रवरथल दर्शयति—
व्यज्यन्ते इति । 'ध्वन्यङ्गता' काव्यस्य ध्वनित्वनिर्वाहकता । 'काव्यवृत्ते'
तादृशकाव्यवृत्ते । 'तदाश्रयात्' ध्वनित्वाश्रयणात् । ननु किमत्र बीजमिति
चेत् काव्यस्य चमत्कारस्तावत् व्यङ्ग्यस्य व्यङ्ग्यत्वेन अलङ्कृतित्वेन च,
तत्र व्यङ्ग्यत्वेन चमत्कारस्य अगूढत्वादिना गुणीभावेऽपि अलङ्कृतित्वेन
चमत्कारस्य अगुणीभाव एवेति बीजम्^(B) । न चैव शङ्कतया अलङ्कारेण वा

(A) 'काव्यस्य कविज्वापारस्य वृत्तिस्त्वदाश्रया अलङ्कारप्रवणा' इत्यभिनवगुप्ताचार्याः ।

(B) अत्र प्रदीपकारा—ननु एतदलङ्कारापेक्षया वस्तुमात्रस्य नातिशयनियमस्तदा कथ-
मलङ्कारेण वस्तुमात्रव्यङ्ग्ये ध्वनित्वमिति चेदुच्यते—स एवार्थो वाच्य सन् न तथा चमत्कारोति
यथा व्यङ्ग्यतामापन्न इत्यनुभवमिदम्, अतो वाच्यता अपकर्षं हेतुर्व्यङ्ग्यता बोद्धव्यायेति स्थिरम् ।
एवमलङ्कारेण वस्तुमात्रं व्यङ्ग्य तत्रालङ्कारस्य द्वाच्यत्वेन किञ्चिदपकर्षाद् वस्तुमात्रस्य च व्यङ्ग्य-
त्वेन किञ्चिदुत्कर्षाद् व्यङ्ग्यत एव ध्वनित्वम्, एतद् तु वस्तुनाऽलङ्कारो व्यङ्ग्यते एव वस्तु-

(६८) (A) सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्कारैः ।

सालङ्कारैरिति तैरेवासालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः । तदुक्तं

ध्वनिकृता—

स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।

सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते यद्बुधा ॥ इति

(ध्वन्यालोक उद्घात ३ श्लोक ४४)

व्यङ्ग्यस्यालङ्कारस्यापि तथात्वेन वस्तुमात्रेणैव भावपदेन कथं 'व्यङ्ग्या
लङ्कारव्यवच्छेदो कृत इति'* वाच्यं तत्र व्यङ्ग्येन शब्दश्लेषालङ्कारणं वाच्यायां
लङ्कारेण च काव्यस्य चमत्कृतत्वात् 'व्यङ्ग्यालङ्कारस्य वाच्यतुल्यचमत्कृतप्रयाजक
त्वेन 'वाच्याइतिरायाद् गुणीभावात्'* ।

सालङ्कारैरिति 'तैः' 'गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदैः, 'सालङ्कार' धकारात्
निरलङ्कारैश्च 'ध्वने' मङ्करादिचतुर्विधे 'योग' इत्यर्थः । तेषां सालङ्काराणां
प्रभेदवृद्धिप्रदर्शनायं सालङ्कारैरित्युक्तम् । सालङ्कारता च स्फुटालङ्कारवत्ता, तेन
निरलङ्कारताऽस्फुटालङ्कारवत्तैव, अलङ्कारमात्रभावे सालङ्कारत्वघटितकाव्य
लक्षणानुपपत्तेः । स्फुटालङ्कारत्वमपि अस्फुटप्रख्य (गाल्य ?) प्रभेद
विहायैव बोध्यम् तस्य स्फुटालङ्कारवत्त्वे चित्रकाव्यत्वापत्तेः । अयमेव हि
चित्रास्फुटयोर्मैव प्राग् दर्शितः* । अलङ्कारयुक्तैरिति, इयं 'सालङ्कार' इत्यस्य
व्याख्या । अलङ्कारैरिति तु अर्थवशलाभ्यं व्याख्यातम्, अपराङ्गस्य रसनदाद्यल
ङ्काररूपत्वात्, स गुणीति । स ध्वनि स्वैः प्रभेदैः गुणीभूतव्यङ्ग्यैश्च सह-यर्थः ।

लङ्कारयोर्वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वाभ्यामनियतेनैवोक्तकर्षाकर्षाविति कृता गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वावकाशः ।
इदन्तु चिन्त्यम्, एवं चाहत्याभावनिरन्तरं गुणीभूतत्वं मा भूत्, अगदत्वादिनिबन्धनं तु तस्मिन्
को धारयितेति ।

(A) अन्ये प्रदीपकारकृतं व्याख्यानन्तु 'सालङ्कारैरिति विभिन्नार्थैकरूपनानाशब्दैक
कथं एकत्रालङ्कारपदस्य भावप्रधानत्वात् । (अयमभय एकशेषे अलङ्कारपदमलङ्कारत्वपर
तन्महितं अलङ्कार एवेति सालङ्कारपदमेव अलङ्कार वाधयति इत्येकत्र, अन्यत्र सालङ्कार
पदम् अलङ्कारसहिताथकमिति सरूपाणामिति सूत्रेण एकशेष इति) तथाच तैरेवासालङ्कारैरलङ्कार

1 'तदवधानमिति क' व्यङ्ग्यस्य सालङ्कारित्वस्य वा क । 3 गुणीभूतमिति अभिप्रायात् क
4 'गुणीभूतवद्भिः' सालङ्कारैश्च । तेन निरलङ्कारत्वमन्योऽगद यथा प्रभेदवृद्धिप्रदर्शनायं सालङ्कारैरिति
त प्रभेदानन्तरमिति इति क ।

(६६) अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्याऽतिभूयसी ॥४७॥

एवम् अनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना, तथा हि—शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यम्, का गणना तु सर्वेषाम् ।

सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात् । तथा हि—किञ्चिद्वाच्यतासहं किञ्चित्त्रन्यथा,^(A) तत्र वाच्यतासह-मविचित्रं विचित्रं चेति । अविचित्रं वस्तुमात्रं विचित्रं त्वलङ्काररूपम् । यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यम्, तथाऽपि ब्राह्मण-श्रमणन्यायेन तथोच्यते । रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः । स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाऽभिधीयेत । न चाभिधीयते, तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे^(B) तस्याप्रतिपत्तेः, तद-प्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां

सङ्कलनेन पुनरिति । गुणीभूतव्यङ्ग्यमपि न प्रथक्, किन्तु व्यङ्ग्यवत्काव्यमेव ध्वनिरिति सङ्कलनम् । त्रिरूपत्वादिति वाच्यतासहस्य वस्त्वलङ्काररूपत्वाद् द्वैविध्यं वाच्यताऽसहत्वेकमिति त्रिरूपन्यम् । वाच्यतासहमिति, व्यङ्ग्ययोर्वस्त्वल-ङ्कारयोर्वाचकेन शब्देनापि तत्रैव काव्ये वक्तुं शक्यत्वात् । किञ्चित्तु अन्ययेति रसादिलक्षणस्यार्थस्य तत्काव्यस्थशब्देनोक्तौ तु रसादित्यमेव न तस्य सम्भरतीति स्वयमेव व्याख्यस्यति । यद्यपीत्यादेरर्थं प्रागेव व्याख्यात । स हीति, 'रसादि-शब्देनेत्यत्र तत्काव्यस्थेनेति शेष । 'तत्प्रयोगे' तत्काव्यमर्थे तत्प्रयोगे ।

सहितैश्च तैरित्यर्थं । तेन ध्वनिना गुणीभूतव्यङ्ग्येन वाच्यालङ्कारेण च ध्वनेयौग इति पूर्वापराभ्या-मुक्तं भवति' इति ।

(A) अन्ययेति वाच्यताऽसहमित्यर्थं ।

(B) सत्याप्रतिपत्तेरिति । रसादिप्रयोगे स्वशब्दवाच्यतादोषोऽप्युद्गुप्तकारैश्च । तथाहि "भाषितान्यथ च तादृशे विषये दोषता वक्ष्यन्तीत्यपि बोध्यम् । एवं विभावादिमि-थ्याङ्कितान्य रसस्य क्वचिद् रसादिप्रदनानुवादे तु न दोषः ; यथा—शृङ्गारस्वोपनतमनुना राज्यमेकातपत्रमित्यादौ । यद्यपि वस्त्वलङ्कारयोरपि वस्त्वलङ्कारपदाभ्यामभिधानेऽपि न

विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयत इति निश्चीयते, तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव, (A) मुख्यार्थवाचाद्यभावात् पुनर्लक्षणीयः ।

अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्यपोर्वस्तुमात्ररूपं व्यङ्ग्यं विना लक्षणेनैव न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम् । शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादे-
रलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम् ।

तेनासौ व्यङ्ग्य एवेति, अनेन वाच्यतामात्रनिरास साक्षात्कार्यत्वन्तु सिद्धान्तितमेवेति बोध्यम् । नन्वेवं रसादिरूपविग्रयनियन्त्रितैव व्यञ्जनावृत्तिरस्तु नान्य-
विषयेत्यत आह—अर्थान्तरेति । प्राक् प्रतिपादितमिति, यस्य प्रतीतिमाधातु-
मिन्यादिना नाभिधा समयाभावादित्यादिना एवमन्यतरस्या स्यादित्यादिना चेत्यर्थः ।
ननु तदाऽपि शब्दशक्तिमूला व्यञ्जना नाद्रियतामित्यत आह—शब्दशक्तिमूले
त्विति । अनभिधेयस्येति अभिधामात्रेण प्रतिपादयितुमशक्यस्येत्यर्थः, केवलाया
अभिधाया प्रकरणादि^१ कुपिठतत्त्वादिति भावः । व्यञ्जनासहकारेण अभिधायास्तु
तदोद्धारकत्वमस्त्येवेति बोध्यम् । "तेन महंत्युपमाच्यनौ बोध्यम्"^२ । निर्विवादमिति
^३ शक्तिमात्रज्ञ-यसोधादस्य बोधस्य वैलक्षण्यानुभवेन निर्विवादमित्यर्थः^३ । ननु

धमत्कारस्तथाऽपि पदमन्वयश्लेन प्रतीतानां धमत्कारित्वमस्त्येव । रसादीनां तु नैवह, विभावादिमुत्वेन प्रनीतानामेव धमत्कारित्वादिति भावः " इति ।

(A) मुख्यार्थवाचाद्यभावादिति । अयमर्थः —आलोपसमाधानाभ्यामुपपादित उद्घोतकारैः । तथाहि "ननु यदी प्रवेशेत्वादाविव सात्पर्यविषयानुपपत्त्या लक्षणाऽन्वित्वत्यत आह—अशरीति । अतान्पर्यविषयान्यापि समन्वय प्रत्ययात्, रसस्य स्वप्रकाशानन्दमयमविद्विभ्रान्तिरूपत्वेन तस्मिन् लक्ष्ये प्रयोजनान्तरसम्भवात्, विभावादिवाचकेषु पदेषु बुधलादिपदवत् प्रसिद्धामात्रेण लक्ष्य-
सम्भवेन च न लक्षणेति भावः । प्रयोजनारिक्तं विना तु न लक्षणा, तस्या हेतुव्यसापेक्षस्व-
नियमात् । तदन्तरेण भवन्ती वृत्तिस्तु अश्लेषैव, मात्पर्यमात्रानु लक्षणेत्सुच्यते इति
दिक्" इति ।

1 'प्रतिवृत्तादिति' छ । 2, 'यद्यपि छ-पुस्तकं नास्ति, न पुस्तकान् पत्रं स्वस्थितम् । 3 'यद्यपि प्रथमार्थरोचसौपेजकलसीकारो द्वितीयार्थं च व्यङ्ग्यत्वं निर्विवादतरो विवादोऽप्येव, तथापि प्रतिषेधबोधा-
जनकस्य प्रतिषेधकाविषयकस्य वा प्रथमसौपेजकलासम्भवेन निरूप्यप्रतिजनकारमिधामात्रज्ञयसोधादस्य वैलक्षण्यानुभवेन निरूप्यकार्यसाद्य विनयकारचक्रवर्तेन च व्यञ्जनावृत्तकार्यविद्विदिति प्रागुक्तान्वितेति
वेति भावः' छ ।

अर्थशक्तिमूले 'तु विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्य-
रूपाणां पदार्थानामाकांक्षा-सन्निधि-योग्यतावशात् परस्परसंसर्गो
यत्रापदार्थोऽपि विशेषवपुर्वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे (A)का
वात्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम् । येऽप्याहुः—

तथाऽपि अर्थशक्तिमूला व्यङ्ग्यता नाद्रियता तदन्तिकमेव रन्तुमित्यादिबोधस्तु
शक्त्यैवास्ताम्, न तु मानसस्तद्वोध प्राधान्यव्यतिरेकानुविधायित्वेन शाब्द-
त्वान्, नापि लक्षणया तद्वोध, मुख्यार्थवाचाद्यभावात् । 'न च ध्रुतराजस्य
तत्र शक्तिग्रहकामावान् कथं तत्र शक्तिग्रह इति वाच्यम्, अगृहीतर्यत्र शक्त्या
तद्वोधस्य स्वीकार्यत्वात्' * । न च तद्धि तत्र तादृशशक्तस्य शक्तौ किं प्रमाणमिति
वाच्यम्, लक्षणया अत्रन्य' शाब्दबोध शक्तिजन्य एवेति व्याप्तौ च तत्र प्रमाणत्वावित्यत-
स्तस्या व्याप्तेर्यमिच्चारमात्रौ नैयायिकमते' दर्शयति—अर्थशक्तिमूले त्विति ।
ननु शक्तिग्रहकालदृश्यशक्तिविशेष एव शक्तिग्रह', तथाच शाब्दबोधविषये तद्विद्यमानत्व-
न्तर एव व्यभिचारो दर्शयताम्, किं संसर्गो व्यभिचारप्रदर्शनेनेत्यतस्तत्रापि शक्ति-
गृह्यत एवेत्यतो न व्यभिचार, किन्तु तदीयमसर्ग एव व्यभिचार इति दर्शयति—
'विशेषे सङ्केत इति । 'विशेषे' शक्तिग्रहकालदृश्यमात्रव्यक्तिविशेषे । न युज्यते
इति शान्त्यन्यमिच्चारमात्रमिति भावः । 'सामान्यरूपाणां सामान्यधर्माद्यच्छिन्ना-
नाम्, तथाच सामान्यलक्षणयैव समस्तशक्तियु शक्तिग्रह इत्यभिप्रायः । "परस्पर-
संसर्गो इत्यत्र भाममानतया तैरभ्युपगत इति शेष' * । 'यत्र' नैयायिकमते, 'अप-
दार्थ' पदाशक्त्य, 'विशेषवपु' संसर्गरूप, 'वाक्यार्थ' वाक्येनैव प्रतिपाद्य । तथाच
अशक्त्ये तत्रैव तद्व्याप्तेर्यमिच्चारोऽनेन दर्शित' । 'का वात्ता' क प्रसङ्गः ।

(A) का वात्ता । विस्तारिताऽयमर्थ प्रदीपकारैः । तथाहि "अर्थशक्तिमूलेऽप्येवमङ्गी-
कर्तव्यम्, यत्र परेभ्य प्रथम पदार्थम्युति, अथ परार्थविशेषाणामन्वयविशेषरूपस्य वाक्यार्थस्य
प्रत्यय, ततो व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति मृतीयकक्षया कुतोऽभिधाया प्रसरणम्, द्वितीयकक्षयामेव
तदनपेक्षणात् । अतोऽभिहितान्वयवादेऽस्य स्वान्वय आकाङ्क्षादिवशेन प्रतीयते, शब्दबुद्धि-
कर्मणश्च विरम्य व्यापाराभाव इति च सर्वमिदम्" इति । व्याख्यात ईतदुच्यते—“विशेषरूपस्य

(१) शब्दवृद्धानिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥(A)

इत्थं नैयायिकमते तद्व्याप्तेर्यभिचार दर्शयित्वा ससृष्टपदार्थशक्तिधादिनां मीमां-

गवान्वितकर्मत्वात्प्रहस्यः । तदनपेक्षयादिति वाक्यार्थस्यापदार्थसंगरूपस्य अपूर्वत्वम
अनभिधेयत्वं कथं व्यङ्ग्यम्याभिधयत्यमिति भावः । तदेवोपपादयति—इतोऽनिदितेति । एवं च
अपूर्वत्वाद्वाक्यार्थ इव व्यङ्ग्यार्थेऽपि सद्गतप्रदा न सम्भवतीति भावः । परमार्थस्तु “अर्थ
भाव—यमत वाक्यार्थशोधयिष्यीकृतमपि सम्यक् वाक्योपस्थापनपरिशीणशक्तिरभिधा नाव
भासयतीति सत्यं तात्पर्यं बृत्तिरदलम्ब्यते, तन्मते वाक्यार्थबोरोत्तरकात्किंवाप्य व्यङ्ग्यारथ्यिनौ
नैवाभिधाप्रभाव इति किमु वक्तव्यम्’ इति बालवोधिण्याम् ।

(A) शब्दवृद्धति । कारिकाद्वयस्य आकरो नाश्राप्युपपन्न, उगमतायं व्याख्यान्तराणि
सुद्विष्यन्तः । तत्र ‘अत्र कारिकाद्वये प्रतिवाक्यं बाल’ इत्यध्याहार्यम् । प्रत्यक्षपदमत्र करण
परम् । तथाच बाल ‘शब्दवृद्धानिधेयाद् दण्डं भ्रूयमाणं देशदत्त गामानय’ इत्यान्विष्टस्य
रूप, वृद्धी प्रयोजकवृद्धप्रयोज्यवृद्धौ अभिधेयोऽर्थं गवानयनादिस्य, एताद् ‘प्रत्यक्षेण’ प्रत्यक्ष-
हेतुना श्रोत्रादिना ‘अत्र’ व्युत्पत्तिकाले ‘पश्यति’ साक्षात् करातीत्यर्थः । तत्र श्रोत्रेण शब्दं
चक्षुषा च वृद्धाभिर्यदात् साक्षात् करोतीति भावः । एतत् प्रयोजकवृद्धप्रयोज्यवृद्धप्रयुज्यमान
शब्दगवानयनादिक्रियाणां प्रत्यक्षविषयवस्तुम् । श्रोतुश्च, चक्षोर प्रतिपन्नत्वमित्यनन्तर
योज्यः । अनुमानपरमत्र करणव्युत्पन्नम् । श्रोतु’ प्रयोज्यवृद्धस्य प्रतिपन्नत्व वाक्याभाभि
ज्ञत्व च (कर्म) अनुमानेन अनुमितिकरणभूत्या ‘वक्ष्या गवानयनात्प्रिष्टान्पण हेतुना
पश्यतीति सम्बन्धः । ‘पश्यति’ जानाति अनुमिनातीत्यर्थः । ‘इयम् एतच्छब्दार्थान्यैतदर्थं
शोचरज्ञानवाद् एतच्छब्दश्रवणानन्तरमेतदप्योषरचष्टान्त्वात् इत्यनुमानाकारः । चक्षेत्यत्रापि
श्रोतुरित्यन्वयान्वयो बोध्यः । अन्यथाऽनुपपत्तयति अन्यथाऽनुपपत्त्या अर्थापत्त्या इत्यभेदान्वयः ।
अन्तः ‘द्वयात्मिका वाक्कृत्वाच्चात्त्व चलि द्विविधा सति स्मृतापरानामक वाक्यवाक्यार्थया
सम्बन्धम् अन्यथाऽनुपपत्त्या ‘गामानयेत्यान्विष्टाश्रवणात् गवानयनाद्यधनम् एतद्वाक्य
तै इत्यर्थे वाच्यवाचकभावसम्बन्धं विना अनुपपत्तम् इत्यनुपपत्त्य’ (इत्यनुपपत्तिरप्या)
अर्थापत्त्या अर्थापत्त्याद्यप्रमाणेन (हेतुना) वाच्यं जानीयान्ति । न्ये तु— द्वयात्मिकाम्
भाषां भूतव्य वाक्यस्य वाचकत्वम् विषयभूतवाच्यस्य वाच्यत्वमत्र इयम् आत्मा स्वहृदयस्य
स्तगभूतामिति वाच्यवाचकत्वं इयम् आत्मा आत्मीय प्रतिवाक्यानुपयोगिभूतव्यान्तादपीमिति
च व्याख्यातुः । अनन्तर च मिश्रमाणम् उक्तीत्या प्रत्यक्षानुमानावापत्तिप्रमाणश्याधिगतं
‘सम्बन्धं’ सद्देशम् अवरोधेन (आवापोद्वाप्यया गाशब्दस्य गौरवार्थं अयं विभक्ते कर्मत्वमिति
सित्या विदेवत् पदपदार्थनिष्ठत्वात्) पवधायैदिति कारिकाद्वयार्थं इति बालवोधिनीकाराः ।

(२) अन्यथाऽनुपपत्त्या तु 'बोधेच्छक्तिं द्रव्यात्मिकाम् ।
अर्थापत्त्याऽवबुध्यन्ते संबन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥

सकलामपि मते तद्व्याप्तेर्व्यभिचारं दर्शापितुं(A) शक्तिप्रहृष्टकारप्रदर्शिकां परकीय-

शब्दवृत्तिं । प्रत्यक्षपदं करणपरम् । तद्य श्रोत्रेण शब्दं पश्यति साक्षात्-
क्रोतीत्यर्थः । एषा चक्षुरा वृद्धैरभिप्रेयान् गवानपनार्थश्च साक्षात्करोतीत्यर्थः । श्रोतु
प्रयोज्यवृद्धस्य प्रतिपन्नत्वं कार्यनाजानवत्त्वं चेष्टाङ्गिरूपेणानुमानेन अबुध्यन्तेत्यपेतेनान्वयः ।
अन्यथाऽनुपपत्त्या कारणं विना कार्यानुपपत्त्या, द्रव्यात्मिकां कार्यकारणत्वरूपां शक्तिं बोधेन
जानीयादित्यर्थः । अर्थापत्त्या सद्बन्धसम्बन्धं विना वाक्यस्य सद्ज्ञानजनकत्वानुपपत्त्या सम्बन्धं
वाच्यवाचकभावस्वरूपम् अबुध्यन्तेत्यर्थं सम्बन्धमात्रं हि तद्व्याप्त्यर्थं स्तरान्यापि शो-
र्यादित्यतिप्रसङ्ग इति भावः । त्रिप्रमाणकमिति, प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूपप्रमाणत्रयमूलक-
मित्यर्थः" इति प्रसङ्गः ।

"प्रतिपन्नत्वं प्रतिपत्तिर्जननमिति वाच्यम् । अबु-येते-प्रतिपेणान्वयः । 'अनुमानेन चेष्टे'ति
चेष्टारूपानुमित्तिजनकजनविषयहेतुनेत्यर्थः । 'अन्यथाऽनुपपत्त्या' कारणं विना कार्यानु-
पपत्तेत्यर्थः । 'बोधे' बोधनिष्ठकार्यनानिरूपिताम्, 'द्रव्यात्मिका' इयं कार्यं कारणं च आत्मा
प्रतियोगी यस्याम्ता कारणत्वरूपां शक्तिं बुध्यन्तेत्यप्रतिपेणान्वयः । बोधेदिति पठे ज्ञान-
निरूपितमिति शेषो बोध्यः । 'सम्बन्धं' वाच्यवाचकभावस्वरूपम् । एवं शक्तिप्रहृष्ट त्रिप्रमाणक-
माद्भुतित्यर्थः । अनुपपत्तिर्थापत्तिरेव" इत्युद्गीतम् ।

"शब्दं गाम्भानय इत्यादि पारुष्यम्, वृद्धौ प्रयोज्यप्रयोगकौ, अभिप्रेयगवानपनार्थिरूप
संसर्गः । प्रत्यक्षेण सद्बन्धेन चक्षुरा धवयेन च । अत्र व्युत्पत्तिकारं । पश्यति जानति ।
श्रोतु प्रतिपन्नत्वं ज्ञानवत्त्वम् । चेष्टया अङ्गक्रियया अनुमानेन अनुमित्तिरूपेण चेष्टया
(चेष्टया ?) हेतोरित्यर्थः । अप्यम् एतच्छब्दजन्यैतद्वर्गोचरज्ञानवान् एतच्छब्दप्रवणानन्तर-
मेतद्वर्गोचरचेष्टावत्त्वादिन्यनुमानाकारः । एकार प्रतिपन्नत्वमित्यनन्तरं योग्यः । श्रोतु
प्रतिपन्नत्वमपि जानतीत्यर्थः । अन्ययेत्यादि, इयो वाक्यवाच्यार्थयो आत्मा स्वरूपं यस्या
(इति) शक्तिविशेषणम् आद्ययत्नेन शब्देषु विषयत्वेन च अर्थेषु कृते । अनुपपत्तिश्च शब्दपर्य-
जानं वृत्तिं विना अनुपपन्नम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । सा च शक्तिः स्वाभाधिकमावन्ध्या-
(दिव्य) छाकारा । अर्थापत्त्या आद्यबोधापरदर्शनमहृष्टतया, सा च आनपनापन्विते गृधि गोपद-
शक्तिस्तदितराप्रतिपाद्ये सति प्रतिपाद्यत्वस्याः । त्रिप्रमाणकं प्रत्यक्षमनुमानमर्थापत्तिश्चेति
प्रमाणत्रयम्, अनुपपत्तेरपि अर्थापत्तिमेवैवम् । निद्वयानुमानानुपायोऽयम् । तदनुपपत्तिस्तत्-
समर्थनं च अप्रकृतवाग्वोद्भासितमिति चकवर्ती । बालबोधिनीत उद्धृतमिदम् ।

(A) अत्र पर क-पान्तेः 'शक्तिप्रहृष्टकारप्रदर्शिकां संसर्गवन्तौ मन्मतेऽपि शक्ति-

इति प्रतिपादितदिशा—

‘देवदत्त गामानय’ इत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद् देशादेशान्तरं सास्त्रादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति ‘अनेनास्माद् वाक्यादेवंविधोऽर्थः प्रतिपन्नः’ इति तच्चेष्टयाऽनुमाय तयोरखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरर्थापस्या वाच्यवाचकभावलक्षणं सम्यन्धमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते ।

कारिकामाह—येऽप्याहुः शब्दवृद्धेति(A) । येऽपि अन्विताभिधानवादिन आहुरिति वृत्ते अन्वयः । शब्दवृद्धेति । गामानय इत्यादि शब्द, गमाधानेता व्युत्पद्यो वृद्ध । गमाद्यान्यनरूपोऽर्थोऽस्मिन्नेय, ‘प्रत्यक्षेण’ इन्द्रियेण, ‘पश्यति’ जानाति, शब्दस्याचान्तरत्वात् । चेष्टया अनुमानेन इत्यन्वय, ज्ञायमानलिङ्गकरणत्वस्य तनुसिद्धान्तत्वात् । अन्ययेति, अस्मान् शब्दाद् अस्मिन्नर्थे अस्य प्रतिपन्नत्वम् अतयोरर्थशब्दयो सम्वन्ध विना अनुपपन्नमित्येवरूपा अर्थापत्तिरेव अन्यथाऽनुपपत्ति । द्वयात्मिका मिति विषयतासम्बन्धेन द्वयोरर्थशब्दयो आत्मा स्वरूप यस्य इति निग्रहेण तदुभयविषयमित्यर्थ, ईश्वरं च्छान्तिकाया अतिरिक्ताया या शनैरुभयविषयत्वात् । अनेन अखण्डवाक्यतदर्थयो प्रथम शक्तिग्रह दर्शयित्वा पश्चात् पदपर्ययो गतिग्रहं दर्शयति—अर्थापत्त्येति । अर्थापत्तिरत्र आत्रापाद्वापरूपा । बोधेदित्यत्र बालक कर्ता ; बुद्धिर्बोधादिक । अत्रुभयन्ते इत्यत्र बालका कर्तार, बुद्धिर्बोधादिक आत्मानेपदी । ईदृग्याख्यानुसारिणी वृत्तिर्बोधा । ‘अखण्डवाक्यवाक्यार्थयो शक्तिग्रहानन्तर पदपर्ययोरग्र(B) शक्तिग्रह आत्रापोद्वापेनेति कारिकात् व्याचष्टे’*

ग्रहो न सखण्डानन्तरे इति तन्मतेऽपि व्यक्त्यन्तरे तदीयममार्गं च तद्वाग्नेर्व्यभिचार इति दर्शयित्वा इत्यत्र, तथा—

(A) अत्र पर स पुस्तके ‘एतन्नप्रदर्शनेन शक्तिग्रहकात्रे इत्यपि विधेय एव शक्तिग्रहो न तु व्यक्त्यन्तरे, तथाच तत्तदव्यञ्जितु तदीयममार्गं च व्यभिचार इति दर्शयितुमेतावान् प्रथमक’ इत्यसौ द्वयमानोऽपि ‘मीमांसकाजानपि तदव्याग्नेर्व्यभिचार दर्शयितुम्’ इति टीकाभाष्ये व्याख्यानरूपा केवचित् कृत्वा टिप्पणी लेखकप्रमादेन टीकायामन्तर्भावितेति बुद्ध्या परित्यक्त ।

(B) एवकार शक्तिग्रहानन्तरमित्यनन्तरं योजनीय ।

1 ‘पञ्चवाक्यात्वात्’ वीहेवाऽऽवापोद्वापेन इति च इति व्याचष्टे’ ख ।

(A) परतः 'चैत्र गामानय देवदत्त अश्वमानय देवदत्त गां नय' इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तं तमर्थमवधारयतीति अन्वयव्यतिरेकान्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारि वाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव सङ्केतो गृह्यते.¹⁾ इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थः, न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम् ।

यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः पदार्थः

परत इति, (C) अथ तत्तत्पदपरिवृत्तिरूप आवापोद्भाष । 'अन्वितै' परस्परान्विते । 'अन्वितानां' 'तादृशार्थे सम्बन्धानाम्'²⁾, आसत्तिमतां वा पदानाम् । 'वाक्यार्थ' वाक्यप्रतिपाद्य । 'न तु' इत्यनेन नैयायिकमतनिषेध । इत्थं मीमांसकमत दर्शयित्वा तत्रैव (D) अनुपपत्तिद्वयमुद्भाव्य तत्रैकानुपपत्ते शक्यपरिहारत्वेऽपि 'अन्यानुपपत्ति-रशक्यपरीहारोऽत्यह—यद्यपीत्यादिना गोचर इत्यन्तेन । 'गृहीतशक्तिपदान् वाक्या-दभिन्नमेव (E) तादृशवाच्यान्तरमित्यत प्रथमानुपपत्त्युद्धार । निश्चीयन्ते इत्य-नन्तर (अत) वाच्यभेदनिवन्धनो न दोष इति पुरणीयम् । द्वितीयानुपपत्तिमुद्भाव-यति—पदार्थान्तरमात्रेणेति शक्तिप्रहकालदृष्टयत्रादिनैवेत्यर्थः, तथाच 'गयान्तरा-

(A) परत इत्यादिमन्पूर्ववन्वयार्थं प्रदीपे स्फुटतरूपेण प्रतिपादितः, तदप्रत्यक्षं विन्वृत्तिमयान् नोद्धियते ।

(B) गृह्यते इति । एतादृशानां पदानां लोकमंकानयादिरूपेणार्थेन सह सङ्केतरूप सम्बन्धो गृह्यते इति निर्गलितार्थः ।

(C) अपमिति, चैत्र गामानयेत्यादिवाक्यसमुदाय आवापोद्भाषप्रदर्शनमन्वयमित्यर्थः । आवाप अन्वय । उद्भाष व्यतिरेक ।

(D) अत्र शक्तिप्रहकालीनवाक्यप्रहकावादिपुन्युत्थाद वाक्यान्तरप्रहकावादिपदाद्गोप-म्विन्यनुपपत्ति प्रथमा, गृहीतशक्तिप्रहकावादिशक्तिभिन्नवाच्यपन्थित्यनुपपत्तिद्वितीयेति अनुपपत्तिद्वय बोध्यम् ।

(E) वाक्यान्तरमिति स्थलविशेषाभिप्रायेण, पदानीति मूलोक्तमेव यथाप्रतं सम्बन्ध, वाक्यभेदेऽपि पदाभेदस्यैकारणैव तदोपोद्धारस्यावश्यकत्वात् ।

1 'तादृशार्थे सम्बन्धानां' छ, 'तादृशार्थे सम्बन्धानां' न । 2 'द्वितीयानुप' ल न । 3 'गृहीत शक्तिपदका' न । 4 'गयान्तरावोपपदानयानुपपत्तिरिति' क ।

सङ्केतगोचरः, तथाऽपि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिपक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वाद् इत्यन्विताभिधान-
वादिनः, तेषामपि मते 'सामान्यविशेषः पदार्थः सङ्केतविषय
इत्यतिविशेषभूतो 'वाक्यान्तर्गतोऽसङ्केतितत्वाद्वाच्य एव(१) ।
(४)यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ
विध्यादेश्चर्चा ।

न्यवबाधानुपपत्तिरिति दर्शितम् । समाधत्ते—तथाऽपीति । विशेषण्यकावपि
सामान्येन रूपेण शक्तिग्रह । तथाच सामान्यव्यतिपक्तव्यक्त्यन्तराणामप्यन्यवबाध
इत्याह—सामान्यावच्छादित इति । असाधिति शक्तिग्रहकालोपलब्धव्यक्ति-
रित्यर्थ । 'व्यतिपक्तानां' सामान्यावच्छिन्नप्रचक्षन्तराणाम् । 'तथाभूतत्वान्' शब्द
बोधविषयत्वात् । अत्र अशेष इति साध्य पुरणीयम् । इत्य मीमांसकमत दर्शयित्वा
त्ममतेऽपि व्याप्तेर्व्यभिचार दर्शयति—तेषामपीति । सामान्यविशेष' (८)शक्तिग्रह-
कालदृष्टग्राहिव्यक्तिरूप । 'अतिविशेष' द्वितीयावगता गवादि । अविशेष इति
कचित् सम्यगेव पाठ । वाक्यान्तर्गत इति वाक्यान्तरान्तर्गत इत्यर्थ ।
वाक्यार्थान्तर्गता वाक्यार्थान्तरान्तर्गता वाक्यान्तरगत इति तु (या १) क्वचित् सम्यगेव
पाठ । 'यत्र' मते 'अर्थान्तरभूतस्य' प्रथमप्रतिपन्नव्यक्तिता भिन्नस्य, 'विध्यादे'

(A) अवाच्य ऋषेति । तथाच उक्तनियमव्यभिचार इति भाव ।

(B) ननु उक्तनियम साक्षात्प्रदितो वाच्य, तथाच वाक्यान्तरप्रतिपाद्य कालान्तर्वर्ति-
शाब्दबोधान्तरविषयो गवादि सङ्केतप्रहाविषयाऽपि सङ्केतग्रहविषयगवात्सजातीय एव, असौ म
व्यभिचार इत्यत आह—यत्रति । अत्र पदार्थ इति सावधारणम्, अर्थान्तरभूतस्य वाच्यार्थौ
द्विपरीतत्वत्यर्थ, तथाच सङ्केतग्रहविषयस्य गवात्स्तत्त्वमजातीयतया च गवादिव्यत्यन्तरस्य शाब्द
बोधविषयतया व्यभिचारात्सम्भवेऽपि नि शक्यतादौ व्यङ्ग्य तदन्तिक्रमने वाच्यस्य शक्तिग्रहमन
निषेधस्य साक्षात्वाभावेन व्यभिचारो दुर्वार इति भाव ।

(C) शक्तिग्रहेति, अत्र सामान्यत्व मोत्यादिना, विशेषत्व च तत्कालदृष्टत्वादित्ये-
मिप्रायो बोध्य ।

१ 'सामान्यविषय' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठ । २ वाक्यान्तरगत इति मुद्रितपुस्तके पाठ ।

३ 'प्रथमदृष्ट' च ।

(A) अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये, पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विता-
भिधाने, अन्वितविशेषस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव
वाक्यार्थः ।

यदप्युच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते'

निषेधप्रतियोगिनस्तदन्तिकगमनविध्यादे । उभयमतेऽपि (B) 'द्वितीयप्रतिपन्नव्यक्ति-
संसारं एव'० व्यभिचार दर्शयति—अनन्वित इति ।

बोधकत्वेन शब्दो निमित्तम्, नैमित्तिकन्तु ज्ञानम्, तद्विषयतया धर्मोऽपि नैमि-
त्तिकः । ईदृशनिमित्तनैमित्तिकभावादेव निमित्तस्य शब्दस्य नैमित्तिकव्यङ्ग्यार्थवाचकत्व-
सिद्धिर्पिति ऋमुयुद्धीनां मतमाह—यदपीति । 'निमित्तानि' शब्दा इत्यर्थः ।

(A) उपसंहारि—अनन्वित इत्यादि । अभिहितान्वयवादिमते अनन्वितो गवादि 'अर्थ'
गवादिप्रतिपाद्यः, अन्वितानिधानवादिमते पदार्थान्तरमात्रेण क्रियात्वादिमामान्यरूपेण
उपस्थितोत्तरगवादिभिः अनन्वितः सम्बन्धत्वादिना सामान्यरूपेण उपस्थितकर्मत्वादिविशिष्ट-
गवादि, अर्थ इति सम्बन्धते । अन्वितविशेषस्त्विति, अन्वित सम्बन्धयुक्त, एतदज्ञानिप्रायेण
अभिहितान्वयमतेऽवाच्यत्वम्, विशेष तत्तद्गवादिरूप, एतदज्ञानिप्रायेण अन्वितानिधानमते-
ऽवाच्यत्वम्, सामान्यरूपेण सद्भूतग्रहण्य सन्सिद्धान्तत्वात् । अन्वयविशेषमहितव्यक्ति-
विशेष इत्यर्थकत्वे तु अशविशेषानुमरणापेक्षाऽपि नास्तीति बोध्यम्, अवाच्य सद्भूतग्रहाविषय
इत्यर्थः । तथाच कर्मत्वाभिहित सद्भूतग्रहणलादृशो गवादि उभयमते नानिधाया विषय
इति हेतोः वाक्यार्थः वाक्यप्रतिपाद्योऽन्विनगवादि अपदार्थं पदाप्रतिपाद्य एवंति लक्षणाया-
ऽप्रयोग्या वाच्यविषयता अभिजाप्रयोज्यैवेति नियमे व्यभिचार स्पुष्ट इति भावः ।

(B) द्वितीयेति, शक्तिग्रहात् पां मासाद्युत्तरकालवर्तिशाब्दबोधविषयीभूतगवादि-
व्यत्यन्तरे तत्त्वसर्वो चेत्यर्थः । तथाच तादृशबोधे शक्तिजन्यत्वरूपं साध्यं नास्ति लक्षणाऽजन्यशाब्द-
बोधत्वबोधोत्तुम्बु वर्त्तत इति व्यभिचार इति भावः । रसादिविषय अभिजाप्रयोज्यविषयताध्व
लक्षणाऽप्रयोज्यशाब्दबोधीयविषयतावत्त्वादिति प्रयोगे तु गवादिव्यत्यन्तरे तत्त्वसर्वो वा अभिजा-
प्रयोज्यविषयतारूपं साध्यं नास्ति उच्यते इति यथात्रुतमेव सम्यगिति बोध्यम् ।

स चान्वितमात्रे, एवं च 'निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं' * यावन्न
निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकानुसारेण
निमित्तानि कल्पन्ते इत्यविचारिताभिवानम् (A) ।

ये त्वमिदमिति सोऽयमिपोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः

'कायादिनेवेत्यर्थः' । स चेति 'स' (B) सङ्केतग्राहकः । 'अन्वितमात्रे', प्रथमप्रतीता-
न्वितमात्रे, न तु द्वितीयप्रतीते तदन्तिकमेव त्नुमित्यादिके । एवञ्चेति । नियत-
निमित्तान्यम्, शक्तिरूपमभ्यन्वेद नियतार्थं प्रति यथाऽन्तिकनिमित्तत्वमित्यर्थः ।

व्यङ्ग्यार्थेऽप्यभिधेयार्थबोधिकाभिव्यापारो व्यापारं दृष्टान्तेन सात्प्रयतां मतमाह—
ये त्विति । अत्र मते एकलक्षणेदनायं प्रतिबन्धितेपुदेगो यथा तद्दृश्यं मित्वा
लक्ष्यान्तरभेदनार्थमप्रतिसहितोऽपि मन् दीर्घतरोभूय लक्ष्यान्तरमपि मित्वा तथा
एकैव अभिव्या ज्ञाता सती वाच्यार्थं बोधयित्वा व्यङ्ग्यार्थं प्रति ध्वजातीर
दीर्घतरोभूता तदर्थं बोधयन्त्यतो न शक्तिग्राहकक्रोपाद्यपेक्षेत्यतो न पूर्वोक्त-
बोधावकाश इति 'सोऽयमिपोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इत्यन्तस्यार्थः ।

रसादिप्रतीती तद्वत्त्वं न तु नातुमन्वते, सत्र अभिव्याज्यत्वनयोरेत्येवमन्वकाराभावात्त्वस्य दुः-
सहवत्त्वेन कार्यवैजातेन विलक्षणकारणस्य व्यञ्जनाया स्वोक्ताशयस्यभावात्तिति युक्तमुत्पद्यमानम् ।

(A) एतद्वत्त्वं निर्गलितोऽर्थो विवर्णकारेण—'अथमत्र विद्वान्तया, व्यङ्ग्यो-
पमित्यौ शब्दस्य ज्ञापकत्वस्य निमित्तत्वमस्माकमपि सम्मतम् । सत्र नास्माक विवादः । स
तु व्यञ्जनाया अस्वीकारे तत्र सम्भवति ; शब्दस्यार्थनिमित्तत्व हि व्यापारसापेक्षमेव नियतम् ;
यथा वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोरभिव्याज्यो व्यापारो, तथा इहापि कोऽपि व्यापारोऽवश्यमस्ती-
कार्यं, अन्यथा हि शब्दस्य निमित्तत्वानिश्चयेन नैमित्तिको व्यङ्ग्यार्थ इत्येव भवदभिमतोऽपि
न मिथ्यति, यदि तु व्यापार विनाऽपि शब्दस्य निमित्तत्वं स्यात्, तदा अभिव्याज्यो अपि
वत्तल्लक्षणो स्यातामित्यस्माभिहच्यते, इत्यभिप्रायमवबुद्ध्याऽभिधानमविचारविवृत्तिमेव' इति ।

(B) अज्ञातस्य अर्थान् अद्भुतस्य श्रुतस्यापि गोपदं गवि शक्तमित्यादिरूपेण तत्तदर्थ-
शक्तिमत्तया अज्ञातस्य गवादिशब्दस्य साधादिमयिषिणापुण्यत्वात्तद्वन् अतिप्रसङ्गात् सम्भवति,
अतः तत्तदर्थशक्तिमत्तया ज्ञातस्यैव शब्दस्य ज्ञापकत्व वाच्यम्, शब्दस्य शक्तिमत्त्वज्ञानन्तु न

1. 'निमित्तस्य नियतत्वं' इति क्वचिन् पुश्चरे पाठः । 2 'दीर्घदीर्घतरोऽभिव्याज्यव्यापारः' इति
शक्तिवत्त्वार्थे विवेकः । 3 'बोधादिव्यापारैर्' इति, 'बोधादिव्यापारैश्च' इति ।

इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति च विधिरेवात्र चाच्य (A) इति,

अनु व्यङ्ग्यस्य तादृगामिधावाच्यत्वे किं प्रमाणमित्यत आह यत्पर इति ।
'यत्परः यत्तात्पर्यकं शब्दः, स तच्छब्दस्य वाच्यार्थ एव इत्येवमर्थकम् इदमभियुक्त-
वाच्यमेव प्रमाणमित्यता निजोप इत्यादौ तदन्तिकगमनविधौ तात्पर्यात् साध्यो वाच्य

प्रत्यङ्गस्य शब्देरीन्द्रियत्वाद्दत्त सङ्केतस्य दत्त हेतुत्व भास्वीत्यत सङ्गतमेवेति श्लोकं तद-
पाहकप्रवृत्त्या व्याकृते—सङ्केतपाहक इति, व्यवहार इति स्वयं बलवन्मयम् । तदुक्तम्—“शक्तिग्रह
व्याकृतगोपमानकोपासुवाक्याद् व्यपदेशतश्च । वाच्यस्य शेषाद्विद्वेतेवदन्ति साक्षिष्यत सिद्धपदस्य
वृद्धा ॥” इति ।

(A) मध्यमोपजीविनां मद्योपहृष्टादीनामभिमतोऽर्थं पश्य । तेषामभिप्रायः प्रदीपे
स्तुत्तर । तथा हि—अथ सोऽभिमोतिव दीर्घ-दीर्घन्तो व्यापार इति यत्पर शब्दः स शब्दार्थ
इति च 'नि-शेष' इत्यादौ विधिरेव वाच्य, इति मध्यमोपजीविन । अन्वयार्थं—यथा बद्धता
प्रेरित इषुकेनेव वेगाध्ययन व्यापारेण वमन्चेदम् उतोभेदं प्राणद्वारेण च रिपोर्विषये, तथैक
एव शब्द एतेनैवाभिवाच्यव्यापारेण पदार्थमूर्तिं वाच्यार्थात्तत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिं च विनये । अतो
व्यङ्ग्यत्वाभिमतम्यार्थस्य वाच्यत्वमेव । किञ्च यत्र शब्दस्य तात्पर्यं स शब्दार्थ इति 'नि-शेष'
इत्यादौ तात्पर्यविषयतया विधिवाच्यं भवति । तं तात्पर्यं वाच्योक्तमन्वयार्थमन्वयान्तं परतः ।
तद्वाच्यवर्षितोपम्यापि न पुन दि तात्पर्यमुच्यत न प्रतीकमात्र । तथा हि—मृतमध्यममुखात्पे
मृत मन्वयोपदिश्यत इति सिद्धान्तः ।

अन्वयार्थं—मृत मिदम् । मध्य साध्यम् । एषो समक्रियाद्वाह मृत सिद्धं मन्वय
साध्यायोपदिश्यत इति । कारकपदार्थां क्रियापत्त्यर्थेनान्वीयमाना सिद्धा अपि प्रधानक्रियातु-
कृत्या साज्यीभूतया स्वक्रियया योगात् साध्यायमानतामाप्नुवन्ति स्वरूपेण सिद्धा तपि
साध्यक्रियावित्तिष्ठतया साध्या इव भवन्ति । तत्र यथा दग्नेनादग्धमात्र दग्धते न तु दग्ध-
मपि तथा वाग्देवाग्रत वाग्देव शब्देन विधीयते न तु प्राणमपि । यथा ऋत्विक्प्रवरणेऽप्यत्र
प्राप्ते 'लौहितोऽग्नीषा ऋत्वित्र प्रवरन्ति' इत्यनेन लौहिताग्नीषत्वमात्र विधीयते, न तु
ऋत्विक्प्रवरणम्, ऋणीभ्यापि प्राप्ती तु लौहित्यप्राप्तम्, इवमन्वयान्तं सिद्धौ च
'दत्ता जुष्टाति' इत्यनेन दत्त करणत्व न तु दति इवर्षं वा । एवं 'रक्त ऋक् वक्' इत्यादौ
रक्तवक्प्रवरणा मन्वय ऋत्विक् द्वयोश्चरणा वाग्मिदापैर्ऋत्विधि-द्विविधि-खिविधौ । एतत्र
वाग्देव विधेयं तावन्नेव तात्पर्यम् । विधेयं च शब्दोपात्तमेवेति सूत्रेण 'ऋदोपात्त एव
तात्पर्यम्' इति । यदि च प्रतीकमात्रे तात्पर्यं तत्र 'पूर्वो धावति' इत्यादौ पूर्वाग्निमान-
सन्निवृत्तिधतया प्रतीतेऽप्याद्येऽपि कदाचित् तात्पर्यं स्यात् । ननु यदास्वर्वावपदो-
स्यापि एव तात्पर्यमिति न व्याप्ति । विष मुक्त्वा मा वास्य गृहे मुक्त्वा इत्यत्र विष
मुक्त्वातेति वाच्यत्वं मा चेत्यादि वाच्यार्थे तात्पर्यादिति । यैवम् । एत एतदेव वाच्यम् ।

तेन तात्पर्यज्ञाः (A) तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानांप्रियाः । तथा हि (B) भूत-

व्येत्यर्थः । ते न तात्पर्यज्ञा इति समीचीन एव पाठः । तद्वत्तात्पर्यज्ञा इति क्वचित् पाठे तु तद्वित्यन्वयं, ते इत्यर्थम् । 'तात्पर्यवाच' यत्पर इत्यादिवाक्यस्य वा युक्तिः विषयविभागः, तद्विनयतात्पर्यस्यानभिज्ञा इत्यर्थः ; 'देवानांप्रियाः' (C) पशुवः । एव्ययं कंमिन् (D) मञ्जुक्समस्त पदम् । यत्पर इत्यादिवाक्यस्य 'मन्य एव विषय-विभाग इति' इत्यर्थः—तथा हीति । (E) गामानयेति वाक्ये प्रमाणान्तरप्राप्तो मौ-

पकात्पर्यैक्यास्यतासूचकत्वात्, मन्यया तद्वैषम्यंप्रसङ्गात् । न चाऽऽज्यतवाच्यक्रिययोः साक्षादन्वयः सम्भवति, 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्' इति व्यापात् । छद्मज्ञानं चैतन्, अतो मवितन्मयान्वयेन । एतो विषयभेदादप्येतदुद्बोधो जनयन्विद्बोद्धवः सर्वथा नान्य गृहेऽमुक्त्वा (माऽन्य गृहे मुक्त्वा ?) इति वाक्यार्थः । तथा च छद्मज्ञानस्य पदोप-स्थापित एव वाक्यमिति सिद्धम् । तस्मात् 'यत्पर' शब्द 'इत्यादि' यत्पूर्वं तत् तात्पर्यज्ञानात् ।

यदपि 'सोऽभिमिचोरिव' इति तद्व्युत्पद्यम् । यत् सम्बन्धवचनान्तरं वाच्यार्थं प्रतीयते तावति सर्वत्र यदि सम्बन्धाभिधेयं स्यात् तदा 'चैत्र पुत्रस्ते जातः कुमारी से गर्भिणी' इत्यादि-वाक्यान्तरं हर्षविषादयोः प्रतीतेस्तयोस्तपि सद्वाक्यत्वाभिवा स्यात् । अथ तच्छब्दप्रतिपाद्ये सर्वत्राभिवा, इषांइवस्तु न तद्वत्स्याप्या इत्युच्यते तर्हि छद्मगीयेऽप्यभिधेयं स्यादिति छद्मो-च्छेदः । किमिति च 'भ्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-त्यान-समाख्यानां समवाये पादौर्बन्धपर्य-विष्कर्णात्' इति सूत्रेण अत्रान्वयमिति भ्रुत्यादियु पूर्वबलीयस्त्वं प्रतिपादयाम्बभूव । सर्वत्रैवा-भिवाप्रसङ्ग उक्तस्य दौर्बन्धे बीजमात्रात्' इति ।

(A) तात्पर्येति, तात्पर्यविषयिणी वा वाचोयुक्तिः युक्तिपूर्णा वागित्यर्थः—तस्यास्तात्पर्यार्थमभिज्ञा इत्यर्थः । वाचोयुक्तिरित्यत्र समस्तपदे 'वाग्दिकृत्पयतो युक्तिरुद्धारः, इत्यनेन वदरा अलुक् ।

(B) भूतमन्वेति । भूतमन्वयो सिद्धसाज्ययोः समुच्चारणे सममिच्छाहारे भूतं सिद्धं वस्तु भूत्वाव भावप्रभावनिर्देशात् साज्यत्वस्य उपदिश्यते ज्ञान्यते, साध्यस्य हि विवेकाद्ये परिमि-श्राचीने प्रयुच्यते, तथाच सिद्धस्यैव साज्यत्वं बोध्यमिति भावः ।

(C) पशुव इति । एवाच त्रिकाण्डशेषे "वर्कंस्तु छन्दस्कर्त्तराणो वस्तु तिवाप्रिय । अल्पापुल्लं वृक्षावन्न मेनाद् पशुमोत्रवः ॥ परिक्रमसहो कुक्षो देवानांप्रिय इत्यपि ॥" इति तथा तत्रैव "स्वादेवानांप्रिय" ध्येये इतको वन्दुदधवत्" इति ।

(D) अलुमिति, 'कथिरन्वयारि' इति मञ्जुक्सूत्रम् । 'देवानांप्रिय इति च मूलं' इति वासिकसूत्रम् ।

(E) भूतमन्वेत्वादिकमुदाहरणमुभेव व्याचष्टे—गामानयेति ।

१. 'केचिदात्मन्त्रा' इति मुद्रितपुस्तके पाठः । २. 'एव एवाच' इत्यत्रो चङ्गुच' अन्विधेयतायं न तद् वचार्थमिति च ।

भयसमुद्धारणे भूतं भव्यापोपदिश्यते' इति कारकपदार्थाः क्रिया-
पदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात्
साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति । ततश्चाऽदग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं
तावद्विधीयते, यथा—ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात् सिद्धे
'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति'इत्यत्र लोहितोष्णीपत्वमात्रं
विधेयम्, ह्यनस्यान्यतः सिद्धेः 'दग्धा जुहोति'इत्यादौ टप्पादेः
करणत्वमात्रं विधेयम् । ऋचिदुभयविधिः ।

ऋचित् त्रिविधिरपि, यथा—'रक्तं पटं वय' इत्यादौ
(A) एकविधिद्विविधित्रिविधिर्वा; ततश्च 'यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यम्'

'भूत' सिद्ध, तदीयमानयनन्तु भ्रमासत्त्वेन 'भय' साध्यम्, तदर्थं भूतो गो 'उपदिश्यते'
उद्धार्यते इत्यर्थः । नन्वेव कथं गोरपि साध्यत्वानुभव इत्यत आह— कारकैति ।
'प्रधानक्रिया' भक्तयत्नम्, तन्निष्पादिका 'स्वक्रिया' गोश्चलनम्, तत्सम्बन्धादित्यर्थः ।
ततश्चेति, तृणमिश्रिते भस्मराशावश्रियथाऽदग्ध तृणमेव दहति न भस्म, तथा सिद्धांश-
मपदाय असिद्धाया एव वाक्येन विधीयते इत्यर्थः । तथाच विधेयांश एव शब्दस्य
'प्रामाण्यनिवामकोऽर्थ इत्येवमेव यत्पर इत्यादेरर्थः^१, न तु व्यङ्ग्यत्वाऽर्थ शब्दस्य
वाच्यार्थ इति तदर्थ इति भावः । यावदप्राप्तमिति सामान्यनिर्देशात् ऋचित्
क्रिया प्राप्ता कारकमप्राप्त तदेव विधीयते इत्युक्तम् । तदेव च उदाहरति—यथा
ऋत्विगिति यज्ञे ऋत्विजां प्रचरणे वाक्यान्तरात् प्राप्तम्, यज्ञविशेषे तु
ऋत्विना लोहितोष्णीपत्व विधीयते इत्याह—लोहितेति । उष्णीष शिरोवेष्टनम्,
लोहितसंस्कारमत्र कर्तृकारकविशेषण विधेयम् । ऋचित् करणकारकस्यापि विधे-
यत्वमाह—ह्यनस्येति । द्विविधेः उदाहरणम्—एन आत भाजयेत्पूजाम् ।

त्रिविधिमाह—रक्तं पटमिति । अत्र 'रक्तत्वपटवयनानां प्रयाणामपि विधिः ।
उक्तमेवापसहत्याह—एकैति । प्रकृते यत्पर इत्यत्र तदेव याजयति—ततश्चेति ।
'तात्पर्यं' (1) शब्दप्रामाण्यप्रयोजकमिति शेष, न त्वनेन व्यङ्ग्यार्थं तात्पर्याभावो दर्शितः ।

(A) एकविधिरिति । अत्र विधिविकल्पानामुदाहरणं रक्त पट वय इत्येष, सत्र रक्तपटप्राप्ते
वचनमात्रेण प्रमात्रप्राप्ते रक्तत्ववयनयो पटस्याप्यप्राप्ते रक्तत्वपटवयनेषु त्रिविधे विधिरिति भावः ।

(B) शब्दप्रामाण्यति । अत्रोक्तरीत्या विधेयांश एव शब्दानां तात्पर्यमिदं 'न विधौ

1. प्राधान्यनिवामकोऽर्थ इत्यत्र बोधितं यत्पर इत्यादिवाक्यं च । 2. 'रक्तत्वपटवयनानां' न ।

3. यद्यस्य न एकैकं भावितं ।

इत्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थं तात्पर्यम्, न तु प्रतीतमात्रे, एवं हि 'पूर्वं धावति' इत्यादावपराद्यर्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात् ।

यत्तु 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्यत्र 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम्' इत्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इति उच्यते, तत्र षकार एकवाक्यतासूचनार्थः, न चाऽऽख्यातवाक्ययोर्द्वयोरद्वाङ्मि-
भाव इति विषभक्षणवाक्यस्य सुहृदाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति

उपात्तस्यैवेति उपात्तस्य शब्दस्यार्थं एवेत्यन्वयः, अर्थश्च गृहीतशक्तिक एव बोध्यः । तात्पर्यमित्यत्र च शब्दप्रामाण्यनियामकं बोध्यम् । तादृश^१* तात्पर्यं व्यङ्ग्यार्थं नास्तीत्याह—न त्विति । एवमिति पूर्वत्वमतोनेरवधित्वेन^२अपरत्वविषयकत्वात् । अत्रापि 'तान्पर्यं' शब्दप्रामाण्यनियामकम् बोध्यम् ।

अन्वेतावता उपात्तशब्दस्य गृहीतशक्तिक एवार्थे^३* प्रामाण्यनियामकं तात्पर्यं नाऽगृहीतशक्तिक इत्युक्तम्, 'तत्र व्यभिचारि, क्वचिदुपात्तशब्दस्य अगृहीतशक्तिकेऽप्यर्थे तादृशतात्पर्यदर्शनात्'^४इत्याशङ्कते—यत्तु विषमिति, अत्र वरमित्यपि बोध्यम् । तथाच वर विषम् भुङ्क्ष्व मा चाऽस्य गृहे भुङ्क्था इति 'वाक्ये विषभक्षणमेव गृहीत-
शक्तिकम्, तत्र च न तादृश तान्पर्यम्, किन्त्वगृहीततच्छब्दशक्तिके मतद्गृहभोजनाभाव एवेत्याह—एतद्गृह इत्यादि । समाधत्ते—तत्रेति । अङ्गता कल्पनीयेति, भुङ्क्ष्व इत्यत्र भुङ्क्था इत्यत्र च आख्यातद्वयार्थत्यागेनेति भावः । तथाच वाक्यार्थ

पर शब्दार्थ' इति न्यायेन तत्रानिर्धैव स्वीकार्या । एतेन विधेयांशे लक्षणस्वीकारेण तत्र लक्षण-
रहिततात्पर्यानुपपत्तिमुच्यार्थंवापादिनोन्वीति प्रतिपादितम् । ईदृशात्मके च शक्तिप्रहप्रमात्वम्य
शाब्दशोधप्रमात्वप्रयोजकत्वाभ्युपगमे प्रमात्मकशाब्दशोधकत्वतया गच्छे प्रामाण्यं निर्वाधम् । एवञ्च
सर्वत्रैव तान्पर्यविषयम्याभिधेयत्वमेवेति पूर्वपक्षिणाभावात् सति 'अपराद्यर्थेऽपि क्वचिन् तात्पर्यं
स्मादिति कृत्स्नमन्धेन तात्पर्यनियतस्याभिधेयत्वम्य फलत आसत्तिरुत्तरपक्षिभि कृता बोध्या, तथाच
न प्रहृतानुपयोगित्वमिति विभावनीयम् ।

१. अपरमत्र ख-पुस्तके न दृश्यते । २. 'अपरत्वप्रताप्यचौनतात्' ३. 'तत्र न नियत क्वचिदुपात्त-
शब्दस्य अगृहीतशक्तिकेऽप्यर्थे तान्पर्याभावाद् गृहीततच्छब्दशक्तिक एवार्थे वादवतात्पर्यदर्शनात्' ख, 'अपि तु
तदेव नास्ति, उपात्तशब्दस्य अगृहीतशक्तिकेऽप्यर्थे तादृशतात्पर्यदर्शनात्' न । ४. 'शाब्दस्य ख ।

‘विषमक्षणादपि दृष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा भाऽस्य गृहे भुङ्क्थाः’ इत्युपात्तशब्दार्थ एव तात्पर्यम् ।

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभियैव व्यापारः, ततः कथं ‘ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी’ इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्; कस्माच्च लक्षणा? लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः, किमिति च श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान समाख्यानां पूर्वपूर्ववलीयस्त्वम्

‘रचयति—विषमक्षणादपीति । आख्यातद्वयार्थत्यागेन विषमक्षणमेतद्गृहभाजनञ्च घात्वर्थ, अन्यर्थश्च आक्षिप्त‘वर’शब्दलभ्य पञ्चम्यर्थस्तु ससर्ग, दुष्टमिति तु ‘मा’ शब्दार्थ, तथाच ईदृशावयार्थं यत्तात्पर्यं तद् गृहीततच्छब्दशक्तिकेऽर्थे ष्वेति श्लोकोदोष इति भावः । तादृशार्थलभ्य पर्याप्तमर्थमाह—सर्वथेति । इत्युपात्त-शब्दार्थ एवेति, उपात्तो यो विष भुङ्क्ष्वेति शब्दस्तस्यार्थे गृहीतशक्तिके विषकर्मक-भक्षणरूप एव प्रामाण्यनियामक तात्पर्यम्, न त्वगृहीततच्छब्दशक्तिक इत्यता मानियम इति भावः । यद्यपि विषमक्षण दुष्टावचित्त्वेनोपात्तमुद्देश्यमेव न तु शिष्यम्* । तथाऽपि साध्यान्वयित्त्वेन साध्यायमानत्वाच्च तत्रापि तादृशतत्पर्यविषयत्वमभ्युप-गम्योक्तम् व्यङ्ग्यार्थं तादृशतात्पर्याभावस्यैव प्रतिपादनीयत्वान् ।

नन्वेवरीत्या व्यङ्ग्यार्थोऽपि तादृशतत्पर्यविषयोऽस्तु घर गृहीततच्छब्दशक्तिकेऽर्थे न प्रवेत्यज्ञाम्, तथाच तस्यापि यक्ष्मर इत्यादिश्लोक शब्दवाच्यत्वमेवेत्यत आह—यद्वि श्वेति । ‘कन्या ते’ इत्यत्र कन्या भक्त्या ‘यद्वा क्षुत्तर्भां कन्या भार्गमिणीति नभ्यस्तेषां’* । धात्वर्थमिति, यत्तद्वाच्यो हि सम्बोधप्रारहणेनेव तत्प्रतिहितपुरुषान्तरेणापि क्षुत्, ततश्च तेन पुरुषेण तदीयहर्षशोकायो प्रतीतत्वात् कथं न वाच्यत्वमित्यर्थः । मनु यावानर्थं ‘(A) श्रुतरान्नाद् प्रतीयते इति विधत्तम्, अथ तु उदासीमज्जनेन तदीयहर्षशोकानुभाषकालिङ्गान्यामेव साधनुमिताविरस्यत याह—कस्माच्चेति । मःघञ् इष्टापत्तिरेवेत्याह—किमिति चेति ।

(A) श्रुतरान्नाद् प्रतीयते इत्यन्वय शाब्दबोधविषयीक्रियते इत्यर्थ, तेनोत्तरं अनुमितयो-
श्लोकर्थयोर्न वाच्यत्वावतिरिति बोध्यम् ।

१ ‘रचयति’ अ । २ ‘भोवाप विह ए’ अ । ३ ‘यत्तत्त उ-गुक्ते नास्ति । ४ ‘युवेति च-व पुलकयोर्वाचि ।

इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि (A)सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम् ।

(B) श्रुतिलिङ्गान्श्रप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् इति । (जैमिनिसूत्रम् अ० ३, पा० ३, सू० १४)

तत्र च—

श्रुतिद्वितीया ज्ञमता च लिङ्ग वाच्य पदान्येव तु सहतानि ।

सा प्रक्रिया या कथमित्यपेक्षा स्थान क्रमो योगबल समाख्या ॥

इति श्रुत्यादिपदार्थविवरणम् । अत्र च द्वितीया द्वितीयान्त पदम् । सूत्रे समवाय इत्यत्र विरोध इत्यर्थः, पारदौर्बल्यमित्यत्र च पर परं दुर्बलमित्यर्थः । अत्र हेतु-माह—अर्थविप्रकर्षादिति । पूर्वपूर्वापेक्षया विलम्बेनार्थोपस्थापकत्वादित्यर्थः । शीघ्रोपस्थापक पूर्वपूर्वमेव बलीय इत्यर्थः । (C) तदेव किमिति इत्यर्थः । तथाच “षेन्द्रा ऋचा गार्हपत्यमुपतिष्ठेते”ति श्रुतौ द्वितीयान्त गार्हपत्यपद शक्त्या बहुरूप-स्थापकम्, षेन्द्रा ऋच (D) ज्ञमता च गार्हपत्यपदे इन्द्रलक्षणया इन्द्रोपस्थापिकेति किमिन्द्रमग्निं वा उपतिष्ठेतेति विरोधे द्वितीयान्त गार्हपत्यपद शक्त्या बहू शीघ्रोप-स्थापक बलवत्, 'न तु लक्षणया मुख्यार्थवाधाद्युपस्थितिविलम्बेन इन्द्रोपस्थापिका

(A) सिद्ध व्यङ्ग्यत्वमिति । तथाच श्रुतिलिङ्गेत्यादिवृत्त्या सोमेन धनेन इत्यादिवत् क्वचिदुभयाया अवश्यमङ्गीकारणीयत्वेन दीर्घदीर्घतरानिधाव्यापारकल्पनस्य सुभित्तिचित्रदक्षि-त्वकल्पनत्वाद् व्यङ्ग्यार्थानां तदन्तिकममनादीनां स्नादीनाञ्च अनुभवमिद्राया प्रतीतेरन्यथोप-पादयितुमशक्यत्वाद् व्यङ्ग्यत्ववृत्तिरवश्यमङ्गीकार्येति निष्कर्षः ।

(B) प्रदीपकारास्तु “सूत्रं तु प्रकृतार्थविच्छेदकत्वेऽपि बहुपकारकत्वाद्बुद्धत्वाच्च व्याक्रियते । श्रुतिलिङ्गादय पदिह विनियोजका । तत्र विरुद्धयोरेकत्रोपनिपाते समुच्चयो न सम्भवतीत्ये-केनापरस्य बाधो वक्तव्यः । स च बलवता दुर्बलस्येति स्थिते दौर्बल्यप्रतिपादक सूत्रं श्रुति-लिङ्गेत्यादि । अस्वार्थं श्रुत्यादीनां समवाये एकत्रोपनिपाते तेषां मध्ये यदपेक्षया यत् परं तदपेक्षया तदुर्बलम् । कुत ! अर्थविप्रकर्षात् पूर्वोपेक्षया विलम्बेनार्थप्रत्यापकत्वादि”ति सूत्रं व्याख्याय श्रुत्यादिशब्दानामर्थान् तद्विरोधोदाहरणस्येकानि च प्रदर्शितवन्तः । बाहुल्यनशतु सदृशान्यो नोद्दिश्यते अनुबन्धित्वमिन्तत्रैव द्रष्टव्यम् इति ।

(C) तदेवेति । श्रुतिस्य ‘किमिति’ इत्यन्तोऽत्र योजिन इति शौच्यम् ।

(D) ज्ञमता लिङ्ग एव इन्द्रप्रकृतानसामर्प्यस्यमिति प्रदीपे स्पष्टम् ।

1. ‘सपक्षया विलम्बेन शीघ्रोपस्थापिकाया ऋच ज्ञमता तु दुर्बला’ क, ‘न तु सपक्षया विलम्बो-पस्थापिका ज्ञमता’ न ।

किञ्च 'कुरु कविम्' इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तरात्तिनि कथं दुष्टत्वम् ? न ह्यत्रासम्बोध्यः पदाद्यन्तरैरन्वित इत्यनभिप्रेय एवेति एवमादि अपरित्याज्यं स्यात् ।

पदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदाऽसाधुत्वादीनां नित्यदापत्त्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वं मिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्, न चानुपपन्नम्, सर्वस्यैव विभक्त

समता* इत्युक्तम् । लक्षणाऽनङ्गीकारे तु इन्द्रस्यापि 'अनपत्त्वादित्यन्वय उपस्थित्यभावात्' किमिति द्वितीयान्तस्य पुरांसस्य बलीयस्यमित्यर्थः । विदेरपीति तदन्तिक्रमनरिरपीत्यर्थः ।

ननु अमिधाया परं दीघत्वदीघतरत्वञ्चेति द्वैरियम्, तथाच न्यततीभावनेरलक्ष्यार्थोपस्थापनात् किञ्च एवत्यत आह—किञ्चेति । अपत्तन्व कविद्विरियेव प्रयोगे । कथं दुष्टत्वमिति पदद्वयोपरणद्धयत्वं चिद् शब्दादपत्तौ तस्य स्वाधुशब्दव्यञ्जकत्वेनेव हि दुष्टत्वम् व्यञ्जनाभावे तु कथं तद् दुष्टं स्यादित्यर्थः । ननु दीघतरतीभूतामिधाय परं तदुपस्थापनादुष्टत्वं स्यादित्यत आह—न ह्यत्रति । (A) अमम्य चिदुक्त्याय, शम्भुलक्ष्याययासद्वाक्यस्थपदायान्तपञ्चिन रनियमानिति भावः । 'अपरित्याज्य (B) दुष्टत्वं अहयम् ।

ननु दीघतरतीभूतामिधायस्यापिनायस्य 'पदायान्तरान्वित्वनियमा न धान्य इत्यत आह—यदि चेति । नित्यत्वमत्र सपरसत्ताधारण्यम्, अनित्यत्व रसरिरोपायत्वम् । अनुपपन्नं स्यादिति धृतिकत्यादीनां हि ओपागुणव्यञ्जनया अनाजस्विनि श्रद्धापदौ दुष्टत्वम् आनस्विनि वीर्याणौ तु अदुष्टत्वम्, व्यञ्जनाभावे तदनुपपन्नं स्यादित्यर्थः । न च दीघतरामिधायैव तदुपस्थापनादुपपत्तिरिति वाच्यं निदमरुन्व

(A) अमम्य इत्यत्र म-युक्तके 'असत्य' इति पाठा इत्यत म च वृत्तावपि 'अमम्य' इत्यत्र 'असत्य' इति पाणान्तरं सूचयति । तस्य च शक्यास्तुपस्थाप्य इत्यत्र अपभ्रंशो ईश्वरश्चादित्यमद्वैतानङ्गीकारादित्यभिप्रायः । अमम्य इत्यस्य च समाधायमात्रं, दुष्टं अस्तीति इत्यर्थः । चिदुक्त्याय इति विवारेण च अगम्यार्थं इति समुदायत्वेनेति वाच्यम् ।

(B) दुष्टत्वेनेति इदं अर्थमित्यस्यांशे इत्यत एवमन्वित्यम्, तथाच दुष्टत्वेन ईयं न स्यादित्यर्थः ।

१ 'असत्यं वीर्योपपत्तौ' च । २ 'अश्रीयस्मापत्तात्' च-न । ३ 'वाद्यन्वित्वम्' च-न ।

तथा प्रतिभासाद् वाच्यवाचकभावव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकता-
श्रपणे तु व्यङ्ग्यस्य बहुविधत्वात् क्वचिदेव कस्यचिदेवोचित्येनोप-
पद्यत एव विभागव्यवस्था ।

‘द्वयं गतं संप्रति शोचनोयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः’
इत्यादौ पिनाक्ष्यादिपदयैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां
काव्यानुगुणत्वम् ?

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तृन् प्रति एकरूप एवेति
नियमोऽसौ । न हि ‘गतोऽस्नमर्कः’ इत्यादौ वाच्योऽर्थः
क्वचिदन्यथा भवति । प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृ-प्रतिपत्तादि-

योगोपस्य वीरादौ प्रतीतेरानुभविकत्वेन भविष्यास्तादृशोपस्थापकत्वाभावात् ।
अन्वेव व्यञ्जनाया अपि कथं तादृशोपस्थापकत्वमित्यत आह—वाच्यवाचकेति ।
यद्बुद्धिघट्वाविति, क्वचिन् सभमं क एव व्यङ्ग्यार्थं उपतिष्ठते क्वचिभिर्दर्मक इत्येवं-
विधाबाहुल्यादित्यर्थः । ननु जातिगतिव्याद् इव पदादपि निर्विकल्पकापस्थितिर्मया
वाच्येत्यत आह—द्वयमिति ।

द्वयं गतं संप्रति शोचनोयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी (A) ॥

इति पार्वत्यां महेशविन्दारोके कपालधारित्वेन महेशविन्दा व्यञ्जने, अतस्तत्र
कपालिपदस्यानुगुण्यम्, व्यञ्जनाभावे तु किमिति तस्यानुगुण्यमित्यर्थः ।

नम्यत्र दक्षमेवोत्तरम्, व्यञ्जनाख्यानीकत्वादेव दीर्घतरोभूताभिधाया इत्यत आह—
अपि चेति । तत्तत्प्रकरणवक्तृत्वि, तथाच सर्वप्रतिपत्तृष्वेकविधार्थबोधकत्वम-
भिधाया, व्यञ्जनायास्तु नानाप्रतिपत्तृषु नानाविधार्थबोधकत्वमिति विलक्षण्यमेव भेदक-

(A) पद्यमिदं क-पुस्तके उद्धृतं न दृश्यते । कृती इत्यस्य पूर्वार्दस्य द्वितीयाद्बोधनया
बीकण्डता अन्येभ वा सम्पूर्णता व्यपत्तीति भिन्नेतुयस्यमयेस्त्वामिः क-ग-पुस्तकादुत्तारेण
दृश्यते ।

विशेषसहायतया नानात्वं भजते । 'तथा हि 'गतोऽस्मर्कः' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्त-प्रायस्ते प्रेषानिति, कर्मकरणाग्नितर्तामहे इति, सान्ध्यो विधिरूप-क्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेशयन्तामिति, संतापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संहियन्तामिति, नागतो ऽद्यापि प्रेषानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थः तत्र तत्र प्रतिभाति ।

वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना,

मात्सर्पमुत्सार्य विचार्य कार्यभार्याः समर्थादमुदाहरन्तु ।

सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनोनाम् ॥१३३॥

इत्यादौ संशय-शान्तशृङ्गार्यन्यतरगतनिदचपरूपेण

मित्यर्थाः । प्रकरणादिभेदान्तु तत्तत्प्रतिपत्तृवोऽप्यान् नानाविधार्थान् दर्शयति—
तथाहीनि । सपत्नं प्रतीति । 'अवस्कन्दनम्' भावमणम्, अत्र कूटयोधी प्रतिपत्ता । अभिसरणमित्यत्र अभिसारिका, प्राप्तप्राय इत्यत्र विरोहोत्कण्ठिता, कर्मकरणादित्यत्र भृतकाः, सान्ध्य इत्यत्र ब्राह्मणाः, दूरमित्यत्र पथिकाः सुरभय इत्यत्र गोरक्तकाः सन्ताप इत्यत्रातपह्वान्ताः, विक्रेयेत्यत्र विक्रेतारः, नागत इत्यत्र प्रोषितमर्ककाश्च प्रतिपत्तारः । नन्वभिधयैव गृहीतया बोधने सर्वप्रतिपत्तुषु एकार्षो बोध्यते तथैव अगृहीतया दीर्घतरोभूतया बोधने तु तत्तत्प्रकरणादिमाहाय्येन तत्र तत्र तथाविधा अर्था बोध्यन्त इत्यत अह—वाच्यव्यङ्ग्ययोरिति । निःशेषेत्यादौ वाच्यव्यङ्ग्ययोर्निषेधविध्यात्मना स्वरूपस्य भेदेऽपि यद्येकत्वमिति दूरतरणान्वयः । तदन्तिक्रामनगमने निषेधविधी वाच्यव्यङ्ग्यौ विरोधित्वरूपौ । मात्सर्पमित्यादि । समर्थादमित्यनेन मर्यादया उक्तिभ्रमो नापेक्षणीय इति सूचितम् । इत्यादौ संशयेति, सशयश्च शान्तशृङ्गार्य-न्यतरगतनिधयश्चेति द्वन्द्वः, तद्व्युत्पन्नो वाच्यव्यङ्ग्ययोः स्वरूपस्य भेदेऽपीत्यन्वयः । अत्र 'किम्' पदार्थं सशयो वाच्यः, भूधरानितम्बा एव सेव्याः स्त्रीनितम्बा सेव्या इति वा शान्तशृङ्गारिवक्त्रुभेदेन तदीयनिधयश्च व्यङ्ग्य इति पतापि विरोधित्वरूपौ

१. 'तथापि' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः । २. एत एव क-पुस्तके 'विचरन्तश्च शरीरकलादमिषाव्यङ्ग्यो भवःपौलाप' एवञ्चिच हल्ले ।

“कथमवनिप दर्पो यन्निशातासिधारा-
दलनगलितमूर्ध्नां विद्विषां स्वीकृता श्रीः ।

ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता

त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः ॥ १३४ ॥

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य, पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः
कालस्य, शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्धवर्णसंघटनाश्रयत्वेन च
आश्रयस्य, शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्य-
सहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्ध^(A)व्यप-

भेदकौ । अत्र च संशये सशयेनेति च पाठौ प्रामादिकौ । कथमवनिपेति । हे
अवनिप निशातेत्याद्युक्तानां विद्विषां श्रीस्त्वया स्वीकृता इत्ययं कथं दर्पः ? दर्पभावे
हेतुमाह—नन्विति । साङ्गस्य निहतारेरपि तव वल्लभा कीर्तिं अपगताङ्गैरपि तैः त्रिदिवं
किं नीता न ? अपि तु नीतेव इत्यतस्तुत्यविनिमित्ते कथं दर्प इत्यर्थः । निशातया
अभिधारया यद् दलनं छेदनं तेन गलितमूर्ध्नामिति सिद्धम् । इत्यादौ
निन्दास्तुतिरिति, अत्र निन्दास्तुतिपदद्वयं निन्द्यतास्तुत्यताप्रयोजकार्थपरम्,
निन्दाया अत्रावाच्यत्वात्, शब्दात्मिकाया 'स्तुते'व्यङ्ग्यत्वात् । तथाच व्युक्तत्वा-
हर्षप्रश्नो वाच्यो निन्दाप्रयोजकः, स्वर्गपर्यन्तगामिनी ते कीर्तिरिति व्यङ्ग्यार्थश्च
स्तुत्यताप्रयोजकः । पताव्यर्थो स्वप्रयोज्ययोर्विच्छेदयोर्निन्दामस्तुत्यो सम्बन्धा-
द्विरुद्धौ, तयोः स्वरूपस्य भेदेऽपीत्यन्वयः । पूर्वपश्चादिति पूर्वं वाच्यार्थप्रतीति-
पश्चाच्च व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिरिति स्वजन्यप्रतीतेः कालस्य भेदेऽपीत्यन्वयः । शब्देति,
अभिधा शब्दमात्रवृत्ति व्यञ्जना तु शब्दतदेकदेश प्रकृत्यादिवृत्तिरित्याश्रयस्य
भेदेऽपीत्यन्वयः । शब्दानुशासनेति, अभिधेयस्य शब्दानुशासनज्ञानेनावगम,
व्यङ्ग्यस्य तु प्रकरणादिसहितप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन शब्दानुशासनज्ञानेनावगम
इति स्वजन्यप्रतीतिनिमित्तस्य भेदेऽपीत्यन्वयः । शब्दानुशासनस्य व्यञ्जकवाच्यार्थ-

(A) व्यपदेश्यपोरित्यत्र व्यपदेश्योरिति पाठे वाच्येनार्थेन प्रतिपत्तुं बोद्धृ इति व्यपदेश्ये
व्यवहारास्तन्मात्रं भवति व्यङ्ग्येन तु विदग्ध सहृदय रसिक इति व्यपदेश्य इति कार्यभेद
इत्यर्थो बोध्यः ।

देश्ययोः प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात् कार्यस्य, गतोऽस्तमर्क
इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्यायाः,—

“कस्स व ण होइ रोसो द्दट्ठण पियाइ सच्चणं अहरं ।

सममरपडमग्घाइणि वारिअवामे सहसु ण्हि(A) ॥ १३५ ॥

बोधकत्वाद् व्यङ्ग्यबोधे तदपेक्षा । बोद्धृमात्रेति, अभिधया (B) सर्वबोद्धृणामेव
प्रतीतिमात्रम्, व्यञ्जनया तु विदग्धव्यपदेश्यचमत्कृतिरप्यधिका जन्यते इति स्वकार्यस्य
भेदेऽपीत्यन्वयः । व्यपदेश्यत्ववर्षन्तानुधावनम् उत्कृष्टतल्लाभाय तस्यैव चमत्कृते ।
संख्याया इति, स्वबोध्यसंख्याया इत्यर्थः । न चेद् पुनरुक्तमिति वाच्य प्रतिपत्त-
भेदेन विभिन्नार्थबोधकत्वस्यैव प्रागुक्तत्वात् तत्र स्वबोध्यसंख्यानभिधानात् । कस्स
ण वेति

कस्य न वा भवति रोसो द्रुया प्रियाया समरणमधरम् ।

सममरपडमग्घाण्यिणि (C) वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥ इति सस्त्तम्

(A) कस्म वेति । यद्यपि अनुवाददर्शनेन 'कस्स ण व' इति पाठो प्रहीतुमुचित-
स्तथाऽपि प्रामाणिकत्वबोधेन ध्वन्यालोककृत एव गृहीत । अस्याभिनवगुणाचार्यकृत
व्याख्यानञ्च— कस्य वेति, अनीर्णालोरपि । सममरपडमग्घाण्यिणे, शील हि क्वचिदपि
धारयितुं न शक्यम् । सहस्वेदानीम् उपालम्भपरम्भरामित्यर्थः । अत्राय भाष—कचिदवि-
नीता कुञ्चित् खण्डिताया तन्मविषमविषाने भर्त्तरि तन्नबलोक्यमात्रदेव कयाचिद्विदग्धसख्या
तद्वाच्यतापरिहरायैवमुच्यते । सहस्वेदानीमिति वाच्यमविनयवतीविषयम् । भर्त्तृविषयं
तु अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम् । तस्या च प्रियतमेन गाढमुपालम्भ्यमानाया सहस्त्रीक-
शङ्कितप्रातिवन्मिकलोकविषय चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायन व्यङ्ग्यम् । तत्सपत्न्या च
तदुपालम्भतद्विनयग्रहणाय सौभाग्यातिशयव्यापन 'प्रियाया' इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं
व्यङ्ग्यम् । सपत्नीमध्ये इत्यन् खलीकृताऽस्मीति लापवमात्मनि प्रहीतु न युक्तम्, प्रत्युत्तार्थं
बहुमान, सहस्व शोभस्वेदानीमिति सह्यविषयं सौभाग्यप्रख्यापन व्यङ्ग्यम् । अद्येयं तत्र
प्रकृतानुशासिगी हृदयबहुभेद्य रक्षिता पुन प्रकटरदनदंशमविधिर्न विषेय इति तद्यैर्यकानुक-
विषयमशोधन व्यङ्ग्यम् । इत्थ मयैतदपद्रुतमिति स्ववैदाध्यव्यापनं तदव्यविदग्धलोकविषयं
व्यङ्ग्यमिति ।

(B) तथाच, वृत्तौ बोद्धृमात्रेत्यत्र मात्रपरं साकल्यार्थकम्, प्रतीतिमात्रेत्यत्र तु भव-
धारणार्थकमित्यभिप्रायः ।

(C) 'वारिवाऽपि सममरपडमग्घाणे निषिद्धाऽपि वामा प्रतिकूला' इत्युदाहरण-
चन्द्रिकाकाराः ।

व्यङ्ग्येऽज्ञात्पर्यभूतोऽप्यर्थः (A) स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवनरत्
कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्ब्यतामिति ।

ननु 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णाः प्रिये नोचितम्'

इति (B),

'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्'

इत्यादौ, (C) लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते विशेषव्यपदेशहेतुश्च

व्यापारस्य गम्यः स्यादित्यर्थः । 'स्वरूपे' वाच्यतास्वरूपे । 'विधाम्यति' तिष्ठति,
पुनरपि वाच्य एव स्यादित्यर्थः । 'अज्ञात्पर्यभूत' शक्तिप्राहकपुरुषतात्पर्याविश्या-
भूत । न च तत्र वाच्यस्यनाभिधेया पुनर्वोधः, किन्तु स्मरणमैवेति वाच्यम्, एवं सति
वाच्यार्थस्मरणकाले अभिधायिरामे नामिधा रमबोधिका, तथाच रस्तबोधनार्थं
व्यङ्गनास्वीकारधौषे इपुव्यापारदृष्टान्तेनाभिधेया दीर्घतरत्वत्वाद् पराहत एवेति
भावः ।

व्यङ्ग्यार्थं लक्ष्यार्थसाधम्यात् लक्षणीयत्वमृदुद्विराशङ्कने—नन्विति । 'रामो-
ऽस्मी'त्यत्र दुःखमहिष्णुरूपो लक्ष्यार्थः, 'रामेणे'त्यत्र निःसोहरूपः, 'रामोऽसौ
भुवनेष्वि'त्यत्र तु सप्राप्ता ख्यातरूपः । विशेषव्यपदेशेति, काव्यस्य गम्भ-

(A) स्वशब्दानभिधेय इति । रसादिपदव्याभिधायकस्य सत्त्वेऽपि व्यङ्गनया प्रतीति-
दरायामेव चमत्कारानुभवात्, अभिधेया बोधने प्रत्युत वैरत्वापातेन तत्र दोष एवेति वक्ष्यमाणत्वाच्च
अत्र स्वशब्दानभिधेयत्वमुक्तमिति बोध्यम् ।

(B) रामेणेति ।

प्रत्याख्यानरूपं कृतं समुचिन क्रूरेण ते रक्षमा
सोढ तच्च तथा त्वया कुलजनो घत्ते ययोर्बं सिर ।
अर्थं सम्प्रति विभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापद साक्षिणा
रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्ण प्रिये नोचितम् ॥

इति सम्पूर्णं श्लोकः ।

(C) अत्र रामोऽस्मि सर्वं सहे इत्यत्र सर्वदुःखभाजनत्वम्, रामेण प्रियजीवितेनेत्यत्र
कातरत्वम्, रामोऽसौ भुवनेष्वित्यत्र खारूपगादिहन्त्वत्वं च लक्ष्यते इति प्रदीपकाराणामाराध्या-
प्रत्यम् ।

भवति; तदवगमश्च शब्दार्थोपत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम ?

उच्यते—अक्षणीप्रस्थार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेय-
वक्षिपतत्वमेव । न खलु मुख्येनार्थेन (A) अनियतसम्बन्धो लक्षयितुं
शक्यते; (B) प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेषवशेन नियतसम्बन्धः
अनियतसम्बन्धः सम्यद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते ।

न च—

“अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोण्हि ।

मा पहिअ रत्तिअन्वअ सेज्जाणं मह णिमज्जहिंसि (C) ॥१३६॥

शक्त्युत्पत्त्यर्थशक्त्युत्पत्त्यादिद्वयपदेशहेतुर्यथा व्यङ्ग्यार्थस्तथा धर्यान्तरसकमित्तवान्य
लक्षणामूलशादिविशेषव्यपदेशहेतुर्लक्षणायांऽपीत्यर्थः । अनेकार्थशब्देति, तस्य यथा
कावकारणनियतत्वत्वात् सता लक्ष्यार्थस्यापि उपस्थितशक्त्यर्थसम्बन्धि चरूप नियतत्व
मित्यर्थः । न खल्विति, ‘अनियतसम्बन्ध’ अनियतापस्थितशक्त्यसम्बन्ध ।
प्रतीयमानस्त्विति । ‘नियतसम्बन्ध’ नियतापस्थितस्त्वसम्बन्ध । अनियतसम्बन्ध’
‘अनियतापस्थितशक्त्यसम्बन्ध । व्यङ्ग्यार्थबोधने लक्षणहेतुर्मुख्यार्थबाधोऽपि

(A) अनियत इति अनियत सान्नीप्यताद्वयवैपरीत्यादिप्रमितसम्बन्धनिमित्तता कदाचिद्
कस्यचिद् बुद्ध्यास्त्वं सम्बन्धो वाप्य तादृशोऽर्थः न खलु लक्षयितुं शक्यते अप्रमितसम्बन्ध
वति लक्षणाया नैवार्थबाधोपाभ्युपगमादिति भावः । एवम् उत्तरत्र नियतसम्बन्ध इत्यादौ सर्वत्र
बहुमीदृशीत्याः ।

(B) प्रतीयमान इति धर्यान्तररूपकजनस्य, अन्वया द्योत्यते इति विधेयैक्यात् शब्द-
बोधानुपपत्तिः । यद्वा प्रतीयमानो न खल्वेवम्, तथाच सत्र इत्यप्याहारेण प्रकरणादिविशेषेन नियत-
सम्बन्ध इत्यन्वयः ।

(C) अचेति । एतेऽस्मिन् ‘दिअहए’ इत्यत्र ‘दिअहज’ इति ‘मह भिमज्जहिंसि’
इत्यत्र च ‘महं मज्जहिंसि’ इति पाठो ज्वल्यलोके मुद्रितः । अभिनवगुप्तावापीथ—

अत्रापि चेते (अथवा निमज्जति) अत्राहं विवसकं प्रलोक्य ।

मा एत्थिकं शब्दस्य शब्दायामावयोर्मादृशी ॥

१. एत एत इति चित्रितगुह्ये ‘सापार्थान्तरमाह—तदवगमश्चेति, लक्षणीयार्थोपगमवशात् । (सप्रापण)
सद्वचनवशात्, सन्निवृत्तस्य सद्वचनवशात् एतन्मते लक्षणायाः हेतुत्वात् सद्वचनवशात् सन्निवृत्त-
स्य लक्षणाधीनत्वात् प्रत्यावृत्तस्य च अनेन शक्त्येव तदीयवैविध्यादिति इत्यत्रिक इत्येते ।

इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थवाचः ; तत्कथमत्र लक्षणा ? (A) लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयिनव्यमिति प्रतिपादितम् । (B) यथा च समयसव्यपेक्षा अभिधा तथा मुख्यार्थवाधादित्रय-

नास्तीत्याह—अन्ता एत्येति ।

श्वश्रूत्र निमज्जति अत्राह द्विस एव प्रलोकय ।

मा पथिक राज्यन्धक शय्यायामावयोर्निमज्जसि ॥ इति संस्कृतम् राज्यन्धत्वेन कथितात्मान कृतावास पथिक प्रति स्वय दूत्या उक्तिरियम् । अन्ता श्वश्रूत्रा देशी । निमज्जति शय्यानिमग्रा मृतप्राया तिष्ठतीत्यर्थ । अत्राहमिति निष्क्रियनिर्देशात् आत्मनोऽतथाभूतत्वं सूचितम् । 'अत्र निषेधस्य मुख्यार्थस्य बाधो नास्ति । न च स्वशय्याप्रवेशे तात्पर्यान्निषेधस्य बाध एवेति वाच्यम्, उभयशय्याप्रवेशनिषेधस्यैव वाच्यत्वेन तस्याबाधादेव'* । प्रतिपादितमिति, 'यस्य प्रतीतिमाधातु'मित्यादिनेत्यर्थ । लक्षणव्यञ्जनयोस्त्यदपि (C) वैधर्म्यमाह—यथा चेति । लक्षणया शक्तिरूपसमयविशेषसापेक्षत्वं बाधप्रतियोगितया मुख्यार्थोपस्थित्यर्थम् ।

अत्र 'शपिष्ठ' वा इत्यनघ, 'मर्हण' इति निपातोऽनेकार्थवृत्ति, अत्र 'आवयो'रित्यर्थं न तु ममेति, एवं हि विशेषवचनमेव शङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात् । काचित् श्रेयितवतिकां तरणीमवलोक्य प्रवृद्धमदनाङ्कुर सम्पन्न पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तपःभ्युपगत इति निषेधाभावोऽत्र विधि, न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रवृत्तप्रवर्तमान्वभाव सौभाग्याभिमानक्षण्डनाप्रसङ्गात् । अत एव राज्यन्धेति, ममुचिनसमयसम्भाव्यमानविकाराकुलितत्वं ध्वनितम् इति व्याख्यते । एतेन 'निषदो शुमङ्ग' इति क्रमदीधरसूत्रानुसारेण 'शुयजिहिति' इति पद्यान्ते पठित्वा 'निषकृत्यसि' इति 'निमज्ज' इत्यत्र 'निषीदति' इति च महेशचन्द्रन्यायरत्नामनुवादी भोपादेय प्राचीनमतविहङ्गत्वात्, निपूर्वमसृजिना व्यङ्ग्यम्यार्थस्य निपूर्वसदितालाभात् 'निमज्ज' इत्यत्र तत्पूर्वमनुसाराभावाच्च । अत्र अन्ताशब्द अकाञ्छादिवद् मानुषावक एव इदानीन्तनव्यवहारवत् प्राचीनेऽपि काले शशुरपसरा व्यवहृत इति अन्ता इत्यस्य शशूरित्यनुवादे बीजं न चेति भाषातत्त्वविदा विचार्यम् ।

(A) मनु छत्रिणे गच्छन्तीत्याद्यनुोभात् तात्पर्यबाध एव मुख्यार्थबाध इत्यनेन विवक्षणीय, तथाच प्रकृते स्वशय्याप्रवेशे तात्पर्यसत्त्वात्स्येव मुख्यार्थबाध इत्यत्र आह—लक्षणायामपीति ।

(B) व्यङ्ग्यार्थबोधे अभिधाया व्यापारत्वनिरसनन्याय लक्षणपक्षनिरातेऽपि योजयति यथा चेति ।

(C) तथाच मुख्यार्थबाधादित्रय-समयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा व्यञ्जना तु नैवमिति स्पष्ट वैधर्म्यमिति भाव ।

1 'अत्र मुख्यार्थ इत्यादिप्रतिषेधस्य न बाध साध्यात्तदेव तात्पर्यसत्त्वात् निषेधवाच्यमवश्यम्' श्रीरत्नविषयाभाषादि' च ।

समयविशेषस्यपेक्षा लक्षणा । अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः ।

न च लक्षणात्मकमेव ध्वननं तदनुगमेन तस्य दर्शनात् । (A) न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात्; न चोभयानुसायैव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः; न च शब्दानुसायैव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेरिति अभिधा-तात्पर्यं लक्षणात्मकन्यापात्त्रयातिवर्त्तो ध्वननादिपर्याये व्यापारोऽनपह्वनीय एव ।

(B) तत्र 'अत्ता एत्थ' इत्यादौ नियतसम्बन्धः, 'कस्स ण व होइ रोसो' इत्यादौ अनियतसम्बन्धः ;

'तदनुगमेन लक्षणापेक्षायात्वेन, 'तस्य ध्वननस्य । ननु लक्षणीय दीपतरीभूता ध्वननमस्त्वित्यत आह—न च तदन्विति । ननु तत्रापि दीपतरीभूता अभिधैव ध्वननमस्त्वित्यत आह—न च उभयेति । ननु वर्णवर्णितपद्मभिर्देव तत्राप्यस्तीत्यत आह—न च शब्देति । 'नियतसम्बन्धश्च यदुक्तं तद्विषय' दर्शयति—तत्र अन्तेति । शय्याप्रवेशाप्रवेशयार्थद्वयव्यययोर्भाषाभावरूपत्वेन प्रतियोग्यनुयोगिभावरूपसम्बन्धोपस्थितिनियमादिति भावः । कस्स ण वेत्त्यादायिति प्रतारणव्यङ्ग्यार्थं, सन्नमरपञ्चाग्नाञ्च वाच्याय, तन्ध्वननजन्यत्वञ्च प्रतारणे तत्सम्बन्धः,

(A) न घति । न च ध्वननं तदनुगतं लक्षणातुगतमेत्यर्थं एवकारव्यवच्छेदमाह—अभिधेति । यदुक्तं भवति ध्वननाया क्वचित्त्रिभंगामूलतया सर्वत्र दीपतरीभूतलक्षणात्मकत्वात् न सम्भवति तत्र लक्षणाया अभावात् । तथाच अनङ्गमङ्गल्यार्थे 'ङ्गकाराणां केवलानामवाचकत्वमपि अस्ति गुणव्यङ्ग्यत्वम्, नात्राभिधाया लक्षणाया वा गन्धोऽपीति स्वीकार्येवातिरिक्ता व्यञ्जनेति भावः । टीकाया व्याख्यानमत्र ।

(P) यदुक्तं प्रतीयमानस्तु प्रकारान्निविशेषवशात् नियतसम्बन्धोऽनियतसम्बन्धसम्बन्धसम्बन्धप्रति सदुदाहरणमाह—तत्रेति । नियतसम्बन्ध 'अत्ता एत्थ' इत्यत्र स्पष्ट । अनियतसम्बन्ध 'कस्स ण व होइ रोसो' इत्यत्र । तथाहि—अत्र वाच्याय अघासन, पतिवोष्य' व्यङ्ग्यार्थश्च नैवं व्यभिचारिणीत्वेरूपं, तत्र स्वशानाधीनासूत्राविषयप्रतियोगिकत्वं वाच्यायस्य सम्बन्ध व्यभिचारि वाभावस्वरूपव्यङ्ग्यार्थप्रतियोगिनि व्यभिचारे अघासनशानाधीनासूत्राविषयत्वमत्रात्, एव मा पुनरेवं दाक्षीरिति निवृत्तिविषयक उपनायकबोध्यो व्यङ्ग्यार्थः, तत्र च स्वशानप्रयोज्यप्रमोक्षाधीनरक्षाविषयवृत्तिज्ञानोत्पादकक्रियावधिकत्वं सन्नमरपञ्चा

१ 'नियतसम्बन्धादिषु विषय' क व ।

विपरीतरण लक्ष्मी यम्हं दृष्टूण णाहिकमलदृष्टं ।

हरिणो दाहिणमण' रसाउला हन्ति हक्केइ ॥ १३७ ॥

तस्य च न नियत उपस्थितिः तत्कथनजन्यत्वानुपस्थितावधीय प्रतारयतीति बोधो-
 द्यात् (A) । चक्रवर्ती तु अनियतसम्बन्ध विभिन्नबोद्धकत्वम्, व्यङ्ग्यवाच्यबोद्धो-
 (B) कान्ताकान्तयोर्विभिन्नत्वान्; लक्ष्यार्थे तु तत्रास्ति 'तद्वोद्धुरेव वाच्यबोद्धत्वादिति
 व्याचष्टे, तत्र, विभिन्नबोद्धकत्व यदि वाच्यार्थाबोद्धवोध्यत्वं तदा प्रकृतेऽपि तत्रास्ति
 कान्ताया उभयबोद्धत्वात्' । 'न च वाच्यार्थबोध' शाब्दो विवक्षित कान्तायास्तु बाधा-
 वतारात् न शाब्दो वाच्यार्थबोध इति वाच्य लक्ष्यार्थबोद्धुरपि बाधात् शाब्दवाच्यार्थ-
 बोधामावेत तुल्यत्वात्' ३ । यदि तु स्वाबोद्धवोध्यवाच्यकत्व 'तत्, तत्र लक्ष्यार्थ-
 ऽपि तदस्ति' ४ अनवतीर्णवाधेन पुरुषेण वाच्यार्थस्यैव बुद्धत्वादित्यतस्ततो वैलक्षण्य-
 भावात्' ५ । विपरीत इति—

घाजरूपस्य वा वाच्यार्थस्य सम्बन्ध, सभ्रमरपद्माप्राणज्ञानेन हि व्यभिचारशङ्कानिवृत्त्या
 नायिका परित्राता, तद्वृत्ति शब्दोत्पादकक्रिया प्रकटमगकारकर्मदानादि चक्रवर्ती निवृत्तिश्च
 वारायोपदिष्टा । एवं प्रतिपाद्यभेदेन अन्येष्वपि प्रदर्शितेषु व्यङ्ग्यार्थेषु यथास्वं वाच्यार्थ-
 सम्बन्धा ऊहनीया । तथा च लक्षणात्पठे लक्ष्यार्थे वाच्यार्थस्य सम्बन्ध एकविध एव, सोऽपि
 प्रसिद्ध, व्यङ्ग्यत्वान्धले च प्रतिपाद्यादिभेदेन भिन्ने व्यङ्ग्यार्थे वाच्यार्थसम्बन्ध प्रत्येक दू-
 विभिन्न अतिपरम्परात्वेनाप्रसिद्धश्च तथाऽपि न नेयार्थलक्षणावद् वैरस्यमावहति प्रत्युत सकल-
 सङ्ख्यानन्तरपरमरामुत्पादयतीति सम्बन्धस्य एवविधवाहुल्यमेव अनियतत्वमिति तत्र अनियत-
 सम्बन्ध । एष च दुरापहृवं यस्यव्यङ्ग्योर्मियो वैलक्षण्यम् । तद्वैलक्षण्याच्च तद्वोधकयो-
 ल्लङ्घनाव्यवृत्तयोपि भेदो दुर्बल । सम्बन्धसम्बन्ध इति, बहुव्रीहिणा सम्बन्धसम्बन्धाप्रय
 इत्यर्थ, तथाच वाच्यस्य हरिणार्थस्य सूर्ये व्यङ्ग्ये स्वावयवाभेदे सम्बन्ध, एवं वाच्य-
 सम्बन्धस्य सूर्यस्य स्वादानन्तराप्यत्वम् अस्तमयात्मकसन्ध्याकाले व्यङ्ग्ये सम्बन्ध, तत्काल
 वाच्यार्थसम्बन्धसम्बन्ध । एवमुत्तरोत्तरं योज्यम् । अनियतसम्बन्धस्यैव व्याख्यान्तराणि
 तद्वृत्तानि च प्रदीपे दृष्टव्यानि ।

(A) अत्र प्रतारणरूपो व्यङ्ग्यार्थ उभयव्यङ्ग्यदृष्टाघरतत्राधिकारबोध्य इति योज्यम् ।

(B) अर्थकथेनाभाववित्त्वम् ।

१ 'चक्र वृत्त (चक्र) वाच्यवैरिकबोद्धकत्वादित्याह—तत्र वाच्यबोद्धवोध्यत्वकथन विभिन्नबोद्धकत्वस्य
 प्रकटीकरणमागतं कान्ताया उभयबोद्धत्वात्, स्वाबोद्धवोध्यवाच्य (चक्र) कत्वस्य तु वाच्यार्थेऽपि सर्वत्र ततो
 वैलक्ष्यमात्रात्वात् चक्र (चक्र) नोपैवावयव पुनो वाच्यार्थमावयवोधात्' ३ । २ 'तत्र एव चक्र-पुस्तके 'वाचा-
 र्थवत्त्वमवयवोधादेर तस्य (तस्य) व्यङ्ग्योधात्' इति चक्रिक दृष्टान्ते । ३ 'यद्यत्र चक्र-पुस्तके नास्ति ।
 ४ 'इत्येव च तदबोद्धकत्ववोध्यवाच्य (चक्र) कत्वमिति तदा वाच्यार्थेऽपि तदस्ति' ४ ।

इत्यादौ सम्यद्धसम्बन्धः । अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते, तन्निमीलनेन सूर्यास्तामयः, तेन पद्मस्य सङ्कोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनम्, तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनिर्यन्त्रणं निधुवनविलसितमिति ।

अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यो वाक्यमेव च

विपरीतरते लक्ष्मोर्ब्रह्मण इण नाभिकमलस्यम् ।

होर्दक्षिणनयन रसावुला म्दिति दौकते ॥ इति ससूतम् ।

दौकते (A) भाच्छादयति । प्रहृतरते होर्न्युञ्जत्वेन नाभिकमले ब्रह्मण स्थित्यसम्भवाद् विपरीतेत्युक्तम् । रसावुलत्वेन ब्रीडपाऽपि न रतित्याग इति सूचितम् । दक्षिणनयनदौकतबीज स्वयमेव व्याचष्टे—अत्र हि हरिपदेनेति । सूर्यात्मकता च पुराणसिद्धा (r) । तन्निमीलनेनेति, अत्र निमीलनजन्यत्व सम्बन्ध, एवमुत्तरोत्तरमपि बोध्यम् ।

ननु शब्दाधीनप्रतीतिको योऽर्थः स शक्यलक्ष्यान्यतर एवेति व्याप्ते 'ससर्गे व्यभिचारस्य नैथायिकसोमांसकृततयो सम्भवेऽपि वेदान्तिकमते तदस्मम्भव इत्याशङ्कते' *—अखण्डेति । अत्र अथाखण्डेति क्वचिन् पाठः प्रामादिक पय समाधाने प्रश्नोत्तरभावाभावान् । (c) 'अखण्डबुद्धिः' 'प्रथमिन्नसखण्डसकलपदार्थ' विरथिका बुद्धिः ।

(A) यद्यपि दौकिकमतापे पठितस्तथाऽपि धातूनामनेकार्थत्वादाच्छादनेऽपि वर्तते । तथाच शाकुन्तले तृतीयेऽङ्के 'असन्दोते उग किं कोदि' इति शकुन्तल्लयोक्ते 'इदम्' इति राह उच्यते पर 'इति व्यवसित । शकृ—वक्तू दौकते' इति बहूदेशीयमुद्रितपुस्तकेषु दृश्यते । उदाहरणकारास्तु 'लङ्ङ' इत्यस्य 'स्थगयति' इत्यनुवाद चक्रुः ।

(B) 'चन्द्रमूर्धात्मके विष्णो बहुषी वासुदक्षिणे' इति विवरणपक्षं पुराणवचनम् ।

(r) अखण्डबुद्धिरिति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नाताऽस्ति द्विधन' इत्यादि वाक्यममुत्या बुद्धिरखण्डबुद्धिः । तथाच—

अविशिष्टमपवायानैकशब्दप्रकारितम् ।

एकं वेदान्तं निष्णातास्तत्रखण्डं प्रपदिरे ॥

इति उभासागरकारादीनां व्याख्यानम् । प्रकारमसर्गापनवगाहिनी बह्वविषयिणी बुद्धि-

1 'नवविषयधीनां सकलतयो सहर्गे व्यभिचार. अत्रप्रति न वेदान्तिकमते' तन्मते ब्रह्मविज्ञानात् ससूत पदार्थात्मकत्वस्यैव गतोऽत्र बोधनात् ससर्गस्यपि शक्यत्वादित्यत्र चाह क । 2 ख र पसकयो 'ब्रह्म विषय' इति च दृश्यते । 3 'विषयिका' च ।

वाचकम्^(A) इति चेऽप्याहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना

(A) वाक्यार्थ एवार्थ इति, 'तथाच वाक्यार्थान्तर्गतं संसर्गोऽपि वाच्य एवेति न तत्र व्यभिचार इति भावः' । समाधत्ते—तैरपीति, ब्रह्मद्वैतप्राहिणामेव तादृशी बुद्धिः,

सखण्डबुद्धिरिति च अपोऽपि नुनस्ति । यद्यपि एतदनुसारेण 'ब्रह्मभिन्नससृष्ट्यकल्पपदार्थ-
विपर्यया बुद्धि' इति टीकाकृत्याम् अखण्डबुद्धिपदव्याख्यानं प्रथमतो विपरीतमिव प्रतिभाति
कथाऽपि 'एवं घटमानयेत्यादौ घटकर्मत्वादे प्रयुगुपस्थितस्य वैशिष्ट्यविपर्यया बुद्धि सखण्डा,
अदृश्यगुपस्थितबोवैशिष्ट्यविपर्यया अखण्डा बुद्धि' इत्युदात्तप्रत्ययदत्तनेन ह्यय प्रमेयमित्याद्याकारेण
प्रपञ्चविपर्यया बुद्धिरपि अखण्डबुद्धिपदवाच्या भवतीति नात्र दोषास्मर । एतेन 'अखण्डबुद्धि-'
व्याख्यानाय प्रथमतो ब्रह्मभिन्नेत्यादिरूपेण सखण्डबुद्धिरेव व्याख्याता, ततश्च तद्विलम्बणा बुद्धिरखण्ड-
बुद्धिरिति टीकाकृत्यामभिप्राय, टीकाया 'अखण्डबुद्धि' इति तु 'सखण्डबुद्धि' इति लिखितव्ये
लिपिकरप्रमादादागतमिति केषाञ्चिन् कल्पना चिन्त्या ।

(A) अखण्डबुद्धिनिर्णयो वाक्यार्थ एव वाच्यो वाक्यमेव च वाचकमिति । प्रत्योऽयं
दुर्बोध, टीकाऽपि क्वचिद्विपरीते च प्रतिभातीति महत्स्यास्य ह्यखण्डोपार्थं प्रमासहितं प्रदीप
अद्विपते—

'वेदान्तिनस्तु—क्रियाकारकादिपुस्तकाण्येन शब्दानां प्रवृत्तिर्धर्मधर्मिभावमपुरस्कृत्य न सम्भ-
वति । धर्मधर्मिभावश्च प्रपञ्चोचरो वा स्यानु ब्रह्मोचरो वा । नाऽऽद्य, प्रपञ्चस्य वाच्यत्वात् ।
नान्य, ब्रह्मणो धर्मधर्मत्वत्वात् । अतः पदपदार्थविभागात्मन्तरेणैव 'सत्त्वं विज्ञानम्'
इत्यादि वाक्यमखण्डब्रह्मवाचकमित्यानिष्ठन्ते । अतस्तन्मतानुसारेण प्रतीयमानेऽपि वाक्यस्य
शक्तिरेवेत्यपि न वाच्यम्, यतो व्यवहारमार्गे तैरपि पदपदार्थकल्पनाऽवश्यमद्वीकर्तव्या ।
व्यवहारे तेषां महत्त्वमन्वीकारात् । यदि च पदपदार्थकल्पनाऽविद्यादशायांमपि नाद्वीक्रियते
कुतस्तर्हि व्युत्पन्नाव्युत्पन्नविभवा ? वाक्यार्थ एव वाक्यस्य सत्वेतत्प्रहमाभित्येति चेत्—न,
वाक्यार्थत्वापूर्वत्वेनाऽऽवन्त्याच्च तत्र सद्भूतप्रहम्याताक्यत्वात्, अविद्यामार्गतिस्कारे च कथ-
मखण्डोचरोपि वाच्यवाचकभाव पारमार्थिकभेदाभावात् । तस्मान् तन्मतेऽपि विद्यादि-
व्यंङ्ग्य एव' ।

व्याख्यातमिदं प्रमादकारैः—क्रियाकारकादीति, आदिना तद्विशेषणानां संवह । पुस्तकाण्येन
सदोऽद्वारेण, प्रवृत्ति वाक्यार्थबोधकता । धर्मोति, अपुरस्कृत्य अनादृत्य । कारकाणां क्रिया-
धर्मत्वस्य विशेषणानां गेत्यादीनां च कारकविशेषणत्वस्यावश्यकत्वात् । वाच्यत्वादिति,
तथाच सत्यादि वाक्यं वाधितार्थक स्यादिति भाव । धर्मधर्मत्वत्वादिति, अद्वितीयेन (अद्वि-

कर्तव्यवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विख्यादिव्यङ्ग्य एव ।

ससारितादशायां तु पदपदार्थविभागोऽस्तीति तन्मतेऽपि ससर्गं व्यभिचार एवेति भावः । 'उक्तोदाहरण' विशेषेत्यादि ।

सीदत्वेन !) सत्यत्वादियमंशून्यत्वादित्यर्थः । इयं च तन्मते वाक्यमखण्डार्थवाक्यकमिति ध्रान्तस्य शङ्केति शेषम्, तैल्लङ्गाया एव स्वीकारात् । वस्तुनस्तु 'येष्याहु'रित्यादिवृत्तिप्रत्ययो वाक्यस्फोटोद्गीकर्तृ-ईयाकरणमताभिप्राय एव समञ्जसः ।

यथाहु — ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्ब्राह्मणकम्बले ।

देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्पका ॥ इति ।

अविद्यापदैत्यस्य च प्रक्रियादशापन्नैरित्यर्थः । तदप्युक्तं तैरैव—'असत्ये घर्त्सनि स्मित्वा सन सत्य समीदते' इति ।

असत्यतया प्रक्रियार अविद्यापदेनोक्ता । तत्पदअवगाच्च वेदान्तिमतमुक्तमित्यभिमान इति शेषम् । इति ।

अखण्डबुदिनिर्णय इति पक्षस्य टीकाया य चिद्धितपुस्तके स्मिन् पाठान्तरम्—एतत्प्रभा-
व्याख्यामन्त्यांशत सादृश्यमावहतीति अत्रैव यथास्थितं तदुच्यते—“नन्वय हाफिव्यञ्जनाभेद-
विचार तदशाक्यशाक्यज्ञाने सत्येव, सदेव तु नास्ति । तथाहि वाक्यस्यैव प्रयोगयोग्यत्वेनाखण्ड-
पदार्थं एवाखण्डवाक्यार्थं, स च व्यङ्ग्यत्वाभिमतपदार्थोऽपि भवति । पदार्थस्तु क्वचित्नास्ति ।
तदुक्तं भर्तृ हरिणा—

ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्ब्राह्मणकम्बले ।

देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्पका ॥ इति ।

अस्यार्थ — ब्राह्मणसम्बन्धिनि कम्बले प्रतीयमाने यथा ब्राह्मणरूपोऽर्थो नास्ति तत्सम्बन्धित्व-
विशिष्टकम्बलस्याखण्डस्य प्रतीते, तथा देवदत्तो गच्छतीति वाक्ये देवदत्तसम्बन्धिगमनस्या-
खण्डस्य प्रतीते खण्डभूता देवदत्तादयोऽनर्थकान्तर्दर्थभिन्ना एव स्युरित्येतद्वैयाकरणमत-
मासाहुते—अखण्डेति । समापत्ते—तैरपीति, अन्वया घटमानयेति वाक्ये एव व्युत्पन्नस्य भान्य
घटमिति वाक्यसात्तर्दर्थबोधो न स्यादिति भावः । एव च पदपदार्थरूपपतावशादेवापदार्थभूतस्य
न्यङ्ग्यार्थस्य वाच्यायां च दृष्यक्त्वे व्यञ्जनाऽपि पृथगिति भावः । एवं च पदार्थरूपपताद्धैतदनिना
तत्पदशानिनां नास्ति पदपदार्थयोऽपि मन्त्राभिज्ञत्वेन तैरवगतत्वादित्याह अविद्यापपत्तितैरिति ।
अविद्या द्वैतुदिरेणु मिथ्या वासना” इति ।

(A) वाक्यार्थ एवार्थ इति । इदं 'वाक्यार्थ एवार्थ' इति वृत्तिपाठाभिप्रायेण । अर्थ
इत्यस्य वाक्यार्थ इति व्याख्या । ग पुस्तके तु 'वाक्यार्थ एवैकार्य' इत्येव इतिप्रत्ययो घट ।

(A) ननु वाच्यादसम्यद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् घस्य-

'व्यङ्ग्यार्थोऽनुमितिगम्य एवेति नैयायिकमतमुत्थापयितुं वाच्यार्थे पक्षे व्यङ्ग्यार्थस्य साध्यस्य बाधनिरासिकां भूमिकामाह—वाच्यादसम्यद्धमिति । 'अप्रतिबन्धे'

अस्मान्मिन्दु उगमतया मुद्दिनबहुपुन्तकानुमारी पाठो गृहीतः । क्वचित् 'वाच्य' इत्यत्र 'वाच्यार्थ' इति पाठान्तरमुपलभ्यते ।

(A) पक्षोऽयं प्रतीये स्फुटतरीकृतं तेन वृत्तिग्रन्थन्यापि क्वचित् सुबोधता सम्भाव्यते तदर्थं हेतोरसिद्धताप्रतिपादनपर्यन्तस्तदुग्रन्थ उद्धीयते । 'महिममहास्तु—न तावदमवद एव वाच्यात् प्रतीयते, सर्वस्मात् सर्वोपलब्धिप्रसङ्गान् । सर्वदाच व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो भवन्नातिव्यक्तव्यवतीति प्रतिबद्धरूपादेव भवतीत्युपेयम् । प्रतिबद्धोऽप्यर्थो न स्वाधिकरणत्वेनाजाते व्यङ्ग्य प्रतिपादयति, सर्वत्र तत्प्रतीतिप्रसङ्गात् । एवं च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽनुमेयानुमापकभाव एव स्यात्सन्नः । यतो व्यासत्वेन सकलाश्चनिष्ठत्वेन च सप्तशतस्व-विपश्चासत्त्व-पञ्चमस्वलक्षणरूप-प्रयत्नो लिङ्गलिङ्गिज्ञानमेवानुमानम् । तदेतदुक्तमनुमानं यत्तद्रूप इति तेनानुमानेनानुमित्या स्यते न त्वतिरिक्त्या व्यक्तयेति हि सत्यार्थः । एवमनुमानादेव व्यङ्ग्यप्रतीतिः । तथा हि—

भय घम्मिभ० ।

सद्वृत्तनिकेतनीमूलं गोदावरीतीरनिकुञ्जं पुण्यावचयादिहेतो कदाचित् संचरतो धार्मिकस्य तन्निवारणायविनयवत्या इयमुक्तिः । तत्र निकुञ्जवामिसिंहकृतया श्वनिवृत्त्या गुरो भ्रमणविधि-
बाध्यं, त एव निकुञ्जभ्रमणायोदयतानुमित्यै प्रभवति, यद्दयमीरभ्रमणं तत्तद्व्यकरण-
निवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, निकुञ्जे च सिंहोपलम्बिरिति व्यापकविहङ्गोपलब्धौ पश्यमानाद्
भ्रमणस्य व्यापिका भयकारणामावोपलम्बि प्रतीता, तद्विहङ्ग यद्दयकारणं तदुपलम्बे, यथा
नात्र तुषारं स्पृशो बह्वे । अनुमानं च—इदं गोदावरीनिकुञ्जं श्वमीरभ्रमणायोदयं
सिंहवत्त्वादिति ।

भ्रमोऽप्यते—श्वमीरो धवीर-स्वभावात् भ्रमणायोपत्वमत्र सार्वं वीरस्वभावात् वा,
विशेषीदामीन्धेन सत्त्वामान्यन्धैव वा ? आद्ये व्यवहारः, प्रभोर्गुरोवां निदेशेन प्रियानु-

कस्यचिदर्थास्य प्रतीतेः प्रसङ्गात् एवञ्च (A)सम्बन्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जक-
भावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति (B)व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन
च त्रिरूपाह्लिङ्गाह्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्ववस्यति । तथा
हि—

भम धम्मिअ 'धीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।

गोलाणईकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण(०) ॥ १३८ ॥

वसन्मध्ये, 'अव्यय' सर्वथा । व्याप्तत्वेनेति साध्याभाष्यवृत्तित्वेनेत्यर्थ । तेन
विपक्षावृत्तित्वमेक रूप दर्शितम् । अन्यत् रूपद्वयमाह—निघतेति, साध्यरत्वेन
नियतौ यौ धर्मिणौ पक्षसपक्षौ तन्निष्ठत्वेनेत्यर्थ । तथाच पक्षसपक्षवृत्तित्व
विपक्षावृत्तित्वात्मकरूपव्ययवतो लिङ्गादित्यर्थ । 'लिङ्गिनि' पक्षे, 'मान' साध्यस्य
'अनुमानम्' अनुमिति, 'तद्रूप' व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव इत्यन्वयः *१ । 'तद्वनतिरिक्त
इत्यर्थ *१ । तदेव उदाहरणेन दर्शयति—भम धम्मिअ इति ।

साधन निषिद्धाभासित्वात् वा तादृशत्वापि तत्र भ्रमणदर्शनात् । अत एव नान्योऽपि । मध्यमे
॥ विरोध, स्पर्शादित्वात्प्राग्वैश्वेयतया वा भवतो विध्यतोऽपि दृग्वादिङ्गुलद्वयेन
सिद्धवहेये धीस्य भ्रमणात् । किञ्च, पक्षे सिद्धसद्भावो न मानान्तरेणावधारित, किन्तु पुञ्जली
वाक्यादवधारित, न च तद्वचनं निश्चयकम्, अर्धेन सर्वं संबन्धानियमात्, इत्यनिश्चय
स्याऽतिरिद्धि' इति ।

(A) सम्बन्धादित्यनन्तरं 'भवन्ति'ति पूरणीयम् । तेन सम्बन्धाद् भवन् व्यङ्ग्यव्यञ्जक-
भाव अप्रतिबन्धे व्याप्तिरूपसम्बन्धाभावे न भवतीत्यर्थ ।

(B) व्याप्तत्वेनेति । साध्याभाष्यवृत्तित्वविशिष्ट साध्यमात्राधिकार्यं व्याप्ति, एतेन
हेतो विपक्षासत्त्वमपक्षसत्त्वयोर्लोम । नियतधर्मो हेत्वधिकरणतया शातो धर्मो, तन्निष्ठत्वेन पक्ष-
वृत्तित्वलाभ । तेन लिङ्गं रूपप्रयोपपन्न भवतीति अनुमित्युपयोग इति भाव ।

(C) भवेति ।

भ्रम धार्मिक विशिष्य स सुनकोऽय मारितस्तेन ।

गोदावरीन्दीवृत्तं तद्वद्वनवासिना अरिसिंहिन ॥

इत्यनुध व्याख्यातमिदमाध्यायमिदमनुधे—कस्याश्चित् सङ्कल्पानं जीवितसर्वस्वायमानं

१. 'वीचदो' इति पक्षे विषय इत्यादि । २. 'विद्विज' साध्यस्य ज्ञान तदेव च अनुमानमनुमिति,
तद्व्यो अत्राव्यञ्जकभाव एतावत्' इति क-उ-च-वे पाठ । ३. 'तथे चप मदीति विद्वद् अनुमानव्यञ्जक इत्यर्थो' म ।

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धे-
रभ्रमणमनुमापयति । यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युप-

भ्रम धार्मिक विश्वस्त स श्वा भय मारितस्तेन ।

गोदानदीकच्छुद्धिवासिना दृप्तसिंहेन ॥ इति सस्कृतम् ।

अभ्रमस्याया कुलश्याया गोदावरीमश्रितिकुद्धिरूपे सङ्केतस्थाने प्रतिदिन पुष्पाव-
चयेन सङ्केतमङ्ग कुर्वाणं स्यम्रेतिकुद्धुरोपद्रवेणाश्वनिवृत्त धार्मिक प्रति तस्या
दिनान्तरे उक्तिरियम् । गोदावरीतीरे यो दिनान्तरे त्वामुद्धेजयति स श्वा भय
सम्प्रति तेन प्रसिद्धेन गोदावरीसश्रितिकुद्धिवासिना दृप्तसिंहेन मारित इत्यन्वय ।

(१) अभ्रमणमनुमापयतीति सिंहोपलब्धिरिति पाठे सैव कर्त्री । सिंहोपलब्धेरिति

धार्मिकमद्यरणान्तरावदोपात् तदवलुप्यमानपलवकुसमादिविच्छायाीकरणाच्च परिश्रानुमियमुक्ति ।
तत्र स्वतः सिद्धमपि भ्रमण (श्व)भयेनापोहितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधाभावस्य,
न तु वि(नि ?)योगत्रैपादिरूपोऽत्र विधि । अतिमार्गप्राप्तकालयोर्द्वयं लोट् । भ्रमेति ।
अनिच्छोऽपि(स्मि ?) प्राप्तस्ते भ्रमणकाल । धार्मिकेति, कुलप्राप्तुपकरणार्थं युक्तं ते भ्रमणम् ।
विभ्रश्च इति शत्रुकारणवैकल्यात् । स इति यन्ते भयप्रकम्पाम् अङ्गलतिकामकृत । भरोति,
द्विधा वर्धम इत्यर्थं । मारित इति, पुनरभ्यानुन्यातम् । तेनेति, य पूर्व कर्णोपकर्णिकया
स्वयाऽऽपार्कणितो गोदावरीकच्छादने प्रतिवमतीति । पूर्वमेव हि त्वदरक्षायै तत्त्वतयोपभ्रवितोऽस्तौ,
स चाधुना तु दृप्तत्वात्ततो गहनात् नि सरतीति प्रसिद्धगोदावरीतीरपरिसराणुमरणमपि तावत्
कयाशेषीभूत का कथा तद्वनागहनप्रवेशाद्वाया इति भाव इति ।

(४) इत आरभ्य (२७२) गृष्टे हेतोरनन्ववृत्तित्वादितिपर्यन्तं घ-पुस्तकपाठोऽप्यन्तं
विभिन्नोऽपि विशेषार्थप्रतिपादक इति टिप्पण्यामेव उद्दिश्यते—

‘इदञ्च वाक्यं सङ्केतस्थानस्य सिद्धवत्त्वकथनात् तत्राभ्रमणव्यञ्जकम्, तत्राभ्रमणमनुमानगम्य-
मेवंत्याह—अत्रेति । विहितमित्यन्त गोदावरीतीरदेशस्य चाच्यम्य पक्षद्वयानपरम् । विहित-
मित्यस्य कुल्येति शेष । सिंहोपलब्धेरिति हेतुप्रदर्शनम् अभ्रमण भीरुधार्मिकस्य, सिंहोप-
लब्धेरपि पुनर्वाक्यजन्या तस्यैव, अनुमानं च पुनरप्यधोतृणां सामाजिकानाम् । अनुमापयती-
त्यत्र सिंहोपलब्धिजनकमेतद्वाक्यमेव कर्तृ बोध्यम् । सिंहोपलब्धिरिति पाठे सिंहोपलब्धिरूप-
हेतोरत्र विवक्षावशात् कर्तृत्व बोध्यम् । सिंहोपलब्धेश्च विषयतासम्बन्धेन पक्षवृत्तित्वं बोध्यम् ।
स्याचार्यं प्रयोग—गोदावरीतीरदेशो भीरुधार्मिकेण अभ्रमणीय सदीयसिंहोपलब्धेरिति ।
तेन अन्पदीयसिंहोपलब्धिसत्त्वे सद्भ्रमणमन्वेऽपि न व्यभिचार । पक्षोऽत्र ह्यसिंहोपलब्धि-
मत्त्वेन विशेषणीय, तेन अन्वयात् सद्भ्रमणमन्वेऽपि च वाच्यं, पक्षतापच्छेदकापच्छेदेन साध्यस्य

लब्धिपूर्वकम्, गोदावरातीरे च सिंहेपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोप-
लब्धिः ।

पाठे कुलटाया वाक्यमेव कर्तुं । अत्र च गोदावरीनदीनिकुञ्ज तद्गीतराममर्णाय
तत्र तस्य सिंहेपलब्धेरिति सामाजिकानामनुमानम् । भ्रममणश्च उपलब्धिनाले
बाध्यम्, तेन अन्यदा भ्रमणेषुपि न बाध्य । तत्र च एतादृशशब्दत्रयोपत्रधियुगेण
एव हेतुः स च विषयतासम्बन्धेन पक्षमात्रवृत्तिर्वाद् व्यतिरेकीत्यभिप्रायेण व्यतिरेका
सहरणमाह—यद् यदिति । भीरोन्नमण यत्रेति बहुमीहिणा 'भीरुन्नमण' स्थानम्, तेन
भीरोरन्नमणरूपस्य साध्यस्य अभावेन भीरुन्नमणेन विशिष्टं यद् यत् स्थानमित्यर्थः,
तेन यद् यत् साध्याभाववदित्यर्थः । तद्भयकारणेति । भयकारणमत्र सिद्धं तस्य
निवृत्त्युपलब्धि उपलब्धिनिवृत्ति राजदन्तादिममासात् । निवृत्तिरन्न भभाव एव,
पूर्वकमित्यस्यापि विशिष्टमित्येवार्थः । तेन यद् यद् भीरुन्नमणविशिष्टं स्थानं
तत् सिंहापलब्ध्यभावविशिष्टमित्युदाहरणाय । साध्याभावव्यापकभावाप्रतिपत्तिरिति
हेतुः पक्षे उपनयति—गोदावरीतीरे चेति । साध्याभावव्यापकभावाप्रतिपत्तिरिति
बोध्यम् । तन्मिहोपलब्धिश्चात्र तच्छा(तच्छ)ब्दत्रयैव सामाजिकैः प्रगतानि मैवात्र हेतुः ।
स च पश्चमात्रवृत्तित्वेन व्यतिरेक्यस्यतो व्यतिरेकेणोद्घाटनं प्रयुक्तमेव यदिति । भीरुन्नमण
मिदत्र भीरोन्नमणं यत्रेति बहुमीहिणा भीरुन्नमणवदोर्थः, तत्रान्नमणस्य साध्यभावभावात्
भ्रमगानामधिगणान्युक्तानि । तथा हेतुभावादिदृष्ट्या वमाह—तत्तत्(इति) । भयकारणमत्र सिद्धं
तस्य निवृत्त्युपलब्धिस्तच्छिन्निवृत्तिः ; राजदन्तादिदृष्टं ह्यनन्त्यात् पूर्वनिमित्तस्य व्याकरण-
गुणसन्निधानम् । निवृत्तिप्रभाव सिंहापलब्धि अ(लक्ष्य)भावो भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिप्रत्यय-
स्याथ विधिबुद्धौ विधायकस्य पूर्वपरान्तरं तदनुसारत्वं पूर्वपदमत्र विधायक्यकम् बहुमीही
च कप्रत्ययः । तथाच सिंहेपलब्ध्यभावविशिष्टकामिति तत्तन्मिहोपलब्धिमुदाहरणम् । तथाच
यद् यद् भीरुन्नमणवत् तत् तद् सिंहापलब्ध्यभाववदिति व्यतिरेक्योद्घाटनमुक्तम् । अनन्तरं
मवयवं प्रयुक्तं—गोदावरीतीरे चेति । सिंहेपलब्धेरिति साध्याभाव(व्यापकभावा)प्रति-
योगित्वेन दर्शयति—व्यापकति । व्यापकस्य साध्याभावव्यापकस्य अभावस्य विना प्रतिपत्तिर्विनी
उपलब्धिः सिंहापलब्धिर्गोदावरीतीरे इत्यर्थः । सिंहेपलब्धेरिति गोदावरीतीरेवृत्तित्वमुक्तं च तस्या
व्यापकविरुद्धत्वं वाक्यान्तरेण कथितमिति न पौनरुक्तम् । भावार्थाणि । भीरुन्नमिहो
उपीत्यर्थः, अन्यभीरुन्नमणस्य लक्ष्यभावस्वरूपाभावात् । त्रियानुरागणति सिंहेपलब्धिर्गोदावरी
तीरेदेशप्रविष्टप्रियानुरागणेत्यर्थः । अत्र च त्रियानुरागणस्य । अत्रैकचित्तं इति,
पक्ष एव व्यभिचारीत्यर्थः ; कदाचित्किं तच्छब्दे सिंहेपलब्धेरिति भावात् इति ।

दिति, भ्रमेत्यादिकुलगावचनादित्यर्थः । न च वचनस्येति, 'सन्दिग्धप्रामाण्यात् तद्वाक्याद् भीरोः सिहोपलब्धि पत्ते जाता न वेति अनुमातृसामाजिकानां सन्देहश्रियो हेतुः सन्दिग्धासिद्ध इत्यर्थः' १ । 'अत्यतिक्रमात्' असम्भवात् ।

सङ्गनार्थं हि प्रत्येकतामप्युच्यते । तत्र भ्रमेत्यादिवाक्याद् प्रतिपाद्यपुरुषनिष्ठस्य व्यङ्ग्यार्थबोधस्य अनुमितिरूपत्वमनुपाद्य पार्यन्तिकचमत्कारस्थानस्य सामाजिकनिष्ठस्य व्यङ्ग्यार्थबोधस्य अनुमितित्वोपपादनेऽपि प्रतिपाद्यपुरुषबोधो व्यञ्जनां विना न सम्भवतीति तदर्थं व्यञ्जनायाः स्वीकार्यत्वेन पूर्वपक्षसमर्थनमनर्थकं स्यात्, एवं 'गृहे' इत्यादीनां केषाञ्चित् पदानां व्याख्यानमपि न सद्युक्त्या प्रतिभातीति तदप्यन्यो यथामति अन्यथा व्याख्यायते । तथाहि—

भ्रम परिमिश्रितपदात् प्रतिपाद्यपुरुषस्य प्रथमम् 'अत्र भ्रमणनिष्ठमाधनम्' इति वाक्यार्थज्ञानम्, यतः श्वनितृती हेतुभूतं यत् स्वमरणं तत्कारणानुसन्धानेन तत्र सिद्धायमन-
ज्ञानम्, यतः 'सिद्धमन्वयणस्थाने भ्रमणमनिष्ठमाधन'मिति ज्ञानेन भ्रमणे द्वयोर्पक्षयोः नूतनस्य भाग्यवदुर्निवृत्ते भस्मिनि, तथा च निम्नलूह आचयो समागत इत्याहूतयत्यामेतत्पक्षप्रति-
पादिकाया 'शुनोऽपि भयमनुभवन्ती ससिंहेऽपि स्थाने भ्रमणोपदनेन सिद्धान् सम्भाव्यमानं
गुलामनिष्काननी अवगिदतेय मिति भ्रमपूर्वकं 'सर्वथा देवोऽयं मम भ्रमगतार्ह' इति व्यङ्ग्यार्थ-
बोधः । तदनन्तरम् 'अहो गृहकुण्डलाया प्रवारणानैपुण्येनेनान्यथा असम्भावितवाणोऽपि वारित'
इति व्यङ्ग्यार्थं सामानिर्देशैर्दृश्यं । वाक्यल्पपदानां तु 'गृहे' छत्राद्याहृततया प्रचलत्वेन गृहायमाणे
सिद्धत्वस्थाने, 'श्वनितृत्या' शुनः कदाऽपि पुनरागमनं न सम्भावितमिति ज्ञापनेन, 'विहित'
कुलमाद्यवचनार्थमागमनं निष्प्रसूदमिति दृष्टमाधनत्वेन बोधितं भ्रमणम् अभ्रमणमनुत्पापवति'
अस्मिन् स्थाने पुनरागमनं न अनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टमाधनताक्रम इत्यनुमानं तद्दार्मिकस्य
अनयनीत्वस्य, शुनः आगमने मति भ्रमणे अनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानेन सन्निवृत्त्या भ्रमणे अनिष्टाननु-
बन्धित्वविशिष्टमाधनत्वज्ञानोत्पत्तौ वाचकाभावात् । भ्रमेति लोटा प्राप्तेऽप्येवार्थं विहित-
मित्वेनेन सूचितं । एवञ्च एतद्वेशा न समानिष्टाननुबन्धीष्टमाधनत्वेन सम्भावितभ्रमणक-
सिद्धत्वतया शातस्वा दित्वाकारकोऽत्र प्रयोगः ।

अत्र साध्यदेत्वोर्व्याप्तिप्रज्ञाभावेन तदुपस्य तथाऽनुमानमेव न सम्भवतीति व्यञ्जनावाप्ति-
मभिप्रायमाणाहूत अनुमितिविश्वानिन्स्तदुपपादनपरो प्रत्यो यद यदित्यादि । यत्र यस्य भय-
कारणज्ञानं तत्र तस्य भ्रमणमनिष्टमाधनमिति प्रयोगे निम्नान्निदधे भयकारणज्ञानेऽपि भीतज्ञा-
न्युपपादा तत्र भ्रमणमनिष्टमाधनत्वाद् व्यभिचार इति भीहभ्रमणमित्यत्र भीरुपदं सूययागीलादि

१ 'भीरुषा तद्वाधि चामाण्यस्य गृहीतमन तस्य शाब्दो उदरविभ्रजाता न वेति सन्देहात् पच एव सन्दिग्धासिद्धिरित्यत्र क भीरुषा तत्रपदमाश्वस्थानिधितमेव तत्रोपपत्तिर्भ्रजाता न वेति समानिकानां उददेशत्पचे हेतोः सन्दिग्धासिद्धिरित्यत्र यः ।

तत्तद्व्यक्तिवारकम् । तत्र च एवंविधस्थले सामान्यव्याप्ते प्रसिद्धत्वाद् उदाहरणेन तामेव दर्शयति—
 यद् यदिति । अत्र सिद्धज्ञानमात्रे भयकारणत्वज्ञानमौलसर्गिकमित्यभिप्रायेण साध्यांशे भयकारणेति ।
 तेन प्रकृतानुमितेहेतौ भयकारणत्वस्यावदकत्वेन तादृशोदाहरणमप्रासङ्गिकमित्याशङ्क्या नावसर ।
 एवञ्च यद् यत् स्थान अवीरपुरुषीयानिन्दानुबन्धीष्टसाधनत्वेन सम्भावितभ्रमणक तत्तद् भय-
 कारणाभावप्रकारकज्ञानविशेषमिति स्थिते व्याप्तिशरीरे व्यापकस्य भयकारणाभावप्रकारकज्ञान-
 विशेष्यत्वस्य अभावेन व्याप्यस्य अवीरपुरुषीयानिन्दानुबन्धीष्टसाधनत्वप्रकारकसम्भावनाविषय-
 भ्रमणकत्वस्य अभाव सिध्यति, व्यापकभावेन व्याप्याभावसिद्धेः सर्वप्रथमतत्त्वादित्यभिप्रायः ।
 तादृशव्यापकभावस्य सिद्धिमेव दर्शयति—गोदावरीतीरे चेति । गोदावरीतीरवासिसिंहस्य
 अत्रोपलब्धिरिति तदर्थः । यथाश्रुते तु गोदावरीतीरं यदि सिंहोपलब्धिविशेष्यं तदा एतत्स्थाने
 भ्रमणे न बाधकमिति बोध्यम् । एतद्देशस्यापि गोदावरीतीरत्वाभिप्राये तु यथाश्रुतमेव सम्यक् ।
व्यापकविरुद्धेति, भयकारणाभावप्रकारकज्ञानविशेष्यत्व व्यापकं तद्विरुद्धं भयकारणप्रकारकज्ञान-
 विशेष्यत्वमेव, तस्य उपलब्धेः सद्भूतस्थाने तद्ज्ञानादित्यर्थः । ईदृशव्यापकविरुद्ध एव व्यापका-
 भावेन व्याप्याभावानुमाने व्यापकभावत्वेन विवक्षितः ।

एतन्निरस्यति—अत्रोच्यते इति । गुरोरित्यादेः अनैकान्तिको हेतुरित्यन्तस्य ग्रन्थस्य अयमभावः—
 यादृश स्थान भयकारणवत्तया ज्ञातं तत्र सञ्चरणे यदि गुरनिदेशाश्रित्या तदुल्लङ्घनादौ यादृशानिष्ट-
 सम्भावना, कथञ्चित् परित्राणान्यापि सम्भवेन मिहादिभयकारणविशिष्टे भ्रमण न तदपेक्षया
 अनिष्टानुबन्धीति औत्सर्गिकज्ञानेन, मिहादिभयकारणवत्तया ज्ञाते यस्मिन् स्थाने भीरुपुरुषीया-
 निन्दानुबन्धीष्टसाधनभ्रमणकत्वरूपो हेतुरस्ति न तत्र भयकारणाभावप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वरूप
 साध्यमिति व्यभिचारेण निरक्त साध्यं न हेतोर्न्यापकम्, तथाच व्यापकभावाद्द्व्यव्याप्याभाव
 इति रीतेरत्रानुसृत्य छद्मपराहतमिति । ननु तादृशस्थाने सिंहादभीतानां वीरानां भयकारणा-
 भावप्रकारकं यद्ज्ञानं तद्विशेष्यत्वरूपं साध्यमप्यस्तीत्यतो न व्यभिचार इति चेद् उच्यते—शुन
 इति । अस्याप्यभिप्रायः, गौरपुरुषीयानिन्दानुबन्धीष्टसाधनभ्रमणकत्वरूपस्य हेतोर्गृह्याङ्गनादौ
 सत्त्वेन तत्र वीरत्वेन सिंहादभीतानां वस्तुवैधित्याच्च शुनोऽपि भीतानाम् असौचशिवावा-
 झान्तानां धार्मिकादीनां च भयकारणप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वरूपस्य निरक्तसाध्यविरुद्धधर्मस्य
 सत्त्वेन उक्तहेतोः साध्यविरुद्धव्याप्त्यरूपं विरुद्धत्वमिति । नय तथाश्रुत्युक्तं विरुद्धत्वं न
 सद्गच्छते, तथाहि उक्तहेतोर्भयकारणमात्रे एव कस्यचित् भयकारणाभावप्रकारकज्ञान-
 सम्भवेन तद्विशेष्यत्वस्य तत्र सत्त्वाद् व्यभिचार एव न सम्भवति का कथा विरोधस्येति चेद्
 तदुभयमपेक्षायामसिद्धिरूपं दोषान्तरमाह—गोदावरीतीरे सिंहमन्त्राव इति । तदुग्रन्थारायस्तु—
 प्रतिपाद्यधार्मिकेण तावत् सद्भूतस्थाने सिंहेवत्तया ज्ञातत्वेन हेतुना अनिष्टसाधनभ्रमण-
 कत्वमनुमाय ततो निवृत्तित्वम्, तस्य सिंहेवत्ताज्ञानं तु शाब्दबोधः, शाब्दबोधे अप्राप्त्य-
 शङ्का तु तज्जनकत्वादेः भासोक्तत्वानिश्चयेन भवति, धार्म्यस्त्रीप्रयुक्ते षषसि तु आसोक्तत्वनिश्चायका-

तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादी
न्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, अतश्चात्रैव ज्ञान
कार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि ।
व्यक्तिवादिना च (A)अधमपदसहायानामेयां व्यञ्जकत्वमुक्तम् ।

तथेति द्विती उपनायकापभुता चन्दनच्यवनादिमत्वादित्यनुमाने व्यभिचार
इत्यर्थः । न च चन्दनच्यवनादौ घैलक्षणादिप्रतिज्ञात् न व्यभिचार इति वाच्यं ज्ञात्
तदनुपस्थितम् । नन्वीदृशात् तत्र कथमुपभागस्य व्यञ्जनाऽपीत्यत आह—व्यक्ति
वादिना चेति व्यञ्जनादिना चेत्यर्थः । अधमपदसहायानामिति द्वितीऽप्युक्ते
नैवाधमत्वमित्यभिप्रायः । एतदपि द्वितीऽप्येवमपेक्षितत्वात्प्रथमात्सम्भवात् न तन्महायतत्त्ववधयम् ।
तदनुपस्थिते तु द्वितीऽप्येवमपेक्षितत्वात्प्रथमात्सम्भवात् न तन्महायतत्त्ववधयम् ।

भावन तादृशबोधे अप्रामाण्यशाब्दा ओलमार्गिकी । तथाच ज्ञानधार्मिकाप्रामाण्यमन्वहन्व
धिवदमंशपपयवसानवद वचने भासोक्तवानिश्रयन प्रतिपादधार्मिकस्य सिद्धवत्तया ज्ञान
मप्रामाण्यशाब्दाकल्पितमिति मद्रुतस्थानरूप एव अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्धितेऽनुनिश्रय एवं
भास्तीति कथं तस्य एतत् स्थानं मम धनज्ञानर्हमित्यनुमिते सम्भव इति । अधनाप्रति
बन्धात् अधेन सह व्याप्यव्यापकभावरूपमन्वहन्धिविरहादित्यर्थः । एतन्न प्रवृत्तौपयिकशाब्द
वापे वाक्य आसाकत्वनिश्रयोऽपेक्षित इति सूचितम् ।

अथ तथाऽपि अप्रामाण्यमन्वहकारणस्य तन्मनुष्यव्यवस्थित तस्य अप्रामाण्यनामानास्कन्धित
हेतुत्वम् तत्तदनुमितिरितिप्रत्युद्देति चत् एतदन्वयस्यैव नि शपत्यादौ हेतोर्व्यभिचार-
प्रदानमिति संधीभिर्विभावनीयम् ।

(A) अधमति । तत्र द्वितीऽप्येवमपेक्षिततया यादृशमधमत्व तदनुपस्थिते एवं प्रवृत्तापराधम
अधमत्वस्य गरीकस्त्व परिस्फुटमिति उभयसाधारणाधप्रतिपादक मि शेषच्युता निपदापक्षया अधम-
पदस्य प्राचान्येन सहायत्वमिति बोध्यम् । इदानीन्तनद्वितीऽप्यनुत्वेन प्राधान्यं तु प्रत्युक्त-
मवस्तात् (२९ श्लो) ।

न चात्र अधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम् ? एवंविधादर्था-
देवंविधोऽर्थ उपपन्न्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशत इति व्यक्तिवादिनः
पुनस्तद् अदृषणम् ।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णभेदनिर्णयो

नाम पञ्चम उल्लास ॥ ५ ॥

नन्वेव मयाऽपि अधमसन्निहितप्रेरितत्वे सतीति हेतुविशेषणं देयमिन्यत आह—
न चेति, भारोप्यतिन्द्रयाऽप्यधमोक्तिसम्भवादिति भाव । ननु तथापि कथमेव-
विधादर्थादुपभोग्यजननेत्यत आह—एवंविधादिति । 'उपपत्ति' अव्यभिचारादि ।
'तददृषणमिति, व्यञ्जनया प्रतिपादने अव्यभिचारादेरनपेक्षणादिति भाव'*

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारमहर्षिचरिते काव्यप्रकाशादौ

गुणीभूतव्यङ्ग्यनिर्णयस्य पञ्चम प्रतिबिम्ब ।

